धर्म और संस्कृति

धर्म और संस्कृति

सम्पादक :
डॉ० योगेश्वर देव
दीपचन्द्र निर्मोही

प्रकाशक :
संस्कृति प्रकाशन

ओऽम्

शताब्दी के शुभ अवसर

पर

प्रकाशित

(६ अक्तूबर, १९८४)

ग्रन्थ के सन्दर्भ में

आर्य समाज स्वामी दयानन्द की सबसे सुंदर क्रांतिकारी रचना है, जिसके माध्यम से उन्होंने अपने विचारों को साकार रूप देने का प्रयत्न किया। आर्य-समाज (बड़ा बाजार), पानीपत की स्थापना आज से सौ वर्ष पूर्व स्वामी दयानन्द के परम अनुयायी स्वामी श्रद्धानन्द के हाथों से हुई थी। 'जीवेम शरदः शतम्' का गान करने वालों के जीवन-वर्ष का सौवां चरण यदि उल्लास लाता है तो आश्चर्य की बात नहीं। शताब्दी-आयोजन शतायु का ही उच्चस्वर है। अन्य कार्यक्रमों के साथ ऐसे अवसरों पर स्मारिका-प्रकाशन एक रिवाज सा बन चुका है, जिसमें बड़े नेताओं के चित्रों के साथ, उनके संदेशों से लेकर, उनके स्तुति-गान तक सम्मिलित रहता है। कारण यह है कि आज देश पर राजनीति के ऐसे घने बादल छाये हुए हैं कि हमारा प्रत्येक विचार उसी में रंग गया है। उनके संदेशों में न सत्य होता है, न गहराई, और न वास्तविकता। बस लकीर पीटी जाती है। इन स्मारिकाओं में कुछ स्थान स्थानीय समाज का इतिहास ले लेता है जिसमें उस समाज के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टिपात किया जाता है। शेष भाग कुछ हल्के फुलके लेखों व देश-विदेश की सूचनाओं से घेरघार कर पत्रिका तैयार की जाती है। उस सेन समाज का भला होता है, और न देश का।

इस अवसर पर पहिले स्मारिका-प्रकाशन की ही व्यवस्था की गई थी और निश्चय किया गया था कि राजनीतिक नेताओं के स्थान पर उन संन्यासी व महात्माओं के संदेश हों जिनके भगवे वस्त्रों ने जाति को रोगोन्मुक्त करने का भगीरथ प्रयत्न किया; जिनमें सत्य का स्वर है, त्याग की सुगन्ध है; जिनके कमण्डलु से मानव-कल्याण की कामना के छींटे निकलते हों, तथा पत्रिका को अन्य प्रकार से भी गहरा बनाने का प्रयत्न किया जाय। लेकिन यह सोचकर फिर विचार बदला कि अपने शिथिल स्वरूप के कारण समय के लम्बे प्रवाह में स्मारिकाएं बहुत ही अल्पायु होती हैं, और उपयोगिता की दृष्टि से अतिक्षीण। उनका स्थायी साहित्य में कोई योगदान नहीं होता। अतः निश्चय किया गया कि एक ऐसा ग्रंथ संपादित किया जाए जिसमें उच्चकोटि के विद्वानों के लेख हों।

पर, यह विचार बनने में काफी समय लग गया और जब बना उस समय तक समय अपने लम्बे कदम बढ़ाता हुआ काफी तेजी से निकल चुका था। कुल डेढ़ महीने की अवधि में इस ग्रन्थ का सम्पादन व प्रकाशन किया गया है। अतः त्रुटियां रहना स्वाभाविक है। ऐसा विचार क्यों बना, इसका एक विशेष कारण था।

हमारी संस्कृति के उत्स वेद हैं। यह कितने सम्मान और स्वाभिमान की बात है कि मानव-ज्ञान के आदि स्रोत वेदों से हमारी संस्कृति की स्रोतस्विनी प्रस्रवित हुई है। ज्ञान का कितना विशाल भण्डार वेदों में निहित है इसका अनुमान कम-से-कम आधुनिक शिक्षा में स्नात आज का स्नातक तो लगा नहीं सकता; क्योंकि हमारी आधुनिक शिक्षा की धारा जिन कगारों को छूती हुई बह रही है, चाहे वे और जो कुछ भी हों, पर कम-से-कम गंगा के किनारे नहीं हैं। और यह एक सत्य है कि किसी जाति के अमिट इतिहास की कहानी उसकी संस्कृति की कहानी होती है। संस्कृति की जड़ जितनी गहरी होगी उतनी ही आंधियों को झेलने की क्षमता उस जाति में होगी। पर आज इस परम सत्य को हमारी शिक्षा के कर्णधार भूल चुके हैं। समय उन्हें कभी क्षमा करेगा या नहीं, यह तो भविष्य बतलायेगा। अतः इस संस्कृति की थाती को सुरक्षित रखना उन संगठनों पर आ पड़ा है जो सांस्कृतिक जीवन से जुड़ी हुई हैं।

स्वामी दयानन्द के आगमन से पूर्व व पश्चात् ऐसे संगठन संगठित न हुए हों, ऐसी बात नहीं। पर उनमें से किसी के पास भी तो ऐसा कार्यक्रम नहीं था जिस की परिधि में वेदों से लेकर छुआ-छूत व जातिवाद तक, सती प्रथा व विधवा विवाह से लेकर स्त्रियों की शिक्षा तक, भाषा से लेकर देश की स्वतन्त्रता तक समाज, संस्कृति व देश की सम्पूर्ण समस्याएं समा सकें। ब्रह्म समाज सती प्रथा व अन्य प्रथाओं के विरुद्ध सुधार की भावना को लेकर चला, लेकिन ईसाइयत के प्रवाह को न राजा राम मोहन राय झेल सके और न ही ब्रह्म समाज! दोनों ही इंग्लिश चैनल की लहरों में डूब गये। प्रार्थना-समाज मात्र केशवचंद्र सेन की वक्तृत्त्व कला का चमत्कार था। वह ठोस सामाजिक नियमों के अभाव में संगठन न बन सका। रामकृष्ण मिशन में भावात्मक प्रवलता तो थी, लेकिन कर्मकांडीय व्यवस्था को बुद्धि की तराजू पर तोलकर सत्य को उजागर करने की क्षमता उसमें नहीं थी, अतः रूढ़ियों व कर्मकांडीय व्यवस्थाओं को सत्य स्वीकार करने के अतिरिक्त उसके पास कोई उपाय ही नहीं था। स्वामी शंकराचार्य का दिग्विजय-अभियान बुद्धि की पराकाष्ठा थी, लेकिन वे उपनिषदों तक आकर ही रुक गये, वे वेदों तक न पहुंच सके। दूसरे सांसारिक व्यवहारिकता के अभाव में वे समाज से ऐसे कट गये कि समाज की वास्तविकता को पहिचान ही नहीं पाये।

तो इस दृष्टि से आर्यसमाज का क्षेत्र इतना व्यापक ठहरता है कि सुधार

का कोई भी पथ उससे अछूता नहीं रहता। वह समय ऐसा था कि लोग वेदों को भूल चुके थे। उनके ऐसे अर्थ किए गये कि जिन्हें सुनकर भी सिर शर्म से झुक जाता है। वेदों पर लगे इस कालुष्य को स्वामी दयानन्द ने अपने ज्ञान की झाड़ू से साफ कर वेदार्थ का ऐसा मार्ग प्रशस्त किया कि वेद चमक उठे। आज यदि वेदों के ज्ञान को पुनः स्वीकारा जाने लगा है और यदि यज्ञों से घर सुगन्धित होने लगे हैं तो इसका श्रेय स्वामी दयानन्द व आर्यसमाज को है। यही कारण है कि जब आर्यसमाज से सम्वन्धित किसी ग्रंथ का सम्पादन किया जाता है, तो उसका क्षेत्र अतिविस्तृत हो जाता है। इस ग्रंथ का मूल स्वर वेद व वैदिक ज्ञान है।

इसके सम्पादन में सबसे पूर्व मैं उन आदरणीय विद्वानों को धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझता हूं जिन्होंने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर अल्प समय में ही लेख भेजने की कृपा की। पर साथ में दुःख भी है कि पृष्ठ संख्या सीमित होने के कारण कुछ को हम स्थान नहीं दे पाये। इसके लिए हम क्षमा प्रार्थी हैं। साथ ही उनसे भी क्षमा-याचना करना आवश्यक है जिनसे स्मारिका प्रकाशन के समय हमने लेख व संदेश मांगे ; पर पत्रिका के रूप में परिवर्तन हो जाने के कारण जिन्हें छोड़ देना पड़ा। इस अवसर पर यदि अपने सहयोगियों को—श्री दीपचंद जी निर्मोही, व श्री जनकराज जी शास्त्री को स्मरण न करूं तो अतिकृतघ्नता होगी, जिन्होंने प्रत्येक परिस्थिति में पूर्ण सहयोग दिया। यद्यपि मुझे उन महानुभावों को, जिनकी योजना व प्रयास से ग्रंथ का निष्पादन सुचारु रूप से हो सका, धन्यवाद पहिले देना चाहिए था, पर स्मरण बाद में कर रहा हूं। आर्यसमाज के प्रधान श्री दिलीप सिंह जी 'आर्य' तथा श्री रामानन्द जी शिंगला के प्रयत्न व इच्छा का ही परिणाम है कि इस पुस्तक ने साकार रूप लिया। सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने इस योजना के क्रियान्वयन में अर्थ को कभी बाधा नहीं बनने दिया। उनकी दृष्टि में यह ग्रंथ अर्थ-अर्जन का साधन नहीं, वेद प्रचार का माध्यम है। सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस के मालिक श्री नरेन्द्र जी का सहयोग तो अद्भुत ही था कि जब हम समय की कमी के कारण पूर्ण निराश हो चुके थे, और प्रिंटिंग व्यवस्था मंझधार में पड़ी थी, तो उन्होंने १५ दिन में ही पुस्तक छाप कर हमारे हाथ में थमा दी। हमारा यह प्रयत्न सफल हुआ या असफल यह तो विज्ञ पाठकगण ही वतायेंगे। समयाभाव के कारण हम प्रूफ पढ़ने पर उतना ध्यान नहीं दे पाए जितना देना चाहिए था अतः त्रुटियां अवश्य रही होंगी यह हम जानते हैं। इसके लिए क्षमाप्रार्थी हैं।

चित्रों के लिये आर्टिस्ट श्री प्रशान्त जी तथा 'ऋग्वेद संहिता' के प्रकाशक व चित्रकार श्री जीन ले मी तथा इन्गबर्ट ग्रटनेर—Jean Le Me: and Ingbert Gruttner के आभारी हैं।

—योगेश्वर देव

भूमिका

सुख-शान्ति का अभिलाषी मनुष्य अपनी परिस्थिति के अनुसार कभी भौतिक और कभी आध्यात्मिक साधनोपायों से उसे पाने के लिए सचेष्ट रहता है। परन्तु उसकी सुख-शान्ति का आदर्श वही होता है जिससे वह प्रभावित होता है। इस समय सारा संसार पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित है और उसी को सबने अपना आदर्श मान लिया है। किन्तु भौतिक उन्नति से उत्पन्न भोग-विलास, रोग स्पर्धा और युद्धों से भयभीत होकर उससे त्राण चाहता है। वस्तुतः जीवन का ध्येय भौतिक कभी नहीं हो सकता। धन, धन के लिए नहीं, धन से प्राप्य वस्तुओं के जुटाने के लिए होता है। वस्तुएं, वस्तुओं के लिए नहीं, शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जुटाई जाती हैं। शरीर, शरीर के लिए नहीं, उपभोग का साधनभूत होता है। उपभोग भी, उपभोग के लिए नहीं, उससे होने वाले सुख या आनन्द के पाने के लिए होता है। और यह सुख और आनन्द की अनुभूति शरीर का नहीं, अभौतिक आत्मा का विषय है। इस प्रकार जीवन का ध्येय अन्ततः अभौतिक अथवा आध्यात्मिक ठहरता है।

धर्म के अनुसार जीवन बिताने से लोक-परलोक दोनों का सुख प्राप्त हो सकता है। इसलिए धर्म का लक्षण करते हुए महर्षि कणाद ने कहा है— 'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' अर्थात् जिससे अर्थ-काम संबंधी लोक सुख की और मोक्ष संबंधी परलोक सुख की सिद्धि हो, वही धर्म है।

धर्म का यह लक्षण बहुत ही व्यापक है। जब अभ्युदय का साधन धर्म है तो अभ्युदय अर्थात् भौतिक पदार्थों का उपभोग पाप कैसे हो सकता है? जीवन की सामान्य आवश्यकताओं से लेकर चक्रवर्ती राज्य तक उसके अन्तर्गत है। जब सृष्टि की रचना ही जीवों के लिए की गयी है तो सांसारिक पदार्थों का उपभोग करना न केवल अनुचित नहीं, अपितु स्वाभाविक एवं आवश्यक है। मनुष्य द्वारा अपनी शारीरिक आवश्यकताओं को बाह्य साधनों से पूरा करने का नाम भोग है। यदि मनुष्य निर्दोष साधनों से अपना भोग्य प्राप्त करे और सीमित रूप में संयम पूर्वक उसका उपभोग करे तो वह तनिक भी दोषी नहीं होगा।

बुराई तब होती है जब वह भोग्य पदार्थों को प्राप्त करने के लिए हेय साधनों से काम लेता है। जब वह वैभव के लिए ठगी, शक्ति के लिए क्रूरता और इंद्रिय सुख के लिए दुराचार आदि का प्रयोग करता है तो वह अपराधी बन जाता है। भविष्यत् का आधार वर्तमान है। अतः जन्मान्तर की चिन्ता करने से पहले वर्तमान जीवन की आवश्यकताओं को जुटाना अपेक्षित है। मोक्ष प्राप्ति में साधन रूप शरीर और 'भोगापवर्गार्थं: दृश्यम्' की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

द्रव्यादि पदार्थ हमारी सुख-सुविधाओं के जनक हैं। परन्तु अपने स्वरूप में वे 'श्वोभावा'—क्षणभंगुर अर्थात् नश्वर हैं। पदार्थों की इस वास्तविकता को समझ लेने के पश्चात् विवेकी पुरुष आत्मवित् हो जाता है, अर्थात् अपने शाश्वत स्वरूप को पहचानने लगता है। द्रव्यादि पदार्थ परिणामी एवं नश्वर हैं; एक आत्मतत्व ही इनसे भिन्न अविनाशी है—ऐसा जानकर वह देह और उसकी वासनाओं में सदा के लिए लिप्त न होकर जन्म-जन्मान्तर के रूप में आवर्तमान चक्र से निकलने की सोचने लगता है। यही ज्ञान आत्मा को निःश्रेयस के मार्ग में प्रवृत्त करता है।

वैदिक धर्म संसार और आत्मा के अन्तर को स्पष्ट कर आत्मा को मुख्य और शरीर को गौण बताता है। जब मनुष्य यह जान लेता है कि मनुष्य का शरीर उस पिंजरे के समान है जिसमें जीवात्मा के रूप में एक तोता बैठा है तो संसार को देखने का उसका दृष्टिकोण बदल जाता है, सांसारिक उन्नति कुछ सीमा तक आत्मोन्नति में सहायक होती है। परन्तु जब भी इसका उल्लंघन होने लगता है, धर्म उंगली उठाकर संकेत कर देता है कि बस, आगे नहीं जाना। आज का मनुष्य आत्मा की चिंता न कर पिंजरे को सजाने में लगा हुआ है परन्तु उसमें रहने वाले तोते की परवाह नहीं करता। पिंजरे को सुन्दर बनाना कोई बुरी बात नहीं है परन्तु उसमें बन्द तोता यदि अधमरा है तो पिंजरे की सुन्दरता किस काम की? संसार को सुन्दर बनाओ पर मानवता को खोकर नहीं। शरीर को सुख दो, किंतु आत्मा की हत्या करके नहीं।

सांस्कृतिक दृष्टि से देश कितना दिग्भ्रान्त है इसका अनुमान हम शिक्षण संस्थाओं से लेकर गणतन्त्र दिवस पर राज्यों एवं केन्द्र की राजधानी में आयोजित समारोहों से लगा सकते हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः सांस्कृतिक कार्यक्रमों के नाम पर हल्के फुल्के गीतों, गजलों, कव्वालियों और भौण्डे नृत्यों से जहां शिक्षण संस्थाओं में सतही मनोरंजन करते हैं वहां राजधानियों में लोक-जीवन की झलक देने वाली झांकियों से अपने को धन्य मानते हैं या सिने०तारिकाओं के दर्शन कराके देश को सांस्कृतिक स्तर की रक्षा कर लेते हैं। राष्ट्रीय समारोह में सांस्कृतिक कार्यक्रमों के नाम पर यह हल्कापन न हमारी दृष्टि को भारतीय रहने देता है और न राष्ट्रीय जीवन की गरिमा को ही बनाये रख पाता

है । पाश्चात्य जीवन पद्धति की कलम हम भारत में लगा तो सकते हैं किंतु उसके लिए वैसा हवा पानी न मिलने के कारण वह इस देश में फल-फूल नहीं सकती । जिस देश में हमने जन्म लिया है, जिसके अन्न-जल से हमारा पोषण हुआ और जिसके इतिहास और संस्कृति की प्रकृति हमारी रग-रग में बसी है उससे दूर भागने की चेष्टा करना कृतघ्नता नहीं तो क्या है ?

वस्तुत: संस्कृति को देशकाल की सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। विकृति के अनेक रूप हो सकते हैं, किंतु संस्कृति के नहीं, वेदों में केवल एक जगह संस्कृति शब्द आया है । वहां कहा है—'सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा' । वैदिक अथवा भारतीय नाम से अभिहित संस्कृति सबका कल्याण करने वाली है। वह सार्वभौमिक तथा सार्वकालिक है। ज्ञान-विज्ञान के अक्षय भण्डार वेद ईश्वर प्रदत्त वह दिव्य ज्ञान है जिसके आलोक में मनुष्य लौकिक तथा पार-लौकिक दोनों प्रकार की उन्नति कर सकता है । वही वैदिक संस्कृति का मूला-धार है । वेद में जो कुछ कहा है वह लगभग दो अरब वर्ष पुराना है। किंतु प्रभु की शाश्वत वाणी होने से वह आज भी नया है। हमारे लिए वह आज भी उतना ही उपादेय है जितना हमारे पूर्वजों के लिए था । इसी मान्यता के अनुसार वेद की अनादि काल से प्रवहमान पीयूषधारा में से कतिपय बिन्दुओं को लेकर प्रस्तुत 'धर्म और संस्कृति' धर्म के रूप में अमृतकलश की सृष्टि हुई है । इस वैविध्यपूर्ण कलात्मक रचना के लिए उसके संपादक श्री डॉ० योगेश्वर देव और उनके सहयोगी श्री दीपचन्द्र निर्मोही को शतशः बधाई देता हूं ।

—विद्यानंद सरस्वती

जिस क्षण देह में दुर्बलता प्रतीत हो उसी क्षण एक महान् विशालकाय गुजराती का स्मरण करो। जिस क्षण तुम्हारे मन में शिथिलता या कायरता का प्रवेश हो, उसी क्षण जीवन और उत्साह से ओतप्रोत उस तेजस्वी देश-भक्त का स्मरण करो। जिस क्षण तुम्हारे हृदय में मोह और विलास का साम्राज्य प्रवर्तित हो, उसी क्षण धन को ठोकर मारने वाले उस नैष्ठिक ब्रह्मचारी की ओर दृष्टि करो। अपमान से आहत होकर जिस क्षण तुम ऊंची नज़र न उठा सको, उसी क्षण हिमालय के समान अडिग और उन्नत व्यक्ति के ओजस्वी मुख को अपनी कल्पना में उपस्थित करो। मृत्यु-वरण करते हुए डर लगे, तो उस निर्भयता की मूर्ति का ध्यान करो। द्वेषभाव से उत्पन्न होकर तुम्हें सपने विरोधी को क्षमा करने में हिचकिचाहट हो, तो उसी क्षण विष दिलाने वाले को आशीर्वाद देते हुए एक राग द्वेष मुक्त संन्यासी को याद करो।

यह गुजराती व्यक्ति स्वामी दयानन्द है। यह गौरवशालो पुरुष भारतीय महापुरुषों में अग्र स्थान पर विराजमान है।

रमणलाल बसन्तलाल देसाई
(गुजराती के राष्ट्र कवि)

विषय-सूची

दयानन्द : व्यक्तित्व और कार्य	स्व० श्री अरविन्द अनु० आचार्य अभयदेव	१७
वेदों से ही वेदों को देखो	श्री नरदेव शास्त्री	३३
ऋषि दयानन्द की देन	श्री पं० गंगा प्रसाद उपाध्याय	३९
समानाधिकार के सूत्रधारः स्वामी दयानन्द सरस्वती	प्रो० उमाकान्त उपाध्याय	४८
चित्र—समानो मन्त्रः समितिः···		५५
वेद ईश्वरीय ज्ञान है	पं० वाचस्पति एम० ए०	५६
क्या ऋषि नाम सार्थक है ?	राधेश्याम अरोड़ा	६७
स्वामी दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य पर एक तुलनात्मक दृष्टि	डॉ० रामनाथ वेदालंकार	७५
महर्षि दयानन्द का याजुषभाष्य तथा शातपथ व्याख्यान	वेदपाल एम० ए०	९८
चित्र—'विश्वं प्रतीची···		१०७
वेदमन्त्रों का तुलनात्मक अनुशीलन	पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति	१०८
वेदों में विज्ञान तथा कला-कौशल	डॉ० सत्यकाम भारद्वाज	१४०
वेद और ऊर्जा के संसाधन	पं० वीरसेन जी वेदश्रमी	१६४
चित्र—ऋतं च सत्यं···		१७४
अनुमान	डॉ० योगेश्वर देव	१७५
वेदों में गणित विद्या की चर्चा	डॉ० शिवपूजन सिंह कुशवाहा	१७६
वैदिक गणित	प्रो० कँवरभान सेतिया	२००
इन्द्र	डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल	२१६
वैदिक काव्य		२३३
वैदिक राज्य तंत्र की रूपरेखा	आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति	२३६
वैदिक यम—एक दृष्टिकोण	आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री	२४४

'गायत्री' दो विचार	डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल एवं डॉ० सत्काम भारद्वाज	२५२
आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को देन	डॉ० भवानीलाल भारतीय	२७०
प्रकृति और सर्ग	आचार्य उदयवीर शास्त्री	२७५
मांझी	डॉ० योगेश्वर देव	२९५
चित्र—'नासदासीन्नो'		२९६
वैदिक सामाजिक मान्यताएं	डॉ० कृष्णलाल	२९७
गृहस्थ का वैदिक आदर्श	प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार	३१४
वैदिक युग में स्त्रियों की स्थिति	प्रो० हरिदत्त वेदालंकार	३२६
अद्वैतवाद	स्वामी विद्यानन्द सरस्वती	३३२
उपनिषदों में सृष्ट्युत्पत्ति विचार	डॉ० निरूपण विद्यालंकार	३४१
चित्र—उदुत्यं जातवेदसम्···		३४८
क्या यास्क के निर्वचन पागल के गीत हैं ?	डॉ० युधिष्ठिर मीमांसक	३४९
आख्यान और इतिहास में भेद	आचार्य विश्वश्रवा व्यास	३५९
भारत की सांस्कृतिक अस्मिता के संरक्षक महर्षि दयानन्द सरस्वती	प्रो० विजयेन्द्र स्नातक	३६४
आर्य समाज और हिन्दी-पत्रकारिता	क्षेमचंद्र 'सुमन'	३७५
वैदिक सूक्तियाँ		४०१

ऋषिः—असितः(बन्धन रहित)

देवता—पवमानः सोमः

छन्दः—गायत्री

स्वरः—षड्जः

परिप्रासिष्यदत् कविः
सिन्धोरूर्मावधिश्रितः।
कारूं बिभ्रत् पुरुस्पृहम् ॥

साम पूर्वार्चिक ५.१०.१० ॥

(सिन्धोः) समुद्र की (ऊर्मी) लहर पर (अधिश्रितः) सवार हुआ (कविः) क्रान्तदर्शी (पुरुस्पृहम्) लोकप्रेम की (कारूम्) तन्वी को (बिभ्रत्) उठाये हुए (परि प्रासिष्यदत्) चारों ओर बह गया।

परिप्रासिष्यदत्

सिन्धु की इन ऊर्मियों पर, बह गया कवि बाँसुरी ले,
बह गया सब ओर प्यारा—उठ रहे गायन सुरीले ।

एक मञ्जु हिलोर···सारा सरल विश्व विभोर—सा हो,
बढ़ गया उसकी स्पृहा में—बंध गया ज्यों जोर-सा हो ।

और अब उसको भला क्या ! व्योम के ऊपर चढ़ा है,
लीन अपनी रागिणी में, प्रेम ही से वह बढ़ा है ।

तान उसकी छू रही है मुग्ध-से इस विश्व का दिल,
ज्योतियाँ सौन्दर्य-रस की उल्लसित उससे हिलीं मिल ।

देखना ! आसान है क्या इस कला की रूप-रेखा ?
तू स्वयं संगीत-स्वर है, देव है यह आज देखा ।।
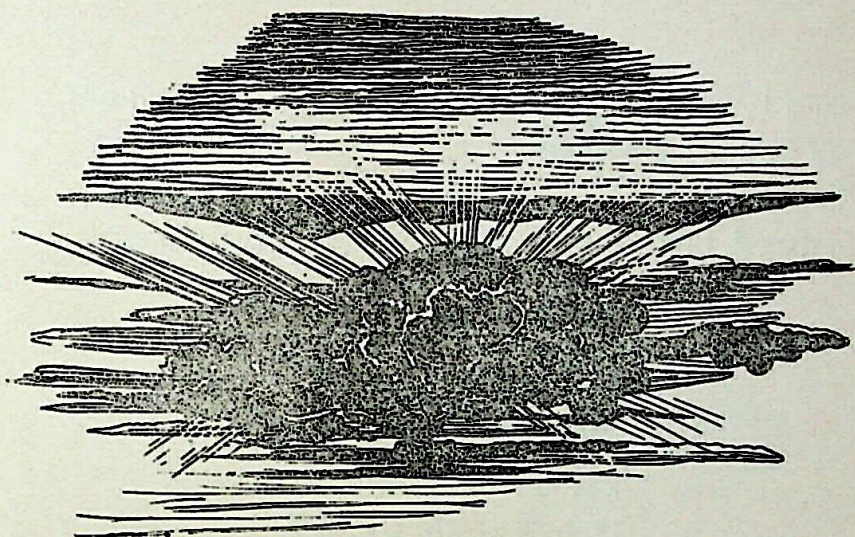
ऋषिः—वसिष्ठः

देवता—अग्न्यादि

छन्दः—निचृज्जगती

स्वरः—निषाद

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे,
प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं,
प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम ॥

यजु० ३४.३४ ॥

हे प्रभो ! हम (प्रातः) प्रातःकाल (अग्निं) तुम्हारे तेजोमय अग्निरूप का (इन्द्रं) ऐश्वर्यमय इन्द्ररूप का (मित्रावरुणौ) स्नेह तथा न्याय-मय मित्र और वरुण रूप का, और (अश्विनौ) आदान-विसर्गात्मक अश्विनी रूपों का (हवामहे) अह्वान करते हैं। हे आराध्यदेव ! हम आपके (भगं) दिव्य महिमामय भगरूप का (पूषणं) पुष्टि देने वाले पूषा रूप का (ब्रह्मणस्पतिं) अखिलज्ञानमय ब्रह्मणस्पति रूप का, तथा (सोमं उत रुद्रं) आपके सौम्य एवं रौद्र-गुण संपन्न सोम और रुद्र रूप का (प्रातः) प्रतिदिन प्रातःकाल (हुवेम) अह्वान करें।

प्रभात वन्दन

कान्त ! सूर्य उषा पहली,
इस वसुधा की शान सुनहली—
किरणों से घर मेरा भर दो,
नतशिर हूं, प्रिय ! सुन्दर वर दो।

अपने विविध शक्तियों वाले,
रूप एक ही साथ निराले,
इस प्रभात-सुन्दर वेला में,
दिखलाओ, हे माया वाले,

तेजोमय ! वर्चस्वी हम हों,
प्रभु, गौरवमय हों सहृदय हों।
न्याय-प्रेम की मूर्ति ! दिलों में,
बसे प्रेम, व्यवहार सदय हों।

प्राण ! प्राणमय ही जीवन हों,
पूषा ! पुष्ट, हमारे मन हों।
वेद ! सत्य विद्या का धन हो,
सोम ! शांति का व्रत पालन हो।

रुद्र ! पराक्रम हो भुजबल हो,
इन्द्र ! विभव सम्मान अचल हो,
आँख खोलते ही, शय्या पर—
ध्यान तुम्हारा ही केवल हो।।
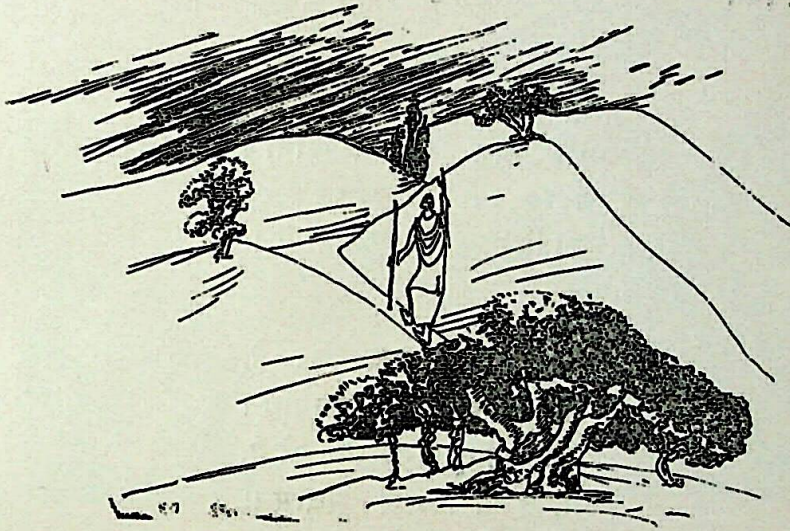
ऋषिः—कुत्सः

देवता—आत्मा

छन्दः—उपरिष्टाद् बृहती ।

स्वरः—मध्यमः

यो भूतं च भव्यं च,
सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर्यस्य च केवलं
तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

अथर्व० १०.८.१ ॥

(यः) जो (भूतं) अतीतकाल (च) और (भव्यं) भविष्यत् काल का (अधितिष्ठति) स्वामी है (यश्च) और जो (सर्वं अधितिष्ठति) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का स्वामी है। अर्थात् जो नित्य और सर्वव्यापक है। (यस्य च स्वः) और जिसका आनन्द (केवलं) विशुद्धं अर्थात् द्वन्द्वातीत है, (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस सर्वतो महान् ब्रह्म को नमस्कार है।

प्रणमन

भूत भविष्यत् वर्तमान का,
जो प्रभु है अन्तर्यामी।
विश्व व्योम में व्याप्त रहा,
जो त्रिकाल का है स्वामी ।।

निर्विकार आनन्द कन्द है,
जो कैवल्यरूप सुखधाम।
उस महान् जगदीश्वर को है,
अर्पित मेरा नम्र प्रणाम ।।

ऋषिः—हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः ।

देवता—कः ।

छन्दः—विराट् त्रिष्टुप् ।

स्वरः—धैवतः ।

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा,
यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू,
कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

ऋक्० १०.१२.१४
यजु० २५.१२।।

(यस्य महित्वा इमे हिमवन्तः आहुः) जिसकी महिमा को यह बर्फीले पहाड़ कह रहे हैं, (यस्य रसया सह समुद्रम्) जिसकी महिमा नदियों सहित यह समुद्र कह रहा है, (इमाः प्रदिशः यस्य बाहू) यह दिशाएं जिसकी बाहुतुल्य हैं, (कस्मै देवाय हविषा विधेम) उस सुखस्वरूप देव का हम पूजन करें ।

कस्मै देवाय

रे मन ! उसका कर, चिन्तन,
ऊँचे-ऊँचे व्योम विचुम्बित,
शैल शृङ्ग उत्तुंग हिमावृत,
अविचल पर्वत हैं महिमान्वित—
करते जिसका आराधन।

विरहिन व्याकुल-सी सरितायें,
बढ़ा-बढ़ा कर दीर्घ भुजाएं,
गा-गाकर जिसकी महिमाएं,
करती अविरत आवाहन।

युग-युग के वियोग से विह्वल,
सागर जिसे पुकारे प्रतिपल,
सभी दिशाएँ फैला आँचल,
करती जिसका अभिनन्दन।
रे मन, उसका कर चिन्तन॥

ऋषिः—मधुच्छन्दाः। (मीठे सकल्पों वाला)

देवता—अग्निः।

छन्दः—गायत्री।

स्वरः—षड्जः।

उप त्वाऽग्ने। दिवे-दिवे,

दोषावस्तर्धिया वयम्।

नमो भरन्त एमसि॥

ऋक्० १.१.७॥

साम पूर्वाचिक १.१.६॥

(अग्ने) हे अग्ने! (वयं) हम (दिवे-दिवे) प्रतिदिन (दोषावस्तः) रात और दिन के समय (सांझ-सवेरे) (धिया) बुद्धि व कर्म से (नमो भरन्तः) नमस्कार की भेंट लाते हुए (त्वा) तेरे (उप)समीप (एमसि) आ रहे हैं।

उपैमसि

आ रहा हूँ पास तेरे ।
मैं समझता था कि यह दिन रात का है चक्र निर्दय,
मैं समझता था कि यह करता सभी को मृत्यु में लय,
प्रश्न उठता था कि है यह कौन क्रीड़ा कौन अभिनय ?
आन पर आई यहाँ बन, और तुझको सुख ? दयामय !
रात-दिन सन्ध्या सवेरे ।
आ रहा हूँ पास तेरे ।।

जानता हूँ भेंट देने की सदा-सी रीति प्रचलित,
जानता हूँ बुद्धि मेरी, हे असीम् नितान्त परिमित,
और सब सत्कर्म भी मेरे अधूरे और खण्डित,
किन्तु फिर भी कर रहा हूँ मैं इन्हें तेरे समर्पित,
सिर झुकाये लाज से रे !

कर्म भी तुझको समर्पित, कर्म की यह कामना भी,
भाव भी तुझको समर्पित, भाव की यह भावना भी,
मुक्ति तुझको भी समर्पित, मुक्ति की यह साधना भी,
अन्त की भी सिद्धि अर्पित, आदि की प्रस्तावना भी—
और क्या है पास मेरे ? हे चिरन्तन स्वप्न मेरे !
आ रहा हूँ पास तेरे ।।

ऋषिः—दध्यङ्ङाथर्वणः।

देवता—ईश्वरः।

छन्दः—भुरिगुष्णिक्।

स्वरः—ऋषभः

यतो यतः समीहसे
ततो नो अभयं कुरु।
शं नः कुरू प्रजाभ्यः,
अभयं नः पशुभ्यः॥

यजु० ३६.२२॥

(यतः यतः) जहाँ-जहाँ से तुम (सं ईहसे) सम्यक् चेष्टा करते हो (ततः) वहाँ से (नः) हमें (अभयं) अभय (कुरु) कर दो। (नः) हमारी (प्रजाभ्यः) प्रजाओं के लिए (शम्) कल्याण (कुरु) कर दो और (नः पशुभ्यः अभयम्) हमारे पशुओं के लिये अभय कर दो।

अभयम्

क्या विस्तृत वसुधा-तल में
या अतल जलधि के जल में
क्या नील अनन्त गगन में
या हृदयों में, त्रिभुवन में
तुम जहाँ-जहाँ से भगवन् !
कर रहे सूत्र—संचालन;
भय रहित हमें प्रभु कर दो।
मंगल हो सबका, वर दो।
हों सुखी समस्त प्रजाएँ,
पशु भी निर्भय हो जाएं
उमड़े बस अन्तस्तल में
विश्वास प्रेम पल-पल में ॥

ऋषिः—बृहदुक्थः वामदेवः ।

देवता—इन्द्रः

छन्दः—त्रिष्टुप् ।

स्वरः—धैवतः ।

विधुं दद्राणं समने बहूनां,
युवानं सन्तं पलितो जगार ।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वा,
अद्या ममार स ह्यः समान ।।

ऋक्० १०.५५.५
साम ३.९.१.७
अथर्व ९.१०.९

(युवानं सन्तं) एक ऐसे नौजवान को (विधुं) जो कि विविध काम करने वाला है और (समने) रण में (बहूनां) बहुतों को (दद्राणं) मार भगाने वाला है उसे (पलितः) एक बुड्ढा (जगार) निगल जाता है। (देवस्य) देव के (महित्वा) इस बड़े महत्व वाले (काव्यं) काव्य को (पश्य) देख कि (ह्यः सम+आन) कल जो जी रहा था, सांस ले रहा था, (सः) वही (अद्य) आज (ममार) मरा पड़ा है।

वृद्ध कालदेव

एक बड़े अचरज की बात।
बड़े-बड़े युद्धों में जिसने, बहुतों को था मार भगाया,
पूरा किया विविध कामों को, जिसने अमित शौर्य दिखलाया।
ऐसा एक युवक मदमाता, विजय गर्व से चलता था,
उसने एक वृद्ध को देखा, जो सबको ही छलता था।
युवक भिड़ गया उससे तात ! ॥

बहुत वृद्ध था, श्वेत बाल थे, कितने साल पुराना था ?
कुछ अनुमान नहीं हो पाया, भय का कहीं ठिकाना था ! ?
आगे बढ़ा और तब उसने नौजवान को पकड़ लिया,
पलक मारते यों बुड्ढे ने उसे निगल कर हजम किया।
क्षण में और आ गई रात ॥

मैंने एक काव्य देखा है, उसमें लिखा हुआ है यह—
"कल जीवन का दम भरता था, आज मरा है देखो वह।"
सूर्य चन्द्र को निगल रहा है, और लोक को बुड्ढा काल,
समझ गया अब, सब 'अनित्य' है, नित्य सत्य सब वही अकाल।
मैंने देखा आज प्रभात॥
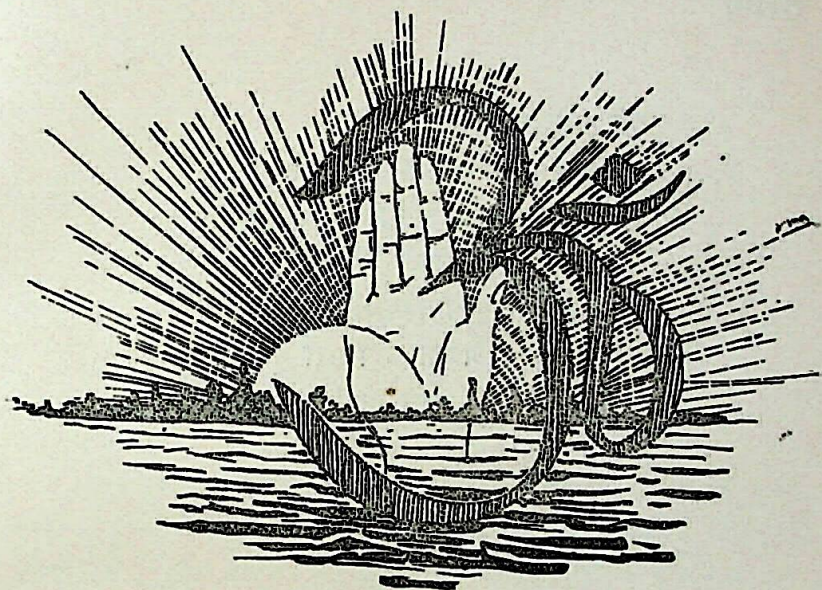
ऋषिः—गोतमो राहूगणपुत्रः ।

देवता—सोमः ।

छन्दः—विराड् गायत्री ।

स्वरः—षड्जः ।

सोम ! रारन्धि नो हृदि
गावो न यवसेष्वा ।
मर्य इव स्व ओक्ये ।।

ऋक् १.९१.१३ ।।

हे सोम ! (गावो न यवसेषु) जैसे जौ के खेतों के बीच में गायें रमण करती हैं और (मर्यः स्व ओक्ये इव) जैसे मनुष्य निजी घर में निवास करता है, वैसे ही (नः हृदि आ रारन्धि) तुम हमारे हृदय में आकर सदा रमण करो ।

रारन्धि

रमो-रमो अभिराम !
जैसे धेनु रमें यव-वन में,
बसें मनुज निज सौख्य-सदन में,
वैसे ही प्रिय ! मेरे मन में—
विहरो तुम अविराम,
भक्तों के प्रेमार्त्त हृदय में,
करो हरे ! विश्राम ॥

दयानन्द : व्यक्तित्व और कार्य

स्व० श्री अरविन्द

अनुवादक : आचार्य अभयदेव

उन विशेष महत्त्वशाली व्यक्तियों की पंगत में जिन्हें आने वाली संतति भारत के पुनरुद्धार करने वालों में अग्रणी करके गिनेगी, एक व्यक्ति है जो अपनी अनूठी और अपनी अनुपम विशेषता के कारण स्पष्ट औरों से जुदा खड़ा हुआ दृष्टिगोचर होता है, वह अपने ढंग का निराला है। यह ऐसा है जैसे कोई बहुत समय तक एक पर्वतश्रृंखला के बीच घूमता है जिस में के पर्वत यद्यपि कम और अधिक ऊंचाई के हैं, पर वे सब दूर तक एक जैसे आकार-प्रकार वाले और हरियाली आच्छादित हैं, उन की अधिक से अधिक वढ़ी-चढ़ी और ध्यान आकर्षित करने वाली ऊंचाई भी आंखों को खलती नहीं है। किन्तु उन सबके बीच में एक पहाड़ है जो उसे स्पष्ट जुदा ही दिखायी देता है। मानो निरा बल ही मूर्तिमान् होकर पहाड़ के रूप में खड़ा हो गया है, खुले और सुदृढ़ ठोस चट्टान का एक समुदाय विशाल रूप में ऊंचा उठा हुआ है, हरियाली से भरी हुई इसकी चोटी पर खड़ा एक सनोवर का वृक्ष आकाश से बातें कर रहा है, शुद्ध, प्रबल और उपजाऊ शक्ति वाले जल का एक सुविशाल जलप्रपात मानो उसके इस शक्तिपुंज में से ही फूट-फूटकर निकल रहा है जो कि इस सारी घाटी भर के लिये पानी का ही क्या किन्तु स्वयं स्वास्थ्य और जीवन का ही झरना है। यह है छाप जो मेरे मन पर दयानन्द के व्यक्तित्व की पड़ती है।

यह काठियावाड़ की भूमि थी जिसने इस महाशक्तिशाली पुनरुद्धारक और नवनिर्माणकर्त्ता को जन्म दिया। और उस विलक्षण भूमि की स्व-प्रकृति का, उसकी आत्मा का ही मानो कुछ अंश इसकी आत्मा में प्रविष्ट हो गया था; गिरनार का, उसकी चट्टानों और पहाड़ का कुछ अंश, उस समुद्र की शक्ति और गर्जन का कुछ अंश, जो आवाज करता हुआ इस प्रदेश के किनारों पर टकराता है; और कुछ अंश वहां की उस मानवता का जिसे प्रकृतिदेवी ने अपने अकलुषित

और विशुद्ध तत्त्व से बनाया दिखायी देता है, जो (मानवता) शरीर में सुन्दर और बलिष्ठ है, अम्लान-नूतन प्राणशक्ति से उज्जीवित है।

जब मैं दयानन्दविषयक अपनी भावना को अपने सम्मुख वर्णन करने का यत्न करता हूं और उसकी मुझ पर जो छाप पड़ी है, उसको ठीक-ठीक रूप देने की चेष्टा करता हूं तो इस पुरुष के—उसके जीवन के और कार्य के—उन दो महान् और सुप्रकट विशेष गुणों से प्रारम्भ करता हुआ अपने को पाता हूं, जो विशेष गुण इसे अपने समकालीनों और साथियों से स्पष्ट जुदा करते हैं। अन्य महान् भारतीयों ने जाति के आध्यात्मिक उपादान में अपने आप को एक प्रकार से उडेल कर आज के भारत के बनने में सहायता दी है! उन्होंने एक चलायमान और अनिर्धारित द्रव्य में अपने आप का आध्यात्मिक निषेचन किया जो द्रव्य एक दिन स्थिरता में आयगा और प्रकृति के एक महान् दृश्य जन्म के रूप में प्रकट होगा। उन्होंने एक प्रकार का जामन दे दिया, आकाररहित हल-चल और संक्षोभ की एक शक्ति दे दी जिसमें से साकार रूपों का प्रकट होना आवश्यक था। वे स्मरण किये जायेंगे ऐसी महान् आत्माओं और महान् प्रभावों के रूप में जो भारत की आत्मा में निवास करते हैं। वे हमारे अन्दर हैं और उनके बिना निःसन्देह हम वह न होते जो कि आज हम हैं। परन्तु किसी ठीक-ठीक आकार को लेकर यह नहीं कहा जा सकता कि यह है जो उस मनुष्य को अभिप्रेत था, यह कह सकना अति कठिन है कि यह वह आकार है जो कि उस आत्मा का ही ठीक मूर्त रूप है।

इस विलक्षण क्रिया के नमूने के तौर पर, जो क्रिया कि एक बृहत् और जटिल रचनाकार्य के समय बिलकुल आवश्यक होती है, मेरे समक्ष महादेव गोविन्द रानाडे का दृष्टान्त आ उपस्थित होता है। यदि कोई विदेशी हमसे पूछे कि इन महाराष्ट्रीय अर्थशास्त्री-सुधारक, देशभक्त ने कौन-सा वह विशिष्ट कार्य किया है जिसके कारण तुम अपनी स्मृति में उन्हें इतना ऊंचा स्थान देते हो तो हमें उत्तर देने में कुछ कठिनाई प्रतीत होगी। हमें मनुष्यों के एक विशेष समुदाय की उन हलचलों की तरफ संकेत करना पड़ेगा जिनमें कि उनकी आत्मा और विचार एक अमूर्त निर्माता के रूप में विद्यमान थे। हमें आज के भारत के उन महान् व्यक्तियों की तरफ इशारा करना पड़ेगा जिन्होंने इनकी आत्मा से आये हुए प्राण को ग्रहण किया था। और अन्त में हमें ऐसा प्रतिप्रश्न करके अपने उत्तर को समाप्त करना होगा "भला, महादेव गोविन्द रानाडे के बिना आज का महाराष्ट्र क्या होता? और महाराष्ट्र के बिना आज का भारत क्या होता?" परन्तु उन लोगों के विषय में भी जो वस्तुओं और मनुष्यों पर अपना दबाव छोड़ने में इनकी अपेक्षा कम आकाररहित और प्रसरणशील थे, उन कार्यकर्त्ताओं के विषय में भी जो अधिक सुप्रकट शक्ति और क्रिया वाले थे, मेरे

मन पर मूलतः यही छाप पड़ती है।

यदि कोई शक्ति की आत्मा हो सकती है तो विवेकानन्द शक्ति की आत्मा ही थे, वे मनुष्यों के बीच में साक्षात् सिंह थे, पर जो कुछ निश्चित कार्य वे पीछे छोड़ गये हैं वह उनकी रचना करने की शक्ति और सामर्थ्य की हम पर पड़ी छाप की दृष्टि से बिलकुल असम परिणाम है। हम उनके प्रभाव को अब भी बहुत बड़ी मात्रा में काम करता हुआ अनुभव करते हैं, हम अच्छी तरह नहीं जानते कैसे, हम अच्छी तरह नहीं जानते कहां, किसी वस्तु में जो अभी तक आकार में नहीं आयी है, कुछ सिंह-सदृश, महान् अन्तःप्रेरणा करने वाली, ऊपर उठाने वाली वस्तु अनुभव होती है, जो भारत की आत्मा में प्रविष्ट हो गयी है, और हम कहते हैं, "देखो, विवेकानन्द अपनी आत्मा में, उनके पुत्रों की आत्माओं में अभी तक जीवित हैं" यही बात सबके विषय में है। न केवल ये पुरुष अपने कार्यों की इयत्ता की अपेक्षा अधिक थे, किन्तु इनका प्रभाव इतना फैला हुआ और अमूर्त्त था कि इसका इनके किसी मूर्त्त कार्य के साथ जिसे ये पीछे छोड़ गये हैं कुछ विशेष सम्बंध स्थापित नहीं किया जा सकता।

दयानन्द की कार्य शैली बिल्कुल भिन्न थी। वह मनुष्य था जिसने वस्तुओं की अनिर्धारित आत्मा में आकाररहित तौर पर अपने आपका निषेचन नहीं किया था, किन्तु वस्तुओं और मनुष्यों पर अपनी आकृति की अमिट तौर पर, जैसे पीतल में मुद्रा अंकित कर दी हो, छाप लगा दी थी। वह मनुष्य था जिसके साकार कार्य उसके आत्मिक शरीर से जन्मे उसके पुत्र ही थे, सुन्दर और बलिष्ठ तथा प्राण से परिपूर्ण, बिलकुल अपने जन्मदाता की प्रतिकृतिरूप पुत्र थे। वह मनुष्य था जो निश्चित तौर पर और साफ-साफ उस कार्य को जानता था जिसे करने के लिये वह भेजा गया था, जिसने आत्मा की अधिकार पूर्ण दिव्यदृष्टि से देखकर अपनी साधन सामग्री का चुनाव किया तथा अपनी स्थिति को निर्धारित किया था और फिर अपने परिकल्पित विचार को एक जन्मसिद्ध कार्यकर्त्ता की शक्तिपूर्ण सिद्धहस्तता के साथ क्रिया रूप में परिणत किया था। जब मैं परमेश्वर के कारखाने के इस दुर्दम कारीगर की मूर्ति का ध्यान करता हूं तो मेरे सामने झुण्ड के झुण्ड चित्र आने लगते हैं, जो चित्र सबके सब लड़ाई के, कार्य के विजय के, विजयी परिश्रम के चित्र हैं। तब मैं अपने आप को कहता हूं कि यह है दिव्य प्रकाश का सैनिक, परमेश्वर के जगत् का योद्धा, मनुष्यों और सस्थाओं को बनाने वाला शिल्पकार, और आत्मा के सम्मुख प्रकृति जो कठिनाइयां उपस्थित करती है उनका निर्भीक और अदम्य विजेता। इस सब कुछ को, यदि सारांश में कह दूं तो, जो जबर्दस्त छाप मुझ पर पड़ती है वह है आध्यात्मिक व्यवहार्यता की। आध्यात्मिक और व्यवहार्यता जोकि आम तौर पर हमारी विचार कल्पना में एक दूसरे से इतने विपरीत समझे जाते हैं—इन दो शब्दों को जोड़-

कर बोल देना मेरी समझ में दयानन्द की परिभाषा ही कर देना है।

उसने जो काम किया, उसका वास्तविक स्वरूप क्या था इस विचार को यदि हम जाने भी दें तो भी केवल यह तथ्य ही कि उसने इसी भावना में काम किया और इसी प्रयोजन से काम किया, उसे हमारे महान् संस्थापकों में एक अद्वितीय स्थान प्रदान कर देता है। उसने राष्ट्रीय चरित्र में प्राचीन आयतत्व का फिर से स्थापन किया ! ये वे तत्त्व हैं जो हमें दयानन्द की वह बात बतला देते है जो मेरी दृष्टि में उसे अन्यों से भिन्न करने वाला उसका दूसरा विशेष गुण है। यह दूसरा गुण पहले का रहस्य है। हम अन्य लोग प्रभावों की एक धारा में रहते हैं और इन प्रभावों को हम अपने अन्दर आने देते और इनके अनुसार अपने को ढलने देते हैं, इससे कुछ वस्तु आकार ग्रहण करती है और उसमें से कार्य की एक स्वल्प मात्रा उत्पन्न होती है, शेष सब प्रभाव बिखर जाता और फिर प्रभाव-धारा में चला जाता है। हमें किस दिशा को ग्रहण करना है इस विषय में हम अनिर्धारितमति होते हैं, अतः जो अवस्थायें और परिस्थितियां सामने आती हैं किसी तरह उनके अनुकूल ही हम अपने को बना लेते हैं। जब कभी हम किसी अवसर पर लड़ाका और समझौता न करने की वृत्ति धारण करने को राजी होते हैं उस समय भी हम वास्तव में अवसरवादी ही होते हैं। दयानन्द ने जो कुछ उसके अन्दर प्रविष्ट हुआ उस सभी को ग्रहण कर लिया, अपने अन्दर उसे धारण किया, सिद्धहस्तता के साथ उसे वह आकार प्रदान किया जिसे साकार में इसका होना उसने उचित देखा और फिर उसे उसने उचित समझा। दयानन्द में जो हमें एक लड़कपन और आक्रामकपन लगता है वह उनके आत्म निर्धारण के बल का ही एक भाग था।

वह न केवल प्रकृति के महान् हाथों के प्रति स्वयं नमनशील था, किन्तु उसने जीवन और प्रकृति को भी एक नमनशील सामग्री के तौर पर इस्तेमाल करने के अपने अधिकार और शक्ति को स्थापित किया था। हम कल्पना कर सकते हैं कि दयानन्द आज भी हम लोगों में पौरुष और क्रिया की अपर्याप्त उत्प्लुति को देखकर हमें पुकारकर कह रहे हैं "हे भारतीय ! केवल असीम भाव में रहने तथा अनिश्चित भाव से बढ़ने से सन्तुष्ट मत होओ किन्तु देखो कि परमेश्वर तुम्हें क्या बनाना चाहते हैं, उनकी प्रेरणा के प्रकाश में निर्धारित करो कि तुम्हें आगे यह बनना है। उसे देखते हुए उसके अनुसार अपने आप को घड़ो ! जीवन में से घड़कर उसे तैयार करो। विचारक बनो, पर साथ ही करने वाले भी बनो, परमेश्वर के सेवक बनो पर साथ-ही-साथ प्रकृति के स्वामी भी बनो।" क्योंकि यह वही है जो वह स्वयं था, वह एक मनुष्य था, जिसकी आत्मा में परमेश्वर था, जिसकी आँखों में दिव्य दृष्टि के अनुसार जीवन में से आकृतियों को घड़ देने की शक्ति थी। 'घड़ना' शब्द उपयुक्त है। क्योंकि वह स्वयं चट्टान

था, और उसने मानो चट्टान में भारी-भारी चोटें पहुंचाकर वस्तुओं की आकृति को घड़-घड़कर बनाया था।

दयानन्द के जीवन में हमें हमेशा इस आध्यात्मिक व्यवहार्यता का शक्तिशाली प्रवाह दिखायी देता है। सर्वत्र उसके काम पर एक स्वतःस्फूर्त शक्ति और निश्चयात्मकता की छाप है। प्रारम्भ में ही हम देखते हैं, व्यवहार्य अन्तर्दृष्टि की यह कितनी दिव्य झांकी है कि वह फिर से सीधे भारतीय जीवन और संस्कृति के असली मूल तक पहुंचा और इसके आमूल नवीन जन्म के लिये उसने इसके सबसे प्रथम निकले फूल से बीज प्राप्त किया। और कैसे महान् बौद्धिक साहस का यह कार्य था कि उसने इस धर्मपुस्तक वेद का उद्धार किया जो कि अज्ञान-भरे भाष्यों से विकृत हो चुका था और जिसके असली अभिप्राय को भूला जा चुका था और लोग जिसे गलतफहमी के कारण अपने दर्जे से हटाकर पुरानी जंगली जातियों के लेखों के बराबर समझने लगे थे। उसने वेद की इस वास्तविक श्रेष्ठता को पहचाना कि यह वह धर्मपुस्तक है जिसमें इस देश और राष्ट्र को बनाने वाले पूर्वजों की गहरी और प्रबल भावना छिपी हुई है, वह धर्मपुस्तक जो दिव्य ज्ञान, पूजा और दिव्य कर्म की चर्चा से ओतप्रोत है। मैं नहीं जानता कि दयानन्द का जबर्दस्त और मौलिक भाष्य वेद पर प्रामाणिक शब्द के रूप में सर्वमान्य होगा या नहीं ! मैं खुद सोचता हूं कि इस अगाध और आश्चर्य जनक ईश्वरीय ज्ञान (वेद) के अन्य रूपों के खुलासा करने का कुछ सूक्ष्म कार्य अब भी शेष है। लेकिन इसका बहुत महत्त्व नहीं है। मुख्य बात तो यह है कि उसने वेद को भारत की युगों से चली आ रही चट्टान के रूप में ठीक-ठीक पकड़ लिया और इसमें अपनी सूक्ष्मदर्शी दृष्टि द्वारा यौवन की संपूर्ण शिक्षा अथवा संपूर्ण मनुष्यता और सम्पूर्ण राष्ट्रीयता को लेकर एक दृढ़ चट्टान पर भवन बनाने का साहसपूर्ण विचार किया। एक अन्य महान् आत्मा और शक्तिशाली कार्यकर्त्ता राममोहन राय ने बंगाल पर हाथ रखा—जो बंगाल सरिताओं और धान के खेतों के पास सोया पड़ा था—उसे उसकी लम्बी सुस्ती की नींद से हिलाकर किस महान् ध्येय तक पहुंचा दिया ! पर राममोहन राय थोड़ी दूर चलकर उपनिषदों पर ही ठहर गये, दयानन्द ने उससे परे तक देखा और यह पहचाना कि हमारा वास्तविक मूलभूत बीज 'वेद' है। उसके अन्दर राष्ट्रीय सहजज्ञान (Instinct) की शक्ति थी और वह इसे आलोकित करने में अर्थात् सहजज्ञान के स्थान पर अन्तर्दृष्टि (Intuition) की शक्ति बनाने में समर्थ हुआ। इसलिये उन रचनाओं को जो उससे निकली हैं, चाहे कितनी ही वे प्रचलित परम्पराओं के विरुद्ध हों, अवश्य ही गहरे रूप में राष्ट्रीय होना चाहिये।

राष्ट्रीय होने का अभिप्राय एक स्थान पर रुक जाना नहीं है। बल्कि, भूल की

सञ्जीवनी शक्ति को ग्रहण करके उसे वर्तमान की धारा में डाल देना ही वास्तव में पुनरुद्धार और नवनिर्माण का सबसे अधिक शक्तिशाली उपाय है। दयानन्द का कार्य वर्तमान सांचे में जीवन भरने के लिये भूत के इस प्रकार के तत्त्व और भावना को फिर से लाता है। और देखो, जीवन के अपने कार्यों में उसने उस भूत को ग्रहण किया हुआ है, जो निर्मल शक्ति के प्रथम प्रवाह के रूप में है, अपने आदि स्रोतों से सीधा आने के कारण पवित्र है, अपने मूलभूत नियम और अतएव किसी शाश्वत और हमेशा नवीन किये जा सकने योग्य तत्त्व के समीप है।

और जैसे उस के जीवन में वैसे ही कार्य में भी हम स्वतः स्फूर्ति निश्चित प्रयत्न और प्रबल रचना की वह शक्ति पाते हैं जो पूर्ण स्पष्टता, सत्य और ईमानदारी के आन्तरिक तत्त्व से आती है। किसी व्यक्ति का अपने मन में साफ होना अपने प्रति और दूसरों के साथ पूर्णतया सच्चा और सरल होना, और अपने कार्य की परिस्थितियों तथा साधनों के साथ पूरे तौर से ईमानदार होना यह हमारी टेढ़ी, पेचीदी और लड़खड़ाने वाली मनुष्यजाति में एक दुर्लभ देन है। 'आर्य' कार्य-कर्त्ता की यही भावना होती है और तेजोमय सफलता पाने का यह एक निश्चित रहस्य है। क्योंकि प्रकृति अपने दरवाजे पर हमेशा एक स्पष्ट, सच्चे और पहचानने योग्य खटखटाने को पहचान लेती है और परिणाम में वैसी ही पूरी सजगता और पूरे जोर के साथ उत्तर देती है। और यह उचित ही है कि उस आचार्य की आत्मा अपने अनुयायियों पर अपना चिह्न, अपनी निशानी छोड़ जाय, और भारत में किसी स्थान पर ऐसी संस्था विद्यमान हो जिसके बारे में यह कहा जा सके कि जब कभी कोई ऐसा काम दिखायी देगा जो आवश्यक हो और उचित हो तो उसे करने के लिये मनुष्य आयेंगे, साधन मिलेंगे, और वह काम अवश्य पूरा होगा !

सत्य एक सरल सी वस्तु लगती है, फिर भी अत्यंत कठिन है। सत्य ही वैदिक शिला का मूल मन्त्र था; आत्मा में सत्य, दृष्टि में सत्य, इरादे में सत्य और क्रिया में सत्य। क्रियात्मक सत्य, 'आर्यत्व,'—एक आन्तरिक निष्कपटता और दृढ़ सत्यहृदयता, स्पष्टता और वाणी तथा कर्म में स्फुट उदात्तता, यह प्राचीन आर्य-नैतिकता में स्वभावनिहित ही था। यह एक शुद्ध और अविकृत शक्ति का रहस्य है और इस बात का चिह्न है कि मनुष्य प्रकृति से बहुत परे नहीं हट गया है। यही ईश्वर के पुत्र, 'दिवस्पुत्र,' का औरसत्व है, उसके सच्चे पुत्र होने का प्रमाण है। यही वह छाप थी जिसे दयानन्द अपने पीछे छोड़ गया और यही उसका अपना चिह्न और प्रतिमा होनी चाहिये जिसके द्वारा कोई कार्य 'यह उससे प्रवर्तित है' इस रूप में पहचाना जा सके। ईश्वर करे उसकी भावना शुद्ध, अविकृत, अपरिवर्तित रूप से भारत में काम करे और उस वस्तु को फिर से हमें

देने में सहायता दे जिसकी हमारे जीवन में अत्यन्त आवश्यकता है—अर्थात् शुद्ध शक्ति, उच्च स्पष्टता, सूक्ष्मदर्शी आंख, सिद्ध हाथ तथा श्रेष्ठ और प्रभुत्व-पूर्ण सत्यता।

दयानन्द और वेद

दयानन्द ने वेद को अपनी आधारभूत दृढ़ चट्टान के रूप में अपनाया। वह वेद को अपने जीवन का मार्गदर्शक, अपनी आंतरिक सत्ता का नियम और अपने बाह्य कार्य का प्रेरणा-प्रदाता समझते थे। इतना ही नहीं, वे इसे शाश्वत सत्य का वचन मानते थे जिसको कि मनुष्य मात्र अपने ईश्वर विषयक ज्ञान के लिये, तथा उस दिव्य पुरुष के प्रति एवं मानव साथियों के प्रति अपने संबंधों के लिए उचित और दृढ़ आधार बना सकता है। पर दूसरी तरफ बहुत से लोग कहते हैं कि वेद की ऐसी किसी नित्य चट्टान का अस्तित्व ही नहीं है, वहां भी सब जगह पायी जाने वाली मिट्टी और रेत के सिवाय और कुछ नहीं है। वेद में पुराने काल के गड़रियों के गीतों के अतिरिक्त और क्या रखा है? वह केवल प्राकृतिक घटनाओं की उनमें पुरुष रूप कल्पित करके की गयी भद्दी पूजा है। बल्कि इससे भी घटिया यह कहा जा सकता है कि इसमें कर्मकाण्ड में बोले जाने वाले अर्धधार्मिक, अर्ध जादूभरे स्तोत्र हैं जिनको पढ़कर आदिकाल के अन्धश्रद्धालु पशुप्राय मानव आशा करते थे कि हमें सुवर्ण, अन्न और पशु मिलेंगे, हम अपने शत्रुओं का निर्दयतापूर्वक नाश कर सकेंगे, अपने को रोगों, अनर्थों एवं राक्षसी प्रभावों से बचा सकेंगे और इस प्रकार ऐहलौकिक स्वर्ग के स्थूल आनन्द को भोग सकेंगे। इन दो के साथ वेद सम्बंधी एक तीसरे विचार को भी हमें जोड़ना है। इस विचार शैली में, वस्तुतः, वेद के प्रतिपाद्य विषय की एक नीच कोटि की व्याख्या की गयी है? तो क्या इसी कारण इस प्रारम्भिक गड़बड़वाली चीज को धार्मिक शास्त्र और पवित्र कर्म (यज्ञ) के ग्रन्थ के रूप में इतना श्रेष्ठ और उत्कृष्ट माना गया है?

अब, वेद असल में क्या हैं यह कोई केवल विद्वत्ता सम्बंधी ही प्रश्न नहीं है। यह अत्यधिक महत्त्व का प्रश्न है। यह महत्त्वशाली न केवल इसलिये है कि इससे दयानन्द के कार्य का ठीक-ठीक अन्दाजा लगाया जा सकेगा, बल्कि इसलिये भी कि इससे हम अपने भूत के विषय में जान सकेंगे और अपने भविष्य बनाने वाले प्रभावों का विनिश्चय कर सकेंगे। कोई राष्ट्र जो कुछ उसने होना है उस अपने भावी रूप में जब अपने को विकसित करता है तो वह जो कुछ भूतकाल में था और वर्तमान में है उसी के बल पर अपने को विकसित करता है और उसके इस विकास में सचेतनतया और अवचेतनतया ऐसी जांच-पड़ताल करने के समय आते हैं जबकि उसकी राष्ट्रीय आत्मा उस सब का, जिसे कि उसने भूतकाल में पाया है या वर्तमान काल में पा रहा है, चुनाव करता है, उसका रूप परिवर्तन

करता है, उनमें से कुछ को छोड़ता है और कुछ को रखता है, इस दृष्टि से कि अपने भविष्य के विकास और कर्म के लिये उसे सामग्री रूप में और पूंजी रूप में किस चीज की आवश्यकता होगी। इस प्रकार की जांच-पड़ताल के समय में हम अब भी हैं और दयानन्द ऐसे समय के महान और विधायक आत्माओं में से था। परन्तु हमारे भूतकाल के समस्त पदार्थों में वेद सबसे अधिक पूजास्पद हैं और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सबसे अधिक शक्तिशाली भी रहे हैं। जब कि वेदों का अभिप्राय समझ में आना बन्द हो चुका था, जब कि वैदिक परम्परायें पौराणिक रंग-रूप की आड़ में लुप्तप्राय हो गई थीं ; उस समय भी, यद्यपि वेदों को लोग समझते नहीं थे तो भी वे आदर की दृष्टि से देखे जाते थे, प्रामाणिक इलहाम और ईश्वरीय ज्ञान की पुस्तक के तौर पर तथा समस्त आदेशों के मूलस्रोत और समस्त सत्य के प्रमाणग्रन्थ के तौर पर आदृत किये जाते थे।

पर वेद के विषय में हमेशा से यह दुहरी और परस्पर असंगत परम्परा रही है कि वेद कर्मकाण्ड की व गाथा की पुस्तक है तथा वेद दिव्य ज्ञान की पुस्तक है। ब्राह्मणों ने पहली परम्परा को आधार माना और अपनाया तथा उपनिषदों ने दूसरी को। पीछे से पण्डितों ने वेद को मुख्यतया कर्मकाण्ड की तथा सांसारिक कार्यों की पुस्तक के तौर पर मान लिया और विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति के लिये वे अन्यत्र शरण ढूंढने लगे, परन्तु जाति अपनी सहजप्रेरणावश वेद के आगे झुकती रही, वेद की उच्चतर परम्परा की अस्पष्ट स्मृति को उसने अदम्य रूप से अपने में बनाये रखा। और अब जब इस युग में आकर वेद को उसके धुंधले सुरक्षित स्थान से, अत्यन्त सम्मानपूर्ण उपेक्षा के पर्दे को हटा कर, बाहर निकाला गया तो फिर उसी घटना की पुनरावृत्ति होती है। आज जब कि एक तरफ पाश्चात्य विद्वानों ने सायण के निर्देशों का विस्तार करते हुए वेद को प्राकृतिक देवताओं के प्रति गाये गये कर्मकाण्डपरक स्तोत्रों की पुस्तक की श्रेणी में हमेशा के लिये रख दिया दीखता है, तो दूसरी तरफ जाति की प्रतिभा ने दयानन्द की चक्षुओं से देखते हुए, कई शताब्दियों से चली आ रही भूल का भी अतिक्रमण कर के, सुधार जान लिया कि वेद तो अनादिदैवी प्रकाश (इलहाम) का अन्तः प्रेरित ज्ञान तथा मानवता को प्रदान किया गया दिव्य सत्य है। जो कुछ भी हो, अब हमें वेद के विषय में इन दो में से किसी एक विचार का चुनाव कर लेना होगा। यह नहीं हो सकता कि हम अब अधिक देर तक वेद को अज्ञानपूर्ण आदर की तहों में लपेट कर या धार्मिक आत्मवंचना द्वारा संगोपित करके अत्यन्त पवित्र वस्तु की तरह सुरक्षित रख सकें। या तो वेद वह है जिसे सायण कहता है कि वेद यह है, और तब हमें वेद को ऐसे गाथाशास्त्र और कर्मकाण्ड के लेखों के तौर पर जिनमें कि अब विचारशील मनों के लिये कोई भी जीवित सत्य या बल नहीं रहा है, हमेशा के लिये पीछे छोड़ देना होगा या वेद वह है जिसे पाश्चात्य

विद्वान कहते हैं, और तब हमें वेद को अर्ध-असभ्य जाति की पूजा के पुरातन रिकार्ड के रूप में भूतकाल के अवशेषों में एक तरफ रख देना होगा। या फिर वेद सचमुच वेद है, दिव्य ज्ञान की पुस्तक है और तब हमारे लिये यह सर्वोपरि महत्त्व की चीज हो जाती है कि हम वेद को जानें और उसके सन्देश को सुनें।

यह आपत्ति उठायी जाती है कि वेद का दयानन्द-कृत अर्थ सत्य अर्थ नहीं हैं, यह कल्पनाकुशल पांडित्य एवं चातुर्य की मनमानी रचना है । उनकी शैली को यह दोष दिया जाता है कि वह स्वच्छन्द और बेढंगी है तथा समालोचनात्मक तर्क से अस्वीकार्य है । जो वेद को ईश्वरीय ज्ञान बताते हैं, उसपर यह कहा जाता है कि ईश्वरीय ज्ञान का विचार ही अन्धविश्वास है जिसे कि दुनिया छोड़ चुकी है, और जिसे कि किसी ज्ञानवान् पुरुष के लिए आज स्वीकृति देना या सचाई के साथ घोषणा करना असम्भव है। मैं इस समय दयानन्द ने वेदमन्त्रों की जो व्याख्या की है वह कहां तक ठोस है, इसकी यहां परीक्षा नहीं करूंगा, उनके वेदभाष्य पर भविष्य में क्या राय कायम की जायगी, इसकी भविष्यवाणी भी नहीं करूंगा और नाहीं उनके ईश्वरीय ज्ञान (इलहाम) होने के सिद्धांत पर विवाद छेड़ूंगा। मैं यहां केवल उन विस्तृत सिद्धांतों का जैसे कि वे मेरे सामने अपने आपको प्रस्तुत करते हैं, वर्णन करूंगा जो कि दयानन्द के वेद विषयक विचार के आधार हैं। क्योंकि किसी महान् आत्मा या महान् व्यक्ति के कर्म और विचार में जो मुख्य प्राणभूत वस्तु होती है वह, मेरे विचार में, यह नहीं होती कि उसने उन्हें क्या रूप प्रदान किया किन्तु यह होती है कि हमारी मानवीय संप्राप्ति और दिव्य संभावना के अभी तक के अत्यन्त स्वल्प भण्डार में उसने अपने कर्म द्वारा क्या सहायक शक्ति और प्रकट की और अपने विचार द्वारा क्या सहायक सत्य और जोड़ा, या यों कहें कि उसे पुनः प्राप्त करा दिया।

दयानन्द के आलोचकों ने जो उसके कार्य का अपलाप किया है, उसे पहिले लें और देखें कि वे कौन हैं जिनके मुख को यह कहना, यह आक्षेप करना कुछ शोभा दे सकता है कि दयानन्द ने वेद का अर्थ अपनी कपोलकल्पित और मनमानी चतुराई के साथ किया है? उनके मुख को तो यह शोभा नहीं दे सकता, जो कि सायण के परम्परागत भाष्य को स्वीकार करते हैं। क्योंकि यदि स्वच्छन्द पांडित्यपूर्ण चतुराई का, ऐसे महान् पांडित्य का (जैसे कि प्रायः पांडित्य हुआ करता है) जिसने कि न्याय्य निर्णय, एक लिखित रुचि और निर्दोष आलोचनात्मक तथा तुलनात्मक निरीक्षण को, प्रत्यक्ष देखने को, और यहां तक कि अत्यंत सीधी-सादी साधारण समझ तक को तलाक दे रखा हो, और प्राक्कल्पित सिद्धान्त से जबरदस्ती समता स्थापित करने के लिये मूल ग्रन्थ का लगातार तोड़-मरोड़ किये जाने का कोई स्मृतिचिह्न हो सकता है, तो वह निःसन्देह यही भाष्य है,

यद्यपि आचार्य सायण द्वारा हमें दिया गया यह भाष्य दूसरी तरह बहुत प्रभावोत्पादक, प्रारंभिक अनघड़ साधन के तौर पर बहुत उपयोगी, बहुत पांडित्यपूर्ण और बहुत परिश्रमसिद्ध है। नही ऐसा दोषारोपण उन लोगों के मुख में शोभा देता है जो कि योरोपियन विद्वानों के हाल में किये गये प्रयत्नों को वेद विषय में अन्तिम परिणाम समझते हैं। क्योंकि यदि कभी वैदिक व्याख्या का कोई ऐसा प्रयत्न किया गया है जिसमें चतुराईपूर्ण कल्पना के लिये अधिक से अधिक खुली लगाम छोड़ दी गई हो, जिस में सन्देहास्पद निर्देशों को निश्चित प्रमाणों के तौर पर झट से स्वीकार कर लिया गया हो, जिसमें तुच्छतम प्रमाण पर अति साहसपूर्ण परिणाम बड़े आग्रहपूर्वक निकाल लिये गये हों, अति महान् कठिनाइयों की भी उपेक्षा कर दी गयी हो और मूलग्रन्थ के स्पष्ट तथा प्रायः सर्वस्वीकृत निर्देशों के विरोध में होते हुए भी अपने प्राक्कल्पित पक्षपातों का प्रतिपादन किया गया हो तो वह निःसन्देह यही प्रयत्न है, यद्यपि योरोपियन वैदिक विद्वानों द्वारा शताब्दी भर के दीर्घकाल तक वेद पर किया गया यह प्रयत्न दूसरी तरह अपने उद्योग, सदिच्छा और अनुसन्धान की शक्ति की दृष्टि से बहुत ही आदरणीय है।

इस विषय में मुख्य भावात्मक बात कौन सी है जिस पर हमें विचार करना है ? वेद की किसी व्याख्या की सफलता या विफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें वेदप्रतिपादित धर्म का केन्द्रीय विचार क्या है और स्वयं वेद की अपनी अन्तःसाक्षी उस विचार की कितनी मात्रा तक पुष्टि करती है। यहां दयानन्द का दृष्टिकोण स्पष्ट है। उसका आधार अविचाली है, अखण्डनीय है। वेद की ऋचाओं में एक ही परम देवता के गीत गाये गये हैं, अनेक नामों द्वारा, ऐसे अनेक नामों द्वारा जो कि प्रयुक्त किये गये हैं और इसी अभिप्राय और उद्देश्य से सोच-विचार कर प्रयुक्त किये गये हैं कि उस एक देव के भिन्न-भिन्न गुणों तथा शक्तियों का वर्णन करें। क्या दयानन्द का विचार उसकी मनमानी घड़न्त था, जोकि उसकी अपनी ही अति चतुराईपूर्ण कल्पना द्वारा उपस्थित किया गया था ? कभी नहीं, यह तो स्वयं वेद का ही सुस्पष्ट वचन है—

एकं सद् विप्रा बहुधा बदन्ति ।
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

"(एकं सत्) एक ही सत् को (विप्रा) विप्र लोग (यह ध्यान देने योग्य है, अज्ञानी लोग नहीं, किन्तु, द्रष्टा, ऋषि लोग) (बहुधा बदन्ति) अनेक प्रकार से बोलते हैं (अग्निं यमं मातरिश्वानं आहुः) अग्नि नाम से बोलते हैं, यम कहते हैं, मातरिश्वा पुकारते हैं।" इस ऋचा के पूर्व भाग में कहा है कि इन्द्र, वरुण, मित्र, गरुत्मान् वही कहाता है। सो वेद के ऋषि लोग अवश्य अपने धर्म के विषय में अधिक जानते थे। यों कहें रौथ या मैक्समूलर की अपेक्षा कहीं अधिक जानते थे,

और यह है जो वे जानते थे—पूर्व मन्त्र इस प्रकार है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः ।।

हम जानते हैं कि आधुनिक विद्वान् इस प्रमाण से कैसी तोड़-मरोड़ करके वचते हैं। वे कहते हैं, यह ऊपर उद्धृत किया हुआ वेदमन्त्र पीछे की रचना है। यह इतना ऊंचा विचार जोकि इतने स्पष्ट बल के साथ प्रकट किया गया है, आर्यों के मन में किसी तरह बाद में उठा अथवा इन अज्ञानी अग्निपूजक, सूर्यपूजक, आकाशपूजक आर्यों के अपने मन में यह स्वयं उठा भी नहीं, किन्तु उन्होंने इसे सुसभ्य तथा दार्शनिक वृति वाले द्राविड़ियन शत्रुओं से लेकर पीछे से अपना लिया। परन्तु सारे ही वेद में हमें इस विचार की पुष्टि करने वाले मन्त्र और वचन मिलते हैं। अग्नि या इन्द्र या अन्य देवता ऋचाओं में स्पष्टतया इस प्रकार वर्णित किये गये हैं कि ये अन्य सब देवों के साथ एक हैं। अग्नि अपने अन्दर अन्य सब देवों की शक्तियां रखता है। मरुत् सब देवतामय वर्णन किये गये हैं, एक देवता जहां अपने नाम द्वारा वहां अन्य देवनामों द्वारा भी संबोधित किया गया है या जैसा कि प्रायः देखा जाता है, एक-एक देवता को जगत् का पति या विश्व का राजा मान कर ऐसे विशेषण दिये गये हैं जो कि परम एक देव को ही दिये जा सकते हैं। पर, योरोपीय कहेंगे, इसका यह मतलब नहीं हो सकता, न ही होना चाहिये, हो ही नहीं सकता कि वेद में 'एक ईश्वर की पूजा' है। इसके लिये एक और नया शब्द घड़ कर वे कहेंगे कि यह हिनोथिइज्म (Hentoheism) है और यह कल्पना करेंगे कि वैदिक ऋषि अग्नि या इन्द्र को वास्तव में एक परम देवता नहीं मानते थे। किन्तु किसी भी देवता के या प्रत्येक देवता के साथ सर्वोपरि एक परम देवता के जैसा तात्कालिक व्यवहार करते थे, शायद इसलिये क्योंकि वे लोग समझते थे कि इस प्रकार से वह देव अपनी अधिक प्रशंसा, खुशामद अनुभव करे और इतनी अतिशयोक्तिपूर्ण स्तुति को अधिक दया के साथ सुनें पर क्यों न वैदिक विचार के आधार को स्वाभाविक एकेश्वरवाद (Monotheism) ही माना जाय, इस नये निकाले भयंकर हिनोथिइज्म (Henotheism) की क्या जरूरत ? इसलिये क्योंकि प्रारम्भिक असभ्य लोग इस प्रकार के ऊंचे विचारों तक नहीं पहुंच सकते थे और यदि उन्हें वहां तक पहुंचा हुआ मान लिया जाय तो हमारे विकासवाद द्वारा अनुमत मानवीय उन्नति की क्रमिक अवस्थाओं के सिद्धांत पर पानी फिर जाता है और वेदमन्त्रों के आशय के बारे में तथा वेदों का मनुष्य जाति के इतिहास में जो स्थान है उसके बारे में जो हमने विचार बनाया है वह सबका सब नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। सत्य को चाहिये वह अपने आप को छिपा ले, साधारण समझ को भी चाहिये वह बीच में रोड़ा न बनकर एक तरफ हो जाय जिससे कि उनकी

एक थ्योरी, एक वाद फलफूल सके ! यही मतलब हुआ न ? मैं यहाँ पूछता हूं, खास इस मुद्दे पर पूछता हूं, और यह मुद्दा आधारभूत मुद्दा है, कि कौन यहां मूलदेव के साथ, बिना तोड़-मरोड़ के, सीधे और साफ तौर पर बरत रहा है दयानन्द या योरोपियन विद्वान ?

पर यदि दयानन्द का यह आधारभूत मुद्दा स्वीकार कर लिया जाता है और स्वयं वैदिक ऋषियों ने अपने देवताओं को जो स्वरूप प्रदान किया है उसे मान लिया जाता है तो हम इस बात के लिये बाधित हो जाते हैं कि जब कभी हम ऋचा में अग्नि या किसी अन्य देव का वर्णन पायें तो हम देखें कि उस नाम के पीछे सदा ऋषियों के विचार में एक परम देवता विद्यमान है । तो तत्काल वेद का सारा ही स्वरूप उस अर्थ में निश्चित हो जाता है जो अर्थ कि दयानन्द ने वेद को दिया है, केवल कर्मकाण्डपरक, गाथावादी और बहुदेवतात्मक सायण की व्याख्या ढह जाती है, केवल अन्तरिक्षविद्यापरक और प्रकृतिवादी योरोपियन व्याख्या भी ढह जाती है । उसकी जगह हमें असली ईश्वरीय शास्त्र मिल जाता है, जोकि दुनिया की पवित्रतम पुस्तकों में से है और एक उदात्त तथा महिमाशाली धर्म की दिव्य वाणी है ।

दयानन्द का बाकी सब वेदविषयक मन्तव्य इसी आधारभूत विचार का तर्क-सम्मत परिणाम है। यदि देवताओं के नाम एक परम देव के गुणों को बतलाने वाले हैं और ये गुण ही हैं जिनकी कि ऋषि लोग पूजा करते थे और जिनकी तरफ वे अपनी अभीप्सा को प्रेरित करते थे तो अवश्यम्भावितया वेद में दैवी प्रकृति की अध्यात्मविद्या का तथा मनुष्य के परमेश्वर के साथ संबंधों की विद्या का बहुत बड़ा भाग होना चाहिये, एवं उसमें मनुष्य की भगवन्मुखी प्रवृति के विधायक नियम के सतत निर्देश होने चाहिये । दयानन्द बलपूर्वक कहते हैं कि ऐसा नैतिक व आचारसंबंधी तत्त्व वेद में विद्यमान है। वे वेद में जीवन के उस नियम को पाते हैं जोकि परमेश्वर द्वारा प्राणी के लिये प्रदान किया गया है। और यदि वैदिक देवता उस परम देव की शक्तियों को प्रकट करने वाले हैं जोकि विश्व का रचयिता है, शासक है और पिता है तो अवश्यम्भावितया वेद में विश्व-विज्ञान का एक बड़ा भाग तथा सृष्टि के एवं विश्व के नियम का वर्णन होना चाहिये । दयानन्द बलपूर्वक कहते हैं कि ऐसा विश्वसम्बन्धी तत्त्व वेद में विद्यमान है। वे वेद में सृष्टिरचना के रहस्य को तथा प्रकृति के उस नियम को पाते हैं जिसके द्वारा वह सर्वज्ञ देव जगत् पर शासन करता है ।

न तो पाश्चात्य विद्वत्ता और न ही कर्मकाण्डीय पांडित्य इस बात में सफल हो सका है कि वह वेदमन्त्रों के इस आध्यात्मिक तथा नैतिक महत्त्व को विलुप्त कर दे, पर ये दोनों ही अपने-अपने कारणों से भिन्न-भिन्न अंश में इसे कम करने में प्रवृत्त रहे हैं। पश्चिमी विद्वान् इसे कम करते हैं, क्योंकि वे तब बेचैनी

अनुभव करते हैं जब कभी इन प्रारम्भिक काल के वचनों में (वेद में) वे ऐसे विचारों को वलात् सामने आते हुए देखते हैं, जोकि प्रारम्भिक कालीन नहीं हो सकते ; तब वे अपनी उन व्याख्याओं को भी अमुक स्थलों पर छोड़ देने में नहीं हिचकिचाते जिन्हें वे अन्य स्थलों पर स्वयं उपयोग में लाते हैं और जिन्हें वे अपनी ही शब्दशास्त्र सम्बन्धी तथा समालोचनात्मक तर्क द्वारा मिश्रित तौर से आवश्यकीय मानते हैं ; क्योंकि, यदि वे उन्हें हर जगह उपयोग में लावें तो, उनसे प्राय: वेद में ऐसे गम्भीर तथा सूक्ष्म विचारों की विद्यमानता सिद्ध हो जाती है जो विचार कि, उनकी सम्मति में, उन वैदिक आदिकालीन मनों में पैदा नहीं हो सकते थे ! सायण वेद के इस आध्यात्मिक तथा नैतिक महत्त्व को कम करता है, क्योंकि इसके मन्तव्य के अनुसार वैदिक शिक्षा का उपयोग ऐसे आचारसंबंधी धर्माचरण में नहीं है जिससे कि नैतिक तथा आध्यात्मिक परिणाम होते हैं, किन्तु याज्ञिक क्रियाकलाप के यांत्रिक तौर पर किये जाने में है जिससे कि भौतिक फल मिलते हैं। वैदिक देवताओं का ऋचाओं में सतत् ऐसा वर्णन आता है कि ये ज्ञान, शक्ति और पवित्रता के स्वामी, पवित्रकर्ता, दुःख और बुराई के निवारक, पाप और झूठ के विध्वंसक तथा सत्य के योद्धा हैं। ऋषि उनसे सतत प्रार्थना करते हैं कि हमारा दु:ख निवारण करो, हमें पवित्र करो, हमें ज्ञान के द्रष्टा और सत्व के स्वामी बनाओ, हमें दिव्य नियम में धारण करो, हमें वल, वीरता और शक्ति की सहायता प्रदान करो और हमें इन से सन्नद्ध करो। वेद में इस ईश्वरीय सत्य और धर्म के विचार को दयानन्द कहीं बाहर से नहीं ले आये। वेद यहूदियों की बाइवल तथा पारसियों की अवस्ता के समान ही या उससे भी कहीं अधिक ईश्वरीय नियम की पुस्तक है।

वेद में विश्व सम्बन्धी तत्त्व भी किसी तरह कम सुस्पष्ट नहीं हैं। ऋषि लोग हमेशा कहते हैं कि अनेक संसार हैं तथा उनके नियामक दृढ़ नियम हैं और विश्व में दिव्य क्रिया-प्रणालियां भी चलती हैं। पर, दयानन्द इससे भी आगे बढ़ते हैं, वे कहते हैं कि आधुनिक भौतिक विज्ञान के सत्य सिद्धान्त वैदिक मन्त्रों में प्राप्य हैं। यहाँ ही एकमात्र आधारभूत सिद्धान्त है जिसके विषय में हमारा सन्देह करना कुछ उचित हो सकता है। मैं अपनी अक्षमता स्वीकार करता हूं कि मैं इस विषय में अपनी कोई मिश्रित राय प्रस्तुत न कर सकूंगा। पर, इतना कहना आवश्यक है कि प्राचीन संसार के विषय में आजकल के ज्ञान की प्रगति, दयानन्द के विचार को उत्तरोत्तर पुष्ट कर रही है। पुरातन सभ्यताओं में अवश्य अनेक वैज्ञानिक रहस्य थे, जिनमें से कइयों को आधुनिक विद्या ने पुन: पाया है तथा विस्तृत, अधिक सम्पन्न एवं सम्यक्तया व्यक्त किया है, परन्तु अन्य रहस्य अब भी उसने पाये नहीं हैं। इस प्रकार दयानन्द के इस विचार में तनिक भी मनमानी काल्पनिकता नहीं है कि वेदों में धार्मिक सत्य के समान ही वैज्ञानिक सत्य भी निहित हैं। बल्कि मैं

और यह भी कहूँगा कि मेरा विश्वास तो है कि वेदों में एक दिव्य विज्ञान के अन्य सत्य भी हैं जो वर्तमान संसार के पास बिलकुल ही नहीं हैं। और तब तो दयानन्द ने वैदिक विद्या की गम्भीरता एवं विस्तार के विषय में अधिक नहीं किन्तु कुछ कम ही वर्णन किया है।

भाषा विज्ञान संबंधी तथा व्युत्पत्ति संबंधी उस पद्धति पर भी आपत्ति उठायी गयी है जिसके द्वारा दयानन्द अपने परिणामों पर पहुंचते हैं, विशेषतया तब जब कि वे देवताओं के नामों के साथ बरतते हैं। मैं निश्चित रूप से अनुभव करता हूं कि यह आपत्ति उठाना हमारी भूल है। उस भूल का कारण यह है कि हम इस प्राचीन भाषा के अनुशीलन में भी भाषा संबंधी आधुनिक विचारों को लगाने लगते हैं। हम आधुनिक लोग शब्दों का प्रचलित सिक्के की तरह उपयोग करते हैं जिसमें कि उनके मूलभूत अर्थ का कोई मूल्यांकन या स्मरण नहीं किया जाता। जब हम बोलते हैं तो हमारे ध्यान में कथित पदार्थ रहता है, इसका व्यंजक शब्द बिल्कुल नहीं रहता; शब्द तो हमारे लिए एक निर्जीव और अधम वस्तु है, वाचिक मुद्रापद्धति का केवल सिक्का मात्र है, जिसका कि अपना स्वयं कुछ मूल्य नहीं। इसके विपरीत प्राचीन भाषा में शब्द अपनी अर्थद्योतन की तात्त्विक शक्तियों के साथ एक जीती-जागती चीज था। उसके बाद मूलभूत (धात्वीय) अर्थ याद रखे जाते थे क्योंकि वे उस समय उपयोग में आते थे, उसके बल की संपत्ति वक्ता के मन के अंदर स्पष्ट रूप में विद्यमान रहती थी। आज हम बोलते हैं 'भेड़िया' और हमें उस एक पशुविशेष का ध्यान आता है, किसी भी अन्य ध्वनि से हमारा वह मतलब पूरा हो सकता है बशर्ते कि उस ध्वनि का प्रयोग उस अर्थ में रिवाज में आ चुका हो। प्राचीन लोग इसके लिए बोलते थे 'फाड़ डालने वाला' और तब यह आशय उनके अंदर विद्यमान रहता था। हम कहते हैं 'अग्नि' और हमें आग का ध्यान आता है, यह शब्द इसके अतिरिक्त हमारे अन्य किसी काम का नहीं। पर प्राचीन लोगों के लिए इसके अतिरक्त भी अग्नि के अर्थ थे, और यह भी था केवल इसलिए क्योंकि मूल (धातु) अर्थों में से एक या अधिक इस भौतिक बाह्य आग पर लागू होते थे। हमारे शब्द सावधानतापूर्वक एक या दो अर्थो के लिए सीमित रहते हैं, पर उनके शब्द बहुत से अर्थों को देने के लिए समर्थ होते थे और उनके लिए यह बिल्कुल आसान था—यदि वे ऐसा चाहते तो—कि वे अग्नि, वरुण या वायु जैसे किसी एक शब्द को बहुत से संबंध तथा पेचीदा विचारों के लिए एक ध्वनि-तालिका के रूप में उपयोग कर सकें, उसे एक कुंजी का काम देने वाले शब्द की तरह बरतें। इसमें कुछ संदेह नहीं है कि वैदिक ऋषियों ने वेदमंत्रों में अपनी भाषा की इस महत्तर शक्ति का अवश्य लाभ उठाया है—ऐसे शब्दों को जैसे 'गौ' या 'चंद्र' कैसे बरतते हैं, यह ध्यान देने योग्य है। वैदिक

शब्दों की इस विशेष क्षमता के बारे में निरुक्त भी साक्षी देता है तथा ब्राह्मणों और उपनिषदों में शब्दों के इस स्वतंत्र और प्रतीकात्मक उपयोग की यादगार अभी तक विद्यमान पाते हैं।

निस्संदेह दयानंद को वह लाभ प्राप्त नहीं था जो योरोपियन विद्वानों को भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा प्राप्त है। प्राचीन निरुक्त में कुछ दोष हैं जिनको कि नया ज्ञान, यद्यपि वह अपने आप में बुरी तरह दोषपूर्ण है तो भी, पूरा करने में हमें सहायता देता है और भविष्य में वेद के अर्थ-प्रकाशन के लिए इन दोनों ही प्रकाश के स्रोतों का हमें उपयोग करना होगा। तो भी इससे केवल विस्तारगत ब्योरे की बातों पर ही प्रभाव पड़ता है। दयानन्द की व्याख्या के जो आधारभूत सिद्धांत हैं, वे इससे अस्पृष्ट रहते हैं। विस्तारगत ब्योरेवार व्याख्या करना बुद्धि तथा पांडित्य का काम है और बौद्धिक सम्मति तथा पांडित्य के मामले में लोग संभवत: विषय के अंत तक मतभेद रखते दिखलायी देते हैं, किंतु सभी मौलिक सिद्धांतों में, उन महान् और आधारभूत निश्चयों में जहां कि बुद्धि की क्रिया को दिव्य अन्तर्ज्ञान की दृष्टि की सहायता की अपेक्षा होती है दयानंद सर्वथा उचित ठहरते हैं, स्वयं वेद में प्रतिपादित तत्त्व के द्वारा, तर्क और युक्ति के द्वारा तथा मानवजाति के भूत विषयों में हमारे बढ़ते हुए ज्ञान के द्वारा सही साबित होते हैं। वेद अवश्य बहुत से नामों और शक्तियों वाली एक ही परम देवता की स्तुति करता है, वेद अवश्य दिव्य नियम का तथा मनुष्य को उसे पूरा करने की अभीप्सा को खुल्लमखुल्ला वर्णन करता है, वेद का अवश्य यह आशय है कि वह हमें विश्व का नियम प्रदान करे।

दिव्य दर्शन या इलहाम के प्रश्न पर लिखने को मेरे पास स्थान नहीं बचा है। इतना कहना पर्याप्त है कि इस विषय में भी दयानन्द पूरी तरह युक्तिसंगत हैं। यह बिलकुल हास्यास्पद है कि उन पर यह दोषारोपण किया जाय कि वे सच्चे नहीं थे, क्योंकि उन्होंने इस सिद्धांत को माना और इसकी घोषणा की। यदि हम सत्ता को यत्किंचित् भी समझना चाहते हैं तो सदा तीन आधारभूत अस्तित्व हैं, जिन्हें कि हमें स्वीकार करना होगा और जिनके परस्पर संबंधों को जानना होगा—ये हैं परमेश्वर, प्रकृति और जीवात्मा। सो यदि, जैसा कि दयानंद काफी प्रबल आधार पर मानते हैं, वेद हमें परमेश्वर का दर्शन कराता है, प्रकृति के नियम का दर्शन कराता है, तथा जीवात्मा के प्रकृति तथा परमेश्वर के प्रति संबंधों का दर्शन कराता है तो यह दिव्य सत्य के इलहाम के सिवाय और क्या है? और यदि, जैसे कि दयानन्द मानते हैं कि वेद इन बातों का हमें पूर्ण सत्य के साथ, सर्वथा निर्दोष रूप में दर्शन कराता है तो वेद को अवश्य ही एक निर्भ्रान्त पवित्र पुस्तक मान सकते हैं। बाकी जो रहता है वह तो इलहाम के तरीके का प्रश्न है हमारी जाति के साथ ईश्वरीय चिन्तन का, मनुष्य की आध्यात्मिकता तथा

संभाव्यताओं का प्रश्न है। आधुनिक विचार ने, प्रकृति तथा नियम को स्वीकार करते हुए तथा परमेश्वर का निषेध करते हुए इलहाम की संभावना का भी निषेध कर दिया है। पर ऐसे तो इसने और भी बहुत सी बातों से इनकार कर दिया है। जिन्हें अधिक आधुनिक विचार अब फिर स्वीकार करने में अत्यंत संलग्न है। हम एक महापुरुष से यह मांग नहीं कर सकते वह जहां-तहां से बटोर कर लायी गयी किसी सम्मति का या उस समय के किन्ही अस्थायी मंतव्यों का अपने आपको दास बना ले। उसकी महापुरुषता का सब तत्त्व ही इसमें है कि वह परे की चीज को देखता है, वह गहराई में देखता है।

वेद की व्याख्या के विषय में, मेरा पूरा विश्वास है कि (चाहे वेद की अंतिम पूर्ण व्याख्या कोई भी हो) दयानन्द उसके सत्य सूत्रों के प्रथम आविष्कर्त्ता के तौर पर सदा आदृत किये जायेंगे। यह दयानन्द की प्रत्यक्षदर्शी चक्षु थी, जिसने पुराने अज्ञान और लंबे युग से चली आती नासमझी की गोलमाल और अन्धकार को बीच में से चीर कर सत्य को सीधे देखा और अपनी दृष्टि को वहां आबद्ध किया जो कि अत्यंत महत्त्वपूर्ण वस्तु थी। उसने उन द्वारों की कुंजी प्राप्त कर ली जिन्हें कि काल ने बंद कर रखा था और रुके पड़े निर्झरों के मुख पर से उन्हें बंद करने वाली मोहर तोड़ फेंकी।

—आचार्य रामदेव जी द्वारा सम्पादित 'वैदिक मैगजीन' से उद्धृत व अनूदित।

वेदों से ही वेदों को देखो

श्री नरदेव शास्त्री

धर्म—तत्त्व को जानने के चार ही मार्ग हैं—

१. वेदों से—साक्षात् वेदों से।

२. स्मृतियों से—वेद तत्त्व को खोलकर बतलाने वाली स्मृतियों से।

३. सदाचार से—श्रेष्ठ पुरुषों के आचार-विचारों से।

४. अन्तःकरण की स्फूर्ति से—यह महात्माओं के लिए ही है।

यदि प्रथम मार्ग कठिन हो तो द्वितीय मार्ग से, द्वितीय भी संभव न हो तो तृतीय मार्ग से। चौथा मार्ग पहुंचे हुए ज्ञानी महात्माओं के लिए है। कभी-कभी महात्मा लोग भी पुस्तकों द्वारा कर्तव्य का पथ निर्धारण नहीं कर पाते। तब उनका विशुद्ध अन्तःकरण ही उनको यथार्थ मार्ग का निर्देश करता है और वे उसी विशुद्ध अन्तःकरण के निर्देश पर चल देते हैं। सारांश संसारी जनों के लिए वेद ही सब कुछ है और वेदों को देखकर, समझकर, वेदवित् पुरुषों से जानकर धर्म पर आरूढ़ हो सकते हैं।

सृष्टि की आदि से—जब से चार वेद ऋषियों अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा—पर प्रकट हुए—तभी से उपदेश-परंपरा कण्ठपरंपरा से ही चलती रही अर्थात् मूल वेदों का अर्थों के साथ उपदेश कण्ठ-परंपरा से ही चलता रहा—न जाने कब तक। पर एक समय आया जब इस परंपरा में धारणाशक्ति का ह्रास होने लगा। तब परंपरा के गुरुओं ने सोचा कि शिष्यवर्ग वेदों के धारण में असमर्थ है और इस प्रकार बौद्धिक परंपरा के आधार पर कण्ठस्थ परंपरा द्वारा अधिक काल तक यह वेद परंपरा चलने वाली नहीं है, अधिक काल टिकने वाली नहीं है, इसलिए वेद-रक्षार्थ कोई नया नियम चलाना चाहिए। तब वेदों को खोलने के लिए एक नया मार्ग चलाया।

निरुक्तकार लिखते हैं—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसा-

क्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः।
उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं
समानासिषुर्वेयं च वेदाङ्गानि च। (निरुक्त १/६/५)

अभिप्राय ऊपर आ गया है। वेदों के अर्थों को खोलने के लिए निघण्टु-निरुक्त बने, जिनमें वेदों के कठिन-कठिन शब्दों को खोलने का नया प्रकार चल पड़ा-वेदांग बने, उपांग बने। यही नहीं मूल वेदों को कण्ठस्थ रखने के सुभीते का ध्यान रखकर प्रत्येक वेद में अध्यायादि किये गये—यह भी हम अर्वाचीनों पर पूर्वज वेदपरंपरा के आचार्यों का परम अनुग्रह समझिये जिनके ऋण से हम कभी भी उऋ॑ण नहीं हो सकेंगे।

अस्तु, यह तो हुआ और अगली परम्परा ने इन नये साधनों का यथाशक्ति उपयोग किया और वेदों के विषयों में अपने-अपने विचार प्रकट किये। अब हम देख रहे हैं कि उन्हीं साधनों का उपयोग कर किसी ने वेदों का आध्यात्मिक रूप में, किसी ने आधिभौतिक रूप में, किसी ने आधिदैविक रूप में देखा।

मनु भगवान कहते हैं—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्धयर्थम् ऋग्यजुः सामलक्षणम्॥

यह जो अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा को तीनों वेद (ऋग्-यजु-साम अथर्व चौथा इन्हीं तीनों में आ गया) दिये वह यज्ञसिद्धयर्थ दिये। यहां यज्ञ शब्द अत्यंत व्यापक अर्थ रखता है। (यजुर्वेद, अध्याय १८ देखिए)

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवः
तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते हि नाकं महिमानं सचन्तः
यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥

यह मंत्र स्पष्टरूप में उच्च आध्यात्मिक तत्त्व का प्रतिपादन करता है। पर याज्ञिक-परंपरा ने वेदों में केवल भौतिक द्रव्यमय यज्ञों की कल्पना की जिनके द्वारा स्वर्गादि की प्राप्ति हो सके।

किसी ने अग्न्यादि देवताओं को देखकर आधिदैविक अर्थ चलाये। इस प्रकार आधुनिक परम्परा चली और कभी-कभी इन कल्पकों की कल्पनाओं की भिड़न्त भी देखी जाती है, कभी पौरस्त्यों की ऐतिहासिक कल्पनाएं चल पड़ती हैं, कभी पाश्चात्यों की कल्पनाएं चल पड़ती हैं। इस प्रकार स्थानभेद से, दृष्टिभेद से वेद परस्पर विरोधी कल्पनाओं का साधन बनाया हुआ है अर्वाचीन

परम्पराओं ने। सृष्टि की आदि की वेदों की कल्पना प्रारम्भिक ऋषियों की, उसके पश्चात् के ऋषिपरम्परा की कल्पनाएं, उसके पश्चात् पौराणिक कल्पनाएं, पश्चात् की कल्पनाएं आधुनिक युग की।

हम जब यह मानते हैं कि **"तदेतान् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयमभ्यानर्षत् तदेतेषामृषित्वमिति विज्ञायते"**—वेद सृष्टि के आदि में तपस्यमान ऋषियों के हृदय में प्रकट हुए। तब तो वेद सम्बन्धी सब आधुनिक कल्पनाओं का कोई स्थान ही नहीं रहता।

जब हम मानते हैं कि ऋषि वेद के द्रष्टा हैं, न तु कर्त्ता, तब तो समस्त आधुनिकों की आधुनिक कल्पनाओं का अंत ही हो जाता है।

इस युग में स्वा० दयानन्द ने जो पद्धति स्वीकार की वही अति प्राचीन ऋषि-महर्षियों की पद्धति थी, ऐसा मानना पड़ता है। निरुक्तकार यास्क भी उस पद्धति को स्वीकार करते हैं। पर साथ-साथ उनकी और कल्पनाएं भी है। वे स्पष्ट कहते हैं कि अनृषि अतपस्वियों को वेद अपना वास्तविक रूप प्रकट नहीं करता।

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्ब्राह्मणा: संजयन्ते सखाय:।

इस वेदमन्त्र से भी इस बात की संपुष्टि होती है। इसलिए तपस्वी ऋषि ही यथार्थ वेदार्थ खोलने की दृष्टि रखते हैं यह बात स्पष्ट है।

वेद चार ही हैं—ऋक्, यजु, साम, अथर्व। जब हम देखते है कि **"अनन्ता वै वेदा:"** वेद अनन्त हैं, ऐसे वचन कहीं-कहीं देखने को मिलते हैं: तब उस वचन के इसके अतिरिक्त और क्या अर्थ हो सकते हैं कि वेदों में भरा हुआ ज्ञान अनन्त है। जब हम देखते हैं कि प्राय: सर्वत्र तीन वेदों का वर्णन है तब यह समझना चाहिए कि यह तीन वेद विषयभेद से हैं—ज्ञान, कर्म और उपासना।

जब हम आधुनिक युग में उत्पन्न हुए हैं और आधुनिक साधनों से ही वेदों को देखते हैं, वेदों के अर्थों को खोलने का प्रयास करते हैं तो एक बड़ी विपत्ति में पड़ जाते हैं। सायण का अर्थ मानें, महीधर का अर्थ मानें, या उव्वट का अर्थ मानें। क्या करें? हम तो यही कहते हैं कि इन लोगों के वेदों को देखने का अर्थ उनके समय की वेदार्थ निर्णय की परम्परा ऐसी ही रही जैसी कि उनके भाष्यों से प्रकट हो रही है—इनकी विद्वत्ता को स्वीकार करते हुए भी हम स्पष्ट रूप में कह सकते हैं कि इनकी परम्परा प्राचीनतम ऋषियों की परम्परा के अनुरूप नही है। उनकी पद्धति से उनके समय की दशा का परिचय मिलता है, यह बात सत्य है।

श्री सायणाचार्य ने वेदों को यज्ञमय मानकर तदनुरूप अर्थ करने का शक्ति-भर प्रयास किया है। पर सायण स्पष्ट कहते हैं कि उनके किये हुए यज्ञमय अर्थों से अन्य भी अर्थ हो सकते हैं, जैसे आध्यात्मिक, आधिदैविक आदि।

स्वामी दयानन्द ने स्वतन्त्ररूप में, अति प्राचीन पद्धति को लेकर वेदों को खोलने का भरसक प्रयत्न किया है। पर वे समय से पूर्व ही स्वर्लोक चल गये इसलिए वेदों के विषय में उनके प्रयत्न केवल मार्गप्रदर्शन मात्र हैं। यदि वे जीवित रहते और अपने जीवनकाल में ही चारों वेदों का भाष्य पूर्ण कर सकते तो उनके स्पष्ट मार्ग का स्पष्ट निदर्शन हो सकता था। तथापि तर्क ऋषि और तपस्या के आधार पर किये हुए अर्थों पर दृष्टि रखकर आगे उनके कार्य को चलाना और सम्पूर्ण करना आर्य विद्वानों का काम है : पर, प्रश्न यह है कि आर्य विद्वान् स्वयं स्व-स्व व्यापारों में संलग्न अथवा मग्न हो रहे हैं,—खाली विद्वत्ता तपोविहीन तर्क-ऋषि द्वारा भी कुछ होने वाला नहीं है। तपस्या भी अपेक्षित है, साथ तर्क-ऋषि की भी समाराधना आवश्यक है—दोनों एक साथ चलें तो सफलता में संदेह नहीं है। खेद है कि न आर्यसमाज में विशुद्ध शास्त्र परम्परा है और न ही यथार्थ में वेदपरम्परा है—रलगड़, मिश्रित शिक्षाध्याय चल रहा है। जितना मिश्रित भी चल रहा है उसमें दम फूल रहा है। भविष्य का पता नहीं।

कभी-कभी मैं यह सोचता हूं

यह सोचता हूं कि आधुनिक युग को और उससे पूर्व के युगों को छोड़कर उन युगों में वेदों को देखने की क्या पद्धति थी। मैं तो इस निर्णय पर पहुंचा हूं कि उस समय ऋषि-महर्षि परम्परा वेदों को वेदों से ही देखती थी। और विचार उठता है कि आर्य विद्वान् भी तपस्यापूर्वक तर्क-ऋषि के आश्रय से स्वतन्त्र दृष्टि से वेदों को वेदों से क्यों न देखें ! मैंने कई बार यत्न किया कि वेदों को वेदों से ही देखूं—मुझे इसमें बड़ा आनन्द आया। जैसे बिना किसी टीका के कोई काव्य पढ़ डालता है, उसको जैसा आनन्द मिलता है वैसा ही आनन्द मुझको मिला। जब आर्य विद्वान् मिलकर, कहीं एकत्र बैठेंगे, वेदों को वेदों से ही देखेंगे तो एक नया चमत्कार होगा। जैसे धातुपाठ में एक धातु से दूसरी धातु का अनायास अर्थ जाना जाता है, उसी प्रकार एक वेदमन्त्र दूसरे वेदमन्त्र के अर्थ को खोलता जाएगा। जैसे धातु पाठ में "अस् भुवि" है तो "भू सत्तायाम्" अपने आप जाना जाता है, इसी प्रकार वैदिक शब्द हमारे सहायक रहेंगे और एक मन्त्र दूसरे मन्त्र का अर्थ खोलता जाएगा। यहां हमको न सायण देखने की आवश्यकता, न उव्वट की आवश्यकता और न महीधर की आवश्यकता। वहां हम दयानन्द प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण कर सकते हैं, पर कुछ काल के लिए दयानन्द को भी छोड़ सकते हैं, वहां हम निरुक्तकार यास्क को भी छोड़ सकते है और उनकी पद्धति को चला सकते हैं। कालार्क भक्षित

ब्राह्मण, अनुब्राह्मणों को भी छोड़ सकते हैं। सारांश हम इस प्रकार का यत्न करके तो देखें, जिससे ११२७ हाथ वाले वेद पुरुष की महिमा को जान सकें।

आर्यसमाज के पण्डितों में यह प्रथा चल पड़ी है कि अपनी अल्प-स्वरूप बुद्धि और शक्ति के अनुसार किसी वेदमन्त्र को पकड़कर उसका अर्थ कर देते हैं। विद्वत्ता तो इसी में है कि प्रकरण के प्रकरण को एक अर्थ में क्रमानुसार ढालें : लोगों को शिकायत है कि स्वामी जी ने नया (वस्तुतः पुराना) मार्ग तो बतलाया किंतु प्रत्येक मन्त्र का अर्थ स्वतन्त्र रखा, कहीं-कहीं प्रकरण के प्रकरण को एक-सा निभाया, कहीं आध्यात्मिक, कही आधिदैविक, कहीं आधिभौतिक अर्थ दिखाये। वे मानते थे कि प्रत्येक वेदमन्त्र के तीनों अर्थ होते हैं। कोई मानते हैं कि प्रत्येक मन्त्र में तीनों अर्थों का ढूंढ़ना व्यर्थ है। कोई मन्त्र आध्यात्मिक ही है, कोई आधिभौतिक ही है, कोई आधिदैविक ही है। कई मन्त्र ऐसे हैं जिनके तीनों अर्थ हो सकते हैं। जैसे निरुक्तकार भी मानते हैं, कहते हैं कि "इति याज्ञिकाः" ऐसा याज्ञिक अर्थ है, "इत्याधिदैविकम्" यह आधिदैविक है।

स्वामी जी वेदभाष्य कैसे करते थे

स्व० पण्डित ज्वालादत्त जी (सोरो या एटा की तरफ के थे, अच्छे पण्डित तथा कवि थे, स्वामी जी के शिष्य भी थे) स्वामी जी के पास वर्षों रहे। वेद-भाष्य लिखते समय भी रहे। मैंने उनसे पूछा कि स्वामी जी वेदभाष्य कैसे करते थे ?

पण्डितजी ने बतलाया कि "प्रातः नित्य कर्मों से निपटकर हम सब पण्डित (३ या ४) नियत समय पर, नियत स्थल पर एकत्रित हो जाते थे। इतने में स्वामी जी आ विराजते। आते ही स्वामी जी कहते—चलो, वेदमन्त्र को पढ़ो। हममें से कोई वेदमन्त्र पढ़ता था (प्रायः मैं ही पढ़ता था) दो-तीन बार वेदमन्त्र पढ़ने के पश्चात् स्वामी जी हमको पदच्छेद, अन्वय लिखाते थे। फिर पूछते कि सायण क्या कहते हैं, निरुक्त क्या कहता है, पूर्व मन्त्र में क्या है, अगले मन्त्र को पढ़ो इत्यादि—जब यह सब कुछ हो जाता था तब स्वामी जी पास वाले कमरे में जाते, कमरे के दरवाजे बन्द हो जाते और स्वामी जी घण्टे-डेढ़ घंटे के पश्चात् बाहर आकर संस्कृत में मन्त्र का भाष्य लिखवाते, भावार्थ भी लिखवाते। फिर हमसे कहते कि इसकी हिन्दी कर दो। भीतर कमरे में स्वामी जी समाधि लगाते थे और उनकी समाधि का फल ही उनका भाष्य है। किसी-किसी समय वे आध घण्टे में ही बाहर आते थे—स्वामी जी का तर्क-ऋषि और स्वामी जी की समाधि ही निर्णय करती थी।"

यही कारण है कि वे अपने जीवन काल में चारों वेदों का भाष्य न लिख सके। स्वामी जी क्या-क्या करते, भारत के विद्वानों से शास्त्रार्थ करते, वेद

प्रचार की धूम मचाते, धर्मोपदेश करते कि समस्त समय भाष्य ही करते रहते ! उनका मुख्य कार्य पाखण्ड मिटाना था, भारतीय जनता का हृदयान्धकार मिटाना था। संसार को वेदोन्मुख करना था। अकेले स्वामी जी ने इन कार्यों को किया और वेदभाष्य का रचनात्मक कार्य किया।

आर्य भाई खण्डनात्मक कार्य को जोर से चलाते रहे, किन्तु रचनात्मक कार्य, अनुसन्धानात्मक कार्य कम कर सके। इन्हीं वेदों के उद्धारार्थ गुरुकुल भी खोले, चलाये भी खूब, पर हमारे दम फूल गये हैं—हमारे त्याग-तपस्या की पूंजी समाप्त प्राय है। नई पीढ़ी त्याग तपस्यापूर्वक नई शक्ति, स्फूर्ति, दीप्ति से कार्य करे, तो संभव है हम आगे बढ़ सकेंगे।

मैं यह अनुभव कर रहा हूं कि आर्य विद्वान् इस वर्तमान स्थिति पर विचार करें और वेदों को वेदों से ही देखने का परीक्षण करें। आगे जैसा अनुभव होगा देखा जायेगा। आगे के विद्वान् आगे की बात देखेंगे। अभी से क्या कहें।

—'वेदवाणी' से साभार।

ऋषि दयानन्द की देन

श्री पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०

मानव जाति के कार्यक्षेत्र के दो विभाग हैं। एक पुरुषार्थ और दूसरा कृत्वर्थ।

पुरुष अपने जीवन के अन्तिम घोष के लिए जो कुछ करता है वह पुरुषार्थ है। और पुरुषार्थ के साधन रूप जो रात-दिन धर्माचरण है वह कृत्वर्थ है।

ऋषि दयानन्द ने मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ पुरुषार्थ तथा कृत्वर्थ दोनों विभागों पर अपने उपदेश तथा व्यवहार से बहुत कुछ प्रभाव डाला है।

(२)

पुरुष का अर्थ या परम उद्देश्य ब्रह्म की प्राप्ति है :—

तद् विष्णो परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय : दिवीव चक्षुराततम्।

ऋग्वेद १/२२/२०

"जिस प्रकार स्वस्थ आंखें सूर्य के प्रकाश से आनन्दित होती हैं उसी प्रकार शिक्षित मनुष्य ईश्वर की ओर टकटकी लगाये रखता है।"

स्वामी दयानन्द की सबसे बड़ी देन यह है कि कुसंस्कारों के कारण लोग ईश्वर की पूजा से विमुख हो गये थे। स्वामी दयानन्द ने ईश्वर-पूजा विषयक समस्त भ्रान्तियों को दूर कर दिया।

यह बात नहीं कि स्वामी दयानन्द से पूर्व ईश्वर-पूजा न थी या ईश्वर-पूजक न थे। ईश्वर-पूजा न होती तो इतने मतमतान्तर न होते। परन्तु स्वामी दयानन्द ने यह चेतावनी दी कि जिसको तुम ईश्वर कहते हो वह वास्तविक ईश्वर नहीं, अपितु कल्पित ईश्वर है। कुम्हार कृष्ण की मूर्ति बनाता है और अभिमान से कहता है कि मैंने कृष्ण की आकृति या प्रतिकृति बना दी। वह कृष्ण की मूर्ति नहीं है। कृष्ण ऐसे न थे। यह कुम्हार की कल्पना शक्ति का फल

है। इसी प्रकार लाखों मन्दिरों में जो शिवलिङ्ग की पूजा होती है और दर्शन करने वाले शिव की जलांजली से पानी लेकर अपने को कृतकृत्य समझते हैं यह उनकी भूल है। इन्होंने शिवपुराण भी नहीं पढ़ा जिसके आधार पर यह अश्लील शिवलिङ्ग पूजा का आरम्भ हुआ। ऋषि दयानन्द ने अपने उद्बोधन-दिवस पर ही यह घोषणा कर दी थी कि पत्थर शिव नहीं है, जो चूहे को हटाने में असमर्थ है वह विशाल सृष्टि का स्वामी नहीं हो सकता।

'आर्यसमाज' के दूसरे नियम में स्वामी दयानन्द ने ईश्वर के गुण, कर्म, और स्वभाव का प्रतिपादन किया है—

"ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।" (आर्यसमाज का दूसरा नियम)

उपर्युक्त नियम में स्वामी दयानन्द ने स्पष्ट कर दिया है कि ईश्वर के स्थान में पाषाण-पूजा, ग्रह-पूजा, वृक्ष-पूजा नदी-पूजा, पशु-पूजा, नर-पूजा का प्रचार करके लोगों ने ईश्वर-पूजा को सर्वथा भुला दिया। जितने मन्दिर हैं उनमें ईश्वर की मूर्ति भी नहीं और उसकी पूजा भी नहीं होती। जिन मनुष्यों को या अन्य प्राणियों को ईश्वर मान लिया गया उन्ही की मूर्तियां हैं—जैसे कृष्ण, राम, नन्दी आदि की। ईश्वर अजर-अमर है। परन्तु हमने उनकी पूजा की जो न अजर थे, न अमर। ईश्वर निर्विकार है। परन्तु हमने उन नदी या पहाड़ों या पत्थरों की पूजा की जो विकार के वशीभूत हैं। मनुष्य को सच्चे ईश्वर का उपासक बना देना स्वामी दयानन्द की मुख्य देन है। तुलना कीजिए।

"सन्तो जग को को समझावे।
तज प्रतक्षा सत गुरु परमेश्वर, जड़ पूजन को धावे।
सन्तो जन को को समझावे॥
लै पाहन निजकर गह, बहुविधि रूप बनावे॥
विष्णु, शंकर, सूर्य, गणपति, जो कुछ मन में आवे॥
सन्तो०॥

ईश्वर के सम्बन्ध में एक और विशेष बात स्वामी दयानन्द ने कह दी कि उपासक जीव और उपास्य ब्रह्मा का सीधा साक्षात् सम्बन्ध है। हर जीव में ईश्वर व्यापक है। हर जीव ईश्वर के साथ है। इसलिए पैगम्बर आदि माध्यम की आवश्यकता नहीं। उपासक मजदूरी देकर अपने स्थान में दूसरे से उपासना नहीं करा सकता। जो लोग ब्राह्मणों को कुछ धन देकर दुर्गापाठ आदि कराते हैं उनको उस पाठ से कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं होता।

(३)

स्वामी दयानन्द से पूर्व मनुष्य के जीवन के दो भाग थे। धर्म और जगद्-व्यापार। धर्म का अर्थ था पूजापाठ अर्थात् ईश्वर या किसी देवी-देवता नाम का जाप और उसकी प्रतिमा को पूजना। खेती, व्यापार, या धन कमाने के साधनों का नाम था जगद् व्यापार या दुनियादारी। इस प्रकार लोक और परलोक एक दूसरे के विरुद्ध समझे जाते थे। यह प्रसिद्ध था कि लोक बनाओगे तो परलोक नष्ट होगा। परलोक बनाना इष्ट है तो लोक को त्यागना पड़ेगा। स्वामी दयानन्द ने बताया कि परमात्मा ने लोक और परलोक के मध्य कोई दीवार खड़ी नहीं की। लोक और परलोक के बीच नैरन्तर्य है। बिना लोक के परलोक बन ही नहीं सकता। सब जप, तप, पूजापाठ लोक में ही तो करना है। और जिस लोक से परलोक नहीं बनता वह लोक भी अधूरा है। स्वामी दयानन्द ने लक्षण बताने में महर्षि कणाद की पद्धति को स्वीकार किया है—

"यतोऽभ्युदयनिश्रेयस् सिद्धिः सः धर्मः।"

वैशेषिक दर्शन (१।१।२)

कणादि मुनि आधिभौतिक जगत् की व्याख्या करना चाहते थे। उनको भय था कि अध्यात्मवादी उनको नास्तिक न कह दें। अतः उन्होंने आरम्भ में ही यह बता दिया कि धर्म वह है जिसमें अभ्युदय और निश्रेयस् दोनों की सिद्धि हो। मैं इस सूत्र का अर्थ कुछ भिन्न करता हूं। मैं सूत्र के बताये हुए अभ्युदय और निश्रेयस में समुच्चय नहीं मानता। इसमें साधन और साध्य का सम्बन्ध है। मनु महाराज ने धर्म के जो दस लक्षण गिनाये हैं वे सब इस लोक में बताये हैं। स्वामी दयानन्द ने धर्म की यह उदार व्याख्या करके स्पष्ट कर दिया कि चमार या भंगी भी अपना गंदा काम करता हुआ धार्मिक है, और एक वेदज्ञ भी कुचेष्टा करके धर्मच्युत समझा जाना चाहिए। स्वामी दयानन्द ने धर्म के उदार अर्थ लेकर मनुष्य के सांसारिक जीवन को भी धर्म के अन्तर्गत कर दिया। अब धर्म केवल मन्दिरों या पूजापाठ का विषय नहीं रहा। अब धर्म में वह दैनिक व्यवहार भी सम्मिलित हो गया जो हम अहर्निश एक दूसरे के साथ किया करते हैं। इस प्रवृत्ति परिवर्तन से हम अपने रस्मोरिवाज पर भी विचार करने लगे। मध्यकालीन आचार्यों ने धार्मिक, दार्शनिक, पारलौकिक बातों का भी उल्लेख किया है परन्तु समाज सम्बन्धी त्रुटियों का नहीं। श्री शंकराचार्य जी महाराज ने जैनियों के अन्यान्य मतों का खण्डन किया। एक ब्रह्म की स्थापना की। वेदों का पक्ष लिया। पर, बाल-विवाह, विधवा-विवाह के निषेध जाति-उपजाति भेद, छूत-अछूत, भक्ष्य-अभक्ष्य के प्रश्न को छुआ तक नहीं। रामानुज आदि अन्य

आचार्यों ने भी अपने आन्दोलनों को केवल मन्दिरों तक ही सीमित रखा। यह तो किसी ने नहीं कहा कि स्त्रियों और शूद्रों को भी पढ़ाना चाहिए, या हिन्दुओं के बाहर अन्य मतावलम्बियों को भी अपने धर्म में निमन्त्रित करना चाहिए, या अन्य देशों में भी वेदों का प्रचार करना चाहिए, या प्रचारार्थ दूसरे देशों में भी जाना चाहिए। यह स्वामी दयानन्द की शिक्षा की ही विशेषता है कि उन्होंने वैदिक धर्म को दुनिया के लिये इतना ही आवश्यक बताया जितना सूर्य का प्रकाश है। स्वामी दयानन्द ने इस बात पर बड़ा बल दिया है।

(४)

स्वामी दयानन्द की एक बड़ी देन यह भी है कि उन्होंने बहुत दिनों से भूले हुए वेदों का फिर से उद्‌बोधन कराया। यों तो समस्त हिन्दू सम्प्रदाय वेदों से सम्बन्ध रखते हैं। वास्तविक न सही नाममात्र का ही सही। परन्तु स्वामीजी ने वेदों को हर अर्थ में धर्म का मूल बताया है। प्रायः हिन्दुओं का यह विचार था कि वेद हैं तो ईश्वरीय ज्ञान पर वेद कलयुग के लिये नहीं हैं। श्री राजा राम-मोहन राय जी ने जब ब्रह्म समाज को स्थापित किया तो उनकी इच्छा थी कि वेदों का सहारा लेना चाहिये। परन्तु उनके समकालीन बंगाली पंडितों ने वेदों के विषय में कुछ उनको प्रोत्साहन नहीं दिया और राजा राममोहन राय ने अपने धार्मिक सुधार के लिये केवल उपनिषदों को ही आधार बनाया। इसका एक विशेष कारण यह भी था कि स्वामी शंकराचार्य आदि गुरुजनों ने वेदों की उपेक्षा की थी। श्री स्वामी शंकराचार्य जी वेदों को प्रामाणिक मानते हुए भी अपने सिद्धान्त की पुष्टि में केवल उपनिषदों के ही प्रमाण देते हैं, और वेदों का यदि कहीं उल्लेख भी करते हैं तो अत्यन्त साधारण रीति से।

इसका भी एक कारण था। प्रसिद्ध यह था कि वेद कर्मकाण्ड का विषय है और उपनिषद् ज्ञान और उपासना काण्ड का। कर्मकाण्ड का अर्थ था केवल यज्ञ काण्ड। उसका सम्बन्ध याज्ञिक क्रियाओं से था, न कि सदाचार आदि यम-नियमों से।

स्वामी दयानन्द ने कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और उपासनाकाण्ड को मिला दिया। प्रायः यह प्रसिद्ध है कि तीन मार्ग हैं—(१) ज्ञानमार्ग, (२) कर्ममार्ग, (३) उपासना मार्ग।

मेरी सम्मति में मार्ग शब्द भ्रान्तिमूलक है और वह काण्ड शब्द का पर्याय नहीं हो सकता। तीन मार्ग और तीन काण्डों में भेद है। मार्ग वैकल्पिक होते हैं और काण्ड पूरक। उदाहरण के लिये यदि लखनऊ से दिल्ली जाने के लिये तीन मार्ग हैं तो यात्री तीनो मार्गों का अवलम्बन नहीं करेगा। एक का करेगा

और दो को छोड़ देगा। इसलिए हिन्दू विद्वान् एक मार्ग का अवलम्बन करता और दो को छोड़ देता है। काण्ड एक दूसरे के पूरक होते हैं जैसे एक कुर्सी के चार पैर। कुर्सी तीन पैरों पर नहीं खड़ी रह सकती।

स्वामी दयानन्द ने ज्ञान मार्ग, कर्म मार्ग और उपासना मार्ग के स्थान में कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड, और ज्ञान काण्ड का प्रयोग कर धार्मिक भावनाओं में एक ज्योति उत्पन्न कर दी। उन्होंने बताया कि बिना ज्ञान के कर्म हो ही नहीं सकता। और बिना कर्म के ज्ञान अधूरा है। उपासना भी बिना ज्ञान और कर्म के हो नहीं सकती। जब आपको उपास्यदेव का ज्ञान नहीं है तो आप उपासना क्या करेंगे! स्वामी दयानन्द ने वैदिक साहित्य के भिन्न-भिन्न मार्गों को एक दूसरे का पूरक बता के साम्प्रदायिक झगड़ों को समाप्त कर दिया। आर्यसमाज के प्रचार से प्रेरणा लेकर अब तो पौराणिक लोग भी जो शैव और वैष्णव सम्प्रदायों में बंटे हुए थे निकट आ गये हैं।

(५)

हम स्वामी दयानन्द की कई प्रकार की देनों का वर्णन कर चुके हैं, परन्तु यहां एक और देन का उल्लेख करेंगे जो उन सब विशेषताओं से बढ़कर है। संसार में बहुत से धार्मिक सुधार हुए। उन्होंने मुक्ति की प्राप्ति के कई प्रकार के साधन बताये परन्तु, उन्होंने राष्ट्रीय संगठन का विशेष उल्लेख नहीं किया। हजरत ईसा के लिये प्रसिद्ध है कि वह अपने उपदेश में कहा करते थे कि जो सीजर का प्राप्तव्य है वह सीजर को दो, और जो मेरा प्राप्तव्य है वह मुझे दो। इस पहेली को कुछ सुलझाने की जरूरत है। जिस देश में ईसा रहते थे वह रोम साम्राज्य का एक छोटा सा भाग था। सीजर रोम का सम्राट् था। सीजर की आकृति वहां के सिक्के पर रहती थी। ईसा का अभिप्राय यह था कि मैं शासन में कोई हस्तक्षेप करना नहीं चाहता। तुम धार्मिक विषयों में मेरा अनुसरण करो। स्वामी दयानन्द का कहना था कि जिसको संसार में मुक्ति नहीं वह परलोक में कैसे मुक्त होगा? वह मूर्ति पूजा के खंडन में प्राय: कटाक्ष करते हैं कि जब मूर्तियां पुलिस के सिपाही को डरा नहीं सकतीं तो यम के दूतों को कैसे डरायेंगी। इसलिये स्वामी जी ने अन्य धार्मिक सुधारों के साथ-साथ भारतीय राष्ट्रीयता का एक विशेष विधान बनाया और अनेक प्रकार के विरोधी तत्त्वों के होते हुए भी उन्होंने इस बात पर बल दिया कि सब धर्मों और सम्प्रदायों के लोग मिलकर समस्त संकुचित स्वार्थ भावनाओं को अलग रखकर भारतीय राष्ट्रीयता को सुसंगठित करें। इसके लिये दो बातों की बड़ी जरूरत थी।

(१) भारत भूमि के गौरव पर विश्वास हो, और
(२) भविष्य में भारत को बड़ा बनाने के लिये आशा हो!

(६)

स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों में पदे-पदे इन दोनों भावनाओं को उत्तेजना मिलती है। इस देश के गौरव के विषय में स्वामी जी लिखते हैं—

"यह आर्यावर्त देश ऐसा है जिसके सदृश भूगोल में कोई दूसरा देश नहीं है। इसलिये इस भूमि का नाम सुवर्ण भूमि है। क्योंकि यही सुवर्णादि रत्नों को उत्पन्न करती है। इसलिये हम सृष्टि के विषय में कह आये हैं कि आर्य नाम उत्तम पुरुषों का है और आर्यों से भिन्न मनुष्यों का नाम दस्यु है। जितने भूगोल में देश हैं वे सब इसी देश की प्रशंसा करते हैं और आशा रखते हैं कि, पारसमणि पत्थर सुना जाता है यह बात तो झूठी है, परन्तु आर्यावर्त देश ही सच्चा पारसमणि है कि जिसको लोहे रूप दरिद्र विदेशी छूने के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाता है। (सत्यार्थ प्रकाश, समुल्लास-११)

स्वामी दयानन्द ने देखा कि कई सौ वर्ष की इस्लामी और अंग्रेजी दासता के बाद भारतीयों के दिल छोटे हो गये थे। वह अकिंचन मानने लगे थे। हर एक विदेशी उनके लिये बड़ा था। और हर एक विलायती चीज देशी चीजों से अधिक मूल्यवान् थी। विलायती कपड़ा देशी कपड़े से अच्छा समझा जाता था। विलायती बोली देशी बोली से अधिक उत्कृष्ट थी। इस प्रकार के मरे हुए दिलों को उभारने के लिये यह ऊपर दिया हुआ प्रवचन प्रोत्साहन का काम करता है। भारतवर्ष की यह प्रशंसात्मक स्तुति करके स्वामी जी ने मुर्दा भारतीयों को संजीवनी पिला दी। इन शब्दों को पढ़कर आर्यसमाजी का हृदय दिलेर हो जाता है। वह समझने लगता है कि मैं एक बड़े देश का निवासी हूं और मुझे बड़ा होना चाहिए।

स्वामी जी ने केवल भारत के अतीत की ही प्रशंसा नहीं की अपितु भारतवर्ष की वर्तमान दुर्दशा का भी उल्लेख किया। वह लिखते हैं—"अब इनके सन्तानों का अभाग्योदय होने से राज भ्रष्ट होकर विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहे हैं।" (सत्यार्थ प्रकाश, समुल्लास-११)

इस दुर्दशा का एक कारण भी दिया है, "इस परमात्मा की सृष्टि में अभिमानी, अन्यायकारी, अविद्वान् लोगों का राज्य बहुत दिन नहीं चलता। और यह संसार की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब बहुत सा धन असंख्य प्रयोजन से अधिक होता है तब आलस्य, पुरुषार्थरहितता, ईर्ष्या, द्वेष, विषम शक्ति और प्रमाद बढ़ता है। इससे देश में विद्या, सुशिक्षा नष्ट होकर दुर्गुण और दुष्ट व्यसन बढ़ जाते हैं, जैसे कि मद्यमांस सेवन, बाल्यावस्था में विवाह और स्वेच्छाचार आदि दोष बढ़ जाते हैं। और जब युद्ध विभाग में युद्ध विद्या, कौशल और सेना इतनी बढ़े कि जिसका सामना करने वाला भूगोल में दूसरा न हो तब उन लोगों में पक्ष-

पात अभिमान बढ़कर अन्याय बढ़ जाता है।" (सत्यार्थ प्रकाश, समुल्लास-११)

जिस युग में स्वामी जी जीवित थे उस युग में भारतवर्ष अंग्रेजों के अधीन था और प्रायः यह समझा जाता था कि मुसलमानों के अत्याचारों के पश्चात् अंग्रेजी राज्य में वहुत सी अच्छी बातें थीं। इस युग के अंग्रेज कई सौ वर्ष की वैज्ञानिक उन्नति के कारण उदार हो गये थे और भारतीय जनता इस वात को उचित समझती थी कि अंग्रेजी राज्य इतना अच्छा है। परन्तु स्वामी दयानन्द इतने मात्र से सन्तुष्ट नहीं थे। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

"जब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों की अखंड स्वतन्त्रता, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है सो भी विदेशियों से पदाक्रान्त हो रहा है। कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है तव देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है। कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रह रहित अपने और पराये का पक्षपातशून्य, प्रजा पर माता-पिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है। परन्तु भिन्न-भिन्न भाषा, पृथक्-पृथक् शिक्षा, अलग-अलग व्यवहार का विरोध छूटना अति दुष्कर है।" विना इसके छूटे परस्पर का पूरा उपकार और अभिप्राय सिद्ध होना कठिन है।" (सत्यार्थ प्रकाश, समुल्लास-८)

यहां स्वामी जी ने भारत पतन का निदान भी दिया है। और इसका उपाय भी वताया है। यदि भारत के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों और समुदायों के लोग प्राचीन गौरव और वर्तमान पतन की मात्रा का पूरा-पूरा अनुभव कर लें तो भिन्न-भिन्न मतमतान्तर होते हुए भी अपनी और दूसरों की रक्षा के लिये राष्ट्रीयता का पुनर्निमाण कर सकते हैं।

स्वामी दयानन्द ने कहा कि समाज सुधार के लिये वैदिक धर्म त्यागने की आवश्यकता नहीं। अपितु आवश्यकता यह है कि वैदिक धर्म को बुद्धिमत्ता से सुदृढ़ रूप में ग्रहण किया जाय। इस प्रवृत्ति से दो लाभ हुए। एक तो ईसाई और मुसलमान जो समाज सुधार के नाम पर युवकों से अपील करते थे अपने धर्म के प्रचार में असफल रहे। क्योंकि वातावरण बदल गया। दूसरे राष्ट्र की जड़ें मजबूत हो गईं।

समाज सुधार में अनेक बातें सम्मिलित थीं। बालकों का विवाह अच्छा समझा जाता था। बारह वर्ष की लड़की यदि ब्याही न हो तो माता-पिता को दोष लगता था। बाल-विवाह के कारण बाल-विधवाओं की संख्या लाखों-करोड़ों तक पहुंच चुकी थी। विधवाओं का पुनर्विवाह का निषेध था। विधवाएं सती हो जाती थीं अथवा कलुषित जीवन व्यतीत करने पर तत्पर हो जाती थीं। इन बुरा-

इयों के होते हुए राष्ट्र निर्माण सम्भव ही न था। जिन्होंने आर्य समाज का आकस्मिक इतिहास पढ़ा है या जिन बुड्ढे लोगों ने उस काल को देखा है वह कह सकते हैं कि आर्य समाज को कितनी आपत्ति और विरोध का सामना करना पड़ा। मैं १९वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में आर्य समाज में प्रविष्ट हुआ था। आज लगभग तीन-चौथाई शताब्दी आर्य समाज में व्यतीत कर चुका हूं। जो दशा मैंने देखी उसका अनुमान करना कठिन है। आज तो हमको चारों ओर सहानुभूति करने वाले मिलते हैं, परन्तु उन दिनों माता-पिता, सम्बन्धी और पड़ौसी भी शत्रु हो जाते थे। उन दिनों राष्ट्रीयता का प्रश्न नहीं उठता था। अधिक से अधिक कांग्रेस की ओर से ब्रिटिश पार्लियामेंट या सम्राट् से कुछ अधिकारों की मांग की जाया करती थी। मांग भी नहीं, क्योंकि मांगने की तो शक्ति ही न थी। केवल गिड़गिड़ाहट मात्र, कुछ आंसू बहाना—यही राष्ट्रीयता थी। कुछ प्रार्थना-पत्र इंगलैण्ड भेज देना ही सम्भव था, वह भी सुगमता से नहीं। समस्त सरकार के छोटे और बड़े अफसरों को अप्रसन्न करना पड़ता था। कराहना भी आफत को मोल लेना था। उन दिनों आर्य समाज में सत्यार्थ प्रकाश पढ़ा जाता था और चुपके-चुपके आर्य समाजियों के मन पर उसका प्रभाव भी पड़ता था। अपने आत्म सम्मान के गीत गाये थे—"कभी हम बुलन्द इकबाल थे, तुम्हें याद हो कि न याद हो।"

जाति की कौन-कौन सी आफतें राष्ट्रीयता के निर्माण में बाधक हैं और इसका सुधार कैसे होना चाहिये इसके लिये सत्यार्थ प्रकाश का दसवां समुल्लास पढ़ना चाहिये। इस समुल्लास में हिन्दू जाति की वर्तमान कुरीतियों का विवरण है। हिन्दू एक दूसरे की हाथ की रोटी नहीं खाता, खान-पान के नियम इतने बेहूदा और निरर्थक हैं कि बुद्धि काम नहीं करती! किसी के हाथ की रोटी खा सकते हैं। किसी के हाथ की रोटी नहीं खा सकते, पर पूड़ी खा सकते हैं, किसी के हाथ की मिठाई खा सकते हैं, पूड़ी नहीं। किसी के हाथ का आलू का साग खा सकते, उर्द की दाल नहीं खा सकते। किसी के बर्तन को नहीं छू सकते हैं परन्तु उस बर्तन का दूध ले सकते हैं। यह प्रथाएं इतनी कड़ी थीं कि थोड़ी सी त्रुटि करने पर लोग बिरादरी से निकाल दिये जाते थे। हिन्दू समुद्र की यात्रा करने से धर्म खो बैठता था। यही सब हमारी राष्ट्रीयता को दूषित कर रही थीं।

आर्य समाज ने सबसे पहले इन कुरीतियों को नष्ट किया। आर्य समाज के पूर्व आठ कनौजिया और नौ चूल्हों की कहावत प्रसिद्ध थी। अर्थात् यदि आठ कनौजिया बुद्धिमान् हों तो वे एक-दूसरे का पकाया भोजन नहीं कर सकते थे। इस नियम का पालन इतना बड़ा था कि एक आदमी दूसरे आदमी के चूल्हे से आग

भी नहीं ले सकता था। एक अलग चूल्हा जलाना होता था जिससे हर एक अपने लिये आग ले सके।

इसमें सन्देह नहीं कि महात्मा गांधी ने सुधार की प्रगति को बहुत तेज कर दिया और कई विषयों में अपूर्व साहस से काम लिया परन्तु अछूतों में कार्य का आरम्भ तो आर्यसमाज ने ही किया था। डॉक्टर अम्बेडकर की आरम्भिक शिक्षा तो आर्य समाज से ही शुरू हुई थी। पंजाब के ओडों, रहतियों आदि के उत्थान का काम महात्मा मुंशीराम, लाला लाजपतराय, पं० रामभज दत्त आदि ही ने किया था। कांग्रेस की कोई आवाज न थी।

जो लोग यह समझते हैं कि भारत प्राचीनकाल में कुछ न था और जो कुछ उन्नति दिखाई देती है वह दूसरे देशों के विजेताओं की देन है वे भारत के बाहर से प्रेरणा लेते रहेंगे और भारत कभी स्वतन्त्र न हो सकेगा। स्वामी जी की शिक्षा ने उनके शिष्यों के हृदय में राष्ट्रीयता की नई लहर उत्पन्न कर दी है। प्रत्येक आर्यसमाजी दिन में दो बार संध्या करते हुए ईश्वर से प्रार्थना किया करता है—

'अदीनाः स्याम शरदः शतम्'

हे ईश्वर मैं अपनी सौ वर्ष की आयु में किसी का दीन (गुलाम) न रहूं। इसी राष्ट्रीयता की उत्साहपूर्वक भावना ने आर्यसमाजियों को यह प्रेरणा दी है कि वे भारत में एक भाषा, एक भूषा और एक विचार का प्रचार करें।

—(वेदोदय निर्वाण अङ्क, नवम्बर १९७३, से साभार)

समानाधिकार के सूत्रधार : स्वामी दयानन्द सरस्वती

प्रो० उमाकान्त उपाध्याय

विषमता मानव इतिहास का अंग लगती है। असमानता कब से आरम्भ हुई, कहा नहीं जा सकता, किन्तु इसमें अधिक सन्देह के लिए अवकाश नहीं है कि मध्यकाल में समानता के सारे मानदण्ड शिथिल हो गए। मानवजाति के आदि ग्रन्थ वेदों में समानता का उपदेश और आदर्श भरा पड़ा है, फिर भी मध्यकाल में समानता का प्रचार करने वाला कोई न रहा। विषमता इस कोटि तक बढ़ गई कि मनुष्य मनुष्य से घृणा करने लगा। वेद ने मनुष्यों को 'अजेष्ठ्यास: अकनिष्ठास:' बनाया था, अर्थात् मनुष्यमात्र समान हैं—न कोई ज्येष्ठ है, न कोई कनिष्ठ, न कोई छोटा, न कोई बड़ा। वेद ने 'समानीप्रपा सहवो अन्न भाग:' खाने-पीने, उठने-बैठने, नहाने-धोने की समानता का उपदेश किया था, किन्तु हमारे देश के इतिहास में यह कितना दुर्भाग्यग्रस्त युग आया कि हम अपने ही भाइयों से इतनी घृणा करने लगे कि उनकी परछाईं भी बचाकर चलने की प्रथा पड़ गई। स्वामी शंकराचार्य ने वेदान्त का भाष्य करते हुए शूद्रों को जिस रूप में स्मरण किया है उसे देखकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। अस्तु, यह सामाजिक विषमता तक ही सीमित न रहा। विषमता के इन सिद्धान्तों ने जन्मना अधिकार को जन्म दिया, हमारी संस्कृति में जन्म से सभी समान होते थे, अपने-अपने कर्मों और चरित्रों से लोग प्रतिष्ठा पाते और कार्यरत होते थे, किन्तु समय ने ऐसा पलटा खाया कि ब्राह्मण पुरोहित-पंडित जन्म से ही होने लगे। आगे हमारे देश में राजाओं का भी निर्वाचन होता था। बाल्मीकीय रामायण की गवाही है कि राम के राज्याभिषेक से पूर्व दशरथ ने अपनी राज्य संसद् का मत प्राप्त किया था, किन्तु समय का चक्र, राजा भी जन्म से होने लगे और सारी वर्णव्यवस्था ही जन्म से हो गयी। परिणाम यह निकला कि धनसम्पत्ति का अधिकार भी जन्म से ही माना जाने लगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि हम विभिन्न प्रकार के अधिकारों को विद्या का अधिकार, धर्म का अधिकार, राज्य का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार इत्यादि भागों में विभक्त कर लें तो सभी अधिकार जन्मना ही स्वीकारे जाने लगें। एक प्रकार से आज की जितनी सामाजिक या धार्मिक अथवा आर्थिक और राजनैतिक अव्यवस्थायें हैं, उन सब की जड़ में यह जन्मना अधिकारवाद ही मुख्यरूप से कारण है। स्वामी दयानन्दजी ने एक विचित्र क्रान्ति कर डाली। क्रान्ति तो कार्लमार्क्स ने भी की थी और कार्लमार्क्स की क्रान्ति भी बड़ी दूरगामी सिद्ध हुई। मार्क्स की क्रान्ति राजाश्रय का पथ पकड़कर चल सकी, अतः अधिक उजागर होकर हमारे सामने आ गई। स्वामी दयानन्दजी की क्रान्ति, विस्तार की दृष्टि से, कार्लमार्क्स की अपेक्षा कुछ अधिक ही विस्तृत है, किन्तु स्वामी दयानन्द की क्रान्ति धर्म के रथ पर चढ़कर चली, इसलिए अधिक व्यापक, अधिक दूरगामी होकर भी उतनी उजागर न हो सकी, केवल धार्मिक और सामाजिक रूप में ही आगे बढ़ती रही।

यों तो स्वामी दयानन्द ने राजनीति और राज्य के लिए कुछ कम नहीं किया है। उनके सिद्धान्तों को देखने पर, उनके लेखों के पढ़ने पर, उनकी गतिविधियों का भली प्रकार निरीक्षण करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि उनका ध्यान राज्य और राजनीति पर भी पूरा था, किन्तु इतिहास का क्रम कुछ ऐसा बना कि स्वामी दयानन्द राजनीति के नेता या पुरोधा न बनकर धर्मनीति के सुधारक और समाज-संस्कर्ता की कोटि में आ खड़े हुए। यद्यपि अब यह निर्विवाद सा हो गया है कि १८५७ ई० के स्वतन्त्रता संग्राम से आरम्भ करके स्वामी दयानन्द के प्रचारक्रम तक यावत् जीवन स्वामी दयानन्द स्वराज्य-स्वतन्त्रता के प्रति अत्यधिक सजग और क्रियाशील रहे। फिर भी चूंकि इतिहास के क्रम ने आर्य समाज को एक धार्मिक समाज सुधारक संस्था का रूप दिया, फलस्वरूप स्वामी दयानन्द का राजनैतिक वर्चस्व दुनिया की आंखों में धुंधला-सा पड़ गया।

स्वामी दयानन्द समानता और स्वाधीनता के सूत्रधार थे। उनके इस मिशन को हम निम्न खण्डों में विभक्त करके विचार करेंगे :

(१) वेदाधिकार,
(२) धर्माधिकार,
(३) राज्याधिकार,
(४) अवसर की समानता

(१) वेदाधिकार

भारतीय परम्परा में यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि वेद परमप्रभु परमेश्वर ने मनुष्यों के कल्याण के लिए अवतरित किए, इसीलिए वेद अपौरुषेय माने

जाते हैं। तर्क का सीधा सा स्वरूप है कि परमेश्वर ने इस संसार में कोई भेदभाव नहीं रखा है। भगवान् ने हवा बनाई ती प्राणीमात्र के लिए, जल बनाया तो प्राणीमात्र के लिए, सूर्य या पृथ्वी बनाई तो भी प्राणीमात्र के लिए। अतः सीधा-सा सिद्धान्त है कि परमेश्वर किसी व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष के लिए कोई चीज नहीं बनाते। परमेश्वर ने जो कुछ भी बनाया है वह उन सब लोगों के लिए बनाया है जो उससे लाभ उठा सकें। इसी आधार पर वेद भी मनुष्य मात्र के लिए परमेश्वर की ओर से मिले हैं। किन्तु मध्य काल में वेदों को ब्राह्मणों ने अपने अधिकार की वस्तु समझ ली। विशेषरूप से स्त्री और शूद्रों के लिए तो वेद पढ़ने का सीधा ही निषेध कर दिया गया "स्त्री-शूद्रौ नाधीयाताम्"— वेद स्त्री-शूद्रों को नहीं पढ़ना चाहिए, इसे लोग श्रुति वाक्य कहने लगे। स्वामी दयानन्द ने बड़ी कठोर भर्त्सना की और शास्त्रीय प्रमाण के आधार पर यह घोषित किया कि यह श्रुति नहीं है बल्कि कपोलकल्पना है। आश्चर्य होता है कि स्वामी शंकराचार्य ने, स्वामी रामानुजाचार्य ने, अन्य अनेक विद्वानों ने शूद्रों और स्त्रियों के वेदाध्ययन का निषेध किया है। स्वामी शंकराचार्य ने अपने वेदान्त सूत्र के भाष्य में लिखा है—

> अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजनुभ्यां श्रोत्र प्रतिपूरणमिति। पद्भु, ह वा एतत् श्मशानं यत् शुद्रः तस्मात् शूद्र समीपे नाध्येतव्यमिति वेदाः
>
> शंकर भा० ३-३-३८

इसका आशय यह है कि यदि शूद्र वेद मत्रों को सुन ले तो उसके कान को लाख और शीशे से भर देना चाहिए। शूद्र श्मशान के सदृश है, उसके पास वेद नहीं पढ़ने चाहिए, यदि वह वेदमन्त्र का उच्चारण करे तो उसकी जीभ काट लेना चाहिए। यदि वेदमन्त्र धारण कर ले तो उसका शरीर काट देना चाहिए, इत्यादि। इसी प्रकार लगभग इन्हीं शब्दों में स्वामी रामानुजाचार्य ने भी शूद्रों के वेदाध्ययन का निष्ठुरता से विरोध किया है।

स्त्रियां भी वेद न पढ़ें, यह भी इन विद्वानों की मान्यता रही है। एक प्रसंग देखने पर हंसी भी आती है और ग्लानि भी होती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में एक प्रसंग आया है "अथय इच्छेत् दुहिता मे पंडिता जायेत—" ६-४-१९। अर्थात् यदि पिता चाहता है कि मेरी लड़की पंडिता बने तो, इत्यादि इस प्रसंग का अर्थ स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं—" पाण्डित्यम् गृहतन्त्र विषय मेव वेदे अनधिकारात्" अर्थात् लड़कियों के पढ़ने की बात घरेलू ही समझनी चाहिए, उन्हें वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है।

इस भूमिका में स्वामी दयानन्द का उद्घोष कितना क्रांतिकारी है।

उन्होंने यजुर्वेद का प्रमाण देकर···

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।
ब्रह्म राजन्याभ्याथं शूद्राय चार्याय चस्वाय चारणाय ।। यजु० २६-२

यह सिद्ध कर दिया कि वेद मनुष्यमात्र के लिए हैं। स्वामी दयानन्द की इस क्रान्ति पर विश्वविश्रुत लेखक और विचारक रोमारोलां ने रामकृष्ण परमहंस की जीवनी में स्वामी दयानन्द की बड़ी सराहना की है। रामारोलां लिखते हैं—"It was in truth an epoc making date for India when a Brahman not only acknowledged that all human beings have a right to know the Vedas, who had been previously prohibited by orthodox Brahmans, but insisted that their study and propaganda was the duty of every Arya." Life of Ramkishna by Roman Rolland—Page 59

इसका आशय यह है कि सचमुच भारत के लिए वह एक नवयुग के निर्माण का दिन था जब कि एक ब्राह्मण ने (स्वामी दयानन्द जी) केवलमात्र यह स्वीकार नहीं किया कि मनुष्यमात्र को वेदों को जानने का अधिकार है, जिस अधिकार को कट्टरपंथी ब्राह्मणों ने छीन रखा था, अपितु इस बात पर बल दिया कि 'वेदों का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है। इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने वेदाधिकार न केवल शूद्रों के लिए या सम्पूर्ण भारतवासियों के लिए, बल्कि मनुष्यमात्र के लिए स्वीकार किया।

(२) धर्माधिकार

वेदाधिकार के साथ ही धर्माधिकार का द्वार भी खुल गया। सचमुच एक प्रकार से यह करिश्मा सा लगता है कि जो वेद शताब्दियों से नहीं सहस्राब्दियों से ब्राह्मणों के अधिकार के ताले में बन्द थे, उन वेदों को एक ब्राह्मण संन्यासी ने मनुष्यमात्र के लिए सुलभ करा दिया। जब मनुष्यमात्र, चाहे भारतीय हो या कोई विदेशी, वेद पढ़ सकता है, तो स्वामी दयानन्द जी की मान्यता के अनुसार संसार के मनुष्यमात्र वेदधर्म को स्वीकार कर सकते हैं और वेदधर्म स्वीकार करने पर निश्चित रूप से वे आर्य बन सकते हैं। इसका निश्चित परिणाम यह निकला कि वेदधर्म को न केवल हिन्दू या भारतवासी ही स्वीकार कर सकते हैं अपितु मुसलमान और ईसाई चाहे भारतीय हों या विदेशी, वे भी वेदधर्म को स्वीकार कर सकते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि धर्म के मोर्चे पर स्वामी दयानन्द को लोगों ने आक्रामकता की ओर बढ़ते देखा। अब तक हिन्दू इसाई और मुसलमानों से पीटा जा रहा था और अनाथ निरीह की तरह

असमर्थ-सा टुकुर-टुकुर अपने पतन और विवशता को निहार रहा था, किन्तु स्वामी दयानन्द की इस घोषणा ने एक नया ही रूप दे दिया। श्री रामधारीसिंह दिनकर ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा है— "राजा राममोहन राय और रानाडे ने हिन्दुत्व के पहले मोर्चे पर लडाई लड़ी थी, जो रक्षा या बचाव का मोर्चा था। स्वामी दयानन्द ने आक्रामकता का थोड़ा-बहुत श्रीगणेश कर दिया, क्योंकि वास्तविक रक्षा का उपाय तो आक्रमण की ही नीति है, अब तक हिन्दुत्व की निन्दा करने वाले लोग निश्चिन्त थे कि हिन्दू अपना सुधार भले करता हो किन्तु, बदले में हमारी निन्दा करने का उसे साहस नहीं होगा। इस मेधावी एवं योद्धा संन्यासी ने (स्वामी दयानन्द ने) उनकी आशा पर पानी फेर दिया। यहीं नहीं, प्रत्युत, जो बात राजा राममोहन, केशवचन्द्र और रानाडे के ध्यान में भी नहीं आई थी, उस बात को लेकर स्वामी दयानन्द के शिष्य आगे बढ़े और उन्होंने घोषणा कर दी कि धर्मच्युत हिन्दू प्रत्येक अवस्था में अपने धर्म में वापस आ सकता है, एवं अहिन्दू भी यदि चाहें तो हिन्दूधर्म में प्रवेश पा सकते हैं। यह केवल सुधार की वाणी नहीं थी, जागृत् हिन्दुत्व का समरनाद था। और सत्य ही, रणारूढ़ हिन्दुत्व के जैसे निर्भीक नेता स्वामी दयानन्द हुए, वैसा और कोई न हुआ।"

—संस्कृति के चार अध्याय, पृष्ठ ५६६

इसाई-मुसलमानों ने और हिन्दुओं ने भी इसे हिन्दुत्व का समरनाद समझा और स्वामी दयानन्द को आक्रान्ता के रूप में देखा, किन्तु दार्शनिक सच्चाई यह है कि स्वामी दयानन्द ने एक ही ईश्वर, एक ही ईश्वरीय ज्ञान वेद और एक ही धर्म वैदिकधर्म मनुष्यमात्र के लिए स्वीकार किया। मनुष्यमात्र स्वामी दयानन्द की निगाह में परमेश्वर के पुत्र हैं और सभी समान हैं, कोई अवतार, पैगम्बर और मसीहा की आवश्यकता नहीं है, यह धार्मिक दृष्टि से मनुष्यमात्र की धार्मिक समानता का सिद्धान्त है। इसमें आक्रामकता जैसी बात इतिहास का तुक हो सकती है, सिद्धान्त की सच्चाई नहीं।

(३) राज्याधिकार

स्वामी दयानन्द जी जिस युग में थे वह राजाओं का युग था और निर्विवाद-रूप से राजतन्त्र सर्वमान्य था, किन्तु स्वामी दयानन्द के जनतन्त्र के प्रति पूर्ण आस्था ही नहीं व्यक्त की बल्कि निरंकुश राजतन्त्र की जितनी कठोर भर्त्सना स्वामी दयानन्द ने की है, उतनी सम्भवतः उस युग में अथवा इस युग में भी किसी ने नहीं की है। शतपथ का प्रमाण देकर स्वामी जी लिखते हैं—" जो प्रजा से स्वतंत्र स्वाधीन राजवर्ग रहे तो राज्य में प्रवेश करके प्रजा का नाश किया करे। जिस लिए अकेला राजा स्वाधीन व उन्मत्त होके प्रजा का नाशक

होता है, अर्थात् वह राजा प्रजा को खाये जाता (अत्यन्त पीड़ित करता) है। इसलिए किसी एक को राज्य में स्वाधीन न करना चाहिए। जैसे सिंह व मांसाहारी हृष्ट-पुष्ट पशु को मार कर खा लेते हैं, वैसे स्वतन्त्र राजा प्रजा का नाश करता है अर्थात् किसी को अपने से अधिक न होने देता। श्रीमान् को लूट-खूंट कर अन्याय से दंड ले के अपना प्रयोजन पूरा करेगा।"—सत्यार्थ प्रकाश : षष्ठसमुल्लास

अतः स्वामी दयानन्द का यह कहना है कि "राजा जो सभापति, तदाधीन सभा, सभाधीन राजा, राजा और सभाप्रजा के आधीन और प्रजा राजसभा के आधीन रहे।" —सत्यार्थ प्रकाश : षष्ठ समुल्लास

आज की राजनीति में शक्ति संतुलन (Balance of Powers-Separation of Powers) का इससे सुन्दर उदाहरण जल्दी नहीं मिलता।

इतना ही नहीं, जिस समय स्वामी दयानन्द प्रचार के कार्य में लगे थे उस समय १८५७ ई० का स्वतन्त्रता संग्राम हारा जा चुका था। ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन समाप्त हो गया था, ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने भारत का राज्य अपने हाथों में ले लिया था और महारानी विक्टोरिया ने अपना प्रसिद्ध घोषणा-पत्र जारी कर दिया था, जिसके अनुसार पक्षपातहीन धर्मसम्प्रदाय का बिना कुछ विचार किये सारी प्रजा को बराबरी का दर्जा दिया गया था। स्वामी दयानन्द महारानी विक्टोरिया की इस प्रसिद्ध घोषणा का बिना कोई हवाला दिए इतने सुस्पष्ट रूप में इसके विरुद्ध लिख गए कि ऐसा लगता है जैसे अप्रत्यक्षरूप से वे महारानी विक्टोरिया को ही उत्तर दे रहे हों। उन्होने सत्यार्थ प्रकाश के अष्टम समुल्लास में लिखा है—"दुर्दिन जब आता है तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है। कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रहरहित, अपने और पराए का पक्षपातशून्य, प्रजा पर मातापिता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है"।

इससे पता लगता है कि स्वामी दयानन्द स्वराज्य के प्रति कितने आग्रहवान् थे।

(४) अवसर की समानता

स्वामी दयानन्द के समानाधिकार के सिद्धान्त में वेदाधिकार, धर्माधिकार इन सब का बहुत महत्त्व है। आज की विचार धारा में मनुष्य जब तक अवसर की समानता न पाए तब तक वास्तविक समानता का आशय पूर्ण नहीं होता। सभी व्यक्तियों को राजनीतिक समानता है, किन्तु एक व्यक्ति को ऐसा अवसर मिलता है कि वह न केवल चुनाव में खड़ा होता है बल्कि चुनाव में लाखों रुपये व्यय करता है। दूसरी ओर एक और व्यक्ति है, वह भी राजनीतिक रूप से सब के समान है, किन्तु ऊपर अग्नि बरसाते सूरज की मार से छिपने के

लिए उनके पास तिनके की भी छाया नहीं है और न ही तवे जैसी तपती धरती पर पैर रखने के लिए कोई स्थान— ऐसा निःसहाय व्यक्ति रुपये-दो रुपए में कभी-कभी मुट्ठी भर चना-चबैना में अपना मत बेच देता है। यह राजनीतिक समानता की बिडम्बना नहीं तो और क्या है ? इस भूमिका में स्वामी दयानन्द की मान्यता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को—चाहे लड़का हो या लड़की, धनी हो या गरीब, सब को अवसर की समानता मिलनी चाहिए। वे सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखते हैं—"इसमें राज नियम और जाति नियम होना चाहिए कि पांचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवें। जो न भेजे वह दण्डनीय हो।" यह हमारे आज के अनिवार्य शिक्षा जैसा विधान हो गया। स्वामी दयानन्द के मत में अनिवार्यता का उल्लंघन करने पर दण्ड देना विधिसम्मत है, किन्तु बच्चे केवल स्कूल जाकर क्या करेंगे, उन्हें भोजन चाहिए, वस्त्र चाहिए, पढ़ाई का परिवेश चाहिए, घर की चिन्ताओं से मुक्त होना चाहिए, यह सब आज के इस संसार में बहुत कम सम्भव दीखता है। इस सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द के क्रान्तिकारी समानाधिकार के समर्थक विचार कितने ऊंचे हैं, इनका विश्लेषण द्रष्टव्य है। स्वामी जी सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखते हैं—"सबको तुल्य वस्त्र, खान-पान—आसन दिए जायं। चाहे वह राजकुमार व राजकुमारी हों, चाहे दरिद्र की सन्तान हो, सब को तपस्वी होना चाहिए। उनके माता-पिता अपने सन्तानों से व सन्तान अपने माता-पिताओं से न मिल सकें और न किसी प्रकार का पत्रव्यवहार एक दूसरे से कर सकें। जिससे संसारी चिन्ता से रहित होकर केवल विद्या बढ़ाने की चिन्ता रखें।" स्वामी दयानन्द के ये विचार आज के संसार में भी अति प्रगतिशील माने जायेंगे। वास्तव में समानता तभी होती है जब अवसर की समानता मिले। अवसर की समानता न मिलने पर समानता की बात करना एक राजनीतिक छलना मात्र है। स्वामी दयानन्द के ये विचार आज के अनिवार्य-निःशुल्क शिक्षा के विचारों की अपेक्षा से कहीं अधिक प्रगतिशील और क्रांतिकारी हैं। इन विचारों के साथ साम्यवादी देशों की कम्यून व्यवस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन भी मानव कल्याण के लिए उपयोगी सिद्ध होगा।

आज से एक सौ वर्षों से भी अधिक पूर्व स्वामी दयानन्द के विचार निश्चितरूप से अपने समय से सैकड़ों वर्ष आगे थे। आज भी संसार इतनी उदारता दिखाने को तैयार नहीं है जो स्वामी दयानन्द ने सौ वर्ष पहले दिखायी थी। वास्तव में इन बहुमुखी दिशाओं में विचार करने से प्रतीत होता है कि वेदाधिकार हो या धर्माधिकार, राज्याधिकार हो या अवसर का समानाधिकार, इन सारे समानाधिकारों के अपूर्व पुरोधा स्वामी दयानन्द सरस्वती थे।

ऋग्० १०.१९१.३

समता का तुम्हें मेरा यही समादेश है कि तुम्हारे
विचार समान हों, तुम्हारी समितियाँ समान हों,
तुम्हारे मन समान हों, तुम्हारा चित्त एक हो।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥

वेद ईश्वरीय ज्ञान है

श्री पण्डित वाचस्पति जी

मनुष्य को ज्ञानवान् प्राणी कहा गया है। मनुष्य और पशु में एक बड़ा भारी भेद यह है कि जहां भूख मिटाने के लिए पशु भी खाता है और मनुष्य भी, परन्तु पशु को यह ज्ञान नहीं कि यह चारा मेरे बच्चे के लिए है, यदि मैं इसे खा जाऊंगा तो मेरा बच्चा भूखा रहेगा व मर जाएगा। मनुष्य यह जान सकता है कि कौन-सा कार्य उचित है और कौन-सा अनुचित। वह अपनी बुद्धि से विचार सकता है और शास्त्र को पढ़कर भी जान सकता है। धर्माधर्म जानने के अनेक साधन शास्त्र ने बताए हैं। महर्षि व्यास लिखते हैं :—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषान्त समाचरेत्॥ —महाभारत

अर्थात् धर्म का सर्वस्व यह है कि जो व्यवहार तुम्हें अपने लिए बुरा प्रतीत होता है उसका आचरण दूसरों के लिए मत करो। धर्म का निश्चय करने में यह साधन बहुत सहायक है। यदि धोखे से कोई तुम्हारा धन हर ले, तो तुम्हें दुःख होता है। इसलिए यह पाप है, अतः तुम्हें भी दूसरों का धन नहीं हरना चाहिए। कई अवस्थाओं में यह साधन धर्म के जानने में सहायक नहीं भी होता जैसे एक शराबी या अफीमची दूसरों को भी शराब व अफीम का सेवन करा देवे तो दूसरे के प्राण हरने का वह पापी भी हो सकता है। क्योंकि यह काम उसे अपने लिए अच्छे लगते हैं। इसलिए ये धर्म नहीं बन गए। शास्त्र ने धर्म को जानने के लिए एक और साधन बताया है कि अपनी आत्मा (Conscience) की आवाज के अनुसार जो कार्य किया जाय वह धर्म होगा। जिन लोगों की आत्मा शुद्ध होती है, वे तो इस साधन से धर्माधर्म का निर्णय कर सकते हैं, परन्तु एक कसाई की आत्मा की आवाज दब चुकी है। वह जब पशुओं को मारता है तो उसे इसमें पाप प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार से जिन लोगों की आत्मा

की आवाज दब चुकी हो, उनको यह साधन सहायता नहीं दे सकता। इसलिए शास्त्र ने बताया कि महापुरुषों के आचार का अनुकरण करना चाहिए। यह साधन धर्म का निश्चय करने में सहायक हो सकता है। परन्तु हो सकता है कि कभी महापुरुषों में भी कोई त्रुटि हो। इसलिए शास्त्र ने कहा है कि जो स्मृति में बताया है, वह धर्म है। क्योंकि स्मृतियां ऋषियों की बनाई हुई हैं। परन्तु स्मृतियां विशेष देश और काल के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं। इसलिए शास्त्र ने बताया कि, क्योंकि वेद ईश्वरीय ज्ञान है, अतः वह सब देशों और कालों के लिए समान है। वेद की शिक्षाओं पर आचरण करने से मनुष्य का कल्याण होता है। इसी बात को मनु महाराज ने शब्दों में कहा है :—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

कुछ लोग तो ऐसे हैं कि जो मानते हैं कि संसार की कोई भी पुस्तक ईश्वरीय ज्ञान नहीं है, सब पुस्तकें मनुष्यों की बनी हुई हैं, दूसरे लोग वे हैं जो ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता तो स्वीकार करते हैं, परन्तु वेद को नहीं। अपितु अन्य ग्रन्थों—बाइबिल, कुरान आदि को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं।

पहली श्रेणी के लोगों का कहना है कि सृष्टि के आदि में ज्ञान बहुत कम था। शनैः-शनैः उन्नति होती गई, ज्ञान में वृद्धि होती गई तो मनुष्य ज्ञान की उस अवस्था को प्राप्त हो गया जो आज है, जबकि मनुष्य परमाणु बम (Atom Bomb) तक बनने लगा है, जिससे एक क्षण भर में सहस्रों मनुष्यों का नाश किया जा सकता है। क्रमोन्नति या विकासवाद का सिद्धान्त इस समय पश्चिमी विचार का सार है। इस सिद्धान्त ने विज्ञान को, साहित्य को तथा अन्य प्रत्येक विद्या को प्रभावित किया है। प्रत्येक लेखक बिना अनुभव किए विकासवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करके चलता है। केवल पश्चिम में ही नहीं अपितु इस देश में भी विकासवाद का प्रचार बहुत है। अंग्रेजी शिक्षित लोग इसको स्वतः-सिद्ध सिद्धान्त स्वीकार करने लगे हैं। परन्तु वास्तविक तथ्य यह है कि यह हमारी सभ्यता और पश्चिमी सभ्यता में मौलिक भेद है। यहां पता लगता है कि जो व्यक्ति विकासवाद को मानता है वह हमारी संस्कृति से (Poles assunder) सर्वथा दूसरे सिरे पर है। उसका विश्वास कभी ईश्वरीय ज्ञान पर नहीं हो सकता। हम तो यह मानते हैं कि प्रभु ने सारा ज्ञान सृष्टि के आदि में ही दे दिया। पर विकासवादी यह मानता है कि आदि में ज्ञान नहीं था, शनैः-शनैः उन्नति करता हुआ मनुष्य उन्नत हो गया और अब ज्ञान के शिखर पर पहुंच चुका है।

विकासवाद का सिद्धान्त क्योंकि इतना प्रभावशाली है, इसलिए आगे बढ़ने

से पूर्व इस सिद्धान्त पर विचार करना अत्यन्तावश्यक है।

विकासवाद (Evolution Theories) तीन हैं। इनमें से वह वाद जो कि सबसे पहले क्षेत्र में आया और वैज्ञानिक लोग उसे मानते रहे वह लैमार्क का चलाया हुआ था।

लैमार्क के अनुसार प्राणियों के वे अंग जो काम में अधिक आते हैं, बढ़ जाते हैं, शनैः-शनैः उन्नति करते-करते इस स्थिति को प्राप्त हो जाते हैं कि कुछ अंग बढ़ जाते हैं और कुछ जो काम में नहीं आते, वे निकम्मे होते जाते हैं। इस प्रकार वे छोटे होते-होते सर्वथा उत्पन्न ही नहीं होते। पीढ़ियों तक इस प्रकार की बात चलती जाती है। कई पीढ़ियों के पश्चात् कुछ अंग बहुत बढ़ गए और कुछ सर्वथा नहीं उगे। परिणाम यह हुआ कि नये प्रकार के प्राणी उत्पन्न हो गए। जैसे जिराफ जिसकी ग्रीवा बहुत लम्बी होती है उसके पूर्वज घोड़े की आकृति के प्राणी थे (या घोड़े ही थे)। वे ऊंचे-ऊंचे वृक्षों से पत्ते खाने का यत्न करते रहे। गरदन खिंचती गई और थोड़ी-थोड़ी बढ़ती गई। इस प्रकार से कई पीढ़ियों के पश्चात् जिराफ उत्पन्न हो गए। कई फूल ऐसे हैं जिनकी एक पत्ती शेष पत्तियों की अपेक्षा बहुत लम्बी और चौड़ी होती है। इसका कारण लैमार्क के विचारों के अनुसार यह है कि ऐसे फूलों के पूर्वजों के तो वस्तुतः सब पत्तियां एक जैसी थीं, परन्तु एक पत्ती पर कीड़े और शहद की मक्खियां आकर शहद चूसने के लिए बैठती रहती थीं। उनके बोझ से वह पत्ती कुछ लम्बी हो गई और उससे अगली पीढ़ी में वह पत्ती कुछ और लम्बी हो गई। और उससे अगली पीढ़ी में वह कुछ और लम्बी उत्पन्न हुई। फिर उस पर शहद की मक्खियां बैठती रहीं, अतः वह कुछ और लम्बी हो गई और शेष छोटी रह गईं। शनैः-शनैः कई पीढ़ियों के पश्चात् वह पत्ती बहुत बढ़ जाती है, और शेष छोटी रह जाती हैं। एक और उदाहरण से लैमार्क अपने विचार को व्यक्त करता है। एक साधु अपने एक हाथ को खड़ा रखता है। परिणाम यह होता है कि वह हाथ सर्वथा निकम्मा और शक्तिहीन हो कर सूख जाता है। लैमार्क का यह कथन है कि जब मनुष्य अपने जीवनकाल में ही एक हाथ को काम में न ला कर सर्वथा निकम्मा करके सुखा सकता है तो सहस्रों वर्षों में प्रकृति इस प्रकार जो अंग काम में आते हैं उनको बढ़ाकर और जो अंग काम में नहीं आते हैं उनको घटा कर नये प्राणी उत्पन्न क्यों नहीं कर सकती? लैमार्क का यह वाद बहुत समय तक चलता रहा।

लैमार्क के पश्चात् डार्विन का वाद क्षेत्र में आया। इस वाद का इतना प्रचार हुआ कि विकासवाद और डार्विन वाद को पर्यायवाची समझा जाने लगा। साधारण पढ़े-लिखे लोग तो यही समझते हैं कि डार्विन के वाद के सिवाय और कोई विकासवाद न है और न हुआ है। डार्विन ने लैमार्क का

खण्डन किया और कहा कि लैमार्क के ढंग से नये प्राणी सर्वथा पैदा नहीं हो सकते। यह ठीक है कि किसी विशेष अंग के प्रयोग करने व न करने से उस अंग में कुछ अन्तर आ सकता है लेकिन यह अन्तर अगली पीढ़ी में नहीं जाता। वह साधु जिसने अपने हाथ को खड़ा रख कर सुखा दिया, उसके अगले कुल में सूखा हुआ हाथ उत्पन्न नहीं होता। डार्विन एक और युक्ति यह देता है कि सदियों से मुसलमानों और ईसाइयों में सुन्नत होती रही है। शरीर में मांस का उतना भाग इस प्रकार से सर्वथा निकम्मा हो गया है। लगभग २००० वर्ष व्यतीत हो गए जब से यह प्रथा चली हुई है, परन्तु ऐसा कभी नहीं देखा गया कि कोई बच्चा ऐसा उत्पन्न हो जाए जिसकी सुन्नत जन्म से ही हो। अर्थात् मांस का उतना भाग उत्पन्न ही न हो। इसलिए लैमार्क के ढंग पर नये प्राणी नहीं उत्पन्न हो सकते। कोई अंग जितना घटता व बढ़ता है, वह घटाव या बढ़ाव अगली पीढ़ी में पुन: लौट पड़ता है और पहली अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

डार्विन का विचार यह है कि संसार में एक (Struggle for existance) 'जीवित रहने का संघर्ष' चल रहा है। उस स्ट्रगल में जो योग्यतम सिद्ध होता है, उसकी विजय होती है, वह जीवित रहता है, शेष नष्ट हो जाते हैं (Survival of the fittest)। इस जीवन संग्राम के लिए जो अंग वा जो शक्ति अधिक उपयोगी है, वा यह जिनमें अधिक होती जाती है, वे प्राणी जीवित रहते हैं। वह शक्ति भी उनमें बढ़ जाती है। इस प्रकार से उन्नत होते-होते वे प्राणी जिनमें वे शक्तियां बहुत अधिक होती हैं वे उत्पन्न होते जाते हैं और इसी क्रम से नये प्राणी पशु जगत् और वनस्पति जगत् में उत्पन्न हो जाते हैं। इस वाद को व्यक्त करने के लिए कुछ उदाहरण डार्विन ने दिए हैं। जीवन-संग्राम के संबंध में वह कहता है कि संसार में इतने प्राणी हमारे सामने उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। सब से कम बच्चे देने वाला पशु हाथी है। यदि हिसाब लगा कर देखा जाए तो पता लगेगा कि शायद लगभग ८० वर्षों में सारी पृथ्वी पर हाथी ही हाथी होंगे और अन्य किसी के रहने के लिए कोई स्थान नहीं बचेगा। परंतु ऐसा नहीं होता, हाथियों की संख्या इतनी नहीं बढ़ती। इसी प्रकार से अन्य प्राणियों का हिसाब लगाया जाय तो थोड़े काल में ही वे प्राणी इतने बढ़ जाते हैं कि सारी पृथ्वी उन्हीं से भर जाय। मक्खियां इतनी शीघ्र बढ़ती हैं कि कहा गया है कि दो मक्खियां (नर और मादा) यदि एक मरे हुए घोड़े पर आ बैठें तो वे घोड़े को शीघ्र समाप्त कर देंगी जब कि एक शेर को उस घोड़े को खाने में अधिक समय लगेगा। क्योंकि जब मक्खियों को खाना मिलता रहता है तो वे धड़ाधड़ अण्डे देती हैं और बच्चे उत्पन्न होते हैं और उनकी संख्या बढ़ती जाती है। परंतु संसार में किसी भी प्राणी की संख्या इतनी नहीं बढ़ती कि एक ही प्राणी से सारी पृथ्वी भर जाए। इसका कारण क्या है? कारण यह है कि संसार में खाना सीमित है,

प्राणियों की खाना प्राप्त करने की शक्तियां सीमित हैं, गरमी-सरदी सहन करने की शक्तियां सीमित हैं, तथा शत्रुओं का मुकाबला करने की शक्तियां सीमित हैं। जिनमें शक्ति अधिक होती है वे जीवित रहते हैं, शेष नष्ट हो जाते हैं। वे शक्तियां बढ़ती जाती हैं, और प्राणी जीवन संग्राम के अधिक योग्य बनता जाता है। जैसे एक खरगोश का जोड़ा है, उसके आठ बच्चे हैं। हम यह देखते हैं कि उनमें दो जीवित रहते हैं और छः मर जाते हैं। उन दो का रहना और छः का मर जाना अकस्मात् नहीं होता। ऐसा होना सकारण है। कारण यही है कि उनकी छः की खाना प्राप्त करने की, सरदी गरमी आदि सहन करने की और शिकारी कुत्तों, शिकारी मनुष्यों तथा अन्य शत्रुओं का मुकाबला करने की शक्तियां कम थीं, इसलिए वे जीवन संग्राम में सफल नहीं हुए, और जिन दो में ये शक्तियां अधिक थीं, वे सफल हो गये। वे शक्तियाँ अगले कुल में चली गईं। उस कुल में फिर आठ बच्चे उत्पन्न हुए और २-३ जीवित रहे और शेष मर गए। इन दो-तीन में वा एक में वे शक्तियाँ कुछ और बढ़ गईं और अगले कुल में बढ़ी हुई शक्तियों वाले बच्चे उत्पन्न हुए। उनमें से फिर जिनमें वे शक्तियाँ और अधिक थीं वा जो जीवन संग्राम में विजयी होने के अधिक योग्य थे, वे जीवित रहे और शेष मर गए। इस प्रकार से वे शक्तियां बढ़ती गईं और एक समय आया कि जब एक नया प्राणी उत्पन्न हो गया जो कि जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करने में खरगोश की अपेक्षा अधिक योग्य है। इसको अंग्रेजी में Nartural Selection, Survival of the fittest कहते हैं।

इस वाद के अनुसार संसार के सब प्राणियों-पशुओं वा वृक्षों का पूर्वज एक सेल वाला प्राणी अमीबा (Amoeba) था। अमीबा से उन्नति होते-होते चार सेल का प्राणी हाइड्रा (Hydra) बना। इसी प्रकार से उन्नति हुई और दो सेल के प्राणी बने, आठ के बने। शनैः-शनैः मछलियाँ बनीं, मेंढक बने। ऊपर बताये सिद्धांतों के अनुसार ही जीवन संग्राम में सफल होने के लिए ज्यों-ज्यों शक्तियाँ बढ़ती गईं नये-नये प्रकार के पशु और पक्षी उत्पन्न हो गये, बंदर उत्पन्न हो गये। इस युग में बंदर मनुष्य के समीपतम है। अंत में मनुष्य उत्पन्न हुए जो कि जीवन संग्राम में विजयी होने के सब से अधिक योग्य हैं। मनुष्य ज्ञान-विज्ञान में उन्नति करते-करते परमाणु-युग से भी आगे निकल गया।

अपने वाद को व्यक्त करने के लिए डार्विन ने कबूतरों का उदाहरण दिया कि कबूतर पालने वाले साधारण जंगली कबूतर से ही उसमें दूसरों से कुछ भिन्न रंग व भिन्न गुण वाले कबूतरों को चुनकर उससे अगले कुल में उन गुणों वा रंगों को बढ़ा लेते हैं। इस प्रकार से वे कबूतरों की कुछ पीढ़ियों के पश्चात् नये प्रकार के कबूतर उत्पन्न कर लेते हैं।

इसी प्रकार से कुछ फूलों पर परीक्षण किये गये हैं। मटरों के एक रंग के

फूलों से भिन्न-भिन्न रंगों के फूल उत्पन्न कर लिये गये हैं।

डार्विन युक्ति देता है कि यदि मनुष्य अपने जीवन काल में नये प्रकार के कबूतर और नये रंग के फूल विशेष गुणों को चुनकर बढ़ाकर उत्पन्न कर लेता है, तो प्रकृति लाखों वर्षों में इसी चुनाव से नये प्रकार के प्राणी, जो जीवन संग्राम में अधिक योग्य हो, क्यों नहीं उत्पन्न कर सकती ? यह है संक्षेप में डार्विन के विकासवाद का सार।

इस वाद पर सैकड़ों पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। हमारे अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग भी इस के प्रभाव के नीचे दवे हुए हैं यद्यपि इस वाद का खंडन हो चुका है, परंतु हमारे अंग्रेजी पढ़े-लिखे वाबू अव भी इसे ही मानते चले जा रहे हैं, क्योंकि उन्होंने अपने घर का तो कुछ पढ़ना ही नहीं, पश्चिम की जूठन ही खानी है।

डार्विन के इस वाद के विरुद्ध डीव्रीज (De Vries) ने कहा कि यह ठीक है कि एक प्राणी शनैः-शनैः उन्नति करता है, परंतु वह उन्नति वाले गुण जो उसमें वढ़ते हैं, एक विशेष सीमा तक रहते हैं। उस सीमा के पश्चात् या तो उन्नति रुक जाती है या लौट पड़ती है। इस शनैः-शनैः उन्नति से नये प्राणी उत्पन्न नहीं हो सकते।

कुछ अन्य युक्तियाँ विकासवाद के विरुद्ध दी गई हैं, वे ये हैं—

(१) परिस्थिति, जलवायु आदि के अनुसार जीवन संग्राम के अधिक योग्य बनाने के लिए जो शरीरों आदि में अंतर हो सकता है वह इतना ही है जो एक भारतवासी, चीनी, पठान अंग्रेज व रेड इंडियन की आकृति में है, वा वैलर, अरबी और कच्छी घोड़े में है, परंतु परिस्थिति तथा जलवायु आदि मछली से ऊंट नहीं बना सकती।

(२) एक सेल के अमीबा से दो सेल वाला हाइड्रा बनता है तो उत्तरोत्तर सब योनियां दूने परिणाम से बढ़नी चाहियें, परंतु विकासवाद के क्रम में ऐसा होता नहीं दिखाया गया।

(३) एक सेल के अमीबा में स्त्री-पुरुष दो भेद होना असंभव प्रतीत होता है।

(४) विकासवाद के अनुसार पक्षधर प्राणी सर्पणशीलों के बाद होने चाहिए थे, परन्तु कृमियों में भी पक्ष उत्पन्न हो जाते हैं।

(५) घोड़े के स्तन नहीं होते, बैल के होते हैं और पुरुषों के स्तन होते हैं। स्तन बैल को और पुरुषों को जीवन संग्राम में क्या सहायता देते हैं और घोड़े में स्तनों का अभाव उसे क्या हानि पहुंचाता है; इसका उत्तर विकासवादी कुछ नहीं दे सकता।

विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार जिन प्राणियों के शरीर जीवन संग्राम में

अधिक सफल होते हैं वे जीवित रहते हैं, शेष नहीं। शनैः-शनैः उन्नति करते-करते इस प्रकार के प्राणी बनते हैं जिनके शरीर जीवन संग्राम में अधिक सफल हो सकते हैं। विकासवाद के अनुसार पृष्ठवंशधारियों (Vertebrates) में सर्पणशील प्राणियों की श्रेणी है। सर्पणशीलों से विकसित होकर पक्षी बने, पक्षियों से विकसित होकर स्तनधारी हुए। अब जरा देखें कि इनके शरीर जीवन संग्राम में कितना काम देते हैं। सर्पणशीलों में कछुवा १५० वर्ष और सर्प १२० वर्ष जीता है। पक्षियों में कबूतर ८ वर्ष जीता है। स्तनधारियों में शशक ८ वर्ष, कुत्ता १४ वर्ष, घोड़ा ३२ वर्ष, बन्दर २१ वर्ष और मनुष्य १०० वर्ष जीता है। मनुष्य विकासवाद के अनुसार सबसे अधिक उन्नत है फिर भी बहुत कम मनुष्य १०० वर्ष की आयु तक पहुंचते हैं। कछुए की आयु तक मनुष्य नहीं पहुंचता। इन सब प्राणियों को विकसित होकर अच्छी मशीन मिली, जो मृत्यु के अधिक समीप पहुँचा दिया!

(६) विकासवाद के सिद्धान्त लुप्तजन्तुशाखा पर बहुत निर्भर हैं। विकासवादी कहते हैं कि पृथ्वी की तहों में ऐसे प्राणियों की हड्डी मिली हैं, जो कि विकास की जंजीर की कडियाँ हैं, परन्तु साथ ही विकासवादी यह भी स्वीकार करते हैं कि बहुत सी कड़ियाँ नहीं मिलीं। इसी सम्बन्ध में मि० डे० क्वार्टर फेग्स अपनी पुस्तक Les Erreles De Darwin पृष्ठ ७६ पर यही बात कहते हैं—

"From one stage to Another there is sometimes too broad a gulf"

इसी विषय में एक और वैज्ञानिक सर० जे० डब्ल्यू० डासन अपनी पुस्तक Modern Ideas of Evolution पृ० ११६ पर लिखते हैं—

"Such geneologies are not of the nature of Scientific Evidence"

(७) विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार पहिले बिना हड्डी के प्राणी थे, उनसे हड्डी वाले प्राणी उत्पन्न हो गये। इसको सिद्ध करने के लिए वे प्रमाण यह देते हैं कि पृथ्वी की निचली तहों में हड्डियां नहीं मिलतीं और ऊपर की तहों में प्राणियों की हड्डियों के पंजर मिलते हैं। परन्तु P. geddeo अपनी Evolution नामक पुस्तक के पृ० १२६ पर लिखते हैं कि पृथ्वी के दबाव से निचली तहें पिघल जाती हैं और साथ ही हड्डियां भी पिघल जाती हैं। इसलिये निचली तहों में हड्डियाँ न होने से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि पहले बिना हड्डी वाले प्राणी थे और पीछे उनसे हड्डी वाले प्राणी बन गये।

(८) यदि इस बात को माना जाए कि पहले प्राणी जीवन संग्राम के योग्य नहीं थे, जो जीवन-संग्राम में अधिक योग्य सिद्ध होते हैं वे ही जीवित रहते हैं, शेष मर जाते हैं। इससे तो यह सिद्ध होता हैं कि पहली श्रेणियों के प्राणी तो

अब तक रहने ही नहीं चाहिए थे, वे सहस्रों वर्ष पूर्व से सर्वथा नष्ट हो जाने चाहिए थे। एक खरगोश के ८ बच्चों में से ६ जो जीवन संग्राम के कम योग्य हैं, मर जाते हैं, और जो जीवन संग्राम में सफल होते हैं वे जीवित रहते हैं। इसी युक्ति से यह भी तो होना चाहिए कि प्राणियों की वे सब श्रेणियां अब तक नष्ट हो जातीं जो कम विकसित हैं। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। अब तक एक सेल का अमीबा भी मौजूद है और दो सेल का हाइड्रा भी, फंगस आदि वनस्पतियाँ भी हैं और बड़े-बड़े वृक्ष भी हैं, साँप भी हैं, कबूतर हैं, कुत्ते हैं, और मनुष्य भी हैं।

(९) विकासवाद के खण्डन में बहुत-सी युक्तियाँ हैं, परन्तु विस्तारभय से केवल एक बात इस विषय में कह कर विकासवाद को यहीं छोड़ दिया जायेगा। इन पंक्तियों का लेखक जिन दिनों कालिज में पढ़ता था और जब बॉटनी (Botany) पढते समय उसे विकासवाद पढाया गया तो माने हुए बॉटनिस्ट डा० कश्यप और बीरबल साहनी से उसने एक बात पूछी कि यह तो आप कहते हैं कि आरम्भ में एक सेल के जीवित प्राणी थे, उनसे उन्नति करके बड़े-बड़े प्राणी बन गए, आप यह भी कहते हैं कि आरम्भ में बहुत थोड़ा-सा ज्ञान था, शनैः-शनैः उन्नति होते-होते ज्ञान इस अवस्था को प्राप्त हो गया, जिसको आज विज्ञान आदि पहुंचे हुए हैं। आप यह तो बताइए कि "Where did the life Come from in the very begining and where from did the knowledge Come in the very begining अर्थात् आरम्भ में जीवन कहाँ से आया और आरम्भ में ज्ञान कहाँ से आया, क्योंकि विज्ञान शून्य से जीवन उत्पन्न हो गया और शून्य से ज्ञान उत्पन्न हो गया ऐसा नहीं मान सकता। मेरे इस प्रश्न का उत्तर सदा दिया जाता रहा कि "With this we are not Conserned as to where from the life Came in the very begin-ing or where from the knowledge Came in the very begining We are to take it from granted that these was some life in the begining of the world and a little knowledge in th: begining of the world and by slow progress it encreased". अर्थात् इसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं कि आरम्भ में जीवन कहां से आया वा ज्ञान कहाँ से आया। हम इस बात को स्वीकार करके चलते हैं कि आरम्भ में जीवन था और कुछ थोड़ा-सा ज्ञान भी था और वह शनैः-शनैः उन्नति करके बढ़ गया, इससे स्पष्ट है कि विकासवाद—जिसका इतना शोर सुना जाता है जिसका प्रभाव विश्व-व्यापी है, जिसको हमारे पढ़े-लिखे बाबू भी आँख बन्द करके मानते चले जाते हैं—युक्ति के सामने सर्वथा नहीं ठहर सकता। विकासवाद इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता कि आरम्भ में ज्ञान कहाँ से आया परन्तु हमारे पास इसका उत्तर है।

इस विषय में एक युक्ति दी जाती है कि परमात्मा ने मनुष्य को स्वाभाविक ज्ञान दिया है। इससे मनुष्य सारे काम कर सकता है, पुस्तकें भी लिख सकता है, अत: वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानने की क्या आवश्यकता है ? परन्तु यह युक्ति विचार के आगे बिलकुल नहीं ठहरती। क्योंकि उस स्वाभाविक ज्ञान से मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता। मनुष्य का बच्चा जब तक अपने माता-पिता से, बहन-भाइयों से, समाज से तथा गुरुओं से कुछ न सीखे उसे कुछ भी ज्ञान नहीं हो सकता। यदि मनुष्य के बच्चे को ऐसे स्थान पर रखा जाए जहां उस पर समाज का कोई प्रभाव न पड़ने दिया जाए और उसे कुछ भी सिखाया न जाए, जैसा कि कहा जाता है कि शायद अकबर ने ऐसा किया था, तो वह बच्चा न बोल सकेगा, न पढ़ सकेगा, न लिख सकेगा, खाने-पीने तक का ढंग उसे नहीं आता होगा। बहुत वर्षों की बात है कि एक लड़की भेड़िये की मांद से बरेली अनाथालय में लाई गई। वह मनुष्य की तरह चलना नहीं जानती थी। खाना-पीना आदि नहीं जानती थी और भेड़िये की तरह ही काटने को दौड़ती थी। अनाथालय में रह कर उसने सब सीखा। इसी प्रकार से हम जानते हैं, हमने अपने गुरुओं से, समाज से, अपने माता-पिता आदि से सब कुछ सीखा था, और उन्होंने अपने गुरुओं और माता-पिताआदि से, इसी प्रकार से चलते-चलते यह परम्परा सृष्टि के आदि तक पहुंच जाती है। सृष्टि के आदि में जो मनुष्य थे उनको ज्ञान कहाँ से प्राप्त हुआ ? इसका उत्तर है—

स पूर्वेषामपि गुरु: कालेनानवच्छेदात् ॥ योग० ॥

अर्थात् उनका गुरु वही परमात्मा है जिस पर काल का कोई प्रभाव नहीं। वही सृष्टि के आदि में ज्ञान देता है।

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधाना।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेम्णा तदेषां निहितं गुहाविः॥
ऋ० १०/७१/१॥

अर्थ—हे बृहस्पते ! नाम रखने की शक्तिवालों ने आदि में जो वाणी का उच्चारण किया, उसमें वह ज्ञान है जो सारे दोषों से शून्य है और सबसे बढ़ कर उत्तम है। वह ऋषियों के प्रेम से प्रकाशित हुआ जो कि पहले गुफा में रक्षित था।

अब प्रश्न यह है कि वेद को ही ईश्वरीय ज्ञान क्यों माना जाय ! कुरान, बाइबल आदि को क्यों नहीं माना जाय !

(१) अन्य ग्रन्थ कुरान, बाइबल, जिन्दा अवेस्ता आदि अलहाम का दावा

करने वाली पुस्तकें कोई १३०० वर्ष, कोई २००० वा कोई ५००० वर्ष तक जाती है। सृष्टि के आदि में उनका ज्ञान आया, ऐसा उनके अनुयायी दावा नहीं करते।

(२) मनुष्य विना सिखाये कोई ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। जब आज का विकसित मानव—ज्ञान-विज्ञान में परिपूर्ण मानव बिना सिखाये कुछ भी नहीं सीख सकता तो आदिकाल में बिना ईश्वरीय ज्ञान के यह सब कैसे सम्भव हो गया ?

(३) संसार की भाषायें ईश्वरीय ज्ञान से ही निकलनी चाहिए। यदि कुरान, बाइबल आदि वाणी के मूल होते तो उनसे पहले संसार में कोई भाषा नहीं होनी चाहिए थी। परन्तु यह बात सर्वसम्मत है कि इनसे पहले संसार में अनेक भाषायें थीं। सृष्टि के आदि में कोई भाषा नहीं थी।

कुरान में सुरतुलबकर में लिखा है कि—"और आदम को सब नाम बता दिये।" प्रश्न यह है कि वे नाम कहां हैं, इस विषय में कुरान में कुछ नहीं बताया। इसी प्रकार बाइबल के उत्पत्ति अध्याय में बताया है—

"पहले सारी पृथ्वी पर एक ही बोली थी और सब लोग एक ही सम्प्रदाय के थे।"

यहां यह प्रश्न है कि वह बोली कौन सी थी और वह सम्प्रदाय कौन सा था। इस विषय में बाइबल चुप है।

इस प्रश्न का उत्तर मनु ने दिया कि

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ।।

अर्थात् आदि में सब नाम आदि वेद के शब्दों से रखे गये थे। कई लोग इस बात को भूल कर जब वेद में एक नाम देखते हैं और उसी नाम का कोई राजा वा ऋषि सुनते हैं तो कह उठते हैं कि वेद में उनके नाम का इतिहास है। बात वास्तविक यह है कि उसने वेद के शब्द से अपना नाम रख लिया। जैसा इस समय गणपति, वाचस्पति आदि शब्द वेद से लेकर लोग अपना नाम रख लेते हैं।

(४) ईश्वरीय ज्ञान भ्रम, प्रमाद, और विप्रलिप्सा आदि दोषों से रहित है। उसमें किसी प्रकार का दोष नहीं होना चाहिए, जैसे कि कुरान में लिखा है कि सूर्य एक कीचड़ के गढ़े में डूब जाता है, खुदा के तख्त को फरिश्तों ने उठाया हुआ है; या बाइबल में लिखा है कि खुदा की रूह पानियों पर तैरती थी। उसने छः दिन में सृष्टि बना कर सातवें दिन आसमान पर आराम किया। आदम की पसली से हव्वा को बनाया इत्यादि।

(५) वह धर्म की सारी आवश्यकताओं को पूरा करने वाला हो, लोक और

परलोक का मार्ग बताने वाला हो। जैसे वेद में गृहस्थ धर्म के पालन के उपदेश हैं। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में आध्यात्मिक उपदेश हैं तथा रोगों की निवृत्ति के लिए उपदेश और औषध हैं। संसार की अन्य पुस्तकों में पूर्ण उपदेश नहीं है।

(६) सृष्टि के आदि में यह ज्ञान ऋषियों पर प्रकट होने से पूर्व गुफा में रक्षित था, छिपा हुआ था, परदे में था अर्थात् संसार में कहीं भी नहीं था। वस्तुतः होना भी ऐसा ही चाहिए। यदि ईश्वरीय ज्ञान आने से पहले संसार में वह ज्ञात हो तो उस अलहाम के प्रकट होने का क्या लाभ ? कुरान में कोई भी ऐसी नई बात नहीं जो कि संसार को अब से १४०० वर्ष पूर्व ज्ञान न हो। इसी प्रकार बाइबल में कोई भी ऐसी बात नहीं है जिसका ज्ञान अब से २००० वर्ष पूर्व ज्ञात न हो। वेद का ज्ञान क्योंकि सृष्टि के आदि में हुआ इसलिये उससे पूर्व वस्तुतः संसार में ज्ञान नहीं था।

उपर्युक्त युक्तियों से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता है और परमात्मा सृष्टि के आदि में ज्ञान देता है। विकासवाद, जो कि इस सिद्धान्त में बाधक कहा जाता है, युक्तियों के आगे ठहरता नहीं। वेद के सिवाय और कोई ईश्वरीय ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये वेद के पठन-पाठन और प्रचार से ही संसार का कल्याण हो सकता है।

—आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब हीरक जयन्ती स्मारक से साभार

क्या ऋषि नाम सार्थक है ?

ले० राधेश्याम अरोड़ा

वेद मन्त्रों से पहले दिये हुए ऋषि नामों के सम्बन्ध में दो परस्पर विरोधी विचारधाराएं प्रमुख हैं।

एक विचारधारा के अनुसार ये ऋषि ही इन मन्त्रों के रचयिता (मन्त्र-कृत्) हैं। जैसे कविता के पहले रचयिता का नाम लिखा होता है, वैसे ही इन मन्त्रों के पहले इनके कर्त्ता का नाम दिया हुआ है। इस बात की पुष्टि गोत्र प्रत्यय वाले काण्व, गौतम, आत्रेय, वैश्वामित्र आदि शब्द कर रहे हैं। इनका अर्थ कण्व, गोतम, अत्रि और विश्वामित्र गोत्र में उत्पन्न अथवा इनके शिष्य होता है। इसके अतिरिक्त वेदों के साथ प्रयुक्त संहिता शब्द भी इन वेदों को अनेक ऋषियों द्वारा रचित मन्त्रों या मन्त्रसमूहों का संग्रह सिद्ध करता है—जैसे चरक संहिता का अर्थ है चरक ऋषि द्वारा किया हुआ आयुर्वेद सम्बन्धी नाना सिद्धान्तों का संग्रह।

इस विचारधारा के पाश्चात्य विद्वान् तथा कुछ सनातन परम्परा वाले अथवा पाश्चात्यों का अन्धानुकरण करने वाले आधुनिक विद्वान् भी प्रबल पोषक हैं।

दूसरी विचारधारा भारतीय विद्वान् दर्शनिकों की है। वे सभी वेदों को अपौरुषेय अर्थात् ईश्वरीय रचना मानते हैं। इनके पहले प्रयुक्त ऋषियों को इन मन्त्रों का कर्त्ता न मान कर द्रष्टा अर्थात् मन्त्रों के अर्थ को समझकर उस भाव को अपने जीवन में उतारने वाला अथवा मन्त्रज्ञान के अनुसार गति (आचरण) करने वाला और अपने शिष्यों को मन्त्रार्थ समझाने तथा समझने के उपरान्त तदनुकूल आचरण करने की प्रेरणा देने वाला मानते हैं।

वेद मन्त्रों के प्रारम्भ में प्रायः ऋषि, देवता और छन्द का उल्लेख होता है, और इनके ज्ञान को वेदार्थ को समझने में सहायक माना जाता है।

देवता का अर्थ प्रायः सब विद्वान् 'विषय' करते हैं। इन देवता वाची शब्दों को सार्थक-व्युत्पत्ति गम्य मानते हैं। और इस प्रकार अग्नि-देवता से, परमात्मा,

जीवात्मा, नेता, मन्त्री, सेनापति, भौतिक अग्नि आदि नाना अर्थों का ग्रहण करते हैं।

इसी प्रकार कुछ विद्वान् ऋषि शब्दों को भी सार्थक मानते हैं। उनका कहना यह है कि यदि ये शब्द सार्थक न हों तो इनका ज्ञान वेदार्थ समझने में सहायक नहीं हो सकता। किसी पुस्तक के लेखक अथवा प्रवक्ता के नाम के ज्ञान या उल्लेख से उस पुस्तक को समझने में कोई सहायता नहीं मिलती है।

इन ऋषि शब्दों को सार्थक मानने वाले विद्वानों में थोड़ा-थोड़ा भेद है।

१. कुछ विद्वानों का विचार है कि ये ऋषि नाम कविता के शीर्षक के समान हैं। जैसे किसी कविता का विषय (देवता) गुलाब हो, और उसका शीर्षक (ऋषि) रख दिया जाये सुन्दर फूल। सुन्दर फूल शीर्षक रखकर कमल या पारिजात पर भी कविता लिखी जा सकती है। इसी प्रकार मधुच्छन्दा ऋषि (ऋषि) शीर्षक वाले मन्त्र (कविता) का देवता (विषय) अग्नि भी हो सकता है, और इन्द्र-वायु भी हो सकता है।

२. कुछ विद्वानों का मत है कि वेद मन्त्रों में आए हुए—जेता, कण्व, प्रस्कण्व, नोधा, गोतम, त्रित आदि शब्दों को देखकर तत्कालीन मन्त्रद्रष्टा या उपदेष्टा ऋषियों ने अपने 'उपनाम' जेता आदि रख लिये। और बाद में वे इन्हीं नामों से प्रसिद्ध हो गए। उनके असली नाम लुप्त हो गए।

३. दूसरे विद्वानों का विचार है कि—जैसे नियत पाठ्यक्रम को पढ़कर उसमें उत्तीर्ण होने वाले को नियत उपाधि बी. ए., एम. ए. आदि मिल जाती है। उसी प्रकार मन्त्र के भाव को अपने जीवन में उतारने वाले को, मन्त्र के पहले लिखे हुए ऋषि नाम वाली उपाधि प्राप्त हो जाती है।

ये ऋषि मन्त्र का अर्थ स्वयं जानने वाले और जानकर अपने जीवन को तदनुसार ढालने वाले तथा अपने शिष्यों को इनका उपदेश करने वाले और जीवन को तदनुकूल बनाने की प्रेरणा देने वाले—सद्गुरु होते हैं।

जैसे कई बार कविता का शीर्षक और विषय एक (गुलाब) ही रखा जा सकता है। उसी प्रकार वेद में भी कहीं-कहीं ऋषि भी वही है और देवता भी वही है। उदाहरण के लिए—(क) ऋक् ५-४०-६ से ९ का ऋषि भी अत्रि (भौमः) है, और देवता भी अत्रि है। (ख) ऋक् १० के सूक्त ४८, ४९, और ५३ का ऋषि इन्द्र (वैकुण्ठ) है और देवता भी इन्द्र है। (ग) ऋक् १०-१९ का ऋषि और देवता दोनों अग्नि हैं। (घ) ऋक् १०-८१ का ऋषि विश्वकर्मा (भौवजः) है और देवता भी विश्वकर्मा है। (ङ) ऋक् १०-८३ तथा ८४ सूक्तों का ऋषि (तापसः) मन्यु और देवता भी मन्यु है। (च) ऋक् १०-१४० का ऋषि अग्नि (पावकः) और देवता अग्नि है।

इन तीनों मान्यताओं में ऋषि नाम सार्थक हैं, और उनके अर्थ का मन्त्रार्थ

के साथ सम्बन्ध माना जाएगा। अन्यथा वेदाध्ययन और वेदाध्यापन करने वालों के लिए—ऋषि ज्ञान की सार्थकता नहीं रहती है।

स्वामी दयानन्द ने अपनी 'पञ्चमहायज्ञविधि' में सन्ध्या मन्त्रों में 'ऋतं च सत्यं च' आदि भाव वृत्त (सृष्ट्युत्पत्ति विषय) देवता वाले तीन मन्त्रों से पहले—अघमर्षण मन्त्राः अर्थात् 'पाप दूरी करणार्थाः' लिखा है। इन मन्त्रों का ऋषि अघमर्षण है। इस ऋषि नाम का अर्थ है—पाप को दूर करने वाला। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्वामी दयानन्द को ऋषि शब्दार्थ का मन्त्रार्थ के साथ सम्बन्ध स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है।

इसी प्रकार स्वामी जी महाराज ने सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखा है कि माता-पिता तथा आचार्य अपने पुत्रों तथा शिष्यों को गायत्री मन्त्र और उसका अर्थ सिखावें। और नीचे 'भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धी महि। धियो योनः प्रचोदयात्॥' यजुः ३६-३ मन्त्र दिया है। यजुर्वेद भाष्य करते हुए इस मन्त्र का छन्द 'देवी बृहती' लिखा है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि गायत्री शब्द के अर्थ के कारण ही इस मन्त्र को 'गायत्री मन्त्र' कहा है। अर्थात् स्वामी जी को छन्द शब्दों के अर्थ का मन्त्रार्थ के साथ सम्बन्ध स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है।

अघमर्षण मन्त्रों की तरह यजुः के ३४ वें अध्याय के प्रथम ६ मन्त्रों का ऋषि 'शिव संकल्प' और देवता 'मनः' है। इन मन्त्रों का नाम ऋषि के नाम पर 'शिव संकल्प मन्त्र' पड़ गया है।

इन उदाहरणों से स्पष्ट संकेत मिलता है कि ऋषि नाम वाले शब्दों के अर्थ की संगति मन्त्रार्थ के साथ की जा सकती है, बल्कि की जाए तभी अनिवार्य रूप से मन्त्र के साथ ऋषि नाम लिखने की सार्थकता है।

ऋग्वेद का १०-९५ सूक्त 'ऐलपुरूरवा तथा उर्वशी' संवाद रूप है। इस मन्त्र सूक्त में जिस मन्त्र का ऋषि ऐलपुरूरवा है, उसका देवता उर्वशी है, और जिस मन्त्र की ऋषिका उर्वशी है, उस मन्त्र का देवता ऐलपुरूरवा है।

इस सूक्त से कई बातों पर प्रकाश पड़ता है।

१. ऋषि और देवता में कुछ न कुछ सम्बन्ध है। इनमें कुछ ऐसा साम्य भी है कि थोड़े से परिवर्तन या परिवर्धन से ऋषि देवता बन सकता है और देवता ऋषि बन सकता है।

२. ऋषि का देवता में और देवता का ऋषि में जो परिवर्तन होता है, उसका आधार इन नामों की सार्थकता है। यदि इन नामों को सार्थक न माना जाए, अपितु ऐतिहासिक माना जाए तो फिर वेद में इतिहास मानने वाले पक्ष का किसी तरह भी निराकरण नहीं किया जा सकेगा।

निरुक्तकार ने भी वैदिक नामों को धातुज अर्थात् सार्थक माना है। यदि

ऋषि नाम सार्थक है, तो इनके अर्थ की संगति मन्त्रार्थ के साथ करने में किसी प्रकार का अनौचित्य नहीं प्रतीत होता।

ऋषि नाम में किसी ऐसे गुण या कर्म की ओर इङ्गित किया होता है, जिसे पकड़ कर या जीवन में अपना कर वह देव सम बन सकता है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के तृतीय मण्डल के अनेक सूक्तों का ऋषि 'विश्वामित्र' और देवता 'अग्नि' है। यदि मनुष्य ऋषि विश्वामित्र के नाम के अर्थ से प्रेरणा लेकर सबका मित्र बनने या सबका मित्र की तरह कल्याण करने का प्रयत्न करे तो वह अग्नि = अग्रणी बन सकता है।

इसी तरह का ऋक् १०-१०८ सूक्त है। उसमें 'पणियों और सरमा' का संवाद है। जिसमें 'सरमा' देवता है, उसके 'पणयः' ऋषि हैं। और जिसमें 'पणयः' देवता हैं, उसमें 'सरमा' ऋषि हैं।

पितर, ऋषि और देवता

ऐसा मालूम होता है कि पितर, ऋषि और देवता में योनिभेद नहीं है, केवल गुण-कर्म विभाग है। जैसे मनुष्यों में—शम दम, तप, शौच, शान्ति, ऋजुता, ज्ञान-विज्ञान और आस्तिकता को स्वीकार करने वाला 'ब्राह्मण'; शौर्य, तेज, धैर्य, चतुरता, दान, ऐश्वर्य और अपने व्रत के लिये प्राण त्याग करने को उद्यत रहने वाला 'क्षत्रिय'; और कृषि, गोपालन तथा वाणिज्य करने वाला 'वैश्य' कहाता और शेष 'शूद्र' कहाते हैं वैसे ही मनुष्यों में—सामान्य रूप से पितृकर्म (गृहस्थ) का पालन करके अपने परिवार का पालन करने वाले 'पितर' कहाते हैं। इनसे कुछ ऊंचा उठकर ज्ञान की साधना में लगकर प्राप्त किये ज्ञान को अपने जीवन द्वारा चरितार्थ करने वाले ऋषि (दर्शनात्-ऋष्गतौच) बन जाते हैं। ये ऋषि अपने पास आने वाले शिष्यों तथा सम्पर्क में आने वाली जनता का मार्ग-दर्शन भी करते हैं। जब तक मनुष्य प्राप्त ज्ञान को अपने जीवन का अंग नहीं बना लेता, उस पर पूरी तरह से अमल नहीं करता, तब तक उसे ऋषि नहीं कहा जा सकता।

ये ऋषि बने हुए मनुष्य जब अपने, पराये और स्वदेश तथा विदेश का भेद भुलाकर न केवल मानव मात्र अपितु प्राणि मात्र के लाभ और कल्याण के लिये अपने ज्ञान और जीवन को दान कर देते हैं, उनको मार्ग प्रदर्शन के लिये प्रकाश स्तम्भ बन कर खड़े हो जाते हैं, और अपने प्राणों का बलिदान करने को उद्यत हो जाते हैं, तब इन्हीं का देव या देवता हो जाता है। इन तीनों विभागों से बचे हुए लोगों को 'विशः' या 'असुर' कहते हैं।

अथर्ववेद के काण्ड २ का प्रथम सूक्त एक दृष्टि से विशिष्ट है। इस सूक्त का ऋषि वेन है, और देवता ब्रह्म या आत्मा है। इस सूक्त में ऋषि शब्द वेन तो आया है, किन्तु ब्रह्म या आत्मा एक बार भी नहीं आया है।

कौषितकी ८-५ में कहा है 'आत्मा वै वेनः' और निघण्टु ३-१५ तथा ३-१६ में वेन को मेधावी और यज्ञ पर्यायों में परिगणित किया है। इस दृष्टि से यह माना जा सकता है कि ऋषि और देवता नाम सामान्यतया वेद मन्त्रों में आए हुए शब्दों के आधार पर रक्खे गए हैं। जिन मन्त्रों में ऐसा कोई शब्द नहीं मिला उन मन्त्रों के भाव के आधार पर ऋषि और देवता की कल्पना कर ली गई है।

इस परिचर्चित सूक्त में वेन शब्द आया है। वह 'वेन' परम गुहा में स्थित उस (तत्) को देख लेता है जिसमें यह सारा विश्व एक रूप से व्याप्त है (वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहायद् यत्रविश्वं भवत्येकरूपम्।) अतः यहां इस मन्त्र का ऋषि 'वेन' को मान लिया, और 'परमं गुहायत्' तथा 'यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्' के भाव के आधार पर 'ब्रह्म' की देवता रूप में कल्पना कर ली। इस मन्त्र का देवता ब्रह्म या आत्मा किसी को भी माना जा सकता है। क्योंकि वेद में 'ब्रह्म' का अर्थ परमात्मा और आत्मा दोनों हैं, और आत्मा शब्द से भी आत्मा और परमात्मा दोनों का ग्रहण होता है।

इसके आधार पर वेद के ऋषियों को ऐतिहासिक व्यक्ति मानने की अपेक्षा, उन्हें मन्त्रार्थ द्योतक शीर्षक अथवा मन्त्रार्थ द्रष्टा ऋषियों के उपमान या उनकी उपाधि मानना अधिक सुगम प्रतीत होता है। अब कुछ ऐसे उदाहरण उपस्थित किये जाते हैं, जिनमें यदि ऋषियों को ऐतिहासिक व्यक्ति माना जाए तो उन मन्त्रों को उनकी कृति मानना पड़ेगा। इसके विपरीत यदि ऋषि नामों को ऐतिहासिक द्रष्टा ऋषियों का उपनाम या उपाधि मान लिया जाए, तो उनकी कृति मानने की जरूरत नहीं रहती। उस अवस्था में इन ऋषि नामों को सार्थक और इनके अर्थ की मन्त्रार्थ से संगति करने से कोई हानि नहीं होती, अपितु मन्त्रार्थ में विशिष्टता और पूरकता आ जाती है।

ऋक् १-४५-३ का ऋषि है 'प्रस्कण्व'; और मन्त्र में 'प्रस्कण्वस्य श्रुधि हवम्' शब्द आए हैं। ऋक् १-४५-५ का ऋषि प्रस्कण्व कहता है 'कण्वस्य सूनवो हवन्ते'। इन दोनों मन्त्रों में यदि प्रस्कण्व को ऐतिहासिक मानें तो अर्थ होगा मेरी पुकार (प्रार्थना) को सुन, और मेरे पुत्र तुझे बुला रहे हैं।

ऋक् १-१०६-६ का ऋषि 'कुत्स आंगिरस' है। मन्त्र में शब्द आए हैं 'इन्द्रं कुत्सो ऋषि रह्वदूतये', ऋषि को ऐतिहासिक व्यक्ति मानने पर अर्थ होगा कुत्स ऋषि ने इन्द्र को अपनी रक्षा के लिये बुलाया। इस अवस्था में इस मन्त्र को ऋषि कुत्स की कृति मानना पड़ेगा।

इस ऋषि नाम 'कुत्स' को उपनाम या उपाधि मानने की अवस्था में समाधान इस प्रकार होगा कि अंगिरा गोत्र में उत्पन्न किसी ऐतिहासिक व्यक्ति ने इस मन्त्रार्थ का दर्शन किया और तदनन्तर उसका उपदेश किया। इसलिये उस

व्यक्ति का नाम 'कुत्स' पड़ गया। आंगिरस शब्द इस ऋषि के ऐतिहासिक होने को प्रतिपादित करता है। और कुत्स शब्द इस व्यक्ति की उपाधि या उपनाम का द्योतक होते हुए यह संकेत करता है कि जो व्यक्ति कुत्स शब्द के अर्थ को अपने जीवन में घटा लेगा, वह इस मन्त्र का आज भी द्रष्टा और उपदेष्टा बन सकता है।

इस प्रकार ऋक् १-१०५-९ का ऋषि है 'त्रित आप्त्य'। मन्त्र में शब्द आए हैं 'त्रितस्तद्वेद आप्त्यः' त्रित आप्त्य ने उसे जाना और प्राप्त किया। अब यदि यह ऋषि ऐतिहासिक है तो इस मन्त्र को उसकी कृति मानना पड़ेगा। इसके विपरीत यदि आप्त्य का अर्थ आप्तकुल में उत्पन्न अर्थ करके 'आप्त्य' शब्द को उस ऋषि की ऐतिहासिकता का द्योतक और 'त्रित' शब्द को ऋषि की उपाधि या उपनाम मानेंगे तो इसका अर्थ होगा—किसी आप्त्य गुरु का पुत्र या शिष्य, जो तीनों प्रकार के दुःखों को तर चुका है अथवा काम, क्रोध, लोभ (नरक के तीनों द्वारों) का अतिक्रमण कर चुका है अथवा जो त्रिकालातीत हो चुका है वही उस (परमदेव) को जानता और प्राप्त करता है।

इस सूक्त का ऋषि त्रित आप्त्य के साथ कुत्स आंगिरसो वा भी लिखा हुआ है। यह स्पष्ट संकेत करना है कि एक मन्त्र का केवल एक ही ऋषि न होकर अनेक ऋषि हो सकते हैं। और भिन्न- भिन्न काल में भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में मन्त्र की संगति लगाने और उसे अपने (आचरण) द्वारा सिद्ध करने वाले भिन्न-भिन्न गुणों और नामों वाले भिन्न-भिन्न ऋषि भी हो सकते हैं।

ऋक् ३-२३-२ के ऋषि हैं 'देवश्रवा देववातश्च भारतौ' और मन्त्रार्ध है 'अमन्थिष्टां भारता रेवदग्निं देवश्रवा देववातः सुदक्षम्।'

ऋक् ५-१८-२ का ऋषि है, 'द्वितो मृक्तवाहा आत्रेयः' और मन्त्र में शब्द आए हैं 'द्विताय मृक्तवाहसे।'

ऋक् ५-४४ के मन्त्र १०-११ और १२ द्रष्टव्य हैं—

न हि क्षत्रस्य मनसस्य चित्तिभिरेवावदस्य यजतस्य सध्रेः।
अवत्सारस्य स्पृणवाम रणवभिः। १०।

श्येन आसामदितिः कक्ष्यो मदो विश्ववारस्य यजतस्य मायिनः। ११।

सदापृणो यजतो विद्विषो वधीद् बाहुवृक्तः श्रुतवित् तर्यो वः सचा। १२।

इन मन्त्रों में आए हुए शब्द ही क्रमशः इन मन्त्रों के क्षत्र-मनस-एवावद- यजत-सध्रि-अवत्साराः (१० के) विश्ववार-यजत-मायी-अवत्साराः (११ के) और सदापृण-यजत-बाहुवृक्त- श्रुतवित्-तर्याः (१२ के) ऋषि हैं। इन कतिपय उदा-

हरणों से अत्यन्त स्पष्ट है कि मन्त्र में आए हुए एक या अनेक नामों को मन्त्र या सूक्त का ऋषि मानने की प्रथा थी। इन में से कई मन्त्रों में किसी भी ऋषि का नाम न होने पर भी एक मन्त्र में आए अवत्सार शब्द के कारण सूक्त के शेष मन्त्रों का ऋषि 'काश्यप अवत्सार' को माना है।

जिन सूक्तों में ऐसा कोई भी शब्द नहीं मिला, जिसे वे उस सूक्त का ऋषि नाम मान सकें, उन सूक्तों में उस सूक्त के भाव को दर्शाने वाले, या शीर्षक वनने योग्य किसी शब्द को उस सूक्त का ऋषि कल्पित कर लिया गया है।

ऋक् ४-३०-२४ का ऋषि वामदेव है, और मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि आर्यमा, पूषा और भग देवता क्रियाशील और कारीगरों से युक्त होते हुए हमें सुन्दर तथा श्रेष्ठ पदार्थ प्रदान करें।

वामं वामं त आदुरे देवो ददात्वर्यमा।
वामं पूषा वामं भगो वामं देवः करूलती॥

इसी प्रकार ऋक् ५-२०-३ का ऋषि है 'प्रयस्वन्त आत्रेयाः'। और मन्त्र में कहा है—प्रयत्न करते हुए हम वाणी से प्रार्थना करते हैं।

यज्ञेषु पूर्व्यं गिरा प्रयस्वन्तो हवामहे।

इन दोनों मन्त्रों के ऋषि वाम को देने वाला 'वामदेव' और प्रयत्न करने वाले 'प्रयस्वन्तः' स्पष्ट संकेत करते हैं कि ऋषि नाम सार्थक हैं और इनके अर्थ की वेद मन्त्रार्थ के साथ संगति करना अनुचित न होकर अभीष्ट है।

ऋक् ७-३३ सूक्त में १ से ९ मन्त्र तक ऋषि हैं 'मैत्रावरुणिर्वसिष्ठः', और देवता हैं—'वसिष्ठ पुत्राः,' 'इन्द्रोवा' और १० से १४ मन्त्र तक ऋषि हैं वसिष्ठ पुत्राः, और देवता हैं 'वसिष्ठः'।

स्वामी दयानन्द ने इस सूक्त का ऋषि माना है—**संस्तवो वसिष्ठस्य सपुत्रस्य, इन्द्रेणवा संवादः**। और देवता १ से ९ का वसिष्ठ पुत्राः, और १० से १४ का वसिष्ठ माना है।

इस सूक्त के ऋषियों को यदि ऐतिहासिक माना जायेगा तो इन मन्त्रों को इन्हीं ऋषियों की कृति मानने को बाध्य होना पड़ेगा। 'हां यदि इन्हें मन्त्रों का शीर्षक, या ऋषियों की उपाधि अथवा उपनाम मान लोगे तो इन शब्दों को सार्थक मानकर, उन अर्थों की मन्त्रार्थ के साथ संगति लगाई जा सकेगी।

इसी प्रकार ऋक् ९-३४-४ का ऋषिः—'त्रित आप्त्यः' और मन्त्र भाग

भुवत् त्रितस्य मर्ज्यो भुवदिन्द्राय मत्सरः ।

ऋक् ९-३९-१ का ऋषि 'बृहन्मतिरांगिंगरसः' और मन्त्र भाग

आशुरर्ष बृहन्मते—यत्र देवा इति ब्रवन् ।

ऋक् ९-४४-१ का ऋषि 'अयास्य आँगिरसः' और मन्त्र भाग

ऊर्मि न बिभ्रदर्षसि । अभि देवो अयास्यः ।

ऋक् ९-४७-४ का ऋषि 'कविर्भार्गवः' और मन्त्रार्ध

स्वयं कविर्विधर्तरि विप्राय रत्नमिच्छति ।

ये उपर्युक्त प्रसंग स्पष्ट रूप से घोषणा करते प्रतीत होते हैं कि वेद मन्त्रों तथा सूक्तों के प्रारम्भ में दिये हुए ऋषि नाम सार्थक हैं, और उनकी मन्त्रार्थ के साथ संगति लगाई जानी चाहिये। इन ऋषि नामों के साथ दिये हुए गोत्र वाची शब्द आंगिरस, काण्व, गौतम, औशिज, औचथ्य, मैत्रावरुणिः, वैश्वामित्र, आत्रेय, भारद्वाज, भार्गव—इस बात का संकेत करते हैं कि इन मन्त्रों के अर्थद्रष्टा और उपदेष्टा इन-इन गोत्रों में उत्पन्न ऐतिहासिक व्यक्ति थे, जिनके असली मूल नाम लुप्त हो चुके हैं; किन्तु उन ऐतिहासिक व्यक्तियों द्वारा स्वीकृत उपनाम जो सार्थक हैं, और प्रायः मन्त्रों में आए हुए शब्दों के आधार पर रक्खे गए थे—अभी तक चले आ रहे हैं।

स्वामी दयानन्द के यजुर्वेद भाष्य पर एक तुलनात्मक दृष्टि

डॉ० रामनाथ वेदालंकार

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेद के अपूर्ण भाष्य के अतिरिक्त वाजसनेयी माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेदसंहिता सम्पूर्ण का भी भाष्य किया है। उससे पूर्व उवट तथा महीधर इस पर भाष्य लिख चुके थे। उवट तथा महीधर का भाष्य प्रमुखतः कात्यायन श्रौतसूत्र में विनियोजित कर्मकाण्ड का अनुसरण करता है। कर्मकाण्डानुसार प्रसिद्ध यज्ञों में से प्रथम-द्वितीय अध्याय में दर्शपौर्णमास, चतुर्थ अष्टम अध्याय तक अग्निष्टोम, नवम-दशम अध्याय में वाजपेय और राजसूय, २२ से २५ अध्याय तक अश्वमेध,, ३०-३१ अध्यायों में पुरुषमेध, ३२वें अध्याय में सर्वमेध और ३५वें में पितृमेध वर्णित हुआ है। स्वामी दयानन्द का भाष्य इन विनियोगों से स्वतन्त्र है, अथवा यह कहना चाहिये कि उन्होंने मंत्रों के अपने ही विनियोग किये हैं, जो अनेक स्थानों पर प्रत्येक मंत्र के प्रारम्भ में दी हुई भूमिका से निःसृत होते हैं।

स्वामी दयानन्द के मत में पूर्वकृत विनियोग कोई ऐसी अटल रेखा नहीं है कि उसका अनुसरण करना अनिवार्य हो। प्राचीन आचार्यों ने अपनी-अपनी मति के अनुसार मंत्रों के विनियोग किये हैं। कोई अन्य आचार्य इतर किसी विधि में भी उन्हें विनियुक्त कर सकता है। प्राचीनों में भी सभी आचार्यों ने एक मंत्र का विनियोग एक ही प्रकार से किया हो, ऐसी बात नहीं है। एक ने किसी एक विधि में विनियोग किया है, तो दूसरे ने दूसरी विधि में। ऐसा भी नहीं है कि एक आचार्य ने भी एक मंत्र का एक ही विनियोग किया हो, एक मंत्र को अनेकत्र भी विनियुक्त किया है। इससे भी प्रतीत होता है कि मंत्र का पूर्वकृत विनियोगों के साथ कोई नित्य सम्बन्ध नहीं है। दुर्भाग्य से विनियोग को नित्य समझ लेने के कारण मंत्रार्थ संकुचित होकर रह गये हैं। उदाहरणार्थ यदि कहीं द्विवचनान्त प्रयोग देखकर ऊखल-मूसल को लाने में मंत्र का विनियोग कर

दिया गया तो वह मन्त्र उसी विधि के प्रतिपादन तक सीमित मान लिया गया। मन-बुद्धि, आत्मा-परमात्मा, स्त्री-पुरुष, राजा-प्रजा, गुरु-शिष्य, अध्यापक-उपदेशक आदि परक जो अर्थ लिये जा सकते थे, उन पर रोक लग गयी। यदि कोई मंत्र आसन्दी (कुर्सी) के लिये विनियुक्त हो गया तो उससे वाणी, नारी, राजसभा, आचार्य-पत्नी आदि के जो गुण या कर्त्तव्य सूचित हो सकते थे, वे नहीं लिये जा सकते। किन्तु विनियोग को नित्य न मानने पर उन सब अर्थों का भी ग्रहण किया जा सकता है।

पूर्व विनियोगों के सम्बन्ध में स्वामी जी की यह सम्मति है कि जो युक्ति-सिद्धि एवं वेदादि के प्रमाण के अनुकूल हो तथा जो मंत्रार्थ का अनुसारी हो वह विनियोग ग्राह्य हो सकता है।[1]

परन्तु साथ ही उनका यह भी कहना है कि वेद केवल कर्मकाण्डपरक नहीं हैं, ज्ञानकाण्ड, उपासनाकाण्ड तथा विज्ञानकाण्ड परक अर्थ भी किये जाने चाहियें।[2] पूर्वकृत विनियोगों से बंध न जाने के कारण तथा प्राचीन ऋषि-मुनियों एवं तत्कृत ऐतरेय, शतपथ, निरुक्त आदि का अनुसरण करते हुए स्वतंत्र बुद्धि से भाष्य करने के कारण स्वामी दयानन्द का भाष्य चहुंमुखी बन गया है, और उसमें कुछ विशेष प्रकार के विधि-विधान के निर्देशमात्र न रहकर अनेकविध अर्थ स्पष्ट हो सके हैं। संक्षेप में कहें तो उनका भाष्य निम्न विशेषताओं को लिये हुए है।

१. मंत्रों में ईश्वर के स्वरूप, गुण-कर्म-स्वभाव आदि का तथा उसकी स्तुति-प्रार्थना, उपासना का विशद तथा विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

२. स्वामी जी के भाष्य से वेद में अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण आदि अनेक देवों की पूजा की भ्रान्ति नहीं होती। इतर भाष्यों में जहां अग्नि, वायु, सूर्य आदि से परमेश्वर-भिन्न उन-उनके अभिमानी देवों का ग्रहण किया जाता था, वहां स्वामी जी के भाष्य में उन्हें एक परमेश्वर का ही गुणवाची नाम माना गया है।

३. वेदमंत्रों के आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक अर्थों की प्रक्रिया ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद्, निरुक्त आदि से सम्मत थी, तथापि भाष्यकारों ने अधिकतर आधिदैविक या कर्मकाण्डपरक अर्थ ही किये थे। स्वामी जी ने अपनी पारमार्थिक और व्यावहारिक प्रक्रियाओं के अन्तर्गत तीनों प्रकार के अर्थ अपने भाष्य में दर्शाए हैं। मंत्रों के कहीं उन्होंने आध्यात्मिक, कहीं अधिदैवत और कहीं अधिभूत अर्थ दिये हैं। साथ ही अनेक स्थानों पर एक मंत्र के दो-दो या तीन-तीन अर्थ भी प्रदर्शित किये हैं। वे श्लेष एवं वाचक-लुप्तोपमा का आश्रम ले मंत्रों के एक से अधिक अर्थ प्रायः प्रदर्शित कर देते हैं।[3]

४. स्वामी जी ने वैदिक देवों के स्वरूप पर भी व्यापक दृष्टि से विचार

किया है। उनके मत में 'अग्नि' से ईश्वर, पार्थिव अग्नि, विद्युत्, सूर्य, जाठराग्नि, अग्रणी राजा, सेनापति आदि विविध अर्थ गृहीत होते हैं। 'उषा' केवल प्राकृतिक उषा नहीं है, किन्तु वह तेजस्विनी नारी का वाचक भी है। 'अश्विनौ' के द्यावापृथिवी, सूर्य-चन्द्रमा, अध्यापक-उपदेशक, यजमान-ऋत्विज्, सभेश-सेनेश, सुशिक्षित स्त्री-पुरुष, प्राणापान आदि अर्थ करते हैं। 'आप' से उनके मत में केवल प्राकृतिक जल नहीं, किन्तु गुणवती कन्याएं, माताएं, विदुषियां, आप्त प्रज्ञाएं, प्राण आदि भी वाच्य हैं। 'आदित्य' केवल सूर्य नहीं है, किन्तु अविनाशी' परमेश्वर, जीवात्मा, प्राण, ब्रह्मचारी आदि भी आदित्य कहाते हैं। 'इन्द्र' के अर्थ भी परमेश्वर, जीवात्मा, सूर्य, विद्युत्, राजा, सेनापति आदि अनेक होते हैं। 'रुद्र' कैलाश पर्वत पर रहने वाला कोई देवता नहीं, किन्तु पापियों के रोदक तथा सज्जनों के दुःखद्रावक परमेश्वर, जीवात्मा, सेनापति, वैद्य एवं प्राण भी रुद्र हैं। इसी प्रकार वेदोक्त अन्य देवों के अर्थ उनके भाष्य में देखे जा सकते हैं।

५. स्वामी जी के भाष्यानुसार वेदमंत्र केवल सीमित कर्म-काण्ड के ज्ञापक नहीं हैं, किन्तु ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, राजा, प्रजा, राजपुरुष, गुरु, शिष्य, पति, पत्नी, चिकित्सक, शिल्पी, न्यायाधीश आदि सभी के धर्मों और कर्तव्यों का उपदेश उनमें पाया जाता है।

६. स्वामी जी के भाष्य से वेदमंत्रों में अध्यात्मविद्या, योगविद्या, प्राणविद्या, भूगोलविद्या, खगोलविद्या, शिल्पविद्या, धनुर्विद्या, गांधर्वविद्या, वाणिज्यविद्या, अध्ययन-अध्यापनविद्या, पशुपालन, कृषिविद्या, नौविमानादिविद्या, धर्म, ज्योतिष, राजनीति, चिकित्साशास्त्र आदि विविध ज्ञानविज्ञान की बातें दृष्टिगोचर होती हैं।

७. स्वामी जी वेदों को सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर द्वारा प्रेरित मानते हैं। अतएव उनमें बाद में हुए ऋषियों, राजाओं आदि का इतिहास नहीं मानते। जो ऐतिहासिक प्रतीत होने वाले ऋषि, राजा, नगरी आदि के नाम वेद में आते हैं, उन्हें वे यौगिक शब्द मानकर उनके इतर अर्थ करते हैं। जैसे यजुर्वेद ३-६२ में 'जमदग्नि' और 'कश्यप' नाम आये हैं, जिनका अर्थ वे सप्रमाण क्रमशः चक्षु तथा ईश्वर करते हैं, जबकि महीधर ने उन्हें ऐतिहासिक मुनि माना है।

८. स्वामी जी के अनुसार पशुबलि, नरबलि, मांसभक्षण आदि अमानवोचित कार्य तथा अश्लील बातें वेदों में नहीं हैं। अतएव भाष्यकारों के उन अर्थों का उन्होंने युक्ति तथा प्रमाण पुरस्सर खंडन किया है, जिनसे वेद में उपर्युक्त प्रकार की बातें सिद्ध होती हैं, और उन मंत्रों के पवित्र सत्यार्थ का अपने भाष्य में प्रकाश किया है।

अब हम यजुर्वेद के कतिपय प्रसंगों को लेकर कर्म-काण्डपरक भाष्यों से

स्वामी जी के भाष्य की तुलना करते हैं, जिससे स्वामी जी के भाष्य का गौरव हृदयंगम किया जा सके।

दर्श पूर्णमास

कर्मकाण्ड के अनुसार यजुर्वेद के प्रथम अध्याय से लेकर द्वितीय अध्याय के २८वें मंत्र तक दर्शपूर्णमास यज्ञ है। प्रथम अध्याय का प्रमथ मंत्र 'इषे त्वोर्जे त्वा' आदि है। कर्मकाण्ड में 'इषे त्वा' बोलकर अध्वर्यु पलाश की शाखा को काटता है। महीधर अर्थ करते हैं—हे शाखे, (इषे) वृष्टि के लिये (त्वा) तुझे काटता हूं। 'ऊर्जे त्वा' बोलकर उस शाखा का संनमन करता है अर्थात् उसे सीधा करके धूल आदि झाड़कर साफ करता है। अर्थ किया है—हे शाखे, (ऊर्जे) बल तथा प्राणदायक वृष्टिरस के लिये (त्वा) तुझे सीधा करके साफ़ करता हूं। मूल मंत्र में न पलाश शाखा का कोई उल्लेख है, न ही उसे काटने और सीधा करने या धूल झाड़ने का। यह विनियोगकार की अपनी कल्पना है। अतः इन विधियों का मूल मंत्र के साथ कोई नित्य सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् ऐसी बात नहीं है कि इन्हीं विधियों को ध्यान में रखकर मंत्र की रचना हुई हो। अतः मंत्र का इन विधियों से स्वतंत्र होकर भी अर्थ किया जा सकता है। स्वामी दयानन्द शाखा के स्थान पर परमेश्वर को ग्रहण करते हैं—हे परमेश्वर (इषे) अन्न आदि उत्तम पदार्थों और विज्ञान की प्राप्ति के लिये (त्वा) तुझे विज्ञानस्वरूप का हम आश्रय लेते हैं, (ऊर्जे) पराक्रम और उत्तम रस की प्राप्ति के लिये (त्वा) अनन्त पराक्रमी तथा रसघनरूप तेरा आश्रय लेते हैं[४] इसी प्रकरण में छठा मंत्र इस प्रकार है—

> कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति
> कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति।
> कर्मणे वाम् वेषाय वाम् ॥ यजु० १, ६

कर्मकाण्डपरक व्याख्या में अध्वर्यु पात्र में जल भर उसे आहवनीयाग्नि के उत्तर में रखता हुआ कहता है—"हे पात्र, (कः त्वा युनक्ति) कौन तुझे प्रयुक्त करता अर्थात् आहवनीयाग्नि के उत्तर भाग में स्थापित करता है? फिर स्वयं उत्तर देता है, (स त्वा युनक्ति) वह प्रसिद्ध प्रजापति ही तुझे प्रयुक्त करता है। फिर प्रश्न करता है, (कस्मै त्वा युनक्ति) किस प्रयोजन के लिये तुझे प्रयुक्त करता है? उत्तर देता है, (तस्मै त्वा युनक्ति) उस प्रजापति की प्रीति के लिये तुझे प्रयुक्त करता है। तदनन्तर शूर्प तथा अग्निहोत्रहवणी को ग्रहण करता है (कर्मणे वाम्) यज्ञ कर्म के लिये तुम दोनों को मैं ग्रहण करता हूं, (वेषाय वाम्) अपने-अपने कर्मों में व्याप्त होने के लिये मैं तुम दोनों को ग्रहण करता हूं।

यहां भी मूल मंत्र में न पात्र का नाम है, न शूर्प तथा अग्निहोत्रहवणी का। अतः केवल इन्हीं विधियों के लिये मंत्र की रचना हुई है, यह नहीं कहा जा सकता। स्वामी जी इन विनियोगों से स्वतंत्र होकर यह अभिप्राय लेते हैं कि इस मंत्र में मनुष्य को ही उद्बोधन दिया गया है। मनुष्य से प्रश्न करते हैं कि हे मनुष्य, कौन तुझे अच्छी-अच्छी क्रियाओं को करने की आज्ञा देता है ? उत्तर दिया है कि वह जगदीश्वर ही आज्ञा देता है। फिर प्रश्न किया है कि किस प्रयोजन के लिये ? उत्तर दिया है, सत्यव्रताचरण रूप यज्ञादि के लिये। 'वाम्' इस द्विवचन से वे शूर्प तथा अग्निहोत्रहवणी न लेकर कर्म करने वाला और कर्म कराने वाला एवं अध्येता और अध्यापक का ग्रहण करते हैं। हे कर्म करने और कराने वालो, तुम्हें जगदीश्वर ने श्रेष्ठ कर्मों के लिये ही नियुक्त किया है। हे छात्रो और अध्यापको, तुम्हें जगदीश्वर ने सब शुभ गुणों एवं विद्याओं में व्याप्ति के लिये नियुक्त किया है।

कर्मकाण्ड में अगले मंत्र से शूर्प तथा अग्निहोत्रहवणी को तपाया जाता है—**प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः**, मंत्र ७। अर्थ करते हैं कि इन्हें तपाने से इनमें चिपटे हुए जो राक्षस थे वे दग्ध हुए, हविर्दान के बाधक व शत्रु थे वे दग्ध हुए। परन्तु स्वामी दयानन्द इस मंत्र से यह अभिप्राय लेते हैं, **"इदमीश्वर आज्ञापयति सर्वैर्मनुष्यैः स्वकीयं दुष्टस्वभावं त्यक्त्वाऽन्येषमपि विद्याधर्मोपदेशेन त्याजयित्वा दुष्टस्वभावान् मनुष्यांश्च निवार्य बहुविधं ज्ञानं सुखं च सम्पाद्य विद्याधर्म-पुरुषार्थान्विताः सुखिनः सर्वे प्राणिनः सदा सम्पादनीयाः।"** अर्थात् ईश्वर आज्ञा देता है कि सब मनुष्यों को अपना दुष्ट स्वभाव छोड़कर, विद्या और धर्म के उपदेश से औरों को भी दुष्टता आदि अधर्म के व्यवहारों से अलग करना चाहिए, तथा उनको बहुत प्रकार का ज्ञान और सुख देकर सब मनुष्य आदि प्राणियों को विद्या, धर्म, पुरुषार्थ और नाना प्रकार के सुखों से युक्त करना चाहिए। पाठक देखें कि स्वामी जी का आशय कितना विशाल हो गया है।

११ वां मंत्र **"भूताय त्वा नारातये"** आदि है। कर्मकाण्ड में यज्ञिय शकट में बचे हुए धान को इस मंत्र से स्पर्श करते हुए कहते हैं—"हे धान, ब्राह्मण आदियों को भोजन कराने के लिए तुम्हें बचाया है, अनुदान के लिए नहीं।" विधि की भावना तो बहुत सुन्दर है, किन्तु स्वामी जी का अर्थ इससे भी विशाल है। उन्होंने इस मंत्र के तीन अर्थ किये हैं, एक यज्ञपरक, दूसरा परमेश्वरपरक, तीसरा भौतिक अग्निपरक। भाव यह लिया है कि हम यज्ञ, परमेश्वर तथा भौतिक अग्नि को सब प्राणियों के सुख के लिए दान आदि धर्म करने के लिये तथा दारिद्र्य् आदि दोषों के नाश के लिए ग्रहण करें और भौतिक अग्नि से शिल्पविद्या की भी सिद्धि करें।

२३वां मंत्र **"मा भेर्मा संविक्था"** आदि है। कर्मकाण्डानुसार पुरोडाश

(चावल की पूड़ी) को स्पर्श कर कहते हैं कि—हे पुरोडाश, तू भयभीत मत होना, चंचल मत होना। परन्तु स्वामी जी इसका निम्न अभिप्राय लेते हैं—"**ईश्वरः प्रतिमनुष्यम् आज्ञापयति आशीश्च ददाति नैव केनापि मनुष्येण यज्ञसत्याचार-विद्याग्रहणस्य सकाशाद् भेतव्यं, विचलितव्यं वा।**" अर्थात् ईश्वर सब मनुष्यों को आज्ञा और आशीर्वाद देता है कि किसी मनुष्य को यज्ञ, सत्याचार और विद्या के ग्रहण से डरना व चलायमान होना कभी न चाहिए।। इसी प्रकार इस प्रकरण में अन्यत्र भी स्वामी जी के भाव्य की व्यापकता को देखा जा सकता है।

अग्नीषोमीय पशुप्रयोग

कर्मकाण्डपरक व्याख्या में षष्ठअध्याय के मंत्र ७ से २२ तक अग्नीषोमीय पशु का प्रयोग आता है। इसमें छाग (बकरे) को देवताओं के लिए काटा जाता है। प्रथम अध्वर्यु तृण ले उसे पशु के मुख के आगे कर पशु को अभीष्ट स्थान पर ले जाता है। फिर उस पशु को सम्बोधित कर कहता है कि तेरी हवि देवताओं को स्वादिष्ट लगे (मंत्र ७)। फिर तीन लड़वाली कुशा की रस्सी पशु के सींग में बांध वधकर्त्ता के हाथ में पकड़ा देता है (मंत्र ८) फिर पशु यूप (यज्ञस्तम्भ) में बांधा जाता है, उस पर जल छिड़कते हैं (मंत्र ९) उसके मुख में पानी की बूंदें डालते हैं। ललाट, कंधों तथा श्रोणियों पर घृत लगाते हैं (मंत्र १०)। तदनन्तर अध्वर्यु छुरे को घृत से लिप्तकर उससे पशु के ललाट को स्पर्श करता है[५] तथा पशु 'काटा' जाता है (मंत्र ११)। फिर यजमानपत्नी कलश के जल से मृत पशु के मुख, नासिका, चक्षु, श्रोत्र आदि अंगों को जल छिड़ककर शुद्ध करती है (मंत्र १४)। पश्चात् यजमान और अध्वर्यु दोनों कलश में बचे हुए जल से पशु के सिर, मुख आदि अंगों को मंत्रोच्चारण करते हुए धोते हैं। फिर सब अंगों पर जल छिड़कते हुए कहते हैं कि—"जो पकड़ना, बांधना, काटना आदि क्रूर व्यवहार हम ने पशु के साथ किया है, वह शान्त हो।" फिर पशु की नाभि के अग्रभाग में चार अंगुल के व्यवधान से तृण बांध, बद्ध स्थान में घी लगाकर छुरे से उदर की त्वचा भेदन करते हैं (मंत्र १५)।

तब नाभि के अग्रभाग में जो तृण बंधा है, अध्वर्यु बाएं हाथ से उसका अग्रभाग तथा दाहिने हाथ से मूलभाग पकड़ कर उसे दुहरा करके नाभि के रक्त में भिगोता है। फिर कुछ चर्बी ले उसमें घृत मिला कुछ बूंदें आहवनीय अग्नि में डालता है (मंत्र १६)। पत्नी सहित यजमान और ऋत्विज् सब एकत्र हो जल द्वारा मार्जन करते हैं, और जलों से प्रार्थना करते हैं कि पशुवध रूपी जो पाप हमने किया है उसे दूर करो (मंत्र १७)। तत्पश्चात् पशु के हृदय को छुरे से काटकर धारापात करता हुआ कहता है कि तेरा मन देवताओं के मन से मिले। फिर मांस-

पाकपात्र में चर्बी लेकर छुरे से उसे मिलाता है (मंत्र १८)। उस चर्बी में से कुछ को अग्नि में होम करता है। (मंत्र १९)। तदनन्तर मृत पशु के सब अंगों को यथायोग्य स्थित करके उन्हें स्पर्श कर कहता है कि इस पशु के अंग-अंग में प्राण निहित किया, और पशु को कहता है कि तुम जीवित होकर देवताओं के समीप जाओ (मंत्र २०)। फिर प्रतिप्रस्थाता नामक ऋत्विज् पहले से ही पृथक् रखे हुए पशु के पिछले हिस्से को ग्यारह अंशों में बांट कर "समुद्रं गच्छ स्वाहा" आदि ग्यारह मन्त्रांशों से आहुति देते हैं। (मंत्र २१)। फिर काटे हुए पशु का हृदय-मांस जिस शलाका पर पकाया था उस शलाका को शुष्क और आर्द्र भूप्रदेश की सन्धि में गाड़ देता है, अन्त में सब ऋत्विज् और यजमान वरुण से करते हैं कि आप हमें प्रार्थना भय से मुक्त करें। (मंत्र २२)

इस कर्मकाण्ड पर पाठक अपनी प्रतिक्रिया स्वयं देखें। हम तुलना के लिए इस प्रसंग के दो-चार मंत्रों के महीधर कृत तथा स्वामी दयानन्द कृत भाष्य का आशय उपस्थित करते हैं।

> देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्। अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नियुनज्मि। अद्भ्यस्त्वौषधीभ्योऽनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः। अग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि॥ यजु० ६-९

इस पर महीधर का आशय यह है। 'देवस्य त्वा' से आरम्भ कर 'नियुनज्मि' पर्यन्त मंत्र से पशु (बकरे) को यज्ञ स्तम्भ में बांधे। अर्थ किया है—हे (पशु सवितुः देवस्य प्रसवे) सविता देव की आज्ञा से (अश्विनोः बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम्)। अश्विनीकुमारों की भुजाओं से तथा पूषा देव के हाथों से अर्थात् अपनी भुजाओं और हाथों में इन देवों की भुजाओं तथा हाथों की भावना करके (अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं) अग्नि-सोम देवताओं के प्रीतिपात्र (त्वा) तुझको (नियुनज्मि) मैं बांधता हूं। 'अद्भ्यस्त्वा' आदि से उस पशु पर जल छिड़के। अर्थ है—हे पशु (अग्नीषोमाभ्याम् जुष्टं त्वा) अग्नि और सोम देवता के प्रीतिप्रात्र तुझे (अद्भ्यः ओषधीभ्यः) जलों और ओषधियों से (प्रोक्षामि) सिक्त करके पवित्र करता हूँ। इस प्रकार जलसेचन द्वारा पवित्र हुए (त्वा) तुझे (माता अनुमन्यताम्) माता भूमि इस के लिए अनुमति दे, (पिता, अनुमन्यताम्) पिता द्युलोक अनुमति दे, (सगर्भ्यः भ्राता अनुमन्यताम्) तेरा सगा भाई अनुमति दे, (सयूथ्यः सखा अनुमन्यताम्) तेरे साथ एक ही झुण्ड में रहने वाला तेरा साथी अनुमति दे।

स्वामी दयानन्द के अनुसार यह मंत्र उस अवसर का है जब बालक के माता-पिता विद्याध्ययनार्थ उसे गुरुकुल में प्रविष्ट कराने लाये हैं।[१] आचार्य अपने इस

नवागत शिष्य को सम्बोधित कर कहता है—"हे शिष्य ! मैं समस्त ऐश्वर्ययुक्त, वेदविद्या प्रकाश करने वाले परमेश्वर के उत्पन्न किये हुए इस जगत् में सूर्य और चन्द्रमा के गुणों से व पृथ्वी के हाथों के समान धारण और आकर्षण गुणों से तुझे स्वीकार करता हूं तथा अग्नि और सोम के तेज और शान्ति गुणों से प्रीति करते हुए तुझको जो ब्रह्मचर्य धर्म के अनुकूल जल और ओषधि हैं उन जल और गोधूम आदि अन्नादि पदार्थों से नियुक्त करता हूं । तुझे मेरे समीप रहने के लिए तेरी जननी अनुमोदित करे, पिता अनुमोदित करे, सहोदर भाई अनुमोदित करे, मित्र अनुमोदित करें, और तेरे सहवासी अनुमोदित करें। अग्नि और सोम के तेज और शांति गुणों में प्रीति करते हुए तुझको उन्हीं गुणों से ब्रह्मचर्य के नियम-पालन के लिये अभिषिक्त करता हूं।"

यह पाठक स्वयं निर्णय करें कि बकरे के यज्ञ में बलि होने का उसके माता-पिता, भाई तथा मित्र अनुमोदन करें, इस में चमत्कार है, या विद्याध्ययनार्थ बालक के गुरुकुलवास का उसके माता-पिता, भ्राता और साथी अनुमोदन करें यह अर्थ चमत्कारजनक है।

इसी प्रकार के १२ वें मंत्र में कहा है—"माहिर्भूः मा पृदाकुः।" अर्थ है "तू सांप मत बन, अजगर मत बन।" कर्मकाण्ड के विनियोगानुसार पशु बांधने की रस्सी को दुहरा करके भूमि पर रखते हुए कहते हैं, कि हे रस्सी, तू सर्पाकार या अजगराकार मत होना, नहीं तो तुझे सर्प या अजगर समझ कर भय लगेगा। पर स्वामी दयानन्द के अनुसार यह मंत्र रस्सी को नहीं, किन्तु शिष्य को कहा गया हैं कि हे शिष्य, तू सर्पादि के समान कुटिलाचरण वाला मत होना। इस मंत्र का भावार्थ दर्शाते हुए वे लिखते हैं—"केनापि मनुष्येण धर्म मार्गे कुटिल-मार्गगामिसर्पादिवत् कुटिलाचरणेन न भवितव्यं, किन्तु सर्वदा सरलभावेनैव भवितव्यम्।" अर्थात् किसी मनुष्य को कुटिलगामी सर्प आदि दुष्ट जीवों के समान धर्म मार्ग में कुटिल न होना चाहिए, किन्तु सर्वदा सरल भाव से ही रहना चाहिए।

इस प्रसंग में १४वां मंत्र भी द्रष्टव्य है—

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि
चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि
नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि
पायुं ते शुन्धामि चरित्रांस्ते शुन्धामि ॥ यजु० ६, १४

कर्मकाण्ड के अनुसार यजमानपत्नी मृत पशु के समीप बैठ कर इन मंत्रांशों से उसके मुख, प्राण आदि अंगों का जल का स्पर्श करती हुई शोधन करती

है—"हे पशु, मैं तेरे मुख का शोधन करती हूं, नाभि का शोधन करती हूं, तथा चरित्रों अर्थात् पैरों का शोधन करती हूं।" पाठक विचार करें, यह कैसा अंग-शोधन हुआ। पहले पशु का वध किया, फिर मृत पशु के अंगों का शोधन किया जा रहा है। पशु के ही अंगों का शोधन करना था, तो जीवित के अंगों का किया जाना चाहिए था।

स्वामी दयानन्द के अनुसार यह मंत्र आचार्य द्वारा शिष्य को कहा गया है। वे लिखते हैं—"**अथ कथं ता गुरुपत्न्यो गुरवश्च यथायोग्य शिक्षया स्वस्वान्तेवासिनः सद्‌गुणेषु प्रकाशयन्तीत्युपदिश्यते**", अर्थात् इस मंत्र में यह बतलाया है कि गुरुपत्नियों और गुरुजनों को यथायोग्य शिक्षा से अपने-अपने विद्यार्थियों को सद्‌गुणों में कैसे प्रकाशित करना चाहिए। मंत्रार्थ किया है—"हे शिष्य, मैं विविध शिक्षाओं से तेरी वाणी को शुद्ध अर्थात् सद्धर्मानुकूल करता हूं। तेरे नेत्र को शुद्ध करता हूं। तेरी नाभि को पवित्र करता हूं। तेरे लिङ्ग को पवित्र करता हूं। गुदेन्द्रिय को पवित्र करता हूं। समस्त व्यवहारों को पवित्र, शुद्ध अर्थात् धर्म के अनुकूल करता हूं। तथा गुरुपत्नी पक्ष में सर्वत्र 'करती हूं' यह योजना करनी चाहिये।" पुनः भावार्थ में लिखते हैं—"**गुरुभिगुरुपत्नीभिश्च वेदोपवेदवेदाङ्गोपाङ्गशिक्षया देहेन्द्रियान्तःकरणात्ममनः शुद्धिशरीरपुष्टिप्राणसंतुष्टीः प्रदाय सर्वे कुमाराः सर्वा कन्याश्च सद्‌गुणेषु प्रवर्तयितव्या इति**।" अर्थात् गुरु और गुरुपत्नियों को चाहिए कि वेद और उपवेद तथा वेद के अंग और उपाङ्गों की शिक्षा से देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण और मन की शुद्धि, शरीर की पुष्टि तथा प्राण की सन्तुष्टि देकर समस्त कुमार और कुमारियों को अच्छे-अच्छे गुणों में प्रवृत्त करावें। अगला मंत्र इस प्रकार है—

> **मनस्त आप्यायतां वाक् त आप्यायतां**
> **प्राणस्त आप्यायतां चक्षुस्त आप्यायतां**
> **श्रोत्रं त आप्यायताम्।**
> **यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्त आप्यायतां,**
> **तत्ते शुध्यतु शमहोभ्यः।**
> **ओषधे त्रायस्व स्वधिते मैनं हिंसीः॥** यजु० ६, १५

महीधर की कर्मकाण्डी व्याख्यानुसार इस मंत्र में पांच विधियां वर्णित हैं—

(१) प्रथम अध्वर्यु तथा यजमान पात्नेजन पात्र में बचे हुए पानी से मृत पशु के सिर आदि अंगों को धोते हुए कहें—हे पशु, (ते मनः आप्यायताम्) तेरा मन अर्थात् सिर शान्त हो, (ते वाक् आप्यायताम्) तेरा मुख शान्त हो, (ते प्राणः आप्यायताम्) तेरी नासिका शान्त हो, (ते चक्षुः आप्यायताम्) तेरी

आंखें शांत हों, (ते श्रोत्रम् आप्यायताम्) तेरे कान शान्त हों ।

(२) फिर एक साथ अवशिष्ट सब अंगों पर जल सिंचन करे—हे पशु, (यत् ते क्रूरम) जो तेरे प्रति बंधन, निरोध आदि क्रूर कार्य हमने किया है (यत् आस्थितं) और जो छेदनकर्त्ता ने छेदन आदि कर्म किया है (तत् ते आप्याय-ताम्) वह तेरा सब शान्त होवे, (निष्टयायताम्) संहत होवे अथवा दोषशून्य होवे (तत् ते शुध्यतु) वह तेरा सब शुद्ध होवे ।

(३) फिर अवशिष्ट जल से 'पशु के जघन-प्रदेश में सिंचन करे— (अहोभ्यः) सब दिनों में (शम्) हमें तथा पशु को सुख प्राप्त हो ।

(४) फिर पशु को उत्तान लिटाकर नाभि के अग्रभाग में चार अंगुल के व्यवधान से तृण बंधन करे—(ओषधे) हे ओषधि, तू इस पशु की (त्रायस्व) रक्षा कर ।

(५) फिर घृताक्त असिधारा को तृण के ऊपर रख चुपचाप तृण सहित उदर की त्वचा को छेदन करे—(स्वधिते) हे खड्ग, (एनं) इस पशु को (मा हिंसीः) मत मार ।

यहां पांचों विधियां विचारणीय हैं । प्रथम—जब पशु के अंगों का हमने निर्दयतापूर्वक छेदन कर दिया, तब उसके मन प्राण आदि के शान्त होने की प्रार्थना व्यर्थ है । दूसरी विधि करते हुए कहा है, कि पशु, जो तेरा बंधन, छेदन आदि क्रूर कर्म हमने किया है वह शान्त हो । जब हम स्वयं समझ रहे हैं कि यह कर्म क्रूर है, तब उसे किया ही क्यों, और अब कर चुकने के पश्चात् उसकी शान्ति कराने का भी क्या अभिप्राय ? तीसरी विधि करते हुए कहते हैं कि हमें या इस पशु को सुख प्राप्त हो । पशु की जब हमने हत्या कर दी तब भला उसे सुख कैसे प्राप्त होगा । और पशुमारण रूपी क्रूर कर्म करने-कराने वाले हम भी सुख के अधिकारी क्यों कर हो सकते हैं ? चौथी विधि में पशु का पेट फाड़कर चर्बी निकालने की तैयारी में हम उसकी नाभि के अग्रभाग में तृण बांधते हैं, और प्रार्थना उल्टी करते हैं कि हे ओषधि, तू इस पशु की रक्षा कर । रक्षा का मंत्र बोलना है तो हमें रक्षा ही करनी चाहिए, न कि हिंसा । "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" की दुहाई देना एक बहाना मात्र है । पांचवीं विधि में भी उसी प्रकार की क्रिया करते हैं छुरे से पेट को फाड़ने की और प्रार्थना करते हैं कि छूरे, तू पशु की हिंसा मत कर । यह सब विधि-विधान कहां तक संगत है यह पाठक स्वयं विचारें । यदि घास-फूस, ओषधियों आदि का कृत्रिम पशु बनाया जाता, और 'मनुष्य के अन्दर जो पशुत्व रहता है उसे नष्ट करना है' इसके प्रतीक रूप में उस पशु को काटा जाता या होम किया जाता, तब भी कथंचित् विधि की चरितार्थता हो सकती थी । किन्तु यहां तो जीवित पशु की बलि दी जाती है ।

अब स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित इस मंत्र का अर्थ देखिये । वे लिखते

हैं—"हे शिष्य ! मदीयशिक्षणेन ते तव मनः आप्यायताम्, ते प्राणः आप्यायताम्, ते चक्षुः आप्यायताम्, ते श्रोतं अप्यायताम् ते यत् क्रूरं दुश्चरित्रं तत् निष्ट्यायतां दूरीगच्छतु। यत् ते तव आस्थितं निश्चितं तद् आप्यायताम्। इत्थं ते सर्वं शुध्यतु। अहोभ्यो दिनेभ्यः तुभ्यं शम् अस्तु। अथस्वस्वामिनि शिष्यालालनापरं गुरुपत्नी वाक्यं—हे ओषधे, विज्ञप्रवराध्यापक, त्वमेनं शिष्यं त्रायस्व मा हिंसीः। स च स्वपत्नीं प्रत्याह—हे स्वधितेऽध्यापिके स्त्रि! त्वमेनां त्रायस्व मा हिंसीश्च।" अर्थात् गुरु शिष्य को कहता है—हे शिष्य, मेरी शिक्षा से तेरा मन पर्याप्त गुणयुक्त हो। तेरा प्राण, बलादि गुणयुक्त हो। तेरी आंख निर्मल दृष्टि वाली हो। तेरा कर्ण सद्गुणव्याप्त हो। तेरा जो दुष्ट व्यवहार है, वह दूर हो। और जो तेरा निश्चय है वह पूरा हो। इस प्रकार से तेरा समस्त व्यवहार शुद्ध हो और प्रतिदिन तेरे लिए सुख हो। गुरुपत्नी अपने पति से कहती है—"हे प्रवर अध्यापक ! आप इस शिष्य की रक्षा कीजिये और व्यर्थ ताड़ना मत कीजिये।" गुरु अपनी पत्नी से कहता है—"हे प्रशस्त अध्यापिके ! तू इस कुमारिका शिष्या की रक्षा कर और इसको ताड़ना मत दे।"

पाठक दोनों अर्थों की तुलना करें। हमने इस प्रकरण के कुछ ही मंत्रों को लिया है। अन्य मंत्रों के भी अर्थ महीधर तथा स्वामी जी के भाष्य से मिलान किये जा सकते हैं।

रुद्राध्याय

यजुर्वेद का १६वां अध्याय रुद्राध्याय कहलाता है, जिसमें ६६ मन्त्र हैं। इसके आधार पर शतरुद्रिय होम कल्पित किया गया है। उवट एवं महीधर के अनुसार इसमें उस रुद्र देवता से प्रार्थना की गई है, जो कैलाश पर्वत पर निवास करता है, जिसके हाथ में बाण हैं, जो नीलग्रीव तथा जटाजूटधारी (कपर्दी) है। मन्त्र १७ से ४६ तक रुद्र के विभिन्न रूपों को नमस्कार किया गया है, जिनमें जहां वह अनेक उत्कृष्ट रूपों में वर्णित हुआ है, वहां साथ ही ठग, चोर, लुटेरे, तस्कर आदि रूपों में भी उसका वर्णन किया गया है। ऐसा क्यों है ? इसका समाधान महीधर यह देते हैं[७] कि रुद्र ही लीला से चोर आदि का रूप धारण कर लेता है, अथवा क्योंकि रुद्र जगदात्मक है अतः चोर आदि भी रुद्र समझने चाहियें, अथवा चोर आदि के शरीर में रुद्र जीवरूप में तथा ईश्वररूप में दो प्रकार से अवस्थित होता है। उसमें जीवरूप स्तेन आदि शब्द का वाच्य है, और ईश्वररूप लक्ष्यार्थ है।

दूसरी ओर स्वामी दयानन्द ने इस अध्याय के भाष्य में एक आदर्श राष्ट्र का चित्र खींचा है। उनके अनुसार राजा या सेनापति रुद्र है, क्योंकि वह शत्रुओं को रुलाता है, उसके अधीन विभिन्न दिशाओं में नियुक्त शत्रुरोदक अन्य शूरवीर भी रुद्र हैं। उनसे प्रार्थना की गई है कि वे शत्रुओं को जीतें, तथा स्वपक्ष के लोगों

को उन्नत करें। जिन्हें 'नमः' कहा गया है, वे राष्ट्र में रहने वाले अनेक व्यक्ति हैं। 'नमः' पद का अर्थ स्वामी जी ने यथायोग्य अन्न, वज्र या सत्कार किया है, जो वैदिककोष निघण्टु से अनुमोदित है। जो उपकारी स्वामी, सेवक, अध्यक्ष आदि हैं, उन्हें उनका पारिश्रमिक अन्न, धन एवं सत्कार प्राप्त होना चाहिए, तथा जो चोर, लुटेरे आदि हैं उन पर वज्र-प्रहार होना चाहिए और जो शासक लोग हैं उनके हाथ में वज्र दिया जाना चाहिये। जैसे—

नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये (मंत्र १७)—ज्योति के समान तीव्र तेजयुक्त भुजा वाले सेना के शिक्षक को वज्र प्राप्त हो।

पशूनां पतये नमः (मंत्र १७)—गौ आदि पशुओं के रक्षक के लिये सत्कार प्राप्त हो।

नमो मन्त्रिणे वाणिजाय (मंत्र १९)—विचार करने हारे राजमंत्री और वैश्यों के व्यवहार में कुशल पुरुष का सत्कार किया जाये।

नमः उच्चैर्घोषाय आक्रन्दयते (मंत्र १९)—ऊंचे स्वर में बोलने वाले तथा दुष्टों को रुलाने वाले न्यायाधीश का सत्कार करें।

नमो वञ्चते परिवञ्चते (मंत्र २१)—छल से दूसरों के पदार्थों को हरने वाले, सब प्रकार के कपट के साथ वर्तमान पुरुष को वज्रप्रहार प्राप्त हो।

स्तायूनां पतये नमः (मंत्र २१)—चोरी से जीने वालों के स्वामी को वज्र में मारें।

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमः (मंत्र २७)—पदार्थों को सूक्ष्म क्रिया से बनाने हारे तुमको अन्न देते हैं और बहुत से विमानादि यानों को बनाने हारे तुम लोगों का परिश्रमादि का धन देकर सत्कार करते हैं।

नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमः (मंत्र २७)—प्रशंसित मिट्टी के पात्र बनाने वालों को अन्नादि पदार्थ देते हैं और खड्ग, बन्दूक, तोप आदि शस्त्र बनाने वाले तुम लोगों का सत्कार करते हैं।

नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च (मंत्र २९)—गृहस्थ लोगों को चाहिए कि जटाधारी ब्रह्मचारी और समस्त केश मुंडाने हारे संन्यासी को अन्न देवें।

नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च (मंत्र २९)—असंख्य शास्त्र के विषयादि को देखने वाले विद्वान् ब्राह्मण का और धनुष्य आदि असंख्य शस्त्रविद्याओं के शिक्षक क्षत्रिय का सत्कार करें।

नमो गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च (मंत्र २९)—पर्वतों के आश्रय से सोने हारे वानप्रस्थ का और पशुओं के पालक वैश्य आदि का सत्कार करें।

अश्वमेध

कर्मकाण्डिक व्याख्यानुसार यजु० के २२वें से २५वें अध्याय तक अश्वमेध-यज्ञ

वर्णित हुआ है। वह यज्ञ बहुत विस्तृत है, तथापि उसकी संक्षिप्त रूपरेखा यहां प्रस्तुत करते हैं। अश्वमेध का अधिकार अभिषिक्त राजा को ही है। वह अपनी चार पत्नियों महिषी, वावाता (वल्लभा), परिवृक्ता (अवल्लभा) और पालागली (दूतपुत्री) को साथ लेकर यज्ञ आरम्भ करता है। चारों पत्नियों के साथ उनकी सौ-सौ अनुचरियां होती हैं। राजा चारों ऋत्विज् होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा तथा उद्गाता का वरण करता है। एक ऐसा घोड़ा लाया जाता है, जिसका अगला हिस्सा काला और पिछला सफेद हो, ललाट पर शकटाकार तिलक बना हो, जो बहुत मूल्यवान्, अति वेगवान् और ऐसा अद्वितीय हो जिसकी जोट का दूसरा न मिलता हो। अध्वर्यु ब्रह्मा से अनुमति पाकर रस्सी से घोड़े को बांधता है। उस घोड़े को तालाब के स्थावर जल के बीच ले जाकर स्नान कराता है। वहीं आयोगव पुरुष (शूद्र और वैश्या की सन्तान) के हाथ से एक चार आंखों वाले (अर्थात् जिसकी दो आंखें तथा उनके ऊपर दो आंख जैसे चिह्न हों ऐसे) कुत्ते को मूसल से मरवा कर वेत की चटाई पर रख "परो मर्तः परः श्वा, यजु० २२-५" का पाठ कर घोड़े के नीचे से तालाब में प्रवाहित कर देता है। वहां से वह घोड़े को अग्नि के समीप ला अग्नि में आहुतियां देता है।

इसके पश्चात् अध्वर्यु तथा यजमान घोड़े को विहार करने के लिये अन्य १०० घोड़ों के साथ ईशान दिशा में छोड़ देते हैं। साथ में कवच, खड्ग, दण्ड आदि लिये हुए ४०० सैनिक रक्षार्थ भेजे जाते हैं। उन्हें आदेश दिया जाता है कि वे एक वर्ष तक घोड़े का भ्रमण कराते रहें और दिग्विजय करके लौटें। एक वर्ष के पश्चात् जब घोड़ा लौटकर आता है तब अन्य तीन घोड़ों सहित उसे एक रथ में नियुक्त कर अध्वर्यु और यजमान रथ में बैठ, तालाव पर ले जाकर, घोड़ों को जल में प्रविष्ट कराते हैं। वहां से घोड़े को देवयजन स्थान में लाते हैं और उस समय महर्षि, वावाता तथा परिवृक्ता ये तीनों पत्नियां क्रमशः घोड़े के अगले, बीच के तथा पिछले शरीर की मालिश करती हैं। फिर वे ही तीनों उस घोड़े के सिर तथा पुंछ में १०१-१०१ सौवर्ण मणियां बांधती हैं। इसके बाद ब्रह्मा और होता "कः स्विदेकाकी चरति" आदि यजु २३.९-१२ इन चार मंत्रों से परस्पर प्रश्नोत्तर करते हैं। इसके बाद पशुओं को यूप में बांधा जाता है। २१ यूप होते हैं, जिनमें बीच के अग्निष्ठ यूप में १७ पशु तथा शेष यूपों में से प्रत्येक में १६-१६ पशु बांधे जाते हैं। ये सब ग्राम्य पशु होते हैं, जिनका बाद में वध करना होता है। इन २१ यूपों के मध्य में जो २० अवकाश होते हैं उनमें से प्रत्येक में कपिंजल आदि १३-१३ आरण्य प्राणी अवस्थित किये जाते हैं। इनका वध अभीष्ट नहीं होता, किन्तु इन्हें बाद में इन-इनके देवताओं के उद्देश्य से उत्सर्ग कर छोड़ दिया जाता है। तत्पश्चात् दरी-चादर बिछा, उस पर सुवर्ण रख घोड़े का संज्ञपन (वध) किया जाता है। राजपत्नियां उस मृत घोड़े की तीन-तीन परिक्रमाएं करती हैं। फिर

पत्नियां, अध्वर्यु और यजमान मिलकर मृत घोड़े का प्राणशोधन करते हैं। प्राण-शोधन के अनन्तर महिषी घोड़े के पास लेट जाती है। अध्वर्यु महिषी तथा घोड़े को चादर से ढक देता है। महिषी मृत घोड़े के लिंग को खींचकर अपनी योनि में डालती है और कहती है कि यह घोड़ा मुझ में वीर्य का आधान करे।

इसके अनन्तर अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि कुमारी एवं राजपत्नियों से अश्लील हास-परिहास करते हैं, और वे भी अपनी-अपनी अनुचरियों सहित उन्हें वैसा ही अश्लील उत्तर देती है। फिर अध्वर्यु आदि घोड़े के पास लेटी हुई महिषी को वहां से उठा कर लाते हैं। महिषी आदि तीनों राजपत्नियां तांबे, चांदी और सोने की सुइयों से मृत घोड़े के शरीर को छेदकर जर्जर करती हैं, जिससे तलवार उसके शरीर में आसानी से प्रविष्ट हो सके। फिर घोड़े के पेट को काटकर उसमें से होम के लिए चर्बी निकाली जाती है। यूपों में बंधे अन्य पशुओं को भी काटा जाता है और चर्बी, रक्त तथा शूल पर पकाये हुए मांस का होम किया जाता है। अन्त में राजपत्नियों की जो सौ-सौ अनुचरियां थीं, उन्हें ब्रह्मा आदि ऋत्विजों को दक्षिणा में दे दिया जाता है। कर्मकाण्डियों का विश्वास है कि घोड़ा पुनर्जीवित हो स्वर्ग चला जाता है।

स्वामी दयानन्द अश्वमेध के इस रूप से सहमत नहीं हैं, न ही इसे वेद व व शतपथ ब्राह्मण के अनुकूल समझते हैं। वे "राष्ट्रं वा अश्वमेधः" यह शतपथ का प्रमाण देते हुए ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के राजप्रजाधर्म विषय में लिखते हैं कि "राष्ट्रपालनमेव क्षत्रियाणाम् अश्वमेधाख्यो यज्ञो भवति, नाश्वं दत्वा तदङ्गानां होमकरणं चेति," अर्थात् राष्ट्र का पालन करना ही क्षत्रियों का अश्वमेध यज्ञ है, घोड़े को मारकर उसके अंगों को होम करना नहीं। सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में इस सम्बन्ध में निम्न प्रश्नोत्तर आये हैं—

प्रश्न—यज्ञकर्त्ता कहते हैं कि यज्ञ करने से यजमान और पशु स्वर्गगामी तथा होम करके फिर पशु को जीवित करते थे, यह बात सच्ची है या नहीं?

उत्तर—नहीं, जो स्वर्ग को जाते हों तो ऐसी बात कहने वाले को मारके होम कर स्वर्ग में पहुंचाना चाहिए वा उसके प्रिय माता, पिता, स्त्री और पुत्रादि को मार होम कर स्वर्ग में क्यों नहीं पहुंचाते? वा वेदी में से पुनः क्यों नहीं जिला लेते हैं?

प्रश्न—जब यज्ञ करते हैं तब वेदों के मंत्र पढ़ते हैं। जो वेदों में न होता तो कहां से पढ़ते?

उत्तर—मंत्र किसी को कहीं पढ़ने से नहीं रोकता, क्योंकि वह एक शब्द है। परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है कि पशु को मार के होम करना चाहिए।

अश्वमेध प्रसंग में आने वाले २३वें अध्याय के १९ से ३१ तक के मंत्रों का महीधरकृत अर्थ अत्यन्त अश्लील है, जिसे लिखते हुए भी लज्जा अनुभव होती

है। स्वयं महीधर भी उसे वैसा ही समझते है। अतएव उसके बाद ३२वें मंत्र का अर्थ वे करते हैं कि 'अश्व के संस्कार के लिए जो हमने अश्लील भाषण किया है और उससे जो हमारे मुख दुर्गन्धित हो गये हैं उन्हें यह यज्ञ पुनः सुगन्धित कर देवे'। यदि मुख दुर्गन्धित होने की चिन्ता थी तो अश्लील अर्थ किया ही क्यों ? वस्तुतः न उन मंत्रों का अर्थ अश्लील है, न ही इस ३२वें मंत्र का यह अभिप्राय है जो महीधर ले रहे हैं। स्वामी जी ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के भाष्यकरणशंकासमाधानादि विषय में उक्त मंत्रों के महीधरकृत अर्थ देकर फिर शतपथ के वाक्य उद्धृत करते हुए उनके सत्यार्थ प्रकाशित किये हैं। उन्हें पाठक वहीं देखें। स्वामी जी के यजुर्भाष्य में भी उक्त मंत्रों का भाष्य देखना चाहिए। नीचे हम तुलना के लिए अश्वमेध प्रकरण के कुछ इतर मंत्रों का कर्मकाण्डिक अर्थ तथा स्वामी जी का अर्थ देते हैं।

ऊपर अश्वमेध की विधि में हम देख चुके हैं कि घोड़े को काटने के पश्चात् राजमहिषी मृत घोड़े के पास लेट जाती है। उस प्रसंग का यह मंत्र है—

प्राणाय स्वाहा अपानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा।
अम्बे अम्बिके ऽम्बालिके न मा नयति कश्चन।
ससस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम् ॥
यजु० २३, १८

महीधर के अनुसार 'प्राणाय स्वाहा' आदि से मृत अश्व का प्राणशोधन करते हैं। फिर घोड़े के पास लेटी हुई महिषी से ईर्ष्या करती हुई अन्य राजपत्नियाँ परस्पर कहती हैं कि अरी अम्बे, अरी अम्बिके, अरी अम्बालिके! मुझे तो उस घोड़े के पास कोई ले ही नहीं जाता। वह दुष्ट घोड़ा तो काम्पीलनगरवासिनी उस दुष्टा सुन्दरी सुभद्रा के पास लेटा हुआ है। पाठक सोचेंगे यह यज्ञ हो रहा है या तमाशा। अब स्वामी दयानन्द का अर्थ देखिये। उन्होंने 'अश्वकः' का अर्थ अश्व के समान शीघ्रगामी जन, 'सुभद्रिका' का अर्थ सुष्ठु, कल्याणकारिणी तथा 'काम्पीलवासिनी' का अर्थ लक्ष्मी किया है—"अश्वकः अश्व इव गन्ता जनः, सुभद्रिकां सुष्ठुकल्याणकारिकां, काम्पीलवासिनीं कं सुखं पीलति बध्नाति गृह्णातीति कंपीलः स्वार्थेऽण्, तं वासयितुं शीलमस्यास्तां लक्ष्मीम्"। सम्पूर्ण मंत्र का अभिप्राय यह लिया है कि हे माता, हे दादी, और हे परदादी ! जिस लक्ष्मी को पाकर अश्व के समान शीघ्रगामी मनुष्य भी सो जाता है, निरुद्यमी हो जाता है, यह लक्ष्मी मुझे वश में नहीं करती है, अतः मैं तो प्राण, अपान और व्यान के लिए स्वाहा करता हूं, अर्थात् पुरुषार्थी होता हूं। भावार्थ में लिखते हैं—"धनस्य स्वभावोऽस्ति यत्रेदं संचीयते तान् निद्रालून् अलसान् कर्महीनान् करोति। अतो धनं प्राप्यापि पुरुषार्थं

एव कर्तव्यः", अर्थात् धन का स्वभाव है कि जहां वह इकट्ठा होता है उन जनों को निद्रालु, आलसी और कर्महीन कर देता है, इससे धन पाकर भी मनुष्य को पुरुषार्थ ही करना चाहिए।

कर्मकाण्ड में २३वें अध्याय के ३३ से ३८ मन्त्र तक राजपत्नियां मृत घोड़े के अंगों को लोहे, चांदी और सोने की सुइयों से छेद-छेद कर जर्जर करती हैं। मंत्र है—

गायत्री त्रिष्टुब् जगत्यनुष्टुप् पङ्क्त्या सह ।
बृहत्युष्णिहा ककुप् सूचीभिः शम्यन्तु त्वा ॥
यजु० २३, ३३

इसका महीधरकृत अर्थ है—"हे अश्व ! गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, पङ्क्त्या सह बृहती, उष्णिहा सह ककुप् एतानि छन्दांसि सूचीभिरेताभिः त्वां शम्यन्तु संस्कुर्वन्तु।......असिपथार्थं त्वग्भेदनं संस्कार", अर्थात् हे घोड़े ! गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप्, पंक्तिसहित बृहती, उष्णिक् सहित ककुप् ये छन्द इन सुइयों से तेरा संस्कार करें। संस्कार का अभिप्राय है त्वचा को भेदना, जिससे तलवार घुसने का मार्ग बन सके। परन्तु स्वामी जी इस मंत्र में घोड़े को सम्बोधन न मानकर मनुष्य को सम्बोधन मानते हैं और यह अर्थ लेते हैं कि हे मनुष्यो, गायत्री, त्रिष्टुप् आदि छन्दों वाले वेदमंत्र तुम्हारे आपस के मतभेदों को उसी प्रकार सी दें जैसे सुइयों से वस्त्र को सिया जाता है। इस मंत्र के भावार्थ में वे लिखते हैं—"ये विद्वांसो गायत्र्यादिच्छन्दोऽर्थविज्ञापनेन मनुष्यान् विदुषः कुर्वन्ति सूच्या छिन्नं वस्त्रमिव भिन्नमतान्यनुसंधति एकमत्ये स्थापयन्ति ते जगत्कल्याण-कारका भवन्ति।" अर्थात् जो विद्वान् गायत्री आदि छन्दों के अर्थ को बताने से मनुष्यों को विद्वान् करते हैं और सुई से फटे वस्त्रों को सीवें त्यों अलग-अलग मत (स्थापन) वालों का सत्य में मिलाप कर देते हैं और उनको एक मत में स्थापन करते हैं, वे जगत् के कल्याण करने वाले होते हैं।

३६वें मंत्र का पूर्वार्ध है—नार्यस्ते पत्न्यो लोम विचिन्वन्तु मनीषया। मही-धर इसका अर्थ करते हैं कि हे घोड़े ! महिषी आदि राजपत्नियां मन से विचार-कर तेरे शरीर के बालों को नोचें—"हे अश्व, नार्यः नृणामपत्यानि स्त्रियः ते तव लोम रोमाणि मनीषया मनसः इच्छया विचार्य विचिन्वन्तु पृथक् कुर्वन्तु।... कीदृश्यो नार्यः ? पत्न्यः यजमानभार्या महिष्याद्या इत्यर्थः।" परन्तु स्वामी जी घोड़ें के स्थान पर विदुषी अध्यापिका को सम्बोधन कर अर्थ करते हैं कि कुमारियां तीक्ष्ण बुद्धि से आपकी अनुकूल आज्ञा को एकत्र करें—"नार्यः नराणां स्त्रियः ते तव पत्न्यः स्त्रियः लोम अनुकूलं वचनं विचिन्वन्तु संचितं कुर्वन्तु मनीषया मनस

ईषणकर्त्र्या प्रज्ञया······। हे विदुष्यध्यापिके, कुमार्यो मनीषया ते लोम विचिन्वन्तु।"

अब जिन मंत्रों से चर्बी निकालने के लिए घोड़े का पेट फाड़ा जाता है उनमें से एक मंत्र लेते हैं।

कस्त्वाऽऽच्छ्यति कस्त्वा विशास्ति
कस्ते गात्राणि शम्यति ।
क उ ते शमिता कविः ॥ यजु० ३२, ३९.

महीधर के अनुसार घोड़े का पेट फाड़ने वाला कह रहा है कि "हे घोड़े! प्रजापति तुझे काट रहा है (मैं नहीं), प्रजापति ही तेरी खाल अलग कर रहा है (मैं नहीं), प्रजापति ही तेरे अंगों को काटकर हविर्भाव को प्राप्त करा रहा है (मैं नहीं), वह मेधावी प्रजापति ही तेरा शमिता अर्थात् वध करने वाला है (मैं नहीं) ।" देखिये, अपना पाप कैसी कुशलता से प्रजापति के ऊपर आरोपित किया जा रहा है! स्वामी जी ने इस मंत्र का निम्न भावार्थ लिखा है—"अध्यापका अध्येतॄन् प्रत्येकं परीक्षायां पृच्छेयुः । के युष्माकमध्ययनं छिन्दन्ति? के युष्मानध्ययनाय उपदिशन्ति ? केऽङ्गानां शुद्धियोग्यां चेष्टां च ज्ञापयन्ति ? कोऽध्यापकोऽस्ति ? किमधीतम् ? किमध्येतव्यमस्तीत्यादि पृष्ट्वा सुपरीक्ष्य, उत्तमानुत्साह्य अधमान् धिक् कृत्वा विद्यामुन्नयेयुः।" अर्थात् अध्यापक लोग पढ़ने वालों के प्रति ऐसे परीक्षा में पूछें कि कौन तुम्हारे पढ़ने को काटते अर्थात् पढ़ने में विघ्न करते हैं? कौन तुमको पढ़ने के लिए उपदेश देते हैं? कौन अंगों की शुद्धि और योग्य चेष्टा को जनाते हैं? कौन पढ़ाने वाला है? क्या पढ़ा? क्या पढ़ने योग्य है? ऐसे-ऐसे पूछ, उत्तम परीक्षा कर, उत्तम विद्यार्थियों को उत्साह देकर, दुष्ट स्वभाव वालों को धिक्कार दे के विद्या की उन्नति करावें।

२४वें अध्याय में कुछ पशु, कुछ जलचर जीव और कुछ पक्षी परिगणित किये गये हैं। कर्मकाण्ड के अनुसार जैसा पहले उल्लेख कर चुके हैं, ग्राम्य पशुओं को जो संख्या में ३२७ बैठते हैं, २१ यूपों में बांधा जाता है, २६० आरण्य जीवों को भी बांधा जाता है, किन्तु इतना अन्तर है कि उन्हें बिना मारे देवताओं के नाम पर छोड़ दिया जाता है। परन्तु स्वामी दयानन्द इस सब इन्द्रजाल में नहीं पड़ते। उनका कथन है कि यह जंतुओं का परिगणन इस दृष्टि से किया गया है कि मनुष्य उनसे यथायोग्य उपकार लेवें। प्रथम मंत्र में विषय प्रतिपादन करते हुये वे लिखते हैं—

"अथ मनुष्यैः पशुभ्यः कीदृश उपकारो ग्राह्य इत्याह" अर्थात् मनुष्यों को

पशुओं से कैसा उपकार लेना चाहिए इस विषय का यहां वर्णन किया जाता है। पुनः १५वें मंत्र के भाष्य में लिखते हैं—"ये नानादेशसंचारिणः प्राणिनः सन्ति तैर्मनुष्या यथायोग्यानुपकारान् गृह्णीयुः" अर्थात् जो नाना देशों में विहार करने वाले प्राणी हैं, उनसे मनुष्य यथायोग्य उपकार लेवें। पशुओं के साथ जो एक-एक देवता का मंत्रों में उल्लेख है उसका अभिप्राय कर्मकाण्डी यह लेते हैं कि उस-उस देवता की तृप्ति के लिए उस-उस पशु का वध या उत्सर्ग किया जाता है। परन्तु स्वामी जी १९वें मंत्र के भाष्य में लिखते हैं कि "या यस्य पशोर्देवता उक्ता स तद्गुणो ग्राह्यः", अर्थात् मंत्र में जो जो जिस पशु का देवता कहा गया है, उस पशु को उस गुण वाला समझना चाहिए। एवं अश्वमेध सम्बन्धी सारे प्रकरण की व्याख्या में स्वामी जी की दिव्य दृष्टि सर्वत्र दिखाई देती है।

पुरुषमेध

कर्मकाण्ड में अध्याय ३० तथा ३१ पुरुषमेधपरक हैं। ३०वें अध्याय में ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि १८४ प्रकार के पुरुषों का वर्णन है। इससे विधि यह कल्पित की गई है कि इस यज्ञ में ११ यूप गाड़े जाते हैं। 'ब्राह्मणे ब्राह्मणं' आदि प्रथम ४८ मंत्र भागों से मध्य के अग्निष्ठ यूप में एक-एक कर ४८ पुरुष बांधे जाते हैं। शेष १० यूपों में अगले ११-११ मंत्र भागों में से अवशिष्ट मंत्रभागों में प्रत्येक में ११-११ पुरुषों को बांधते हैं। अन्त में अवशिष्ट मंत्रभागों से अवशिष्ट २६ पुरुष द्वितीय यूप में और बांध दिये जाते हैं। इस प्रकार १८४ की संख्या पूर्ण की जाती है। 'ब्रह्मदेवता की तृप्ति के लिए मैं ब्राह्मण को बांधता हूं' इत्यादि प्रकार से प्रत्येक पुरुष के साथ जिस-जिस देवता का मंत्र में उल्लेख है, उस-उस देवता की तृप्ति के लिए पुरुष को बांधा जाता है। सब पुरुषों के बंध जाने के उपरान्त ३१वें अध्याय 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' आदि से उनकी स्तुति की जाती है। फिर जिस क्रम से बांधा गया था उसी क्रम से उन-उन देवताओं के नाम पर प्रत्येक को बंधनमुक्त कर दिया जाता है। कुछ का विश्वास है कि किसी समय इन बद्ध पुरुषों का अग्नि में होम किया जाता था, एवं नरबलि की प्रथा प्रचलित थी। शतपथकार को यह नृशंस प्रथा सह्य नहीं हुई, अतः उसने कहा कि बलि न दी जाय, किन्तु उस-उस देवता के नाम पर बद्ध पुरुषों को मुक्त कर दिया जाये। तब से पुरुषों की बलि न देकर उन्हें बन्धन-मुक्त किया जाने लगा।

स्वामी दयानन्द के अनुसार न पुरुषों को बद्ध करने की आवश्यकता है, न बलि देने की। ३०वें अध्याय में जो पुरुष तथा स्त्रियां परिगणित किये गये हैं, उनमें से कुछ उत्कृष्ट हैं तथा कुछ निकृष्ट। उनके साथ एक-एक गुण या दोष का भी उल्लेख है। राजा का कर्त्तव्य बताते हुए उसे कहा जाता है कि अमुक-

सद्‌गुण प्रचार के लिए अमुक-अमुक गुणों वाले पुरुष या स्त्री को आप राष्ट्र में उत्पन्न कीजिये या नियुक्त कीजिये, और अमुक-अमुक दुष्ट आचरण करने वाले अमुक-अमुक प्रकार के पुरुष या स्त्री को आप दूर कीजिये। उदाहरणार्थ स्वामी जी के भाष्य में कुछ मंत्रभागों के अर्थ निम्न हैं।

ब्राह्मणे ब्राह्मणम् (मंत्र ५)—वेद और ईश्वर के ज्ञान के प्रचार के अर्थ वेद और ईश्वर को जानने वाले को उत्पन्न कीजिये।

क्षत्राय राजन्यम् (मंत्र ५)—राज्य वा राज्य की रक्षा के लिए राज-पुत्र को उत्पन्न कीजिये।

मरुद्भ्यो वैश्यम् (मंत्र ५)—पशु आदि प्रजा के लिए वैश्य को उत्पन्न कीजिये।

तपसे शूद्रम् (मंत्र ५)—कष्ट से होने वाले सेवन के अर्थ प्रीति से सेवा करने तथा शुद्धि करने हारे शूद्र को उत्पन्न कीजिये।

पवित्राय भिषजम् (मंत्र १०)—रोग की निवृत्ति करने के अर्थ वैद्य को उत्पन्न कीजिये।

प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शम् (मंत्र १०)—उत्तम ज्ञान बढ़ाने के अर्थ नक्षत्रों को देखने वा इनसे उत्तम विषयों को दिखाने हारे गणितज्ञ ज्योतिषी को उत्पन्न कीजिये।

ऋतये स्तेनहृदयम् (मंत्र १३)—हिंसा करने के लिए प्रवृत्त हुए चोर के तुल्य छली-कपटी को पृथक् कीजिये।

वैरहत्याय पिशुनम् (मंत्र १३) वैर तथा हत्या जिस कर्म में हो उसके लिए प्रवृत्त हुए निन्दक को पृथक् कीजिये।

योगाय योक्तारम् (मंत्र १४)—योगाभ्यास के लिए योग करने वाले को उत्पन्न कीजिए।

वर्णाय हिरण्यकारम् (मंत्र १७)—सुन्दर रूप बनाने के लिए सुनार को उत्पन्न कीजिये।

नर्माय पुंश्चलूम् (२०)—क्रीड़ा के लिए प्रवृत्ति हुई व्यभिचारिणी स्त्री को दूर कीजिए।

इससे अगले ३१वें अध्याय में स्वामी जी के अभिप्रायानुसार 'पुरुष' नाम से परमात्मा के गुण-कर्म-स्वाभाव का वर्णन है, तथा उस पुरुष परमात्मा से सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई इसका उल्लेख है।

पितृमेध

कर्मकाण्डानुसार ३५वें अध्याय में पितृमेध का वर्णन है। जिस पुरुष को पितृमेध करना हो वह मृत सम्बन्धी की अस्थियाँ कुम्भ में संचित कर अरण्य में

गाड़ दे। पितृमेध के दिन उस अस्थिकुम्भ को ग्राम के समीप लाकर जितने मृत के अमात्य-पुत्र-पौत्र हों उतने अन्य कुम्भ तथा उनसे कुछ अधिक छत्र एकत्र कर ले। अस्थिकुम्भ को शय्या पर रख वस्त्र में लपेट दें। मोहमय वादित्र, वीणा आदि के वजने पर मृत के पुत्र-पौत्र उत्तरीयों तथा व्यजनों से पंखा झलते हुए उसकी तीन-तीन प्रदक्षिणा करें। कुछ के मत में स्त्रियां भी परिक्रमा करें। रात्रि के पूर्व, मध्य तथा अपर भागों में उस दिन बहुत अन्नदान करें, नृत्य-गीत करायें, वाजे बजवायें तथा अस्थिकुम्भ को अन्न का उपहार दें। प्रातः होने से पूर्व अस्थिकुम्भ सहित पूर्वोक्त कुम्भों तथा छत्रों को लेकर ग्राम के दक्षिण ओर अध्वर्यु, यजमान तथा अमात्य बाहर चले जायें। इतनी रात गये कार्य आरम्भ करना चाहिए कि श्मशानान्त कर्म करते-करते सूर्य निकल आये। पुरुषप्रमाण क्षेत्र बना कर पूर्वादि दिक्कोणों में पलाश, शमी, वरण तथा पत्थर के शंकु गाड़ दें। निकट यजमान का कोई पुरुष तृणों का पूला ऊंचा खड़ा कर दे, जिसे कार्य समाप्ति पर घर आकर घरके ऊपर लगा दे, उससे प्रजावृद्धि होगी।

तदनन्तर तैयार किये हुए उस पुरुषप्रमाण क्षेत्र को रस्सी से घेरकर प्रथम मंत्र से पलाश-शाखा द्वारा तृण, पत्ते आदि बाहर निकाल दे। फिर पलाश-शाखा को दक्षिण में फेंककर द्वितीय मंत्र द्वारा उस क्षेत्र के दक्षिण या उत्तर में ६ बैलों से हल चलवाये। तृतीय मंत्र के पूर्वभाग से हल द्वारा चार लीकें करवायें, उत्तर भाग में बैलों को खोल दें। फिर हल को दक्षिण दिशा में चुप-चाप फेंककर चतुर्थ मंत्र से कृष्ट क्षेत्र में ओषधियों को बोये। ५म-६षष्ठ मंत्र से पुरुषप्रमाण क्षेत्र के मध्य मृत की अस्थियों को संचित करे। उस रिक्त कुम्भ को कोई विप्र दक्षिण में फेंक आये, तब यजमान या अध्वर्यु ७म मंत्र का जप करे। फिर उन अस्थियों को अंगों के क्रम से रखकर पुरुषाकृति बना ले, जिसका सिर पूर्व की ओर रहे। मध्य में ईंट (इष्टक) रखता हुआ ८म तथा ६म मंत्र बोले, जिसमें शान्ति की प्रार्थना की गई है। फिर श्मशान बना, उसके दक्षिण में दो गढ़े कर, उन्हें दूध तथा जल से भर, उत्तर में ७ गढ़े खोद उन्हें जल से भर, मध्य में तीन पाषाण रख अध्वर्यु, यजमान तथा अमात्य उन गढ़ों के ऊपर चलते हुए १० वां मंत्र बोलें, जिसमें कहा है कि यह पत्थरों वाली नदी बह रही है, इसे पार कर जाओ। फिर अमात्य यज्ञोपवीत धारण कर, आचमन कर ११वें मंत्र से अपामार्ग द्वारा अपने शरीरों को मार्जन करें। तत्पश्चात् यजमान और अमात्य १२वें मंत्र से स्नानकर, नूतन वस्त्र पहन १३वें मंत्र से बैल कीं पूंछ का स्पर्श कर १४वें मंत्र से ग्राम को चल पड़े। ग्राम तथा श्मशान के मध्य में १५वें मंत्र से मिट्टी का ढेला (मर्यादालोष्ठ) रखें, इत्यादि विधि कल्पित की गई है।

श्री स्वामी जी ने इन विधियों से स्वतंत्र होकर मंत्रों की व्याख्या की है। उन्होंने सम्पूर्ण अध्याय को मृत के पक्ष में न लगाकर जीवितों के लिए लगाया

है, तथा जीवितों के लिए प्रेरणा ली है कि उन्हें अमुक-अमुक प्रकार के सत्कार्य करने चाहिएं। सब जीवों के लिए सुख-प्राप्ति तथा मृत्यु को दूर भगाने का सन्देश लिया है। तुलना के लिए हम इस अध्याय का केवल एक मंत्र यजु० ३५.२० ले रहे हैं।

> वह वपां जातवेदः पितृभ्यो
> यत्रैनान् वेत्थ निहितान् पराके।
> मेदसः कुल्या उप तान्स्रवन्तु
> सत्या एषामाशिषः सनमन्ताᳬ स्वाहा ॥

उवट तथा महीधर ने इस मंत्र का विनियोग चर्बी (वपा) के होम में माना है। महीधर लिखते हैं कि मंत्र का विनियोग यद्यपि श्रौतसूत्र में नहीं है, तो भी गृह्यसूत्र में है। वे कहते हैं कि इस मंत्र से गाय की चर्बी का होम करें। अर्थ यह किया है—"हे जातवेदः अग्ने, तू पितरों के लिए गाय की चर्बी को वहन करके ले जा, जहां कि दूर पर निहित हुआ तू उन्हें जानता है। चर्बी की नहरें उन पितरों के पास पहुंचें। दाताओं के मनोरथ भी पूर्ण हों। स्वाहा, सुहुत हो।'

इस अर्थ से स्वामी जी के अर्थ का मिलान कीजिए। उनके मत में पितर जनक लोग व विद्या-शिक्षा देने वाले सज्जन हैं, 'जातवेदा' उत्तम ज्ञान को प्राप्त हुआ जन है। 'वपा' का अर्थ चर्बी नहीं, किन्तु भूमि है यह शब्द बीज बोने के अर्थ वाली 'वप' धातु से बना है। जिसमें बीज बोया जाये वह भूमि 'वपा' है। 'मेदसः कुल्याः' का अर्थ भी 'चर्बी की नहरे' नहीं किन्तु 'स्निग्ध नहरें' हैं। ज्ञानी जनों को चाहिए कि वे जनक व विद्या-शिक्षा देने वाले सज्जन पितरों से खेती योग्य भूमि को प्राप्त करें। उसकी सिंचाई आदि के लिए उन्हें जल प्रवाह से युक्त नदी व नहरें निकट प्राप्त हों, जिससे सत्य क्रिया द्वारा उनकी यथार्थ इच्छाएं फलीभूत हों।

उपसंहार

इस प्रकार श्री स्वामी जी के यजुर्वेद-भाष्य पर संक्षेपतः तुलनात्मक दृष्टिपात करने से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि उन्होंने वेदभाष्य के क्षेत्र में एक क्रान्ति उत्पन्न की है। यद्यपि उनका उद्घोष है कि इसमें मेरा अपना कुछ नहीं है, ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त महर्षियों ने जो कुछ कहा है, उसी का संग्रह मैंने किया है, तथापि वे वेदव्याख्या के लिए एक अपूर्व प्रकाशस्तम्भ का कार्य करते हैं। यह प्रसन्नता का विषय है कि स्वामी जी की भाष्यशैली का विद्वानों में व्यापक प्रभाव हुआ है। अनेक आधुनिक भाष्यकर्ताओं ने उसी से

प्रभावित होकर वेदमंत्रों के तदनुरूप अर्थ किये हैं। तो भी श्री स्वामी जी की दिशा का अवलम्बन कर अभी वेदार्थ का बहुत कुछ अनुसन्धान करना अवशिष्ट है।

पाद टिप्पणियां

१. द्रष्टव्य : "ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका, प्रतिज्ञा विषय—तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मंत्रार्थानुसृतः तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति।"

२. वहीं, भाष्यकरणशङ्कासमाधानादि विषयत् सायणाचार्येण वेदानां परममर्थमविज्ञाय सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डतत्पराः सन्तीत्युक्तम् तदन्यथास्ति। कुतः ? तेषां सर्वविद्यान्वितत्वात्।

३. द्रष्टव्य : लेखक की पुस्तक : वेदभाष्यकारों की वेदार्थ-प्रक्रियाएं, अध्याय ३, ४।

४. (इषे) अन्नविज्ञानयोः प्राप्तये, "इषमित्यन्ननामसु पठितम्। निघ. २-७। इषतीति गतिकर्मसु पठितम्। निघ. २-१४। अस्माद् धातोः क्विपि कृते पदं सिध्यति" (त्वा) विज्ञानस्वरूपं। परमेश्वरं (ऊर्जे) पराक्रमोत्तमरसलाभाय—उर्ग् रसः, श० ५, १, २, ८,' (त्वा) अनन्तपराक्रमानन्दरसघनम्।

५. मंत्र है 'घृतेनाक्तौ पशूंस्त्रायेथाम्' अर्थात् तुम घृत से लिप्त होकर पशुओं की रक्षा करो। पर यहां तो मंत्रार्थ के विरुद्ध पशु काटा जा रहा है। श्री स्वामी जी पशु को काटने से सहमत नहीं हैं, तथा उन्होंने यह अर्थ किया है—,हे घृत चाहने और यज्ञ के करने-कराने हारो, तुम गौ आदि पशुओं को पालो।'

६. द्रष्टव्य : दयानन्द भाष्य के ८म तथा ९म मंत्र की भूमिका—"अथ पित्रादयः स्वसन्तानान् कथमध्यापकाय प्रदद्युः स च तान् कथं गृह्णीयादित्युपदिश्यते। पुनः स शिष्यं किमपदिशेदित्याह।"

७. द्रष्टव्य : मंत्र २० का महीधरभाष्य—"रुद्रो लीलया चोरादिरूपं धत्ते। यद्वा रुद्रस्य जगदात्मकत्वाच्चोरादयो रुद्रा एव ध्येयाः। यद्वा स्तेनादिशरीरे जीवेश्वररूपेण रुद्रो द्विधा तिष्ठति, तत्र जीवरूपं स्तेनादिशब्दवाच्यं, तदीश्वररूपं लक्षयति, यथा शाखाग्रं चन्द्रस्य लक्षकम्। किं बहुना, लक्ष्यार्थविवक्षया मन्त्रेषु लौकिकाः शब्दाः प्रयुक्ताः।"

८. मंत्र यह है—दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः। सुरभि नो मुखा करत् प्राण आयूंषि तारिषत् ॥ यजु २३.३२ महीधर अर्थ करते हैं—"वयम् अध्वर्य्वादयः। अकारिषम् अकार्ष्म कृतवन्तः। वचनव्यत्ययः। अश्लीलभाषणमिति शेषः। किमर्थम्? अश्वस्य संस्कारायेति शेषः, अश्वसंस्कारायाश्लीलभाषणं कृतवन्त इत्यर्थः।...नोऽस्माकं मुखा मुखानि सुरभि सुरभीणी करत् करोतु यज्ञ इति शेषः। अश्लीलभाषणेन दुर्गन्धं प्राप्तानि मुखानि सुरभीणि यज्ञः करोत्वित्यर्थः।" पाठक देखें कि मंत्र में अश्लील भाषण आदि शब्द कहीं नहीं हैं, महीधर उन्हें अपनी ओर से ही ले आये हैं।

महर्षि दयानन्द का याजुषभाष्य तथा शातपथ व्याख्यान

श्री वेदपाल एम० ए०

महर्षि दयानन्द की यह स्पष्ट घोषणा है कि मेरा वेदभाष्य प्राचीन ऋषि-मुनियों द्वारा प्रकाशित वेदार्थ के अनुलोम है। इस प्रसंग में उनके ये वचन सर्वथा याद रखने योग्य हैं—

प्रश्न—किञ्च भो नवीनं भाष्यं त्वया क्रियते, आहोस्वित् पूर्वाचार्यैः कृतमेव प्रकाश्यते ?

उत्तरम्—पूर्वाचार्यैः कृतं प्रकाश्यते.........न चात्र

किञ्चिदप्रमाणं नवीनं स्वेच्छया रच्यत इति ?[1]

इस प्रश्नोत्तरात्मक सन्दर्भ से सर्वथा सिद्ध है कि महर्षि ने मन्त्रार्थ करने में याज्ञवल्क्य प्रभृति प्राचीन वेदव्याख्याताओं का ही अनुगमन किया है। ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के प्रारम्भ में लिखा, यह पद्य भी उनकी आन्तरिक आस्थाओं का निर्भ्रान्त प्रकाशक है—

> आर्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीति सनातनी।
> तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा ॥

यजुर्वेद का प्राचीनतम व्याख्यान हमें शतपथ ब्राह्मण में उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ रत्न के प्रमुख प्रवक्ता महर्षि याज्ञवल्क्य थे, जिन्होंने वेदार्थ वेत्ताओं में सर्वतः उच्च आसन प्राप्त किया था। आचार्य सायण ने प्राचीन परम्परा का निर्वाह करते हुए शतपथ के विषय में जो उदात्त सम्मति प्रकट की है वह सर्वथा औचित्योपेत है।

वासना विशदा यत्र मन्त्रार्थानामशेषतः।
प्रायेणाध्वर्यवं कर्म पूर्णं शाखान्तरैर्विना॥
करामलकवद्यत्र परं तत्त्वं प्रकाशितम्।
या काचित् तादृशी शाखा त्वया व्याख्यायतामिति॥
सर्वतः सायणाचार्येण विमृश्योदीरितान् गुणान्।
माध्यन्दिनेशतपथे ब्राह्मणे व्याकरोति तत्।[2]

महर्षि दयानन्द अत्यन्त श्रद्धाभाव से शतपथ की महत्ता एवं प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। यजुर्वेदभाष्य के प्रारम्भ में उन्होंने शतपथ का उल्लेख प्राथम्येन किया है।[3] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के "ग्रन्थ प्रामाण्या प्रामाण्य विषय" में महर्षि दयानन्द ने बहुमानपुरःसर शतपथ को सत्य शास्त्र की संज्ञा से विभूषित किया है।[4] इस प्रकार महर्षि दयानन्द के वचनों के प्रकाश में सुतरां सिद्ध होता है कि महर्षि का याजुषभाष्य शातपथव्याख्यान के अनुलोम प्रवृत्त हुआ है।

परन्तु जब पाठक दोनों व्याख्यानों पर एक साथ विचार करता है तो आपाततः दोनों व्याख्यानों में कोई तालमेल दृष्टि-गोचर नहीं होता। शातपथ व्याख्यान पूर्णतया याज्ञिक शैली से प्रवृत्त हुआ है। उसमें दर्शपूर्णमास से लेकर अश्वमेधान्त यज्ञों की विस्तृत कर्मकाण्डीय प्रक्रियाओं के द्वारा मन्त्रार्थ का प्रकाशन किया गया है। जबकि महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य में इस प्राचीन याज्ञिक परम्परा का सर्वथा ही परित्याग कर दिया गया है। अतः सहसा अध्येताओं के मानस में यह उद्भावना प्रतिष्ठित हो जाती है कि स्वामी दयानन्द का वेदभाष्य स्वच्छन्द कल्पनाओं का प्रतिफलित रूप है। जिसमें उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह सच्चाई से नहीं किया।

मैंने शतपथ ब्राह्मण पर शोधकार्य किया है। अतः सावधान मन से शतपथ का बहुवार अनुशीलन करने का श्रम साध्य यत्न किया है। शतपथ का अध्येता निःशङ्क होकर कह सकता है कि शतपथकार ने दर्शपूर्णमासादि की बाह्य क्रियाओं के माध्यम से मन्त्रों के गूढभावों को प्रत्यक्ष कराने का समुचित उपयोग किया है। ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रत्येक श्रमशील अध्येता ने इस तथ्य को अङ्गीकार किया है। यथा वैदिक वाङ्मय के निरपेक्ष अध्येता एवं चिन्तक योगीराज अरविन्द के वचनों पर दृष्टिपात कीजिए—

We should admit the symbolic of the Vedic sacrifice. We find in the Gita the word 'Yajna' sacrifice, used in a symbolic sense for all actions whether internal or external......I found that in the Veda itself there were himns in which the idea

of the Yajna or of the victim is openly symbolical others in which the veil is quite transparent.[५]

इसका भाव स्पष्ट है कि वैदिक यज्ञों का समस्त क्रियाकाण्ड प्रतीकात्मक होकर मन्त्र के गुह्य भावों को प्रकाशित करता है। यह सच है कि एक समय ऐसा भी आया, जब याज्ञिक क्रियाकाण्ड के पण्डितों ने ब्राह्मण प्रवक्ताओं के अभिप्रायों को तिलाञ्जलि देकर बाह्याडम्बर पूरा करने में अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ ली तथा मूलग्रन्थ के स्वाध्याय एवं चिंतन से शून्य होकर मन्त्रभावों के विपरीत बीभत्स एवं अश्लील कर्मकाण्ड तक के अनुष्ठान में तत्पर हो गये। अतएव प्रतीक रहस्यों के द्रष्टा योगिराज अरविन्द को अत्यन्त तेजस्वी शब्दों में लिखना पड़ा—

The balance the synthesis preserved by the old mystics between the external and internal the material and the spiritual life was displaced and disorganised.[६]

अतः ऋषिप्रज्ञा द्वारा प्रोद्भूत वेदार्थ के जिज्ञासुओं के लिये यह अत्यंत आवश्यक है कि वे याज्ञिक क्रियाओं को प्राधान्य न देकर, उनके द्वारा अभिव्यज्यमान मन्त्र के गुह्यभावों के दर्शन करने का सदुद्योग करें। याज्ञिक क्रियाएं मन्त्रार्थ को प्रत्यक्ष कराने के लिए कल्पित होने से गौण हैं जिसकी सूचना कर्मकाण्ड के प्रख्यात ग्रन्थ कातीयश्रौत में दी गई है।[७] कातीय सूत्रों के व्याख्याता आचार्य कर्क के ये शब्द इस प्रसंग में उल्लेख योग्य हैं—

"नैतदुभयं समं गुणानां बाहुल्याद् यतः चोदना पाठापेक्षया मन्त्रेषु बहवो गुणा विद्यन्ते"[८]

अतः वैदिक वाङ्मय के विद्वान् अध्येताओं को अपने मन से इस धारणा को निकाल देना चाहिए कि ब्राह्मणकारों की मुख्य लक्ष्यगामिता मात्र दर्शपूर्णमासादि यज्ञयागों के विधिविधानों का प्रतिपादन करना है। और इस वास्तविकता को हृदयङ्गम करना चाहिए कि समस्त श्रौतयज्ञों की कल्पना वस्तुतः वेदार्थ के प्रकाशन हेतु की गई है। इसलिए प्राचीन परम्परा से परिचित भट्टभास्कर ने लिखा है—

"ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां च व्याख्यान ग्रन्थः"[९] ब्राह्मण ग्रन्थों के स्वरूप के विषय में आचार्य सायण की सम्मति भी भट्टभास्कर का ही अनुगमन करती है।"[१०]

प्रस्तुत दृष्टि को हृदयङ्गम करके जब हम ब्राह्मण के अनुशीलन में प्रवृत्त होते हैं तो ब्राह्मण कथित कर्मकाण्ड की प्रत्येक क्रिया एवं पदार्थ मन्त्र के भावों के स्पष्टतया प्रकाशक सिद्ध होते हैं। ब्राह्मणकार ने स्वयं भी प्रायः सर्वत्र कर्मकाण्ड की इन विधियों की उपपत्ति दर्शाने का प्रयास किया है। उदाहरणार्थ

व्रीहि और यव को लीजिये।

प्रकरण राजसूययाग का है। यहां व्रीहि तथा यवों के तीन पिंड बनाये जाते हैं, जिनमें पहला तथा तीसरा चावलों से बनाया जाता है तथा दूसरा यवों का बनाया जाता है। ब्राह्मणकार ने व्रीहियवात्मक हवि:पिण्डों का वास्तव इस प्रकार अभिव्यक्त किया है।

"तदुभयेषां व्रीहियवाणां गृह्णाति। व्रीहिमयमेवाग्रे पिण्डमधिश्रयति तद् यजुषां रूपम्। अथ यवमयं तद् ऋचां रूपम्। अथ व्रीहिमयं तत् साम्नां रूपम्। तदेतत् त्रय्यै विद्यायै रूपं क्रियते। शतपथ ५-५-५-६

ब्राह्मण व्याख्यान इतना विशद है कि कुछ भी टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार पर्यग्निकरण क्रिया की उपपत्ति को लीजिए—

"तं पर्यग्नि करोति। अच्छिद्रमेवैनमेतदग्निना परिगृह्णाति। नैदेनं रक्षांसि प्रमृशन्ति। अग्नि र्हि रक्षसामपहन्ता तस्मात् पर्यग्नि करोति।"

शतपथ १-२-२-१३

यह प्रसंग पुरोडाश के पर्यग्निकरण का है। ब्राह्मणकार ने यहां स्पष्ट कर दिया। कि पर्यग्नि करण प्रयोजन पुरोडाश को दोषों से बचाना है। दर्शपूर्णमास याग में पूरोडाश मस्तिष्क का प्रतीक है।[11] अतः ज्ञान रूपी अग्नि से मस्तिष्क को राक्षसी भावों से रहित करने के लिए इस पर्यग्निकरण क्रिया का अनुष्ठान अभिप्रेत है।

इस प्रकार शतपथकार ने इस याज्ञिक प्रक्रिया के माध्यम से याजुषमन्त्रों द्वारा प्रकाश्यमान अर्थों को एक दृश्य काव्यमयी प्रणाली से प्रकाशित किया है। जिसके शुभ्रालोक में महर्षि दयानन्द ने अपने याजुषभाष्य का प्रणयन किया है। महर्षि ने अपने भाष्य में शतपथकार द्वारा प्रकाशित अर्थों का ग्रहण कैसे किया है यह जानना तव तक असम्भव है जब तक हम ब्राह्मण व्याख्यान के अवगमन में अपेक्षित श्रम नहीं करते। मैंने यथाशक्ति इन अर्वाचीन एवं प्राचीन वेद-व्याख्यानों का वहुशः अनुशीलन किया है। मैं अपने इस अनुसन्धानात्मक अध्ययन के फलस्वरूप उन तथ्यों का दिग्दर्शन कराना चाहता हूं जिनके आलोक में हम निर्भय होकर स्वीकार कर सकेंगे कि महर्षि दयानन्द द्वारा प्रकाशित मन्त्रार्थ के वीज शतपथ व्याख्यान में यत्र-तत्र विखरे पड़े हैं।

प्रस्तुत लघुलेख में यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र के "इषेत्वोर्जे त्वा" 'अंश के व्याख्यान को ही लेते हैं। महर्षिदयानन्द ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—

"(इषे) अन्नज्ञानयो: प्राप्तये। इषमित्यन्न नामसु पठितम् निघ० २-७ इष नीति गतिकर्मसु पठितम् निघ० २-१४ अस्माद् धातो: क्विपिकृते सिध्यति (त्वा) विज्ञानस्वरूपं परमेश्वरम् (ऊर्जे) पराक्रमोत्तमरसलाभाय ऊर्ग रसः शत ५-१-२-८ (त्वा) अनन्त पराक्रमानन्दरसघनम्।

महर्षि के इस व्याख्यान से स्पष्ट है कि इष शब्द का अर्थ उन्होंने अन्न तथा विज्ञान ग्रहण किया है । 'त्वा' इस सर्वनाम पद से विज्ञान-स्वरूप परमेश्वर को परामृष्ट किया है । 'अर्ज' का अर्थ पराक्रम तथा उत्तम रस ग्रहण करते हैं तथा फिर 'त्वा' पद से अनन्त पराक्रम से युक्त आनन्द रसघन परमात्मा ग्रहण किया है ।

शतपथ ब्राह्मण में यजुर्वेद के प्रथम चार मन्त्रों का विनियोग दर्शेष्टि में किया गया है । इस इष्टि की प्रधान हवि सान्नाय है जो दूध और दही को मिलाकर बनाई जाती है । सान्नाटय हवि के निर्माण के लिए गोदोहन किया जाता है । गोदोहनार्थ बछड़ों को हटाने के लिये एक पलाश शाखा (छड़ी) का आच्छेदन किया जाता है । शतपथकार ने 'त्वा' पद से इसी पलाश शाखा का परामर्श किया है । तद् यथा ब्राह्मण व्याख्यान कण्डिका क: लीजिए—

"तामाच्छिनत्ति—इषे त्वा" "अर्जे त्वा" इति । वृष्ट्यैतदाह यदाह 'इषे त्वा' इति 'अर्जे त्वा' इति यो वृष्टादूग्रससो जायते तस्मै तदाह" शतपथ १-७-१-२

इस लिए याज्ञिक कर्मकाण्ड में व्यामुग्ध भाष्यकार उवट तथा महीधर ने इस शब्द की निरुक्ति इस प्रकार की है" इष्यते काङ्क्ष्यते सर्वैर्व्रीह्यादि धान्य-निष्पत्तये सा इट"[१२] अर्थात् व्रीहि आदि धान्य की निष्पत्ति के लिए जिसकी सब कामना करते हैं उस वृष्टि का नाम 'इष्' है ।

जैसा कि पूर्वज लेख में सिद्ध किया जा चुका है कि ब्राह्मणकार द्वारा विवृत समस्त प्रत्यक्षात्मक क्रिया काण्ड विशेष भावों का द्योतक है । इस प्रकार प्रकृत में गौ, वत्स तथा पलाश शाखा भी किसी गम्यमान परोक्ष अर्थ के प्रकाशक हैं । इन शब्दों के प्रतीयमान अर्थ क्या हैं यह शतपथ के अनुशीलन से विस्पष्टतया अवगत हो जाता है । प्रथम 'गौ' को लीजिए । गौ शब्द का मुख्य अर्थ तो खरक-कुत्सास्नादि से युक्त पशु विशेष ही है । तथा मीमांसा शास्त्र के नियमानुसार कर्मकाण्ड के अनुष्ठान में मुख्य अर्थ का ही ग्रहण किया जायेगा । परन्तु वह गौ वस्तुत: किन्ही विशेष परोक्ष अर्थों की प्रतीकभूत होती है । इन प्रतीयमान अर्थों की सूचना ब्राह्मकार ने बहुत दी है । यहां मैं कुछ प्रतीकार्थ बोधक ब्राह्मण वाक्य विद्वानों के परितोषार्थ उपस्थित कर रहा हूं ।

(१) नो ह्यृते गोर्यज्ञस्तायते । अन्नं ह्येवेयम् । यद्धि किञ्चनान्नं गौरेव तदिति । शत० २-२-४-१३

(२) प्राणो हि गौः । अन्नं हि गौः । शत० ४-३-४-२५

(३) वाचमेव तद् देवा धेनुमकुर्वत । तथैवैतद् यजमानो वाचमेव धेनुं कुरुते । श० ६-१-२-१७

(४) वाग् ह वा एतस्याग्निहोत्र स्याग्निहोत्री । मन एव वत्सः । तदिदं

मनश्च वाक् च समानमेव सन्नानेव । तस्मात् समान्या रज्वावत्सं च मातरं चाभिदधति । शत० ११-३-१-१

(५) वाचं धेनुमुपासीत। तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारः । तस्य द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च । हन्तकारं च मनुष्याः । स्वप्यकारं पितरः । तस्याः प्राणऋषभः मनो वत्सः ।। शत० बृह० ५-६-१

प्रस्तुत ब्राह्मण वचनों के अर्थ पूर्णतया असन्दिग्ध हैं। ब्राह्मण कार ने स्पष्टतया गौ को वाणी का प्रतीक प्रतिपादित किया है। इसलिए शतपथ के विदेशी अनुवादक जूलियस एगलिंग (julius Eggeling) को भी लिखना पड़ा—

Verily the Agnihotri cow is the speech of the Agnihotra and her calf is its mind. Now these two mind and her speech whilst being one and the same are as it were distinct from each other. Therefore they tie up the calf and its mother with one and the same rople.[13]

इस प्रसंग में सायण की टिप्पणी भी अतीव महत्त्वपूर्ण है । वे लिखते हैं—

तस्यैतस्याग्निहोत्राख्यस्य कर्मणः वागेवाग्निहोत्री धेनुः, मन एव तस्या वत्सः । गवि वाग् बुद्धिकार्या वत्से मनो बुद्धिः कायेत्यर्थः ।

शतपथभाष्य ६-१-२-१७

उपरिक्रुत विश्लेषण के शुभ्रालोक में हम निर्भ्रान्तमना होकर कह सकते हैं कि शतपथकार ने दर्शेष्टि याग में जिस गोदोहन कर्म का प्रत्यक्षीकरण कराया है वह विशेष भावों का प्रकाशक है । हमारे विचार में दर्शेष्टि याग में दुह्यमान गौ निश्चित रूप से वेदवाणी की प्रतीक है। अतएव तीन धेनुओं के दोहन का विधान किया गया है, जो तीनों वेदों की प्रत्यायिका है । जिनसे हम तीनों लोकों का ज्ञान प्राप्त करते हैं । इसलिये ब्राह्मणकार कहते हैं—

"तिस्रो दोग्धी । त्रयो वा इमे लोकाः । एभ्य एवैनदेतल्लोकेभ्यः सम्भरति ।"

शत० १-७-१-१७

महर्षि दयानन्द की प्रखर मेघा ने इस रहस्य को समझा अतः उन्होंने "कामधुक्षः"[१४] इस यजुः का अर्थ इस प्रकार प्रस्तुत किया "वेद की श्रेष्ठ वाणियों में से किस-किस वाणी के अभिप्राय को अपने 'मन में पूरण करना अर्थात् जानना चाहता है।"[१५] तथा अगले "सा विश्वायुः" इत्यादि चतुर्थ मन्त्र का व्याख्यान भी ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास, इन तीनों लोकों का ज्ञान कराने वाली अथवा इन तीनों लोकों में ज्ञातव्य वेदवाणीपरक किया है।

पर्णशाखा

पलाश को पर्ण भी कहते हैं। प्रकृत मन्त्र व्याख्यान के प्रसंग में ही शतपथ-कार ने पर्ण के वास्तविक अर्थ का प्रकाशन किया है। जो पर्ण शब्द के परोक्षार्थ के अवगमन में हमारी सहायता करता है। परन्तु जिस प्रकार पाणिनीय व्याकरण के अपेक्षित ज्ञान के विना "इ को गुणवृद्धी" इस व्याकरण सूत्र का कुछ भी अर्थ नहीं समझा जा सकता, इसी प्रकार जब तक हम ब्राह्मणकार की व्याख्यान परम्परा से अभिज्ञ नहीं तब तक ब्राह्मण के किसी एक व्याख्यान सन्दर्भ को समझना सुकर नहीं। इसलिए 'पर्ण' के वास्तव को प्रकाशित करने वाले इस व्याख्यान सन्दर्भ को समझने के लिए हमें कोई अन्य ब्राह्मण सन्दर्भों को भी समझना पड़ेगा। इस लघुकायलेख में उन सब प्रसंगों को उपस्थित करना सम्भव नहीं अतः कुछ संकेत मात्र ही यहां प्रस्तुत किये जा सकते हैं। पहले पर्ण व्याख्यान सन्दर्भ देखिये—

"स वै पर्णशाखया वत्सानपाकरोति। तद् यत् पर्णशाखया वत्सानपाकरोति। यत्र वै गायत्री सोममच्छापतत्, तदस्या आहरन्त्या अपादस्ताभ्यात्यपर्णं प्रचिच्छेद गायत्र्यै वा सोमस्य वा राज्ञः।" शत० १-७-१-१

इस कण्डिका का अनुशीलन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि. ब्राह्मणकार को यहां पर्ण शब्द का मुख्यार्थ अभिप्रेत नहीं है। अपितु यह पर्ण किन्हीं विशेष भावों का अभिव्यञ्जक, इस तथ्य का प्रतिपादन करना है। इसलिए पर्ण की उत्पत्ति के लिए इस अर्थवादपूर्ण कल्पना का आश्रय लेना पड़ा। शतपथ के अनुसार यह पर्ण कोई सामान्य वृक्ष नहीं अपितु गायत्री तथा सोम के अंश से उत्पन्न हुआ है। ब्राह्मणकार के ये शब्द गम्भीरता से चिन्तनीय हैं "तद् यदेवात्र सोमस्य न्यक्त तदिहाप्यसदिति तस्मात् पर्णशाखया वत्सानपाकरोति"[१६] अर्थात् पर्णशाखा से वत्सापकारण का प्रयोजन यह है कि इस दर्शेष्टि में भी सोम का अंश आ जाये। एर्कलिंग ने ब्राह्मणभाव का अनुगमन करते हुए अपने अनुवाद में ठीक ही लिखा है—"May that which then was the Soma nature be here with us now" अर्थात् सोम का जो स्वभाव वहां था वह यहां भी हमारे पास आ जाये।

पाठकों को इस तथ्य को सदैव स्मरण रखना पड़ेगा कि शतपथ. ब्राह्मण के तृतीय काण्ड में जहां सोम आनयन का वर्णन है वहां सुपर्णी गायत्री रूप धारण करके सोम को लाती है। तथा ब्राह्मण कार ने स्वयं वहां इस रहस्य का उद्घाटन कर दिया है कि सुपर्णी एक विशेष प्रकार की ज्ञानवती वाणी की प्रतीक है।[१७] और सोम सरस विद्याओं से आप्यायित प्रज्ञ स्नातक का प्रतीक है।[१८] तथा द्युलोक का परोक्षार्थ ज्ञान प्रकाश से प्रकाशित आचार्य कुल का नाम है।[१९] इसलिये गायत्री

एवं सोम के अंशोपादान से उत्पन्न पर्ण निश्चित रूप से विशिष्ट ज्ञान अथवा ज्ञानवान् का प्रतीक है। इस बात को हृदयङ्गम कराने के लिये ही संभवतः ब्राह्मणकार को बहुशः लिखना पड़ा—

(१) ते वै पालाशाः स्युः। ब्रह्म वै पलाशः। शत. १-३-३-१६

(२) स यदि पालाशः स्रुवो भवति। ब्रह्म वै पलाशः। शत. ५-२-५-८

(३) अथैता उत्तराः पालाश्यो भवन्ति। ब्रह्म वै पलाशः। ब्रह्मणैवैतत् समिन्द्धे। शत. ६-६-३-७

(४) पलाशशाखया व्युदूहति। ब्रह्म वै पलाशः। ब्रह्मणैवैतदवसितान् व्युदूहति मन्त्रेण। ब्रह्म वै मन्त्रः। शत. ७-१-१-५

(५) ब्रह्म वै पलाशः। ब्रह्मणैव स्वर्गं लोकं जयति। शत. १२-७-२-१५

इत्यादि शतपथ वचन निर्भ्रमतया विज्ञापित करते है कि पलाश या पर्ण निश्चित रूप से ज्ञान या ज्ञान से परिपूर्ण मन्त्र आदि का प्रतीकभूत है। इसलिये वैदिक वाङ्मय के पारदृश्वा महर्षि दयानन्द ने शतपथ व्याख्यान की भावना के अनुरूप 'त्वा' पद का अर्थ विज्ञानस्वरूप परमेश्वर करके अपनी सूक्ष्म तथा यथार्थ-दर्शिनी प्रज्ञा का दर्शन कराया है।

जैसा कि प्राक् लिखा जा चुका है कि दर्शेष्टि याग में गौवें वेदों की प्रतीक हैं तो उनके स्तनों से दुहा जाने वाला दूध भी निश्चित रूप से ज्ञान का प्रतीक होगा। यह कोई मानसिक कल्पना नहीं है अपितु तथ्य है। इसके लिये मैं शतपथ का एक प्रमाण उपस्थित करता हूँ जो पूर्वोक्त धारणा की पुष्टि करता है।

"पय आहुतयो ह वा एता देवानां यदृचः। स य एवं विद्वान्-ऋचोहरहः स्वाध्यायमधीते पय आहुतिभिरेव तद् देवांस्तर्पयति" शत. ११-५-६-४

वास्तविवता यह है कि जहां गौ अपने प्रत्यक्ष रूप से दूध प्रदान करके हमारे देह का सर्व विध पोषण करती है वहां वेदवाणी का प्रतीक बन कर ज्ञान रूपी दूध से हमारी अन्तरात्म का सर्वविध पोषण करती है। सदैव याद रखना चाहिये कि आत्मपोषण के बिना दैहिक पोषण सर्वथा निरर्थक है, इसलिये तत्त्ववेत्ता, ऋषियों ने स्पष्ट उद्घोषपूर्वक कहा—

परोक्षकामा हि देवाः। शत. श. ६-१-१-१

और हजारों वर्षों के पश्चात् पुनः ऋषि पद के भद्रासन पर विराजमान होने वाले देव दयानन्द ने भी लिखा—

(वयम्) अन्नज्ञानयोः प्राप्तये ज्ञानस्वरूपं परमेश्वरं सतमाश्रयामः॥

पादटिप्पणियां

१. द्र०, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका भाष्यकरण शङ्का समाधान विषयः,

२. 'भाष्यन्दिन शतपथ' भाष्य के प्रारम्भ में लिखित श्लोक ६-७-८

३. प्रमाणैर्निबद्धं शतपथ निरुक्तादिरिति।
४. द्र०, रामलाल कपूर ट्रस्ट का भारतभूषण संस्करण पृष्ठ ३२२, ३३१
५. The secret of the Veda, Page 39
६. The secret of the Veda, Page 13.
७. मन्त्रचोदनयोर्मन्त्रवलं प्रयोगित्वात् 'न समत्वात्' गुणानां भूयस्त्वात्। का० १-५-७-८-९
८. कात्यायन श्रौतसूत्र भाष्य १-५-९
९. तैत्तिरीय संहिताभाष्य १-५
१०. तथापि ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानत्वात् इत्यादि यजुर्वेदभाष्य भूमिका में
११. तान्येवास्य कपालानि मस्तिष्क एवं पिष्टानि शत. १.२-१-२,
१२. द्र०, महीधरकृत यजुर्वेदभाष्य १-१
१३. The secred books of east, Part. V. Edited by F. Mexmuller..
१४. यजु० १-३
१५. द्र०, भाषा पदार्थ
१६. शत० १-७-१-१
१७. वागेव सुपर्णी, शत. ३-६-२-२
१८. द्र०, शत० ३-६-२-९
१९. द्र०, दि विह वै सोम आसीत्। अथे ह देवाः। ते देवा अकामयन्ते आ नः सोमो गच्छेत इत्यादि शत. ३-६-२-२

ऋग्० ७.७७.२

शुभ्र वस्त्रों में लिपटी दिन और रात्रि की संचालिका
यह हिरण्यमयी उषा कदम बढ़ाते आ रही है ।

विश्वं प्रतीची सप्रथा उदस्थाद्रुशद्वासो बिभ्रती शुक्रमश्वैत ।
हिरण्यवर्णा सुदृशीकसन्दृग् गवां माता नेत्र्यह्नामरोचि ॥

वेद-मन्त्रों का तुलनात्मक अनुशीलन (महर्षि दयानन्द तथा अन्य भाष्यकार) महर्षि की वेदभाष्य शैली की विशेषतायें

श्री पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति

उषा-देवताक मन्त्र का तुलनात्मक अध्ययन

इस विषय में ऋग्वेद का १/११३/१२ का उषादेवता वाला निम्न मन्त्र में विशेष रूप से उल्लेखनीय है—

यावयद् द्वेषा ऋतपा ऋतेजा सुम्नावरी सूनृता ईरयन्ती।
सुमङ्गलीबिभ्रती देववीतिमिहाद्योषः श्रेष्ठतमा व्युच्छ ॥

इस मन्त्र में यावयद् द्वेषा, ऋतपाः ऋतेजा, सूनृता ईरयन्ती इत्यादि जो विशेषण हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि यह उषा जिसका इस तथा अन्य मन्त्रों में निर्देश हैं, द्वेष को दूर करने वाली, वेद तथा सत्य की रक्षा करने वाली, सत्य मधुर शब्दों को प्रेरित करने वाली विदुषी देवी है, न कि उषा नाम से साधारणतया प्रसिद्ध प्रभात वेला। तथापि श्री सायणाचार्यादि भाष्यकारों ने इसका निम्न प्रकार का अर्थ किया है, जिसमें इन विशेषणों का महत्त्व सर्वथा नष्ट हो जाता है। सायणाचार्य कृत अर्थ :—

(यावयद् द्वेषा) यावयन्ति अस्मतः पृथक् कृतानि देषांसि द्वेष्टृणि राक्षसादीनि यया सा तथोक्ता न ह्युषसि जातायां राक्षसादयोऽवतिष्ठन्ते, यतस्ते निशाचराः (ऋतपाः) ऋतस्य सत्यस्य यज्ञस्य वा पालयित्री, (ऋतेजाः) यज्ञार्थं प्रादुर्भूता, सत्यामुषसि अहनि यागा अनुष्ठीयन्ते अतो यज्ञार्थं जातेत्युच्यते। (सुम्नावरी) सुम्नमिति सुखनाम तद्वती, (सूनृताः) वाङ्नामैतत् पशुपक्षिमृगादीनां वचांसि

(ईरयन्ती) प्रेरयन्ती उत्पादयन्ती, (सुमङ्गलीः) सौमङ्गल्योपेता पत्या कदापि न वियुक्तेत्यर्थः। (देववीतिम्) देवैः काम्यमानं यज्ञं (बिभ्रती) धारयन्ती, हे उषा। (श्रेष्ठतमा) उक्तेन प्रकारेणाति प्रशस्ता त्वम् (इह) अस्मिन् देवयजनप्रदेशे (अद्य) अस्मिन् याग समये (व्युच्छ) विवासय।

विस्तार भय से विद्वान् पाठकों के लिए इसके भाषानुवाद की मैं आवश्यकता नहीं समझता। केवल इतना ही निर्देश करना पर्याप्त है कि उषा के वास्तविक अर्थ को न समझकर श्री सायणाचार्य ने उसके विशेषणों के अर्थों की कैसे तोड़मरोड़ की है। सब संस्कृतज्ञ इस बात को जानते होंगे कि युधातु के मिश्रण और अमिश्रण वा पृथक्करण ये दो अर्थ होते हैं। अतः 'यावयद्द्वेषा' का सीधा अर्थ द्वेषों को दूर करने वाली है, जो चेतन देवी ही हो सकती है। प्रभात वेला के लिए यह विशेषण असम्भव है, अतः श्री सायणाचार्य ने उसका द्वेष अर्थात् राक्षसों को हमसे दूर करने वाली, क्योंकि उषा के निकलने पर राक्षस लोग नहीं ठहर सकते, ऐसा विचित्र और खेंचातानी वाला अर्थ कर दिया है। उषा का जो विशेषण 'सूनृता ईरयन्ती' आया है, जिसका अर्थ सत्य मधुर उच्चारण करने वाली वाणी यह सुप्रसिद्ध और सर्वविदित है। उसका अर्थ पशु-पक्षी, मृग आदि की वाणी को उत्पन्न करने वाली ऐसा श्री सायणाचार्य ने कर दिया है। 'ऋतपाः' का अर्थ सत्य और वेद की रक्षा करने वाली यह सुप्रसिद्ध है, उसको उषाकाल पर लगाने का असंगत प्रयत्न किया गया है। 'सुमङ्गलीः' का अर्थ सौमङ्गल्य से युक्त, पति से कभी न वियुक्त होने वाली—यह किया गया है, किन्तु प्रभात वेला पर उसे चरितार्थ करने का प्रयत्न कितना उपहासास्पद है, इसको निष्पक्ष विचारशील पाठक स्वयं देख सकते हैं।—

—यद्यपि यहां श्री सायणाचार्य ने 'सूनृताः' का अर्थ केवल वाणी मान कर 'पशुपक्षि मृगादीनां वचांसि'—अर्थात् पशु-पक्षी-मृग आदि के शब्द—ऐसी व्याख्या कर दी हैं। किन्तु ऋ० ३/६२/२ की व्याख्या में स्वयं उन्होंने (सूनृताः) का अर्थ प्रिय सत्यरूपा वाचः (ईरयन्ती) उच्चारयन्ती—यह करते हुए इसी मन्त्र का प्रतीक दिया है। यथा—'तथा च मन्त्रवर्णः—'सुम्नावरी सूनृता ईरयन्ती' (ऋ० १/१३/१२)। ऐसी अवस्था में इस 'सत्य और मधुर वचनों का उच्चारण करने वाली' विशेषण को प्रभात वेला पर लगाना कितना असंगत है?

किन्तु इस असंगत अर्थ को करने में सायणाचार्य अकेले नहीं हैं। उनसे पूर्ववर्ती स्कन्द स्वामी और वेंकटमाधव आदि ने भी लगभग वैसा ही अर्थ किया है।

इस मन्त्र का भाष्य करते हुए स्कन्द स्वामी ने मुख्य-मुख्य शब्दों का अर्थ इस प्रकार दिया है—

(ऋतपाः) यज्ञस्य—यज्ञो ह्य षस्युदितायां क्रियते न रात्रौ अतस्तस्य पालयित्रात्युच्यते । (ऋतेजाः) ऋतशब्दोऽत्रादित्यवचनः । पञ्च-म्याश्च स्थाने सप्तमी । आदित्याज्जनित्रा । (सूनृता ईरयन्ती) उदयोत्तरकालं हि प्राणिनां वाचः प्रवर्त्तन्ते, अतः सैव ताः प्रर-यन्तीतिव्यपदिश्यते ।

यहां स्कन्द स्वामी ने भी उषा के 'सूनृता ईरयन्ती' की वही व्याख्या करके सन्तोष कर लिया है कि प्राणियों की वाणी को प्रवृत्त करने वाली उसे इसलिए कहा जाता है, क्योंकि उषा के उदित होने के पश्चात् ही वाणियां प्रवृत होती हैं। 'ऋतेजाः' इस शब्द में ऋत का अर्थ सूर्य करके, जिसके लिये उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया, और सप्तमी को पञ्चमी वाचक मानकर सूर्य उत्पन्न होने वाली यह अर्थ कर दिया है। जबकि उसका सीधा अर्थ सत्य में उत्पन्न वा उसके कारण प्रसिद्ध होता है। वेंकट माधव ने इस मन्त्र का अर्थ तो किया है—

(यावयद्द्वेषा) पृथक्क्रियमाणशत्रुका सत्यस्य पालयित्री सत्ये जाता सुखवती वाचः प्रेरयन्ती शोभनमंगला यज्ञ धारयन्ती श्रेष्ठतमा इह अद्य उषः व्युच्छ ।

यहां 'यावयद् द्वेषा का' अर्थ पृथक् क्रियमाणशत्रुका अर्थात् शत्रुओं को जिससे पृथक् कर दिया गया है, ऐसा किया है, जिसका प्रभात वेला से सम्बन्ध सर्वथा अस्पष्ट है। सूनृता का अर्थ 'वाचः' करके उन वाणियों को प्रेरित करती हुई सत्य का पालन करने वाली उषा, ऐसा किया गया है। क्या प्रभात वेला पर ये विशेषण चरितार्थ हो सकते हैं? अब महर्षि दयानन्दकृत अर्थ को देखिये—

हे (उषः) उषर्वद वर्तमाने विदुषि! (यावयद्, द्वेषा) यावयन्ति दूरी कुर्वन्ति अप्रिय कर्माणि यया सा (ऋतपा) सत्यपालिका (ऋतेजः) सत्ये प्रादुर्भूता (सुम्नावरी) प्रशस्तानि सुखानि विद्यन्ते यस्यां सा (सुमंगलीः) शोभनानि मंगलानि यासु ताः (सूनृताः) वेदादि सत्यशास्त्र सिद्धान्त वाचः (ईरयन्ती) सद्यः प्रेरयन्ती (श्रेष्ठतमा) अतिशयेन प्रशंसिता (देववीतिम्) विदूषां विशिष्टां नीतिम् (विभ्रती) त्वम् इह अद्य (व्युच्छ) दुःखं विवासय ।

सरल होने के कारण इस सारे का भाषानुवाद अनावश्यक है। इतना ही लिखना पर्याप्त है कि महर्षि दयानन्द ने यहां उषा से केवल प्रभात वेला का अर्थ न लेकर उषा की तरह व्यवहार करने वाली विदुषी स्त्री यह अर्थ लिया है और उस पर

यावयद द्वेषा, ऋतपा, ऋतेजा, सूनृता ईरयन्तीं इत्यादि विशेषणों को घटाया है, जिनकी सीधी संगति विना किसी क्लिष्ट कल्पना या खेंचातानी के लग जाती हैं। विदुषी स्त्री की सहायता से सब अप्रिय कर्मों को दूर किया जाता है, वह सत्य की रक्षा करने वाली, सत्य से प्रादुर्भूत, सुखदायिका, उत्तम मंगलयुक्त वेदादि सत्यशास्त्रों के सिद्धान्तों की प्रतिपादिका प्रियवाणियों को प्रेरित करने वाली होती है। इसके भावार्थ में महर्षि ने लिखा है—

> अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः—यथा उषास्तमोनिवार्य प्रकाशं प्रादुर्भाव्य धार्मिकान् सुखयित्वा चौरादीन् पीडयित्वा सर्वान् प्राणिन् आह्लादयति तथैव विद्याप्रकाशवत्यः शमादिगुणान्विता विदुष्यः सत्—स्त्रियः स्वपतिभ्योऽपत्यानि कृत्वा सुशिक्षयाऽविद्यान्धकारं निवार्य विद्यार्कं प्रापय्य कुलं सुभूषयेयुः ॥

अर्थात्—जैसे उषा अन्धकार को हटाकर प्रकाश को प्रादुर्भूत करके धार्मिकों को सुखी और चौरादि को पीड़ित करके सब प्राणियों को आह्लादित करती है, वैसे ही विद्या धर्म के प्रकाश वाली शान्ति आदि गुणों से युक्त विदुषी स्त्रियां अपने पतियों को सन्तान देकर उत्तम शिक्षा से अविद्यान्धकार को हटाकर, विद्यारूपी सूर्य को प्राप्त कराकर अपने कुल को सुभूषित करें।

अब विचारशील निष्पक्ष पाठक महोदय देखें कि इस विदुषी स्त्रीपरक अर्थ में मन्त्रोक्त विशेषणों की अच्छी सङ्गति बिना किसी खेंचातानी के लग जाती है या केवल प्रभात वेला के पक्ष में! यहां यह बात भी उल्लेखनीय है कि प्राकृतिक उषा की इस अर्थ में सर्वथा उपेक्षा नहीं की गई, किन्तु उसकी उपमा से स्त्रीपरक उत्तम कर्त्तव्य का प्रतिपादन किया गया है।

वर्तमान युग के भाष्यकारों में से महर्षि दयानन्द की वेद भाष्य शैली के प्रबल समर्थक दिवंगत सुप्रसिद्ध योगी श्री अरविन्द जी के शिष्य श्री कपाली शास्त्री जी ने ऋग्वेद के प्रथम अष्टक का संस्कृत में जो भाष्य किया है, उसमें उषा के केवल प्राकृतिक प्रभात वेला होने का निराकरण करते हुए उसका 'चित्प्रभातोदयज्योतिः'—अर्थात् चित्त में ज्ञान के प्रकाश की प्रभात वेला अथवा श्री अरविन्द के अपने शब्दों में (Divine Dawn of illumination) ऐसा आध्यात्मिक अर्थ किया है। 'यावयद्द्वेषा ऋतपा ऋतेजाः' इस मन्त्र का भाष्य श्री कपाली शास्त्री जी ने इन शब्दों में किया है:—

> (यावयद्द्वेषा) यावयन्ति पृथक्कृतानि द्वेषांसि द्वेष्टणि रक्षः प्रभृतानि यया सा (आतपाः) ऋतस्य ज्योतिषः पालयित्री (ऋतेजाः) ऋते प्राप्तव्ये निमित्तभूते जायते प्रादुर्भूता (सुम्नावरी) सुम्नं सुखं तद्वती

(सूनृता ईरयन्ती) शोभनसत्यावाचः प्रेरयन्ती वादयित्री सूनृता-नाम्—(सुमङ्गलीः) सौमङ्गल्योपेता अत्यन्तं सौभाग्यं विवक्षितम् (देववातम्) देवानां वीतिम्—आगतिं प्रादुर्भूतिमित्यर्थः तां (विभ्रता) वहन्ती, हे उषः (श्रेष्ठतमा) अतिप्रशस्या त्वम् (इह) अत्र मयि—(अद्य) इदानीं (व्युच्छ) व्युष्य भव।

उषा :—चितप्रभातोदयज्योतिः। आध्यात्मिक दृष्टि से उषा की यह व्याख्या सायणाचार्यादि की प्राकृतिक प्रभात वेलापरक व्याख्या से अधिक अच्छी है इसमें सन्देह नहीं, तथापि अनेक स्थानों पर इससे भी काम नहीं चल सकता। यहां विशेषणादिबल से उषा की तरह ज्ञान का प्रकाश करने वाली विदुषी स्त्री के ज्ञान से ही मन्त्रार्थ की संगति ठीक लगती है। विस्तारभय से मैं उषा-विषयक इस प्रकरण को अभी यहीं समाप्त करता हूं। इस प्रकार मन्त्रार्थ के तुलनात्मक अनुशीलन से महर्षि दयानन्द की वेद भाष्य शैली का महत्त्व निष्पक्ष पाठकों के हृदय पटल पर अवश्य अङ्कित होगा; यह मेरा दृढ़ विश्वास है।

उत्तम राजनीतिपरक मन्त्रों को मध्यकालीन भाष्यकारों द्वारा अश्लील व्याख्या :—

अब मैं प्रसंगवश उन दो वेदमन्त्रों का तुलनात्मक दृष्टि से अनुशीलन विद्वान पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहता हूं, जिनकी मध्यकालीन प्रायः सभी भाष्यकारों ने अत्यन्त अश्लील व्याख्या करके वेदों को सुशिक्षित लोगों की दृष्टि में कलंकित कर दिया है, किन्तु वस्तुतः जिनमें राजनीति और स्त्रियों के अधिकार के अत्युत्तम तत्त्वों का प्रतिपादन है। जिन्हें महर्षि दयानन्द ने जगत् के सम्मुख रख कर महान् उपकार किया। इसमें केवल सायणाचार्य ही नहीं, स्कन्द स्वामी, वेंकटमाधव, दुर्गाचार्य, विलसन, ग्रिफिथ, श्री रामगोविन्द त्रिवेदी आदि मध्यकालीन और अर्वाचीन भाष्यकार तथा अनुवादक सब ऐसे अश्लील अर्थ करने में एक ओर हैं और महर्षि दयानन्द दूसरी ओर। दोनों प्रकार के अर्थों का दिग्दर्शन कराने के पश्चात् मैं यह निर्णय निष्पक्ष विचारशील विद्वानों पर छोड़ दूंगा कि वे किस अर्थ को उपादेय समझते हैं। सायणाचार्यकृत अर्थ का निर्देश करने से पूर्व उन से पूर्ववर्ती स्कन्दस्वामी और वेंकटमाधव के भाष्यों का उल्लेख कर देना उचित होगा, यद्यपि यह एक अप्रिय प्रसंग हो गया है। प्रथम मन्त्र जिस का मैं उल्लेख करना चाहता हूं वह निम्न है—

कशीकेव जङ्गहे।

> **आगधिता परिगधिता या कशीकेव जङ्गहे।**
> **ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भोज्या शता॥** ऋ० १/१२६/६

इस का स्कन्द स्वामी ने निम्न रीति से भाष्य किया है —'स भावयव्यः स्वनयः स्वया भायया रोमशया संभुक्ष्व माम् इत्युक्तस्ताम् अनया ऋचा प्रत्याह—

(आगधिता) आगृहीता आमिश्रिता अवयवैर्गाढं परिष्वक्ता सतीत्यर्थः (परिगधिता) सर्वतोऽन्तर्बहिश्च मिश्रिता आलिंगनचुम्बनपुरस्सरं प्रक्षिप्तप्रजनना सानुरागाय संभोगाय परिगृहीता च सतीत्यर्थः। दिवेकशान् इति हि श्रूयते सहि नकुलप्रकारः। पूतिकेशी कशीकेव सा यथा पूतिकेशी संभोगकाले गृह्णीयात तद्वत् (यादुरी) यादुरित्युदकनाम रोमत्वर्थे रेतोलक्षणेनोदकेन तद्वती, प्रभूतं रेतः क्षरन्ती आविर्भूतस्नेहरसेत्यर्थः। (याशूनाम्) याशुशब्दः संभोगे संभोगानां शतानि च ददाति सा भोज्या सा भोगार्हा सम्भोगयोग्या त्वम् अत्यन्तबालत्वान्न तावदेवं रूपेत्यर्थः। (स्कन्दस्वामिकृते निरूक्त भाष्ये डा० लक्षमणस्वरूप सम्पादिते, (पृ० ३४६)

अत्यन्त अश्लील होने के कारण इस का अनुवाद देना भी ठीक प्रतीत नहीं होता। संस्कृतज्ञ तो उपर्युक्त भाष्य का अर्थ समझ ही जाएंगे। अन्यों के लिए उसका संक्षिप्त भाव सायणाचार्य और वेंकटमाधव का भाष्य उद्धृत करने के पश्चात् लिख दिया जाएगा।

सायणाचार्य-भाष्य—

संभोगाय प्रार्थितो भावयव्यः स्वभार्यां रोमशाम् अप्रौढेति बुद्धया-परिहसन्नाह (भोज्या) भोगयोग्यैषा (आगधिता) आसमन्तात् गृहीता स्वीकृता तथा (परिगधिता) परितो ग्रहीता। आदरातिशयाय पुनर्वचनम्। गध्यं गृह्णातेरिति यास्कः। यद्वा (आगधिता) आ समन्तान्मिश्रयन्ती आन्तरं प्रजनेनन बाह्यं भुजादिभिरित्यर्थः। गध्यति र्मिश्रीभावकर्मेति यास्कः। पूर्वस्मिन् पक्षे पुरुषस्यन् प्राधान्यम्, उत्तरस्मिंस्तु योषित इति भेदः। कीदृशीं सा (यां) (जंगहे) अत्यर्थं ग्रह्णाति कदाचिदपि न विमुञ्चति, अत्यागे दृष्टान्तः (कशीकेव) कशीका नाम सूतवत्सा नकुली सा यथापत्या सह चिरकालं क्रीडति न कदाचिदपि विमुञ्चति तथैषापि। किं च भोज्यैषा (यादुरी) यादुरित्युदकनाम। रेतोलक्षणमुदकं प्रभूतं राति ददातिति यादुरो, बहुरेतोयुक्तेत्यर्थः। तादृशी सती (याशूनाम्) संभोगानाम् यश इति प्रजनननाम तत्सम्बन्धीनि कर्माणि याशूनि भोगाः तेषां (शता) शतानि असंख्यातानि (मह्यम्) ददाति।

(सायणकृत ऋग्वेद भाष्य तिलक संस्थान प्रका० पृ० ८००)

इसका अनुवाद श्री रामगोविन्द त्रिपाठी वेदान्त शास्त्री ने निम्न शब्दों में

किया है—

'यह सम्भोगयोग्या रमणी (लोमशा) अच्छी प्रकार आलिंगित होकर सूतवत्सा नकुली की तरह चिरकाल तक रमण करती है। बहुरेतोयुक्ता होकर रमणी मुझे (स्वनय राजा को) बहुवार भोग प्रदान करती है।'

इस अनुवाद में सायण की इस भूमिका का अनुवाद नहीं दिया गया कि संभोग के लिए प्रार्थित भावयव्य राजा अपनी पत्नी रोमशा को अप्रौढ़ा (अप्राप्त रजोधर्मा) समझ कर परिहासपूर्वक कहता है।

एक ओर तो सायणाचार्य ऋगवेद भाष्य भूमिका में वेदों को अपौरुषेय मान कर मीमांसा के 'श्रुतिसामान्यम्' इत्यादि सूत्रों के अनुसार उनमें अनित्य इतिहास का खण्डन करते हैं और दूसरी ओर वे मन्त्रों का उपर्युक्त प्रकार का अश्लील अर्थ करते हुए नहीं सकुचाते, क्या यह आश्चर्य की बात नहीं ? क्या ऐसा वदतोव्याघात दोषयुक्त अर्थ विद्वानों के लिए मान्य हो सकता है ? क्या इस प्रकार के अपनी पत्नी के प्रति असंगत उपहासपूर्वक कथित वचनों से वेद का गौरव प्रतिष्ठित होता है ? यह सर्वसम्मत बात है कि वेद 'तमस्मेरा युवतयो युवानम्' उप मामुश्चायुवतिर्षभूयाः (ऋ० १०/१८३) इत्यादि के द्वारा युवा और युवति के स्वयंवर विवाह का विधान करते हैं, फिर यह कहना कि पति को यह ज्ञात भी नहीं कि उसकी स्त्री ऋतुमती हो चुकी या नहीं और उसके साथ उपरिनिर्दिष्ट रूप से भद्दी मखौल करना कितना अनुचित है ?

यही बात श्रीस्कन्दस्वामी कृत अर्थ के विषय में लागू होती है। एक ओर तो स्कन्द स्वामी अपनी निरुक्त २/१२ की टीका में लिखते हैं—एमवाख्यान-स्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कार्या। एष शास्त्रे सिद्धान्तः······

औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वाख्यान समयः परमार्थेन तु नित्यपक्ष इति सिद्धम।
(निरुक्त टीका, पृ० ७८)

अर्थात्—आख्यायिका के रूप में जो मन्त्र हैं, उनकी यजमान और नित्य पदार्थों में योजना करनी चाहिए, यही शास्त्रों का सिद्धान्त है। यह मन्त्रों में आख्यान कथादि का प्रतिपादन औपचारिक व गौण है। वास्तव में तो नित्यपक्ष ही ठीक है, यह सर्वथा सिद्ध बात है।

दूसरी ओर वही वेदमन्त्रों के इस प्रकार अनित्य इतिहासपरक अश्लीलता-सूचक अर्थ बताते हैं, यह बात परस्परविरुद्ध होने के कारण भी अमान्य हो जाती है।।

मन्त्र का दुर्गाचार्यकृत भाष्य—

मैथुनसम्बन्धाच्छष्दसाम्याञ्च गव्यतिर्मिश्री-भावकर्मा इत्युपपद्यते ।

(परिगधिता) परिमिश्रीकृता बाहुभ्यां मया परिष्वक्तेत्यर्थः । (कशीकेव) सा हि नकुल-जाति-सा यथा मदकाले प्रतिकशमतितरां परिष्वजाति स हि तस्याः परिष्व्रजनस्वभावः। एवं या माम् परिगृह्णाति बाहुभ्यां परिगृह्य च ददाति (यादुरी) आदरवती अथवा यादसा रेतः सेकेन तद्वती। यादः इत्युदकनामसु (नि. १/१२) पठितम् (य.शूनां शता) मैथुनाख्यानां शतानि वहुश इत्यर्थं (भोज्यैषा) यैवंप्रकारा सा मम भोज्या पत्नीत्यभिप्रायः ।।

इसका भाषानुवाद देने की आवश्यकता नहीं। यह भाष्य सायणभाष्य के ही समान है, जिसका संक्षिप्त अनुवाद ऊपर दिया जा चुका है।

स्कन्दस्वामी, सायणाचार्य और दुर्गाचार्य तीनों ने लिखा है कि यादः का अर्थ निघण्टु १/१२ के अनुसार जल होता है। उसको वीर्य के अर्थ में ले लेना भी खेंचातानी है।

वेंकटमाधव का भाष्य—

इस मन्त्र की व्याख्या वेंकटमाधव ने निम्न श्लोकों में की है—

प्रादात्सुतां रोमशां नाम नाम्ना, बृहस्पतिर्भावयव्याय राज्ञे।
ततस्तमर्थं हरिवान् विदित्वा, प्रियं सखायं स्वनयं दिदृक्षुः ।।
अभ्याजगामाथ शचीसहायः, प्रीत्यार्चयत् तं विधिनैव राजा।
अभ्याजगामाङ्गिरसी च तन्न, दृष्ट्वा तयोः सा चरणौ ववन्दे ।।
इन्द्रः सखित्वादथ तामुवाच, रोमापि ते सन्ति न सन्ति राज्ञि।
सा बालभावादथ तं जगाद, उपोप मे शक्रपरामृशेति ।।

यहां ऊपर जो श्लोक उद्धृत किए गए हैं, उनमें वेंकटमाधव ने एक और ही विचित्र और अश्लील कथा इन मंत्रों के सम्बन्ध में दी है कि बृहस्पति ने अपनी पुत्री रोमशा भावयव्य राजा को विवाह में दी। जब इन्द्र को यह ज्ञात हुआ तो अपनी पत्नी के साथ मित्र भावयव्य को मिलने के लिए आया। राजा ने प्रेमपूर्वक उसका आदर-सत्कार किया। आङ्गिरसी रोमशा ने भी इन्द्र और उसकी पत्नी का प्रसन्नतापूर्वक चरणस्पर्श किया। तब इंद्र ने मित्रभाव से रोमशा से पूछा कि रानी, तेरे बाल हैं या नहीं। उसने बालभाव से यह कहा कि शक्र, 'उपोप में परामृश'—हे इन्द्र ! तू समीप से इनका स्पर्श कर। यह कथा, जो नितान्त अश्लील और इन्द्र और रोमशा दोनों की आचारभ्रष्टता की सूचक हैं देकर वेंकटमाधव ने 'आगधिता परिगधिता' इस मन्त्र का अर्थ प्रायः स्कन्द स्वामी, सायण, दुर्गाचार्य आदि के समान किया है। केवल 'यादुरी' का अर्थ उनके अर्थों से भिन्न 'अभिक्रमणवती' यह किया। जिसका भाव उसने

अधिक स्पष्ट नहीं किया। इसके पश्चात् उसने यह भी लिख दिया कि जब इसे भावयव्य और रोमशा पति-पत्नी का संवाद माना जाए तो जो प्राप्तयौवना पुरुष का आलिंगन करे, वही पुत्रोत्पादन में योग्य होती है, यह अभिप्राय है।

ग्रिफिथ ने ऋग्वेद के अंग्रेजी अनुवाद में इस तथा अगले मन्त्र को अत्यन्त अश्लील मानकर इसका अंग्रेजी अनुवाद नहीं किया। परिशिष्ट में लैटिन अनुवाद दे कर लिखा है कि—

They look like a fragment of a Liberal shepherd's love-song. Hymns of the Rigveda Vol., P. 649.

अर्थात्—ये मन्त्र किसी उदार गड़रिये के प्रेम संगीत के खण्ड से प्रतीत होते हैं।

अब अन्य भाष्यकारों की वेदमन्त्र के साथ की गई इस खिलवाड़ को देखने के पश्चात् महर्षि दयानन्द-कृत मन्त्रार्थ को देखिये, जो निम्न है—

> कः काऽत्र राज्येऽवश्यं प्राप्तव्येत्यत्राह-या (आगधिता) समन्ताद् गृहीता। गध्यं गृह्णातेः नि० ५/१५ (परिगधिता) परितः सर्वतः गधिता शुभगुणैर्युक्ता नीतिः, गध्यतिर्मिश्रीभावकर्मा। निरू० ५/१५। (जंगहे) अत्यतं ग्रहीतव्येति (कशीका इव) यथा ताडनार्थं कशीका (याशूनां) प्रयतमानानाम्। अत्र यसुप्रयत्ने धातोर्बाहुलकादुण प्रत्ययः सस्यशश्च (यादुरी) प्रयत्नशीला (शता) शतानि असंख्यातानि वसूनि (भोज्या) भोक्तुं योग्यानि (मह्यम्) (ददाति) सा सर्वैः स्वीकार्या।

भावार्थ :—अत्रोपमालंकारः—या नीत्याऽसंख्या तानि सुखानि स्युः, सा सर्वैः सम्पादनीया।

जिस नीति से अगणित सुख हों, वह सबको सिद्ध करनी चाहिए।

इस प्रकार विचारशील पाठक देखेंगे कि महर्षि दयानन्द ने भावयव्य नामक किसी राजा की अपनी अल्पायुष्का पत्नी रोमशा के सम्भोग की प्रार्थना पर उसके उपहास के रूप में कथित अश्लील उक्ति के रूप में मन्त्र को न लगा कर (जैसे कि स्कन्दस्वामी, सायण, दुर्गाचार्य तथा वेंकटमाधव आदि मध्यकालीन भाष्यकारों ने किया) इसे नीति के विषय में लगाया है। जिस शुभगुणयुक्त नीति को भली-भांति चारों ओर से ग्रहण किया जाए तो वह असंख्य सुखों को देने वाली होती है। जिस प्रकार चाबुक से घोड़े इत्यादि को वश में किया जाता है, उसी प्रकार इस उत्तम नीति से दुष्टों को वश में किया जा सकता है। इस उपमा का यहाँ प्रयोग किया गया है। वह नीति न केवल शुभगुणयुक्त होनी चाहिए, अपितु प्रयत्नशीला भी होना चाहिए। इसलिए उसके विशेषण के रूप

में 'यादुरी' शब्द का प्रयोग किया गया है, जो 'यती प्रयत्ने' से बना हुआ है।

कहां महर्षि दयानन्दकृत उत्तम नीतिविषयक यह मन्त्रार्थ और कहां स्कन्दस्वामी, सायण, दुर्गाचार्य, वेंकटमाधवादि कृत अश्लील उपहासजनक अर्थ। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से भाष्य की विशेषता स्पष्टतया ज्ञात होती है।

अग्निदेवता के कुछ मन्त्रों पर विचार

वेदों में अग्नि देवता वाले मन्त्रों की संख्या बहुत अधिक है। सायणाचार्य, उवट महीधरादि प्रायः सभी मध्यकालीन भाष्यकारों ने अग्नि का अर्थ भौतिक अग्नि लेकर उसकी व्याख्या का यत्न किया है जो व्याख्या अनेक स्थानों पर नितन्त असङ्गत और उपहासजनक हो गई है। क्योंकि अग्नि के लिए अनेक स्थानों पर जो जातवेदाः, विप्रः, सुमेधाः, कविः, कवितमः, विप्रः, विश्वानि, वयुनानि विद्वान्, विश्वा काव्यानि विद्वान्, प्रचेताः चिकित्वान् अमृतः, इत्यादि का प्रयोग पाया जाता है उसके साथ इस भौतिक अग्नि परक अर्थ की सङ्गति नहीं जुड़ सकती। उदाहरणार्थ निम्नलिखित मन्त्रों को देखिये जिनमें अग्नि को सम्बोधन करते हुए कहा है कि—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो,भूयिष्ठां
ते नम उक्तिं विधेम॥

॥ ऋ० १। १८९।१, य. ४०। १८॥

यहाँ अग्नि के विशेषण के रूप में 'विश्वानि वयुनानि विद्वान्' ऐसा कहा गया है, जिसका अर्थ सब ज्ञानों और कर्मों को जानने वाला, यह सर्वसम्मत है। उस अग्नि को सम्बोधन करते हुए मन्त्र में कहा गया है कि हे अग्ने! तू हमें समस्त ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए उत्तम धर्म मार्ग से चला। क्योंकि तू सारे ज्ञानों और कर्मों को जानने वाला है, इसलिए हम से सारे कुटिलतायुक्त पाप को दूर कर दे। हम तेरी नमस्कार युक्त स्तुति बार-बार करते हैं। सायणाचार्य भी इस मन्त्र के भाष्य में "विश्वानि वयुनानि विद्वान्" का अर्थ सर्वाणि प्रज्ञानानि अनेन एतदनुष्ठितम् इदं प्रायणीयमिति यदेतत् ज्ञानमस्ति तद् विद्वान्, यतः विद्वान् अतस्त्वम् अस्मान् शोभनेन मार्गेण गन्तव्याय स्वर्गादिधनाय नय।"

यहां अग्नि की सर्वज्ञता का स्पष्ट प्रतिपादन है और उसी सर्वज्ञ अग्नि से धर्म मार्ग पर चलने की और कुटिलतायुक्त पाप से दूर रखने की प्रार्थना है।

क्या यह बात भौतिक अग्नि के विषय में संगत हो सकती है ? इस पर विद्वान् स्वयं निष्पक्षपात दृष्टि से विचार करें। उवट और महीधर आदि ने यजुर्वेद ५/३६ के भाष्य में इसे अग्निपरक ही मानकर अर्थ किया है, किन्तु श्री मध्वाचार्य स्वामी आनन्दतीर्थ ने अपने ऋग्वेदभाष्य और ईशोपनिषद्भाष्य में अग्नि की ईश्वर वाचकता को स्वीकार करते और ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के अग्नि-देवताक सूक्तों को परमेश्वरपरक व्याख्या करते हुए ऋग्भाष्य के प्रारम्भ में ही लिखा है—

यथैवाग्न्यादयः शब्दाः, प्रवर्तन्ते जनार्दने ।
तथा निरुक्ति वक्ष्यामो ज्ञानिनां ज्ञानसिद्धये ॥

अर्थात् जिस प्रकार अग्नि इन्द्र आदि शब्द विष्णु (परमात्मा) का प्रतिपादन करते हैं, वैसी निरुक्ति हम ज्ञानियों के ज्ञान सिद्धि के लिये करेंगे।

महर्षि दयानन्द ने अग्नि के लिए प्रयुक्त उपर्युक्त विशेषण को ध्यान में रखते हुए 'अग्ने नय सुपथा' इत्यादि मन्त्रों में उसकी ज्ञानस्वरूप, अग्रणी अथवा सर्वोत्तम नेता ईश्वर परक व्याख्या की है और निरुक्त, ब्राह्मण ग्रन्थ, मनुस्मृति आदि के अनेक स्पष्ट प्रमाण इसके लिये दिये हैं।"[1]

१. संस्कार-विधि में महर्षि दयानन्द जी ने इस मन्त्र का जो भाषानुवाद दिया है विस्तार भय से मैं यहाँ उसी को उद्धृत करना पर्याप्त समझता हूँ, ताकि संस्कृत भाष्य का अनुवाद न करना पड़े—"हे (अग्ने) स्वप्रकाश ज्ञानस्वरूप सब जगत् के प्रकाश करने हारे (देव), सकल सुखदाता परमेश्वर, आप जिससे (विद्वान्) संपूर्ण विद्यायुक्त हैं कृपा करके (अस्मान्) हम लोगों को (राये) विज्ञान वा राज्यादि ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये (सुपथा) अच्छे धर्मयुक्त आप्त लोगों के मार्ग से (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) प्रज्ञान और उत्तम कर्म (नय) प्राप्त कराइये और (अस्मत्) हमसे (जुहराणम्) कुटिलतायुक्त (एनः) पापरूप कर्म को (युयोधि) दूर कीजिये, इस कारण हम लोग (ते) आपकी (भूयिष्ठाम्) बहुत प्रकार की स्तुतिरूप (तमः उक्तिम्) नम्रतापूर्वक प्रशंसा (विधेम) सदा किया करें और सर्वदा आनन्द में रहें॥"

इसी प्रकार ऋ० ६/१५/१० में मन्त्र आता है।

तं सुप्रतीकं सुदृशं स्वञ्चमविद्वांसो विदुष्टरं सपेम।
स यक्षद् विश्वा वयुनानि विद्वान् प्र हव्यमग्निरमृतेषु बोचत् ॥

यहाँ भी अग्नि के लिए 'विश्वा वयुनानि विद्वान्' इस विशेषण का प्रयोग

किया गया है जिसका अर्थ सर्वज्ञ है। उस अग्नि को सम्बोधन करते हुए कहा गया है कि हम (अविद्वांसः) अविद्वान् होते हुए (विदुष्टरं सपेम) सबसे अधिक ज्ञान वाले की परिचर्या वा पूजा करते हैं।

श्री सायणाचार्य इस मन्त्र का भाष्य करते हुए लिखते हैं:—

"(अविद्वांसः) वैदुष्यरहिता अल्पमतयो वयम् (विदूषाम्)। विदुत्तरं सर्वज्ञं तम् अग्निम् (सपेम) परिचरेम···(विश्वा) सर्वाणि (वयुनानि) प्रज्ञानानि ज्ञाननामैतत्, इह तु ज्ञातव्ये वर्तते ज्ञातव्यान्यर्थजातानि (विद्वान्) जानन्, अग्नि: मरणरहितेषु देवेषु कस्मदीयं हविः प्रब्रवीतु॥"

यहाँ सायणाचार्य ने, हम अल्पबुद्धि अविद्वान् सर्वज्ञ अग्नि की पूजा करते है, वह अग्नि सब पदार्थों के ठीक-ठीक स्वरूप को जानने वाला है, ऐसी अग्निपरक उपहासजनक असङ्गत व्याख्या करके वेदों को विचारशील विद्वानों की दृष्टि में उपहास का पात्र बना दिया है। जब कि महर्षि दयानन्द ने अग्नि के विदुष्टरम्-विश्वा वयुनानि विद्वान् आदि विशेषणों तथा उनकी अञ्चु गतिपूजनयो:—अग्निः कस्मात् अग्रणीर्भवति इत्यादि निरुक्ति को ध्यान में रखते हुए सर्वज्ञ ईश्वर परक व्याख्या की है—"यथा (अविद्वांसः) (विदुष्टरम्) अतिशयितमीश्वरम् (सपेम) आक्रुश्येम्। (विश्वा) सर्वाणि (वयुनानि) प्रज्ञानानि (विद्वान्) आविर्विधः (प्र) (हव्यम्) दातुमर्हं विज्ञानम् (अग्निः) अग्निरिव प्रकाशमानः (अमृतेषु) नाशरहितेषु जीवेषु (वोचत्) वक्ति।" भावार्थ में महर्षि दयानन्द ने लिखा—

'ये परमात्मानं नो जानन्ति तदाज्ञानुकूलं च नाचरन्ति, तान् धिग्-धिग् ये च तमुपासते ते धन्याः। योऽस्मान् वेदद्वारा सर्वाणि विज्ञानान्युपदिशति तमेव वयं सर्वे उपासीमहि॥'

अर्थात् हम अविद्वान् उस सर्वज्ञ भगवान् की पूजा करते हैं जो सब कुछ जानने वाला अमर जीवों को ज्ञान का उपदेश करता है। जो परमात्मा को नहीं जानते और उसकी आज्ञा के अनुकुल आचरण नहीं करते, उनको धिक्कार और जो उसकी उपासना करते हैं, वही धन्य हैं, जो परमेश्वर वेद द्वारा सारे विज्ञान का हमें उपदेश करता है, हम सब उसी की उपासना करते हैं। अब विचारशील विद्वान् पाठक देखें कि इन दोनों अर्थों में से कौन-सा अर्थ अग्नि के लिए प्रयुक्त विशेषणादि को देखते हुए संगत और स्वीकरणीय है।

ऋग्वेद २/७/७ के निम्न हैं :—

अन्तर्ह्यग्न ईयसे विद्वान् जन्मोभया कवे।
दूतो जन्येव मित्र्य :॥ ऋग० २/६/७॥

श्री सायणाचार्य इसका भाष्य इस प्रकार करते हैं— हे (कवे) मेधाविन्

अग्ने (अन्तः) जनानां हृदये (ईयसेहि) गच्छसि जानासि वा, हिः 'स होता सेदु दूत्यं चिकित्वां अन्तरीयते ।'(ऋग्० ४/८/४) इत्यादिमन्त्रान्तरप्रसिद्धिद्योतनार्थः। कीदृशस्त्वम् (उभया) उभयविधानि (जन्म) जन्मानि यष्टॄणां यजमानानां यष्टव्यानां देवानां वा सम्बन्धीनि (विद्वान्) जानन् सन् ईयसे इति सम्बन्धः। तत्र दृष्टान्तः (जन्यः) जनेभ्यो हितः (मित्र्यः) विशेषण मित्रेभ्यो हितः (दूतः) दूत इव । स यथा प्रजानां चित्तवृत्तिज्ञानाय राज्ञा प्रेरितः तासां मनो जानाति, तद्वत् त्वमस्माकम् अन्तरीयसे इत्यर्थः ।

अर्थात हे मेधावी अग्नि, तू मनुष्यों के हृदय में जाता अथवा उनको जानता है। तू यजमान और यज्ञ कराने वाले अथवा दोनों के सब जन्मों को जानता हुआ हमारे हृदय में आता है । तू मनुष्यों विशेषतः मित्रों के लिए हितकारी दूत की तरह है, जो प्रजाओं की चित्तवृति के ज्ञान के लिए राजा द्वारा प्रेरित होकर उनके मन को जानता है, वैसे ही तू हमारे अन्दर स्थित होकर हमारे कर्मों को जानता है ।

पाठक ध्यान करें कि मन्त्र में अग्नि के लिए 'कवे' और 'विद्वान्' ये दोनों विशेषण आये हैं; जिनका अर्थ सायणाचार्य भी मेधावी और विद्वान् ऐसा ही करते और उस अग्नि को मनुष्यों के हृदय में स्थित और उनके मन्त्रों को जानने वाला बताते हैं। क्या ये विशेषण भौतिक अग्नि पर घट सकते हैं ? वेंकट माधव भी इस मन्त्र को ऐसा ही अग्निपरक अर्थ करते हैं :—

> द्यावापृथिव्योरन्तः हि अग्ने गच्छसि विद्वान् जन्मानि उभयानि मानु-
> षाणि देव्यानि च । कवे ! दूत इव जनपदान् मित्रहितः ॥

(डा० लक्षणस्वरूपसम्पादिता ऋगर्थदीपिका, खण्ड २, पृष्ठ ३९)

यहाँ वेंकट माधव अग्नि को कवि और विद्वान् मानते हुए द्युलोक और पृथ्वी लोक में संचार करने वाला बताते हैं। क्या भौतिक अग्नि देवतापरक ये वर्णन संगत हो सकते हैं? अब महर्षि दयानन्द के भाष्य को देखिये ! वे कवि— उभया जन्म विद्वान्—अन्तरीयसे इत्यादि को ध्यान में रखते हुए मन्त्र का निम्न भाष्य करते हैं—

"पदार्थ—हे (कवे) क्रान्तप्रज्ञ सर्वज्ञ (अग्ने) विद्युदिव स्वप्रकाशजगदीश्वर (विद्वान्) सकलवित् त्वं (हि) खलु (मित्र्यः) मित्रेषु साधुः । (दूतः) सर्वतः समाचारप्रदः (जन्य इव) जनेभ्यो हित इव (अन्तः) मध्ये (ईयसे) प्राप्तोऽसि (उभया) वर्तमानेन सह पूर्वापराणि (जन्म) जन्मकृत्यानि वेत्सि तस्मादस्माभिरुपासनीयोऽसि ।"

भावार्थ—यथा सत्योपदेष्टा सत्यकारी सर्वस्य प्रियं प्रेप्सुः सहृदाप्तो बाह्यान्तरं

विज्ञानं प्रदाय धर्मे नियंच्छति तथाऽन्तर्बहिस्थः परमेश्वरः सर्वेषां सर्वाणि कर्माणि विदित्वा फलं ददाति ॥

अर्थात् हे सर्वज्ञ स्वप्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! तू सब कुछ जानने वाला, सर्वजनहितकारी सच्चे मित्र की तरह हमारे अन्दर विद्यमान है । तू वर्तमान के साथ हमारे सब जन्मों के कार्यों को जानता है । अतः तू ही हमारा उपासनीय है ।

भावार्थ—जैसे सत्योपदेष्टा सत्यकारी सबका हितचिन्तक आप्त मित्र बाह्य-आन्तरिक ज्ञान देकर मित्र को धर्म में नियन्त्रित करता है वैसे ही अन्दर-बाहर सब जगह व्याप्त परमेश्वर सबके कार्यों को जानकर फल देता है । इस प्रकार विशुद्ध एकेश्वरवाद का वेदों में प्रतिपादन है, न कि भौतिक अग्नि आदि कल्पित देवता की उपासना का, जैसा कि सायणाचार्य-वेंकटमाधवादि ने भ्रान्तिवश समझा और प्रायः पाश्चात्य लेखकों ने उनका अनुसरण किया ।

सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, चेतन अग्निः

महर्षि दयानन्द ने अग्नि का जो परमेश्वरपरक अर्थ किया, यह उनकी मनगढ़न्त कपोल कल्पना न थी, किन्तु स्वयं वेदों में इसके स्पष्ट प्रमाण प्राप्त होते हैं, जिनमें से कुछ का ऊपर थोड़ा-सा निर्देश किया गया है । ऋग् ३/१/१७--१८ में कहा है--आदेवानामभवः केतुरग्ने मन्द्रो विश्वानि काव्यानि विद्वान् ॥ मं० १७ अग्निर्विश्वानि काव्यानि विद्वान् । मं० १८ ॥ इनमें अग्नि को सब काव्यों का जानने वाला, सर्वव्यापक, ज्ञानदायक कहा गया है । श्री सायणाचार्य ने भी अपने भाष्य में ऐसा ही इन मन्त्रों का भाष्य किया है, यथा "हे अग्ने (मन्द्रः) स्तुव्यः (केतुः) अग्ने देवानां प्रज्ञापकस्त्वम् (आ अभवः) आ समन्ताद् भवसि सर्वव्यापको भवसीत्यर्थः किं च (विश्वानि) सर्वाणि (काव्यानि) यजमानदिभिः कृतानि स्तोत्राणि (विद्वान्) जानंस्त्वम्" इत्यादि ।

यहाँ अग्नि को न केवल सर्वज्ञ अपितु सर्वव्यापक और ज्ञानदाता भी कहा है । इसलिए महर्षि दयानन्द ने इन मन्त्रों का सर्वज्ञ-सर्वव्यापक-परमेश्वरपर अर्थ किया है, जो सर्वथा उचित ही है ।

अग्नि मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो
दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि
यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

ऋग्० १/१६४/४६

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ।।
यजु० ३२/१ ।।

इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट ही है कि एक ही ब्रह्मतत्व को विद्वान् अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण आदि अनेकों नामों से पुकारते हैं। अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः, प्रजापति ये प्रधानतया उस एक ही परमेश्वर के विविध गुण-सूचक नाम हैं ।

अतः शतपथ ब्राह्मण १/४/२/११ में स्पष्ट लिखा है—'ब्रह्म अग्निः' अर्थात् अग्नि शब्द प्रधानतया ब्रह्म या परमेश्वर का वाचक है ।

अयं कविरकविषु प्रचेता मर्तेष्वग्निमृतो निधायि ।

(ऋग् ७/८/८) इत्यादि कई मन्त्रों में अग्नि शब्द स्पष्टतया अमर चेतन आत्मा का वाचक है, जैसा कि "अत्मा वा अग्निः" इस शतपथ के १/२/३/२ के वचन में कहा गया है । मैत्रायणी उपनिषद् ६/९ में भी लिखा है :—

'प्राणोऽग्निः परमात्मा' अर्थात प्राण, अग्नि ये मुख्यतया परमात्मा के वाचक हैं। तैत्तरीय ब्राह्मण २/४/३/२ के 'अग्निरग्रे प्रथमो देवतानां समानो वाचोत्तमो विष्णुरासीत्' इस वचन में अग्नि का अर्थ देवाधिदेव विष्णु अथवा सर्वव्यापक परमात्मा स्पष्ट है ।

ऋग्वेद ३/२९/२ का जो मन्त्र—

'अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इवेत् सुधितो गर्भिणीषु ।
दिवेदिव इड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ।'

कठोपनिषद् २/१/८ में उद्धृत करते हुए कहा है 'एतद् वैतत्' अर्थात् यहाँ जिस अग्नि का उपास्य रूप में वर्णन किया गया है, वह ब्रह्म ही है । उसे भी सायणाचार्य 'जातवेदाः' का अर्थ 'सर्वविषयज्ञानवान् अग्निः' यह सर्वज्ञतासूचक करते हुए भी, भौतिक अग्नि देवतापरक ले लेते हैं । यह बड़े आश्चर्य और दुःख की बात है । महर्षि दयानन्द ने यहाँ अग्नि से सर्वज्ञ परमेश्वर का ही ग्रहण किया है ।

आधुनिक विद्वानों पर महर्षि का प्रभाव

यह प्रसन्नता की बात है कि महर्षि दयानन्द की इस प्रमाण संगत युक्ति-युक्त बात का कई आधुनिक सनातन धर्माभिमानी विद्वानों ने भी प्रबल समर्थन किया है । उदाहरणार्थ ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतकम् आदि विद्वत्तपूर्ण ग्रन्थों के

कर्ता मण्डलेश्वर स्वामी महेश्वरानन्द जी ने ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र अग्निमीडे पुरोहितम् की ऋग्वेदसंहितोपनिषच्छतकम् की अध्यात्म ज्योत्स्ना विवृति नामक टीका में वेद, उपनिषत् ब्राह्मण और निरुक्तादि के प्रमाणों को देकर अग्निय् का अर्थ 'अग्नि नामक परमात्मदेवम्।' (ईडे) स्तौमि स्तुति करोमि अर्थात् मैं अग्नि पदवाच्य परमात्मदेव की स्तुति करता हूँ—यही अर्थ किया है।

अग्नि से यहाँ भौतिक अग्नि का ग्रहण क्यों न किया जाए, इसका उत्तर देते हुए स्वामी महेश्वरानन्द जी ने ठीक ही लिखा है कि 'केवलस्य तस्य जड़स्यानुपास्यात्वात्' केवल उस जड़ अग्नि के अनुपास्य होने के कारण यहाँ उपासना प्रकरण में उसका ग्रहण नहीं हो सकता। 'कल्याण' गोरखपुर के जनवरी १९५८ के भक्तिविशेषांक में 'वेदों की संहिताओं में भक्तितत्त्व' पर लेख लिखते हुए भी स्वामी महेश्वरानन्द जी विद्यावारिधि, न्यायमार्तण्ड, वेदान्त-वागीश ने लिखा है कि

"अग्नि मन्ये पितरमग्निमापिग्नि भ्रातरं सदमित्सखायम्
(ऋग्० १०/७/३)

अर्थात् 'अग्नि परमात्मा को ही मैं सदैव अपना पिता मानता हूँ अग्नि को ही 'आपि' यानी अपना बन्धु मानता हूँ।' एवं अग्नि को ही भाई तथा सखा मानता हूँ। यहाँ यह याद रखना चाहिये कि वेदों में अग्नि, इन्द्र, वरुण, रुद्र आदि अनेक नामों के द्वारा एक परमात्मा का वर्णन किया गया है।

(कल्याण, भक्तिविशेषांक, पृ० ३४/३५/)

दूसरे महाविद्वान् पण्डितराज परमहंस स्वामी भग्वदाचार्य जी हैं जिन्होंने सम्पूर्ण सामवेद का भक्तिपरक उत्तम भाष्य संस्कृत और आर्यभाषा में किया है। उन्होंने भी अपने साम-संस्कार-भाष्य के प्रारम्भ में —

'अग्न आयाहि वीयते' साम १/१/१ के भाष्य (पृ० ६) में अग्नि शब्द का निर्वचन 'अग्रम् उत्कृष्टं पदं भक्तं ज्ञानिनं वा नयतीत्यग्निः अञ्जनमभिव्यक्तं प्रकाशस्वरूपं नयति प्रापयति स्वोपासकहृदयमिति वा। अङ्गति सर्वत्र गच्छति सर्वं व्याप्नोतीति वा' इस प्रकार निरुक्तादि के आधार पर करते हुए लिखा है—"हे (अग्ने त्वयि निरतांस्त्वद्भक्तान ज्ञानिनो वात्युत्कृष्टं स्वं पदं प्रापयितः परमेश्वर" अर्थात् 'अपने में निरत भक्तों वा ज्ञानियों को अत्युत्तमपद प्राप्त कराने वाले परमेश्वर !' ऐसे ही इन्द्र, मित्र, वरुण, रुद्र सोम आदि पदों की उन्होंने परमेश्वरपरक व्याख्या अपने भाष्य में की है। मैं इसे महर्षि दयानन्द का प्रभाव मानता हूँ, तीसरे विद्वान् जिनका यहाँ उल्लेख करना उचित है पारसी विद्वान् दादा चान् जी B.A.L.L.B. हैं, जिन्होंने Philosophy of Zoarastrianism and Comparative Study of Religions में ऋग्वेद के प्रथम अग्निसूक्त की व्याख्या करते हुए लिखा है 'Agni in this hymn means

both Fire as well as God' (P.100) अर्थात् अग्नि का अर्थ यहाँ भौतिक अग्नि और परमेश्वर है।

यहाँ यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि अग्नि का अर्थ सर्वत्र परमेश्वर ही नहीं लिया जा सकता। वेदों में अनेक ऐसे मन्त्र हैं जिनमें प्रकरणानुसार उसका अर्थ अग्रणी अर्थात् विद्वान् नेता, पुरोहित इत्यादि लेना ही सर्वथा उचित है और ऐसे ही विशेषणों का स्पष्ट प्रयोग है। उदाहरणार्थ निम्न मन्त्रों को लीजिये—

समिद्धमग्निं समिधा गिरा गृणे शुचं
पावकं पुरो अध्वरे ध्रुवम्।
विप्रं होतारं पुरुवारमद्रुहं
कविं सुम्नैरीमहे जातवेदसम्॥ ऋ० ६/१४/७

अग्नि का अर्थ विद्वान् नेता

यहां अग्नि के विशेषण के रूप के शुचि, पावक, ध्रुव, विप्र, होता, पुरुवार, अद्रोह, कवि, जातवेदाः इन शब्दों का प्रयोग किया गया है, जो भौतिक अग्नि, पर तो सर्वथा चरितार्थ वा सङ्गत ही नहीं होते, किन्तु विद्वान् ब्राह्मण नेता परक ही उनकी ठीक संगति लगती है। किन्तु श्री सायणाचार्य पौराणिक संस्कारवश उसकी अग्निपरक व्याख्या इस रूप में करते हैं,—"(समिद्धम्) सम्यग् दीप्तम् (अग्निम्) (समिधा) समिन्धनहेतुभूतया (गिरा) स्तुत्या (गृणे) स्तौमि यद्वा (समिधा)समिद्भिर्दारुभिः समिद्धं सम्यगिदम् अपिच (शुचिम्) स्वयं शुद्धम् (पावकम्) सर्वेषां शोधकम् (ध्रुवम्) निश्चलम् तमग्निम् (अध्वरे) यज्ञे पुरस्करोमि इति शेषः। तथा (विप्रम्) मेधाविनम्, (होतारम्) देवानामहातारम् (पुरुवारम्) बहुभिर्वरणीयम् अद्रुहम् अद्रोग्धारं सर्वेषामनुकूलं (कविम्) क्रान्त-दर्शिनम् (जातवेदसम्) जातानां वेदितारम् अग्नि (सुम्नैः) सुखकरैः स्तोत्रैः (ईमहे) सभजामहे, यद्वा द्वितीयार्थे तृतीया सुम्नानि धनानीमहे याचामहे। (तिलक संस्थान सं० ४९ खण्डे प० ४६) सरल होने के कारण सम्पूर्ण भाषानुवाद की आवश्यकता नहीं। स्वयं सायणाचार्य मन्त्र में अग्नि के लिए प्रयुक्त विशेषण 'विप्र' का अर्थ मेधावी, कवि का अर्थ क्रान्तदर्शी तथा जातवेदा का अर्थ जात वा उत्पन्न पदार्थों का जानने वाला, यह करते हुए भी इस मन्त्र को यज्ञाग्निपरक मानते हैं और उसकी स्तुति का प्रतिपादन करते हैं, यह बड़े आश्चर्य की बात है। ये तथा मन्त्र में प्रयुक्त अन्य विशेषण इस बात को स्पष्ट करते हैं कि विप्र, कवि, जातवेदाः, ध्रुव, शुचि, पावक इत्यादि पदवाच्य अग्नि विद्वान् तत्त्वदर्शी, धर्म-कर्म में ध्रुव अथवा निश्चल ब्राह्मण नेता है, न कि यज्ञाग्नि जिसमें ये विशेषण सर्वथा सङ्गत नहीं हो सकते।

महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र का अर्थ निम्नरीति से किया है—"(समिद्धम्) देदीप्यमानम् (अग्निम्) (समिधा) इन्धनेनेव (गिरा) वाण्या (गृणे) (शुचिम्) पवित्रम् (पावकम्) पवित्रकर्तारम् (पुरः) पुरस्तात् (अध्वरे) अहिंसामये यज्ञे (ध्रुवम्) निश्चलम्) (विप्रम्) विद्याविनयाभ्यां धीमन्तम् (होतारम्) (पुरुवारम्) पुरुभिर्विद्वद्भिः स्वीकृतम् (अद्रुहम्) द्रोहरहितम् (कविम्)पूर्ण विद्यम् (सुम्नैः) सुखैः(ईमहे) याचामहे(जातवेदसम्)जातविद्यम्।

भावार्थ—यूयं सत्यप्रकाशकेभ्यो विद्वद्भ्यो विद्यां याचध्वम्। एतां प्राप्यान्येभ्यो दत्त ॥"

यहां यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि महर्षि दयानन्द ने यज्ञाअग्निपरक अर्थ की सर्वथा उपेक्षा नहीं की किन्तु अन्वय में यह स्पष्ट किया है कि 'समिधा समिद्धमग्निमिव वर्तमानम् अध्वरे ध्रुवं शुचिं पावकं होतारं पुरुवारमद्रुहं जातवेदसं विप्रं गिरा पुरो गृणे' अर्थात् मैं समिधाओं से प्रदीप्त अग्नि की तरह वर्तमान अहिंसात्मक यज्ञ में निश्चल, स्वयं पवित्र और दूसरों को पवित्र करने वाले, हवनादि करने वाले तथा दानी, बहुत विद्वानों द्वारा नेता रूप में स्वीकृत, द्रोहरहित, पूर्ण विद्यासम्पन्न ज्ञानी की : मैं वाणी द्वारा स्तुति करता हूं, वैसे ही तुम भी करो।

भावार्थ—तुम सत्य को प्रकाशित विद्वानों से विद्या की याचना करो और इसे प्राप्त करके अन्यों को भी दो।

इस प्रकार महर्षि दयानन्द ने विशेषणों के आधार पर यहां अग्नि को ज्ञानी विप्र अर्थात् मेधावी (विप्रइतिमेधाविनाम निघण्टु ३/१५) नेता के अर्थ में लिया है, जो सर्वथा समुचित है और श्री सायणाचार्यादि का उसे यज्ञाग्नि परक लेना असगंत और उपहासजनक है। कुछ उदाहरण भी देखिए। ऋग्वेद ४/६/२ में मन्त्र आया है—

अमूरो होता न्यसादि विक्षु अग्निर्मन्द्रो विदथेषु प्रचेताः ॥

यहां अग्नि के लिए अमूर, होता, प्रचेताः इन शब्दों का प्रयोग करते हुए कहा गया है कि ऐसे अग्नि को प्रजाओं में अनेक कल्याणार्थ स्थापित किया जाता है और वह अग्नि आनन्ददायक होता है। अमूर, प्रचेताः आदि का अर्थ श्री सायणाचार्य इस प्रकार करते हैं —

"(अमूरः) अमूढः प्रगल्भः इत्यर्थः (होता) होमनिष्पादकः (मन्द्रः) मदनीयः मादयिता वा (प्रचेताः) प्रकृष्टज्ञानः। (अग्निः) देवः (विक्षु) ऋत्विग्रूपासु प्रजासु मध्ये (विदथेषु) यागेषु निमित्तभूतेषु (न्यसादि) नितरां स्थापितः।"

अर्थात् अमूढ-अत्यन्त चतुर, हवनादि करने वाले आनन्ददाता प्रकृष्टज्ञान वाले अग्निदेव को ऋत्विग् रूपी प्रजाओं में रखा गया है। यज्ञाग्नि पर ये अत्यन्त चतुर, हवन करने वाला, प्रकृष्ट ज्ञान वाला इत्यादि विशेषण सर्वथा संगत नहीं होते; यह बात विचारशीलों की दृष्टि में स्पष्ट है। वेंकटमाधव ने भी अपने भाष्य में 'अमूरः' का अर्थ 'अमूढः' और 'प्रचेताः' का अर्थ प्रकृष्टज्ञानः यही किया है। अतः उस पर भी उपर्युक्त आक्षेप समानरूप से लागू होता है। महर्षि दयानन्द ने अमूर, प्रचेता, होता, विक्षु आदि को ध्यान में रखते हुए मन्त्र की विद्वान् राजपरक व्याख्या की है और 'अमूरः' का अर्थ अमूढ़ो विद्वान् सन् (होता) आदाता (मन्द्रः) आनन्दप्रदः (प्रचेताः) प्राज्ञः प्रज्ञापकः (अग्निः) पावक इव इत्यादि करते हुए भावार्थ में लिखा है—

यदि मनुष्याः सूर्यवत् प्रतापिनम् अग्निवद् दुष्टप्रदाहकं न्यायविनयाभ्यां प्रजासु चन्द्र इव संग्रामे विजेतारं राजानं सस्थापयेयुः तर्हि कदाचिद् दुःखं न प्राप्नुयुः" अर्थात् यदि लोग सूर्य की तरह प्रतापी अग्नि की तरह तेजस्वी दुष्टों के दाहक न्यायविनययुक्त विजयी राजा को प्रजाओं के मध्य में स्थापित करें तो लोग कभी दुःख न पाएं।

इस प्रकार एक सुसंगत राजनीतिसूचक अर्थ मन्त्र से निकलता है, जो उपादेय है। ऋ० ४/३/४ में अग्नि को सम्बोधन करते हुए कहा है 'त्वम् चित्रः शम्या अग्ने अस्या ऋतस्य बोध्यृत चित् स्वाधीः।' यहां अग्नि के लिये ऋत, चित्, स्वाधी ये विशेषण आये हैं और उसके साथ 'बोधि' क्रिया का प्रयोग है। श्री सायणाचार्य इनका अर्थ अपने भाष्य में इस प्रकार करते हैं—

"हे (ऋत चित्) सत्यज्ञ अग्ने (स्वाधीः) सुकर्मा सुध्यातो वा त्वम् (ऋतस्य बोधि) अस्मदीयं स्तोत्रं बुध्यस्व।'

अर्थात् हे सत्य को जानने वाले अग्ने, उत्तमकर्म वा ध्यान वाला तू हमारी स्तुति को समझ।

एक तो ऋत का स्तोत्र यह अर्थ ही कल्पित है : उसके सत्य, यज्ञ, अचल नियम तथा वेद ये अर्थ होते हैं। यदि उसे कथंचित् ठीक भी मान लिया जाए तो भी यह बात क्या बनी ? यह भौतिक यज्ञाग्नि कैसे सत्य को जानने वाला और उत्तम रीति से ध्यान करने वाला है ? वह कैसे हमारी स्तुतियों को समझ सकता है ? वेंकट माधव ने भी इस मन्त्र को भौतिक यज्ञाग्निपरक मानकर यह अर्थ किया है —"त्वम् एव अग्ने अस्मान् यज्ञस्य, अस्याः स्तुतेः कर्मणे समर्थान् कुरु कृत्वा च तां बुध्यस्व शोभनाध्यानः।"

यहां भी 'ऋत' का अर्थ स्तुति किया गया है 'ऋत चित्' का अर्थ छोड़ दिया गया है। 'स्वाधीः' का अर्थ उत्तम ध्यान वाला करते हुए अग्नि से प्रार्थना की

गई है कि वह स्तुति के कर्म के लिए समर्थ बनाए और हमारी उस स्तुति को समझे। विद्वान् ही निष्पक्ष भाव से विचार करें कि यह सब कितनी असंगत उपहासजनक बात है।

अब महर्षि दयानन्दकृत अर्थ को देखिए : "हे (अग्ने) पावकवद् वर्तमान त्वम् नः अस्याः प्रजायाः (ऋतस्य) सत्यस्य (शर्म्यै) कर्मणे (स्वाधीः) यः सुष्ठ समन्ताच्चिन्तयति (ऋतचित्) यः ऋतं सत्यं चिनोति सः सन् (बोधि) बुध्यस्व।"

भावार्थ—हे राजन्, त्वं यदा प्रजायाः सत्यं न्यायं करिष्यसि, तदैव तवाज्ञायां वर्तित्वा प्रजा एकमता भविष्यन्ति ॥"

अर्थात् हे अग्नि की तरह वर्तमान राजन्, तू उत्तम विचारशील और सत्य का सर्वदा ग्रहण करने वाला होकर प्रजा के कल्याण कर्म के लिए उसके सत्य न्याय को जान तथा ऐसा व्यवहार कर जिसमें तेरी आज्ञा में रहकर प्रजा एकमत हो सके।

यहां किसी प्रकार की कोई खींचातानी नहीं की गई, किन्तु ऋतमिति सत्यनाम निघण्टु ३/१० के अनुसार ऋत का दोनों जगह सत्य ही अर्थ लेकर राजा के कर्त्तव्य का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है जो सर्वथा सुसंगत है।

अग्नि पुरोहित

ऋग्वेद १।४४ में मंत्र आया है जिसमें अग्नि को सम्बोधन करते हुए कहा है—

अग्ने पूर्वा अनूषसो विभावसो दीदेथ विश्वदर्शतः।
असि ग्रामेष्ववितता पुरोहितोऽसि यज्ञेषु मानुषः ॥

ऋ० १/४४/१०

इस मन्त्र में अग्नि को विभावसु, विश्वदर्शत, ग्रामेष्वत्रिता, पुरोहित और मानुष इन शब्दों के साथ प्रयुक्त किया गया है जिनका अर्थ प्रकाशमान, तेजस्वी, सबके लिए दर्शनीय, ग्रामों में रक्षक, पुरोहित, सच्चा मनुष्य ऐसा कहा गया है। इतने स्पष्ट अग्नि को पुरोहित मनुष्यसूचक शब्द होते हुए भी श्री सायणाचार्य तथा अन्य मध्यकालीन भाष्यकार उसको भौतिक यज्ञाग्निपरक समझने का उपहासजनक प्रयास करते हैं, यह बड़े आश्चर्य की बात है। श्री सायणाचार्य अपने भाष्य में लिखते हैं—"हे (विभावसो) विशिष्टप्रकाशरूपद्यनवन् अग्ने (विश्वदर्शत) सर्वदर्शनीयस्त्वम्—(ग्रामेषु) जननिवासस्थानेषु (अविता असि) रक्षसो भवसि (यज्ञेषु) अनुष्ठेयकर्मसु (पुरोहितः) पूर्वस्यां दिश्यवस्थितः (मानुषः असि) ऋत्विग्यजमानानां मनुष्याणां हितोऽसि।"

यहां वे पुरोहित का सुप्रसिद्ध मनुष्य पुरोहितपरक अर्थ न करके, जिसके लिएं मनुष्य शब्द का भी स्पष्ट प्रयोग है, उसका अर्थ पूर्व दिशा में स्थापित और मनुष्य का मनुष्यों के लिए हितकारक, ऐसा अर्थ ले लेते हैं।

वेंकट माधव भी मन्त्र को यज्ञाग्निपरक मानते हुए पुरोहित का अर्थ पुरोनिहितः और मानुषः का अर्थ मनुष्यहितः करते हैं। स्कन्दस्वामी पुरोहित का अर्थ पुरोहितस्थानीयः और मानुषः का अर्थ मन्ता ज्ञाता है अथवा मानुष इति षष्ठी मानुषस्य स्वभूतेषु यज्ञेषु, ऐसा लिखकर भी यज्ञाग्निपरक ही करते हैं। किन्तु महर्षि दयानन्द इस तथा अन्य मन्त्रों में दिये विशेषणों 'अग्निर्वाव पुरोहितः।' ए. ८/२७० ऐतरेय ८/२७ अग्निर्वै ब्रह्मा। षड्विंशब्राह्मण १.१ पुरुषोऽग्निः श. १०/१/२/३ इत्यादि प्रमाणों को ध्यान में रखते हुए उसका सीधा सुप्रसिद्ध अर्थ पुरोहित करते हुए कहते हैं :—"पदार्थ : (अग्ने) विद्याप्रकाशक विद्वान् (विश्वदर्शतः) सर्वैः संप्रेक्षितुं योग्यः (असि) (ग्रामेषु) मनुष्यादिनिवासेषु (अविता) रक्षणादिकर्ता (पुरोहितः) सर्वसाधन सुखसम्पादयिता (असि) (यज्ञेषु) अश्वमेधादिशिल्पान्तेषू (मानुषः) मनुष्याकृतिः······

भावार्थ—"विद्वान् सर्वेषु दिनेष्वेकं क्षणमपि व्यर्थं न नयेत् सर्वोत्तमकार्यानुष्ठानयुक्तानि सर्वाणि दिनानि जानीयादेवमेतानि ज्ञात्वा प्रजारक्षको यत्रानुष्ठाता सततं भवेत्।"

अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण इसका भाषानुवाद अनावश्यक है। विद्याप्रकाशक पुरोहित मनुष्य के अर्थ में अग्नि का प्रयोग यहां स्पष्ट है। यद्यपि मध्यकालीन पौराणिक भाष्यकारों ने इस बात को न समझकर यज्ञाग्निपरक व्याख्या कर दी है। इस प्रकार महर्षि दयानन्द की वेदभाष्य की विशेषता और उनकी दिव्यदृष्टि सूचित होती है।

शिक्षा-विषयक मन्त्रों के अर्थ का घोर अनर्थ

यजुर्वेद के २३वें अध्याय के कुछ मन्त्रों में वस्तुतः शिक्षा-सम्बन्धी अत्युच्च सिद्धातों का प्रतिपादन किया गया है; किन्तु जिनकी उवट महीधरादि भाष्यकारों तथा उनके अनुयायी ग्रिफिथ आदि पाश्चात्य विद्वानों ने अश्वबलिपरक व्याख्या करके घोर अनर्थ किया है।

पाठक निष्पक्षपात होकर इन मन्त्रों के अर्थों पर विचार करेंगे तो उन्हें महर्षि दयानन्द के भाष्य की विशेषताओं और मध्यकालीन उवट, महीधरादि तथा उनके अनुयायी पाश्चात्य भाष्यकारों की भूलों का स्पष्ट ज्ञान हो जाएगा।

यजु० २३/३९ में निम्न मन्त्र आया है

कस्त्वा छ्यति कस्त्वा विशास्ति कस्ते गात्राणि
शम्यति क उ ते शमिता कविः ।।

उव्वट लिखते हैं कि कस्त्वा छ्यति इत्यादि छः मन्त्रों का पाठ करके चर्बी निकालने के लिए घोड़े के पेट को फाड़ा जाए (अश्वोदरं पाटयति मेदस उद्धरणाय) अश्वदेवत्याः षड ऋचः। हे अश्व! (कः) प्रजापतिः त्वाम् (आच्छ्य-यतिच्छ्यति) छिनति, छो छेदने। हे अश्व ! (कः त्वा विशस्ति) त्वचा वियोजयति (ते) तव (गात्राणि) (कः शम्यति) शमनेन हविः करोति (कः) कश्च प्रजापतिरेव (कविः) मेधावी (ते) तव (शमियता) शमयिता प्रजापतिरेव सर्वं करोति नाह-मित्यर्थः। यजुर्वेद उव्वटभाष्य, पृ० ४१५

अर्थात्—घोड़े के पेट को फाड़कर घोड़े को सम्बोधित करते हुए कहा जाता है कि हे अश्व ! प्रजा का पालक परमेश्वर ही तुझे काटता है, वही तुझे त्वचा से वियुक्त करता है—तेरी खाल उतारता है। वही तेरे अंगों की आहुति देता है। इस प्रकार मेधावी वह प्रजापति परमेश्वर ही सब कुछ करता है, मैं नहीं। महीधर ने भी अक्षरशः उव्वट भाष्य के अनुसार अर्थ किया है। एक शब्द का भी परिवर्तन नहीं किया। अतः उसको उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं।

अपने समय के सुप्रसिद्ध पौराणिक विद्वान् प० ज्वाला प्रसाद मिश्र ने अपने यजुर्वेद के अनुवाद में उव्वट-महीधर के भाष्यों का अनुसरण करते हुए इस मन्त्र का 'अश्वविशसने विनियोगः' अर्थात् घोड़े के काटने में विनियोग मानते हुए निम्न अनुवाद किया है—

हे अश्व ! (कः) कौन प्रजापति (त्वा) तुझको (आच्छ्यति) छेदन करता है (कः) कौन (त्वा) तुझको (विशास्ति) त्वचा वा आवरण से पृथक् करता है (कः) कौन (ते) तुम्हारे (गात्राणि) शरीर को (शम्यति) शमन व हवि करता है (मेधावी) बुद्धिसम्पन्न (कः) प्रजापति (उ) ही (ते) तेरा (शमिता) शमित व मोक्ष करने वाला है। सब कुछ प्रजापति ही करता है मैं नहीं करता।

उव्वट महीधर का ही अन्धानुसरण करते हुए मि० ग्रिफिथ ने अपने यजुर्वेद के अंग्रेजी अनुवाद में इस मन्त्र का निम्न अनुवाद करते हुए टिप्पणी दी है—

O horse ? Who flays thee ? Who dissects thee ? Who prepares thy limbs for sacrifice ? Who is the sage that slaughters thee ?

"Who or ka that is prajapati himself performs these sacrificial operations and not I the human priest."

Texts of the white Yajurveda
Translated by Griffith P. 214

अर्थ और टिप्पणी उव्वटभाष्यानुसार ही हैं, जिसका तात्पर्य है कि क अर्थात् प्रजापति परमेश्वर ही तुझ घोड़े को मारने, खाल उतारने और अग्नि में तेरे अंगों की आहुति देने का सब कार्य करता है, मैं मनुष्य पुरोहित नहीं ।

यह कितनी वाहियात बात है कि स्वयं अश्व की हत्या करके और उसके अंगों की आहुति अग्नि में डाली जाए, उसकी खाल उतारी जाए और फिर मरे हुए घोड़े को कहा जाए कि यह सब कार्य प्रजा का पालक परमेश्वर कर रहा है, इससे बढ़कर असंगत बात और क्या हो सकती है ? अब इसके वास्तविक अर्थ को देखिए जिसका निर्देश महर्षि दयानन्द ने अपने भाष्य में किया है । महर्षि दयानन्द ने इसका देवता वा प्रतिपाद विषय 'अध्यापक' लिखते हुए कहा है कि 'पुनरध्यापका विद्यार्थिनां कीदृशीं परीक्षां गृह्णीयुरित्याह'—अर्थात् फिर अध्यापक विद्यार्थियों की कैसी परीक्षा लें, यह इस मन्त्र में बताया गया है । उनके अनुसार मन्त्रार्थ इस प्रकार हैं :—

पदार्थ :—(कः) (त्वा) त्वाम् (आच्छ्यति) समन्ताच्छिनति (कः) (त्वा) (विशास्ति) विशेषेणोपदिशति (कः) (ते) तव (गात्राणि) अंगानि (शम्यति) शाम्यति शमं प्रापयति (कः) (उ) वितर्के (ते) तव (शमिता) यज्ञस्यकर्त्ता (कविः) सर्वशास्त्रवित् ।

अन्वय :—हे अध्येतस्ते क आच्छ्यति कस्त्वा विशास्ति कस्ते गात्राणि शम्यति क उ ते शमिता कविरध्याकोऽस्ति ?

भावार्थ—अध्यापका अध्येतॄन् प्रत्येवं परीक्षायां पृच्छेयुः के युष्माकम् ध्ययनं छिन्दन्ति को युष्मानध्ययनायोपदिशन्ति केऽङ्गानां शुद्धिं योग्यां चेष्टां च ज्ञापयन्ति कोऽध्यापकोऽस्ति किमधीत किमध्येऽतव्यमस्तीत्यादि पृष्ट्वा सुपरीक्ष्योत्साह्याधमान् धिक् कृत्वा विद्यामुन्नयेयुः ॥

अर्थात्—हे पढ़ने वाले विद्यार्थिजन! तुझे कौन छेदन करता अर्थात् तेरी पढ़ाई में विघ्न डालता है ? कौन तुझे विशेषरूप से अच्छी तरह सिखाता है ? कौन तेरे अङ्गों को शान्ति पहुंचाता और कौन तेरा यज्ञ करने वाले (शान्तिदाता) समस्त शास्त्रों का ज्ञाता अध्यापक है ?

भावार्थ—अध्यापक लोग पढ़ने वालों से प्रश्न करें कि कौन तुम्हारे पढ़ने में विघ्न करते, कौन तुझको पढ़ने के लिए भलीभांति उपदेश देते हैं ? कौन तुम्हें अङ्गों की शुद्धि और योग चेष्टा का ज्ञान कराते हैं ? क्या तुमने पढ़ा है, क्या-क्या और पढ़ना है इत्यादि पूछकर अच्छी प्रकार परीक्षा करके उत्तम विद्यार्थियों को उत्साह देकर और दुष्ट स्वभाव वालों को धिक्कार देकर विद्या की उन्नति करावें ।

अब विचारशील निष्पक्षपात विद्वान् देखें कि इन दोनों अर्थों में कितना

आकाश-पाताल का अन्तर है ? कहां घोड़े की हिंसा करके उस मरे हुए घोड़े को कहना कि प्रजा-पालक परमेश्वर ने तुझे काटा है, उसी ने तेरी खाल उतारी है और तेरे अङ्गों की अग्नि में आहुति दी है, मैंने नहीं (अपने हिंसा के पाप को प्रजापति परमेश्वर के सिर पर मढ़ना) और कहां आचार्य तथा अध्यापकों के विद्यार्थियों के भलीभांति निरीक्षण और उनके दोषनिवारणपूर्वक विद्या वृद्धि के प्रयत्न का प्रतिपादक सुन्दर उपदेश ! वस्तुतः कात्यायनादि के नाम से कल्पित विनियोग और विशसन तथा शमिता के अर्थ को ठीक न समझने से ही यह अनर्थ हुआ। विशस्ति का सीधा अर्थ विशेष रूप से ज्ञान देना है। शासु (अनुशिष्टो अनुशिष्टिर्विविच्य ज्ञापनम्) अदा० पर० । उसका काटता है यह अर्थ अयुक्त है। शम्यति का अर्थ शान्ति पहुंचाता है, यही स्पष्ट है। हिंसापरक अर्थ कल्पित है। यही बात शमिता के विषय में है, जिसका अर्थ शान्तिदाता अथवा शान्तियज्ञ को करने वाला है। विनियोग के विषय में महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ठीक ही लिखा है कि—

तस्मादयुक्तिसिद्धवेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतो
विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति ॥

अर्थात्—ब्राह्मण, श्रौत्रसूत्रादि का वही विनियोग ग्रहण करने योग्य है जो युक्तिसिद्ध वेदादि प्रमाण के अनुकूल और मन्त्रार्थ के अनुसार हो, अन्य नहीं। मैं यजुर्वेद के तुलनात्मक गम्भीर अनुशीलन के पश्चात् इस परिणाम पर पहुँचा हूं कि मन्त्रों के प्रायः कात्यायनादि के नाम से प्रचलित असङ्गत वस्तुतः मन्त्रार्थ के विरुद्ध विनियोगों के कारण ही मध्यकालीन भाष्यकार सरल और सुस्पष्ट मन्त्रों के भी अर्थ का अनर्थ कर गए हैं। इसलिए महर्षि दयानन्द ने उन कल्पित विनियोगों की उपेक्षा करके मन्त्रों के वास्तविक तथा सार्वभौम शिक्षा-प्रद अर्थों का निर्देश किया है। मैं इसे महर्षि के भाष्य की बड़ी विशेषता समझता हूं ॥

अब इसके अगले मन्त्रों को तुलनात्मक दृष्टि से देखिये।

ऋतवस्त्वा ऋतुथा पर्व शमितारो विशासतु।
संवत्सरस्य तेजसा शमीभिः शम्यन्तु त्वा ॥
यजु० २३/४०

उव्वट और महीधर ने इस मन्त्र का भाष्य इस प्रकार किया है—हे अश्व (ऋतवः) शमितारः (ऋतुथा) ऋतौ-ऋतौ काले-काले तव (पर्व) पर्वाणि अस्थिग्रन्थीन् (शमीभिः) कर्मभिः (विशासतु) भिन्नानि कुर्वन्तु। केन (संव-

त्सरस्य) संवसरात्मकस्य कालस्य (तेजसा) किंच (ऋतवः) (त्वा) त्वां (शम्यन्तु) पर्वविशसनेन हविः कुर्वन्तु ।। महीधर भाष्य में (जैसे कि उसकी चोरी की आदत प्रायः सर्वत्र प्रतीत होती है। उव्वटभाष्य को अक्षरशः उद्धृत कर दिया है, अतः उसे दुबारा लिखने की आवश्यकता नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि हे घोड़े! ऋतुएं शमन (इन भाष्यकारों के अनुसार) हिंसा करने वाली हैं। वे समय-समय पर तुम्हारी हड्डियों के जोड़ों को तोड़ती रहें। संवत्सररूप काल के तेज से ये ऋतुएं तेरी हड्डियों को तोड़कर उनकी हवि या आहुति दें। महर्षि दयानन्द जी ने इसका भाष्य इस प्रकार किया है!—पुनः स्त्रीपुरुषाः कथं वर्तेरन्नित्याह !—

पदार्थ—(ऋतवः) वसन्ताद्याः (ते) तत्र (ऋतुभ्यः) (पर्व) पालनम् (शमितारः) अध्ययनाध्यापनाख्ये यज्ञे शमादिगुणानां—प्रापकाः (विशास्तु) विशेषेणोपदिशन्तु (संवत्सरस्य) (तेजसा) ज्वलेन तेज इत्युदकनाम निघ० १/१२ (शमीभिः) कर्मभिः (शम्यन्तु) (त्वा) त्वाम् ।

अन्वय—हे विद्यार्थिन् ? यथा ते ऋतवः ऋतुथा पर्वेव शमितारोऽध्येतारं विशासतु संवत्सरस्य तेजसा शमीभिस्त्वा शम्यन्तु तांस्त्वं सदैव सेवस्व ।

भावार्थ—यथा ऋतवः पर्यायेण स्वानि-स्वानि लिङ्गान्यभिपद्यन्ते तथैव स्त्री-पुरुषः प्रयायेण ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थसंन्यासाश्रमान् कृत्वा ब्राह्मण ब्राह्मण्ययश्चाध्यापयेयुः । क्षत्रियाः प्रजा रक्षान्तु, वैश्याः कृष्यादिकमुन्नयन्तु, शूद्राश्चैतान् सेवन्ताम् ।

अर्थात्—जैसे ऋतुएं क्रम से अपने-अपने चिह्नों को प्रकट करती हैं वैसे स्त्री-पुरुष क्रम से ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों को ग्रहण कर ब्राह्मण और ब्राह्मणियां अध्यापन करें, क्षत्रिय प्रजाओं की रक्षा करें, वैश्य कृषि आदि को उन्नत करें और शूद्र इनकी सेवा करें।

इस प्रकार मन्त्र में ऋतुओं के दृष्टान्त से वर्णाश्रम धर्मविषयक कितनी सुन्दर शिक्षा दी गई है। जबकि उव्वट, महीधरादि तथा उनके अनुयायी ग्रिफिथ द्वारा जिसने—

In due time let the seasons as they slaughters devide thy joints;

And with the Splendour of the year Sacrifice thee with holy rites. (P. 224)

इस रूप में अक्षरशः उव्वट महीधर का ही अविवेकपूर्वक अनुसरण किया है। ऋतुओं के घोड़े की हड्डियों के जोड़ों के तोड़ने की बेहूदी बात है, जिसका कोई भी बुद्धिमान उपहास किये बिना नहीं रह सकता। यहां भी विशासतु और

शम्यन्तु इत्यादि के 'विशेषरूप से उपदेश करें' और 'शान्त करें' इस सीधे अर्थ को छोड़ हिंसापरक अर्थ करने से यह अनर्थ हुआ है।

अब हम इससे अगले २३/४१ मन्त्र को लेते हैं जो निम्नलिखित है :—

> अर्द्धमासाः परूंषि ते मासा आच्छ्यन्तु शम्यन्तः ।
> अहो रात्राणि मतो विलिष्टं सूदयन्तु ते ॥
> —यजु० २३/४१

इसका उव्वट भाष्य निम्न प्रकार है :—

'(अर्धमासाः) पक्षामासाश्च तदभिमानिनो देवाः (शम्यन्तः) संस्कुर्वन्तः, हे अश्व! (ते) तव (परूंषि) पर्वाणि (आच्छ्यन्तु) किंच (अहोरात्राणि) अहोरात्राभिमानिदेवाः (मरुतः) च देवाः (ते) (विलिष्टम) लिश अल्पीभावे विशेषेण अल्पमङ्गं तत् (सूदयन्तु) सन्दधतु सूद निरासे, अत्र सन्धानार्थः, व्यर्थं मास्तु। महीधरभाष्य में भी अक्षरशः उव्वट को उठाकर रख दिया गया है।

उव्वट—महीधर भाष्यानुसार मन्त्र का अर्थ यह बनता है कि हे अश्व! पक्ष और मास के अभिमानी देव संस्कार करते हुए तेरे जोड़ों को चारों ओर से काटे और फिर देव जो थोड़ा अङ्ग है उसको जोड़ दे। अब पाठक विचार करें कि यह बात क्या बनी? पक्ष और मास के अभिमानी देव घोड़े के जोड़ों को चारो ओर से तोड़ दें, यह क्या असंगत बात मारे जाते हुए घोड़े को सम्बोधन करके कही जा रही है?

ग्रिफिथ ने भी इन दोनों का ही अनुसरण निम्न अंग्रेजी अनुवाद में किया है :—

Let the half months and let the months, while Sacrificing, Flay thy limbs. Let day and night and maruts mend each fault in sacrificing thee. (P. 214)

यहां ग्रिफिथ साहब ने चतुर्थ चरण के अनुवाद में एक बात अधिक जोड़ दी है जो उव्वट और महीधर के भाष्य में अस्पष्ट थी कि तेरी बलि चढ़ाने में जो त्रुटि रह गई हो उसको दिन-रात और मरुत देवता ठीक कर देंगे। अब महर्षि दयानन्द कृत अर्थ को देखिये—

पदार्थ :—(अर्धमासाः) कृष्णशुक्लपक्षा : (परूंषि) कठोर वचनानि (ते) तव (मासाः) चैत्रादयः (आ) समन्तात् (छ्यन्तु) छिन्दन्तु (शम्यन्तः) शान्तिं प्रापयन्तः (अहोरात्राणि) (मरुत) मनुष्याः (विलिष्टम्) विरुद्धम् अल्पमपि व्यसनम् (सूदयन्तु) दूरीकारयन्तु (ते) तव।

अन्वय :—हे विद्यार्थिन् ! अहोरात्राणि अर्धमासा मासाश्च आयूंषीव तव (परुंषि) शम्यन्तो महतांदुर्व्यसनान् छ्यन्तु ते तव मासा विलिष्ट सूदयन्तु ।

भावार्थ :—यदि मातापित्रध्यापकोपदेशन्नतिथयो बलानां दुर्गुणान्न निवर्तयेयुस्तर्हि ते शिष्टाः कदाचिन्न भवेयुः ।

तात्पर्य यह है कि यह सम्बोधन मारे जाने वाले घोड़े को नहीं अपितु विद्यार्थी को किया जा रहा है। उसे कहा जा रहा है कि माता-पिता, अध्यापक और अतिथि तेरे कठोर वचनों तथा सब छोटे-से-छोटे व्यसनों को भी क्रम से काटते व दूर करते जाएं। इस प्रकार व्यसन रहित बनाकर वे तुझे शान्ति पहुंचाएं। यहां घोड़े के अंगों को काटने की शिक्षा नहीं, किन्तु विद्यार्थी के परुष कठोर वचनों (परु और परुष एक ही धातु के रूप हैं) को काटने और उसके छोटे-बड़े सब दुर्व्यसनों को दूर करने की है। जो शिक्षा की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। निष्पक्ष पाठक विचार करें कि इन दो प्रकार के अर्थों में कितना आकाश-पाताल का अन्तर है और वेदों के महत्त्व की दृष्टि से (जो सायण, उव्वट, महीधरादि सब भारतीय भाष्यकार सम्मत हैं) कौन-सा अर्थ उपादेय है ?

अब हम इसके अगले मन्त्र ३३/४२ का तुलनात्मक अनुशीलन प्रस्तुत करते हैं। मन्त्र इस प्रकार है—

दैव्या अध्वर्यवस्त्वाच्छ्यन्तु वि च शास्तु ।
गात्राणि पर्वशस्ते सिमाः कृण्वन्तु शम्यन्तीः ।।

इसका उव्वटकृत भाष्य निम्न प्रकार है :—

देवानामिमे दैव्याः आश्विनौ देवानामध्वर्यू इत्युक्तत्वात् अश्विप्रभृतयो देवसम्बन्धिनोऽध्वर्यवः। हे अश्व ! (त्व) आछयन्तु आच्छिन्दन्तु (विशासतु) च हविः कुर्वन्तु किंच तव (गात्राणि) विभक्तिव्यत्ययः गात्रेषु शरीरेषु (पर्वशः) पर्वणि पर्वणि (सिमाः) सीमाः मर्यादाः (कृण्वन्तु) कृ करणे स्वादिः कीदृशीः सीमाः (शम्यन्तीः) संस्कुर्वाणाः।

महीधर ने जो भी अक्षरशः इसी भाष्य को उद्धृत कर दिया : पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार किया है :—

हे अश्व ! देव-सम्बन्धी अध्वर्यु अश्विकुमार तुझको छेदन करें (काटे) और विशसन करते (काटते हुए) हवि को सम्पादन करें। संस्कार करती हुई सीमाएं तेरे गात्रों को भिन्न-भिन्न करें।

यहां फिर विशासतु का अर्थ 'विशेष रूप से उपदेश करना' यह छोड़कर काटने वाला किया गया है और घोड़े के अङ्गों की आहुति देने का विधान इन मध्यकालीन भाष्यकारों ने कर दिया है। जब घोड़े को काटा ही जा रहा है तो

उसके लिए मर्यादा स्थापित करने और उसे शान्ति पहुंचाने का अर्थ ही क्या रह जाता है ?

ग्रिफिथ ने भी ठीक इसका अनुसरण करते हुए अनुवाद कर दिया है जो निम्न है—

Let the divine Adhvaryus flay thy body and dissect thy frame.

And let the Sacrificing lines prepare thy members joint by joint. (P- 214)

अव महर्षि दयानन्द कृत अर्थ को देखिए। वे विषय का निर्देश करते हुए लिखते हैं :—

'अथाध्यापकादय: कथं वर्तेरन्नित्याह' अर्थात् अब अध्यापकादि कैसे व्यवहार करें इसका उपदेश दिया जाता है।

पदार्थ :—(दैव्या:) देवेषु विद्वत्सु कुशला: (अध्वर्यव:) आत्मनोऽहिंसाख्ययज्ञमिच्छन्त: (त्वा) त्वाम् (आच्छ्यन्तु) छिन्दन्तु (वि च शासतु) उपदिशन्तु (गात्राणि) अङ्गानि (पर्वश:) सन्धित: (ते) तव (सिमा:) प्रेमबद्धा: (कृण्वन्तु) (शम्यन्ती:) दुष्टस्वभावं निवारयन्त्य:।

अन्वय :—हे विद्यार्थिन् विद्यार्थिनि वा, दैव्या अध्वर्यव: त्वा विशास्तु च ते तव दोषान् आच्छ्यन्तु पर्वशो गात्राणि परीक्षन्तां सिमा: शम्यन्ती: सत्यो मातरोऽप्येवं शिक्षां कृण्वन्तु।

भावार्थ :—अध्यापकोपदेशकातिथयो यदा बालकान् शिक्षयेयुस्तदा दुर्गुणान् विनाश्य विद्यां प्रापयेयुरेवमध्यापिकोपदेशिका विदुष्य: स्त्रियोऽपि कन्या: प्रत्याचरेयु:। वैद्यकशास्त्ररीत्या शरीरावयवान् सम्यक् परीक्ष्योषधान्यादि प्रदद्यु:।

तात्पर्य यह है कि (अध्वर्यव:) अहिंसा रूप यज्ञ की इच्छा करने वाले विद्वान् विद्यार्थियों के दोषों को काटें। वे उनके अंगों की वैद्यकशास्त्र की रीति से अच्छी प्रकार परीक्षा करें। (शम्यन्ती:) दुष्ट स्वभाव का प्रशमन अर्थात् निवारण करती हुई और शान्ति को देती हुई प्रेमबद्ध माताएं भी कन्याओं को इसी प्रकार की शिक्षा दें।

यहां भी विद्यार्थियों के स्थान पर घोड़े पर इसे लगाने और विशासतु-शम्यन्ती-इत्यादि शब्दों के सीधे 'उपदेश करें' तथा दुर्गुणों का प्रशमन करके शान्ति पहुंचाती रहें, इनके स्थान में हिंसापरक अर्थ ले लेने से कितना अनर्थ हो गया है और किस प्रकार की असंगत बात बन गई है इसे विद्वान् लोग विचार करें। अध्वर शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए निरुक्त में यास्काचार्य ने १/६ में

स्पष्ट कहा है कि 'अध्वर इति यज्ञनाम ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः' अध्वर्यु का अर्थव हां 'अध्वर' युनक्तीति वा अध्वरं कामयत इति वीं, किया गया है, अर्थात् अहिंसात्मक यज्ञ की कामना करने वाला अथवा उसकी व्यवस्था करने वाला। ऐसे अध्वर्यु शब्द का प्रयोग करते हुए फिर उसके साथ अश्वादि पशुओं के अंग-अंग काटने की वात जोड़ देना कितना असंगत और परस्पर विरुद्ध कथन है! अतः महर्षि दयानन्द ने अध्वर्यु पद का अहिंसारूप यज्ञ की रक्षा करते हुए—यह अर्थ देकर विशासतु का अर्थ उव्वट, महीधर ग्रिफिथ आदि की तरह काटने वा काटे हुए अंगों की आहुति देने का अर्थ न करके जो विशेष रूप से उपदेश देने का किया है, वह सरल और सुसंगत है। इसके साथ छात्र-छात्राओं वा सन्तानों के दुर्गुण निवारण और समय-समय पर इनकी शारीरिक परीक्षा की बात कितनी महत्त्वपूर्ण है।

अब हम इसी २३वें अध्याय के ४३वें मन्त्र पर विचार करना चाहते हैं हैं जो निम्नलिखित हैं---

द्यौस्ते पृथिव्यन्तरिक्षं वायुश्छिद्रं पृणातु ते ।
सूर्यस्ते नक्षत्रैः सह लोकं कृणोतु साधुया ॥

इसका उव्वटकृत भाष्य इस प्रकार है:—(द्यौः) स्वर्गः (पृथ्वी) अन्त-रिक्षम्) लोकत्रयाभिमानिनी देवा अग्निवायुसूर्याः वायुश्चः शरीरस्थः प्राणादिः हे अश्व (ते) तव (छिद्रं पृणातु) वचनव्यत्ययः पृणन्तु पूरयन्तु यत् न्यूनं तत्पूरयन्तु किंच (नक्षत्रैः सह) नक्षत्रयुक्तः सूर्यः (ते) तव (साधुया) साधु समीचीनं लोकं (कृणोतु) करोतु सूर्यस्ते उत्तमं लोकं ददात्वित्यर्थः ।

घोड़े के अंगों को काटकर और उनकी आहुति पृ० (४१५) अग्नि में देने के पश्चात् यह प्रार्थना असंगत है; पाठक इसका विचार करें। कर्म फलदाता भगवान हैं। उसके स्थान में सूर्य से यह प्रार्थना की कि नक्षत्रों के साथ वह तुझे उत्तम गति देवे, उत्तम लोक में पहुंचाए; यह भी कितनी असंगत और उपहासजनक प्रार्थना है! अब महर्षि दयानन्दकृत अर्थ को देखिये। उनके अनुसार पूर्व मन्त्रवत् यहां सम्बोधन मारे जाते हुए अश्व को नहीं अपितु शिष्या वा अध्यापिका को है कि :—

पदार्थ :—(द्यौः) प्रकाशरूप विद्युत् (ते) तव (पृथिवी) भूमिः (अन्त-रिक्षम्) आकाशम् (वायुः) पवनः (छिद्रम्) इन्द्रियम् (पृणातु) सुखयतु (ते) तव (सूर्यः) सविता (नक्षत्रैः) (सह) (लोकम्) दर्शनीयम् (कृणोतु) (साधुया) साधु सत्यम् ।

अन्वय :—हे शिष्येऽध्यापिके वा यथा द्यौः पृथिव्यन्तरिक्षं वायुः सूर्यो नक्षत्रैः सह चन्द्रश्च ते छिद्रं पृणातु (ते) तव व्यवहारं साध्नोतु (ते) तव साधुया लोकं कृणोतु ।

भावार्थ—यथा पृथिव्यादयः सुखप्रदाः सूर्योदय प्रकाशकाः पदार्थाः सन्ति तथैवाध्यापका उपदेशकाश्च अध्यापिका अप्युपदेशिकाश्च सर्वान् सन्मार्गस्थान् कृत्वा विद्याप्रकाशं जनयन्तु ।

तात्पर्य यह है कि जैसे पृथिवी आदि पदार्थ सुखदायक हैं और सूर्यादि प्रकाशक हैं वैसे ही अध्यापक, उपदेशक तथा अध्यापिकाएं और उपदेशिकाएं सबको सन्मार्ग पर चलाकर विद्या प्रकाश को उत्पन्न करें। विद्युत्, पृथिवी, आकाश और वायु तेरी इन्द्रियों को सुख देवें। और सूर्य तेरे लिए सारे लोक को भलीभांति दर्शनीय बनाएं। सूर्य-प्रकाश से तुम सदा लाभ उठाते रहो। अब पाठक देखें कि इन दो प्रकार के अर्थों में कितना अधिक अन्तर है? कहां तो शिष्य-शिष्याओं के लिए यह शुभकामना कि पृथिवी, वायु, आकाशादि सब उनकी इन्द्रियों के लिए सुखदायी हों और यह उपदेश कि अध्यापक, उपदेशक अथवा अध्यापिका, उपदेशिकाएं उनको उत्तम मार्ग पर चलाने वाली और विद्या प्रकाश को देने वाली हों और कहां घोड़े को मारकर उसकी त्रुटियों को पूरा करने की अग्नि-वायु-सूर्यादि से प्रार्थना? वेदों की महत्त्व की दृष्टि से कौन-सा अर्थ उपादेय है? यह विचारशील पाठक स्वयं विचार करें। हमें तो महर्षि दयानन्दकृत अर्थ ही सरल और सुसंगत प्रतीत होता है। अब इस प्रकरण के अन्तिम अर्थात् ४४वें मन्त्र पर हम तुलनात्मक दृष्टि से विचार करना चाहते हैं। यह मन्त्र निम्नलिखित है :—

> शं ते परेभ्यो गात्रेभ्यः शमस्त्ववरेभ्यः ।
> शमस्थभ्यो मज्जभ्यः शम्वस्तु तन्वै तव ॥

इसका उव्वटाचार्यकृतभाष्य इस प्रकार है :—

हे अश्व! (ते) तव (परेभ्यः) उच्चेभ्यः अवयवेभ्यः शिराआदिभ्यः (शम्) सुखम् (अस्तु) (अवरेभ्यः) अधःस्थेभ्यश्च पादादिभ्यः तवास्थिभ्यश्च शम् अस्तु (मज्जभ्यः) पृष्ठधातुभ्योऽपि शम् उ अस्तु किं बहुना तव (तन्वै) तन्वाः सर्वस्थापि शरीरस्य (शमु) सुखमेवास्तु। उ एवार्थे।

महीधर ने यहां भी अपने स्वभावानुसार उव्वट के भाष्य की अक्षरशः नकल कर ली है। अतः उसको उद्धृत करना अनावश्यक है। पं० ज्वालाप्रसाद ने उव्वट-महीधरभाष्य का ही अनुवाद निम्न शब्दों में किया है!

हे अश्व ! तुम्हारा हर अवयव अर्थात् शिर आदि से सुख हो अर्थात् तुम्हारे उत्तमांग हमारे लिए कल्याणकारी हों। नीचे स्थित कर-चरणादि गात्रों से वा अंगों को सुख हो। अस्थियों के निमित्त, मज्जा के निमित्त सुख हो वा इनसे हमारा मंगल हो। तुम्हारा शरीर सबके निमित्त सुखकारी हो वा तुम्हारे शरीर को सुख हो।

ग्रिफिथ ने भी इस मन्त्र का अंग्रेजी अनुवाद इसी आशय का किया है, सम्बोधन अश्व (Horse) को ही है—

Well be it with their upper parts, well with narrow and with all thy frame !

जहां तक इस मन्त्र के शब्दों के अर्थ का सम्बन्ध है उसमें कोई दोष वा आक्षेपयोग्य बात नहीं। ये शब्द इतने सरल और स्पष्ट हैं कि दूसरे अर्थ की कल्पना भी नहीं हो सकती। इसलिए जैसे कि, मैं अभी दिखाऊंगा, महर्षि दयानन्द ने भी शब्दों का अर्थ इसी प्रकार किया है किन्तु प्रश्न केवल विनियोग का है अथवा इस चीज का कि यह सब अंगों तथा समस्त शरीर के सुखकारी होने का आशीर्वाद किसको दिया जा रहा है। जहां उव्वट, महीधर, ग्रिफिथ आदि यह मानते हैं कि यह आशीर्वाद घोड़े के अंगों को काटकर उसकी आहुति अग्नि में देते हुए उसे दिया जा रहा है कि तेरे सिर, हाथ, पैर आदि सब अंगों को सुख हो तथा तू हमारे लिए कल्याणकारी हो (जिसकी असंगतता को अत्यन्त गूढ़ व्यक्ति भी समझ सकता है,) वहां महर्षि दयानन्द इस आशीर्वाद को विद्यार्थियों के लिए मानते हुए अर्थ करते हैं कि—हे विद्यामिच्छो ! ते (परेभ्यः) उत्कृष्टेभ्यः (गात्रेभ्यः) (शम्) सुखम् (अस्तु) (अवरेभ्यः) मध्यस्थेभ्यो निकृष्टेभ्यो वा (शम्) (अस्थभ्यः) अस्थिभ्यः (मज्जभ्यः) (शम् उ अस्तु) (तन्वै) शरीराय (तव)।

अन्वय :—हे विद्यामिच्छो ! तथा पृथिव्यादि तत्त्वं तव तन्वै शम् अस्तु परेभ्यः गात्रेभ्यः शम् उ अवरेभ्यः गात्रेभ्यः शम् अस्तु अस्थभ्यो मज्जभ्यः शम् अस्तु तथा स्वकीयैरुत्तमगुणकर्मस्वभावैरध्यापकास्तं शंकरा भवन्तु।

भावार्थ :—अत्र वाचकलु०—यथा माता पित्रध्यापकोपदेशकैः सन्तानानां दृढ़ाङ्गानि दृढ़ा धातवश्च स्युर्येः कल्याणं कर्तुमर्हेयुस्तथाध्यापनीयमुपदेष्टव्यं च।

तात्पर्य यह है कि हे विद्या की इच्छा करने वाले, पृथिवी आदि तत्त्व तेरे शरीर, तेरे ऊपर-नीचे के अंग, अस्थि-मज्जा आदि सबके लिए सुखकारी हों तथा अपने उत्तम गुण कर्म स्वभाव के कारण अध्यापक तेरे लिए सुख-शान्तिदायक हों।

भावार्थ :—माता-पिता अध्यापकों और उपदेशकों को ऐसा पढ़ाना और उपदेश करना चाहिए जिससे सन्तानों और विद्यार्थियों के अंग और धातुएँ दृढ़ हों।

इस प्रकार मैंने यजुर्वेद के २३वें अध्याय के ६ मन्त्रों का तुलनात्मक अनुशीलन विचारशील पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया है, जिनके अशुद्ध विनियोग के कारण महान् अनर्थ हो गया है। महर्षि दयानन्द ने इनका 'अश्व' देवता नहीं माना। उनके अनुसार मन्त्र ३९ और ४२ का अध्यापक, मन्त्र ४० और ४१ की प्रजा और मन्त्र ४३ और ४४ का राजा देवता है। यदि कथञ्चित अश्व, देवता मानने पर किसी का आग्रह हो तो भी 'वीर्यं वा अश्वः'—शत. २, १, ४, २४ के अनुसार उसका अर्थ वीर्यवान ब्रह्मचारी व अध्यापक होने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

'क्षत्रं वा अश्वः'—शत १३, २, २, १५। वज्री वा अश्व प्रजापत्यः—ते ३, ८, ४, २। इन्द्रो वा अश्वः कौ०—१५, ४ इत्यादि के अनुसार अश्व का अर्थ क्षात्रबलसम्पन्न वज्रधारी इन्द्र वा राजा ही हो सकता है। इसलिए उव्वट, महीधर, ग्रिफिथ आदिकृत इनके अर्थ वेदों की पवित्र शिक्षा के विरुद्ध, असंगत और उपहासास्पद हैं। महर्षि दयानन्द ने इनका शिक्षादिपरक जो उत्तम अर्थ किया है वह सर्वथा उपादेय हैं।

—'वेदवाणी' से साभार

वेदों में विज्ञान तथा कला-कौशल

डॉ० सत्यकाम भारद्वाज

वेदों के विषय में साधारणतया समझा जाता है कि इनमें तो केवल मात्र परमात्मा के गुणगान के मन्त्र हैं और अग्निकुण्ड में सुगन्धित वस्तुओं को जलाकर वेद मन्त्रों के उच्चारण करने से कल्याण होता है, कुछ दूर तक तो उनकी इस प्रकार की धारणा ठीक भी है, क्योंकि वेदों का मुख्य उद्देश्य तो मनुष्य को ज्ञान देकर दुःख से सदा के लिए मुक्त करना है। मनुष्य को पूर्ण ज्ञान तुलनात्मक ज्ञान द्वारा प्राप्त होता है, इसलिए आवश्यक था कि आदि सृष्टि के समय प्राणियों के कल्याण के लिए प्रभु इस संसार का विस्तारपूर्वक दान देता अर्थात् जिस विश्व में तुम रहते हो यह क्या है, कैसे बना है, क्या-क्या शक्तियां वा सिद्धान्त काम करते हैं, कैसे यह चल रहा है, कौन इसका मूलाधार है, किन-किन शक्तियों की सहायता लेकर इस संसार में सुखी जीवन बिता सकते हो, और जब उसे इस विश्व के विषय में ज्ञान हो जायेगा, तब स्वाभाविक है कि इसके बनाने वाले का भी उसे ध्यान हो। तब वह तुलना कर सकेगा कि कौन उसे ग्राह्य है। तब उसे इस विश्व के नियन्ता की ओर अभिरुचि होगी और इस संसार के अस्थायी सुख तथा आनन्द को त्याग आनन्द कानन सच्चिदानन्द प्रभु का साक्षात् कर उस सर्वदानन्द में लीन हो, सुखी हो सकेगा। अतः तुलनात्मक ज्ञान के लिए तथा संसार में रहते कैसे सुखी रह सकते हैं यह आवश्यक है कि इस संसार के विषय में पूर्णज्ञान हो, और वेद इस भौतिक ज्ञान से पूर्ण है। इसे ही अनुभव कर ऋषि लोगों ने वेद के मंत्रों के आधिदैविक तथा आधिभौतिक (metaphysical) अर्थ भी माने और अपने ग्रंथों में "इति अधिदैवतम्" इत्यादि कहकर वेदों के गूढ़ रहस्यों को समझाया। आजकल के भौतिक युग (material era) में जब लोगों की दृष्टि पश्चिम के विज्ञान-वेत्ताओं के चमत्कारों से चकाचौंध हो रही है और उस ओर खिची जा रही है और उनका यह विचार बन चुका है कि हमारे वेदों में इस प्रकार की वैज्ञानिक

शिक्षा का सर्वथा अभाव है, उनकी इस धारणा को हटाने के लिए वेदों के आधिदैविक तथा आधिभौतिक स्वरूप को पाठकों के सम्मुख रखा जा रहा है और पाठक स्वयं देखेंगे कि इस भौतिक विद्या या अपरा विद्या का पूरा ज्ञान देता हुआ, मनुष्य को इसके पश्चात् इससे कहीं ऊंची सदा के लिए दु:खों को छुड़ाकर परमपद को प्राप्त करने वाली परा विद्या का ज्ञान वेद देता है। इसी दृष्टिकोण से वेद के वैज्ञानिक स्वरूप का निर्देशन किया जा रहा है।

वेद में कितना विज्ञान (Science) वा कलाकौशल (Technology) भरा पड़ा है, इस पर लिखने बैठें तो एक महाकाव्य लिखा जा सकता है। इसके एक-एक सूक्त पर दीर्घकाय ग्रंथ भी लिखा जा सकता है। परन्तु हम अपने इस लघुलेख में वेद के कुछ मन्त्र प्रस्तुत कर विभिन्न विषयों की कुछ झांकियां ही दिखा सकेंगे जिससे पाठकों में वेद के इस स्वरूप की ओर भी रुचि हो और इस दिशा में काम करें।

अब एक स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या कारण है कि जब वेद को सब विद्याओं का स्रोत माना जाता है तो आजकल के कला-कौशल युग में वेद के पढ़ने-पढ़ाने वालों ने कुछ भी तो वैज्ञानिक आविष्कार नहीं करके दिखाया, जबकि पश्चिम के लोगों ने जिन्होंने कभी पढ़ना तो एक ओर रहा, इसके नाम भी नहीं सुने होंगे, जलतल; भूतल तथा आकाश में रोमांचकारी अन्वेषण कर दिखाये हैं। आज छोटा सा मनुष्य अपनी वैज्ञानिक शक्ति से वायुमंडल में ही नहीं, अन्तरिक्ष में भी अपना प्रभुत्व जमाना चाहता है। पृथ्वी को छोड़ दूसरे नक्षत्रों तक पहुंचने में उद्यत है। प्रश्न यथार्थ है, पर इसके कारण हैं। प्रथम यह बात ध्यान देने योग्य है कि कुछ शताब्दी पहिले जब पश्चिम का पदार्थज्ञान किञ्चिन्मात्र भी उदय नहीं हुआ था, उस समय एतद्देशीय लोग सभ्यता तथा कला-कौशल में कितने सिद्धहस्त थे, यह एक इतिहास सिद्ध बात है। उन्होंने जो कला वा विज्ञान में उन्नति की थी वह वेदों से लेकर ही की थी, क्योंकि पुराने ग्रंथ इसी बात को कहते हैं कि वेद ही हमारे आदि स्रोत हैं। अब रहा कि अब पुनः क्यों नहीं आविष्कार करते? उत्तर में निवेदन है कि वेदों का पठन-पाठन, उसकी प्रक्रिया, ऋषि-शिष्यों की परम्परा उसकी परिभाषा के गुह्य रहस्यों के उद्घाटन की परिपाटी सहस्रों वर्षों से टूट गई और उसके साथ ही वेद विद्या लुप्त हो गई। अब तो वैदिक परिभाषा और उसकी वर्णन शैली आदि को जानने के लिए नये सिरे से ही अटूट-प्रयत्न करना पड़ेगा।

दूसरा तथ्य यह है कि पश्चिम के लोगों ने जो उन्नति तथा आविष्कार किये हैं क्या वे किसी एक पुरुष, एक परिवार वा समाज वा एक देश ने ही किये हैं? क्या थोड़े-से ही वर्षों में यह सब उन्नति हो गई? सब जानते हैं कि उनका यह सब ज्ञान सदियों के सामूहिक परिश्रम का फल है। वहां जिस देश के किसी भी

व्यक्ति को जो वैज्ञानिक अनुभव हुआ उसने उसे दूसरे के आगे रखा, औरों ने उसके आगे उसे बढ़ाया और धीरे-धीरे यह विज्ञान-कुम्भ भरा और उस का आस्वादन विभिन्न आविष्कारों के रूप में सब कर रहे हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि हम इसी प्रकार वेदों के इन गुह्य वैज्ञानिक तत्त्वों को, उनकी परिभाषा (Terminology) को नये सिरे ले नये ढंग से सब मिलकर श्रद्धा, तप, विद्या तथा धन से खोजने का यत्न नहीं करेंगे तो पाश्चात्य लोग जैसे हजारों वर्ष आगे निकल गये वैसे और निकल जायेंगे और जो कुछ आज उपलब्ध है हम उसे भी खो बैठेंगे।

1. वेदों में विश्व रचना (Cosmogony)

सबसे पहिले हम वेदों से विश्व-रचना के विज्ञान को पाठकों के सम्मुख रखते हैं। पश्चिमी विज्ञान-कोविद बहुत काल तक यही मानते रहे कि संसार ९२ तत्त्वों से बना है। इनतत्त्वों को एलिमैण्ट (element) अर्थात् आदि वस्तु कहते हैं और यह भी माना जाता रहा कि एक तत्त्व दूसरे तत्त्व में परिवर्तित नहीं होता। जैसा लोहा तत्त्व सोना तत्त्व नहीं बनसकता और जब हम उनको कहते थे कि विशेष रासायनिक विधियों से (तांत्रिक ग्रंथों में वर्णित विधियों से) लोहा सोना बन जाता है तो हमारी खिल्ली उड़ाई जाती थी। उनके अनुसार लोहा सर्वथा विभिन्न तत्त्व है, यहअसम्भव है कि उसकेतत्त्व का सर्वनाश हो जाये। हां, उसके तत्त्व के परमाणु (atoms) दूसरों के साथ मिलकर नई वस्तु बना देंगे, पर लोहे के परमाणु लोहे के ही रहेंगे। उनके अनुसार एटम (atom) का अर्थ ही है a= नहीं, tom= कटना अर्थात् जो और आगे न कट सके या टूट सके, अर्थात् प्रकृति (matter) का वह अन्तिमरूप या अवस्था थी। पर कुछ ही काल हुआ कि एक विज्ञान वेत्ता द्वारा एक नई किरणों का आविष्कार हुआ और फिर 'रेडियम (radium) आदि का आविष्कार हुआ, और फिर यह भी पता चला कि यह रेडियम धातु कालान्तर में सिक्का (सीसा) धातु बन जायेगा। इसको विधिवत् सिद्ध करने के लिए यही सबका निश्चय हुआ कि एटम वा परमाणु अन्तिम अवस्था नहीं, उसके अन्दर भी उसके और अंश हैं, यह मानना पड़ा। सो परमाणुओं को अब विद्युत कण पुंज माना जाता है। उसके मध्य में धन विद्युत पुंज (Proton, Neutron Meson आदि) तथा उस धन मींगगियों के चहुं ओर छोटे-छोटे ऋण विद्युत् कण (electrons) बड़ी तीव्र गति से घूम रहे हैं, ऐसी कल्पना की गई। अब वह कणों की कल्पना भी जा रही हैऔर यही समझा जा रहा है कि प्रकृति का, विश्व का अन्तिम स्वरूप एक प्राण शक्ति (energy) है। पाठक देखें कि कितने परिश्रम, धन व्यय, कितनी सदियों के यत्न के पश्चात् पश्चिम के विद्वान् इस निश्चय तक पहुंचे हैं कि सृष्टि सृजन के समय पहिले-पहल परमाणु नहीं बने थे। वह तो एक

विशाल शक्ति (energy) थी। इसी विषय पर हम अमेरिका की एक सुविख्यात भौतिक विज्ञान वेत्ता (Physicist) कु० ईरा एम० फ्रीमन का उद्धरण उसकी पुस्तक मार्डन इन्ट्रोडक्टरी फ़िज़िक्स पृष्ठ १२७/१९४९ से देते हैं। वह लिखती है :—

As far as we can tell, the ultimate state of the universe may be one in which the whole vast ocean of energy is at one level, with no possibility of any further change unless some agency we know nothing about at present, acts to "wind up" the mechanism again.

अर्थात्:—जहां तक हम कह सकते हैं वह यह है कि विश्व की अंतिम अवस्था वह होगी जिस समय प्राण (energy) का अर्णव वा महासागर समतल (जैसे पानी समतल होकर खड़ा हो जाता है वैसे) हो जायेगा और इनमें आगे कोई हलचल वा परिवर्तन न हो सकेगा जब तक कोई अन्य प्रेरक शक्ति इस विश्व की कला को पुनः नहीं घुमा देगी।

इनके इस कथन में दो बड़ी महत्त्वपूर्ण बातें हैं—प्रथम यह कि विश्व की अंतिम अवस्था को जड़ीभूत प्राण के महासागर की उपमा दी है, परमाणुओं की नहीं। दूसरा प्रकृति निष्क्रिय, जड़ मानकर इसमें पुनः हलचल उत्पन्न करने के लिए इससे भिन्न किसी प्रेरक शक्ति को (जिसे हम सर्वशक्तिमान् परमेश्वर कहते हैं) मानना स्वीकार किया है।

पाठक स्वयं देखें कि प्रतिदिन की संध्या के 'ऋतं च सत्यं······समुद्रः अर्णवः' वाले मन्त्र का ही कु० ईरा अपने शब्दों में अनुवाद करती नहीं दीखती ? यह मन्त्र ऋ० १०/१९२/१ का है और सृष्टि उत्पत्ति इसका देवता है। क्या इसमें यह स्पष्ट शब्दों में नहीं बताया है कि जड़ सत्य प्रकृति में जब ऋत अर्थात् गोल-गोल वा भ्रमरी के समान घूमने के सत्य धर्म को अधिष्ठित किया जाता है, तव उस प्रकृति में उस समय कुछ (रात्रि) देने की शक्ति वा क्षोभ से प्राण समुद्र तथा उससे भी महान् महासागर के रूप में प्राण तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं। जहां आधुनिक कु० ईरा जैसे विद्वान् कोविद आज इस निश्चय पर पहुंचे हैं कि विश्व का आदि स्वरूप धारा प्रवाह प्राण है जिसमें समुद्र तथा महासागर की तरंगें उत्पन्न होती हैं; वहां वेद हमें आदि काल में अपने इस मन्त्र द्वारा वता चुका है। अथर्ववेद के ११ वें काण्ड का ४ था सूक्त पूरा का पूरा इसी आदि प्राण का वर्णन करता है। इस सूक्त के तीन मन्त्र पाठकों के आगे रखे जाते हैं:—

(१) प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

(२) नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे।
नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते ॥
(३) प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते।
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम् ॥

इस सूक्त का देवता वा विषय ही प्राण हैं। इन मन्त्रों में कहा है कि इस प्राण का यथोचित सम्मान वा प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि सब कुछ प्राण के ही वश में है जो सबका ईक्षण (Control) करने वाला है और सब कुछ उसी में स्थित है वा उसी के आश्रय में ठहरा हुआ है। दूसरे मन्त्र में प्राण के चार रूप बताये हैं जो सर्वथा आज विज्ञान के अनुकूल हैं। मन्त्र बताता है कि प्राण का एक रूप है 'क्रन्द' अर्थात् Flow वा गति प्रवाह लगातार तरंगे जो अंतरिक्षादि में समुद्र या अर्णव के रूप में घूम रही हैं। प्राण का दूसरा रूप "स्तनयित्नु" है अर्थात् प्राण शब्द के रूप में परिवर्तित हो जाता है वा रूपान्तर में बदला जा सकता है।

यह बात भी ठीक है कि प्राण (Energy) शब्द में (Sound) में बदलते हैं वा शब्द प्राण का ही रूप है। तीसरा "विद्युत" अर्थात् प्रकाश, यह भी प्राण का ही रूप है। (Light is energy) ऐसा विज्ञान वेत्ता स्वीकार करते हैं। प्राण का चौथा रूप बड़े महत्त्व का है। वेद ने इसका नाम "वर्षा" कहा है। वर्षा वा पानी। पानी रसायनों के संघात का रूप है। वर्षा को हम रसायन संघात (chemical synthesis) इसलिए कहते हैं क्योंकि पानी में दो विभिन्न गैस-ओषजन (oxygen) तथा उद्रजन (Hydrogen) विद्युत रूपी प्राणशक्ति द्वारा (ionic form) संगठित वा इनकी संहति होती है तब बनता है, बिना विद्युत् प्राण के इनमें संघात नहीं हो सकता। देखा जाय तो वेद ने संसार के सभी रासायनिक क्रियाओं तथा पदार्थों को वर्षा के रूप में एक ही वर्ग में इकट्ठा कर दिया है। या यूं कहें कि वर्षा जल संसार के सभी रासायनिक पदार्थों का प्रतिनिधित्व करता है। सूक्त के १५वें मन्त्र में और विस्तार से बता दिया कि यह प्रकट विश्व (manifest world) प्राण ही है। सूर्य, चन्द्रादि नित्य पदार्थ भी प्राण का ही रूप हैं; संसार की सब वस्तुएँ इस प्राण के साथ ही इकट्ठी काम करती हैं (Coordinate)। यह भी कहा कि जड़-जंगम का पालन-पोषण संविधान (प्रजापति) भी प्राण का ही दूसरा रूप है अर्थात् प्राण ही कर रहा है।

वेद का यह स्पष्ट ज्ञान है कि जड़ प्रकृति 'सत्य' में, जब ऋत (Rotation) गति को अधिष्ठित किया जाता है तब सृष्टि का प्रारम्भ होता है। वही भ्रमर गति (Rotation) चाहे सूक्ष्म रूप में परमाणु के अन्दर विद्युत् कणों में प्रारम्भ करें वा सूर्यादि महाकणों के गिर्द-गिर्द अन्य पृथिवी आदि महान् नक्षत्र रूपी कणों में उत्पन्न की और इसी आदि गति से सब नक्षत्र बंधे हुए हैं और एक

दूसरे के गिर्द घूम रहे हैं। इस ऋत गति के आधार पर ही विश्व रचना की आधारशिला रखी गई। वेद का यह ज्ञान सब पश्चिमी विद्वान् स्वीकारते हैं। आइनस्टाईन (Einstein's theory of relativity) का पारस्परिक गति का सिद्धांत यही कहता है कि सब नक्षत्र घूम रहे हैं, कोई भी खड़ा नहीं हैं।

ऋग्वेद (१०/६२/३) का मन्त्र कहता है।

य ऋतेन सूर्यमारोहयन् दिव्यप्रथयन् पृथिवीं मातरं वि।

अर्थात्—इस ऋत गति के आधार पर ही सूर्य का बीज बोया गया और उससे उसकी दिव्य शक्ति माता पृथिवी की ओर फैलाई वा फैलाता है। सूर्य की किरणें भी इस ऋतगति से ही पृथिवी तक आती हैं। यह वेद का ज्ञान अभी पश्चिमी विद्वानों को नहीं पता। वह कहते हैं कि यह लहरे हैं। वेद उसे घूमती हुई (Rotatious) का रूप दे रहा है। इस विदर्भ पर हम फिर कभी विस्तार से प्रकाश डालेंगे।

अथर्व वेद (५/१७/१) में "सलिलो—प्रथमजा ऋतस्य।" ब्रह्म (विश्व) जाया अर्थात् विश्व की उत्पत्ति के विषय में बताया है कि ऋत से प्रथम में सलिल उत्पन्न हुआ। सलिल कहते हैं गतिमति शक्ति को (षल गतौ)।

यजुः (१७/३०) में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है :—

"अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थुः।"

अर्थात् अज=गति (अज गतौ) के नाभिः (नह्यति बहनाति इति नाभिः) बन्धन में ही सब कुछ आधारित वा अर्पित किया हुआ है। उसी बन्धन (gravitation) में सारे भुवन स्थित हैं, अर्थात् अपने चक्कर काट रहे हैं और अपनी परिधियों से (orbits) विचलित नहीं हो रहे! कितने स्पष्ट शब्दों में अज शक्ति (Force of gravitation) के सिद्धान्त का वर्णन वेद में है!

वेद में एक अन्य सिद्धान्त का वर्णन एक मन्त्र द्वारा जो ऋक् (१०/८१/३) तथा यजुः (१७/१९) दोनों स्थानों में एक ही मंत्र है, इन शब्दों में किया है:—

"सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावा भूमी जनयन्देव एकः"

इस मन्त्र में एक बड़े महत्त्व के सिद्धान्त का प्रदर्शन है। वह महती शक्ति द्यावा तथा पृथिवी रूपी, दो बाहुओं (बाँधने के केन्द्रों) को रचकर अति गतिशील पत्रों (पत गतौ) अर्थात् अनेक प्रकार की किरण-तरंगों द्वारा (संधमति) संसार को परिपूरण तथा पोषण पहुंचाती है (धमति प्रापयति)। अर्थात् पहिले

दो केन्द्र बनाये जिन्हें विज्ञान वेत्ता आज अपने शब्दों में पोल (poles) कहते हैं, जैसे बैट्री के पोल एक गर्म एक ठण्डा, और वह महान् केन्द्र विश्व को बांधे हुये हैं। द्युलोक में सूर्यादि गर्म पोल हैं, और पृथिवी आदि नक्षत्र ठण्डे पोल हैं और यह दोनों केन्द्र कई प्रकार की किरणों द्वारा वन्धे हुए परस्पर व्यवहार कर रहे हैं। इन्हीं दो केन्द्रों या पोल्स के द्वारा विश्व में कई वस्तुएं काम कर रही हैं। बिजली के दो केन्द्र वा पोल्स होते हैं। सब बिजली वाले जानते हैं कि एक गर्म तार दूसरी ठण्डी तार होती हैं, तब ही बिजली के सब यन्त्र चलते हैं। चुम्बक (magnet) को भी दो केन्द्रों उत्तर ध्रुव (North pole) तथा दक्षिण ध्रुव (South pole) के नामों से पुकारे जाते हैं। वहाँ भी एक केन्द्र से किरण तरंगें निकलकर दूसरे केन्द्र वा पोल में घुस जाती हैं, इधर-उधर नहीं जातीं। इसी प्रकार वेद के द्यावा पृथिवी रोदसी आदि पारिभाषिक शब्द इसी सिद्धान्त का वर्णन करते हैं। प्राणियों में भी यही दो केन्द्र पुरुष तथा स्त्री के रूप में हैं। वेद में द्यौ को पिता तथा पृथिवी या भूमि को माता कहा है। इसमें भी एक गर्म अर्थात् पुरुष अग्नि, तथा स्त्री जल या ठण्डी है। शतपथ में "अग्निर्वै पुमान् आपो वै योषा" अर्थात् पुरुष अग्नि तथा जल स्त्री है स्पष्ट कहा है। तात्पर्य यह है कि इन दो केन्द्रों या बाहुओं, बन्धनों द्वारा सब काम पूरे हो रहे हैं। इस मन्त्र ने इस सिद्धान्त का प्रदर्शन किया है जो सर्वथा ठीक है।

पाठक ऊपर के प्रमाणों द्वारा स्वयं अनुभव करते होंगे कि पश्चिम के विज्ञान कोविद सदियों के इतने परिश्रमों के उपरान्त आज जिन निश्चयों पर पहुँचे हैं, वेद वहाँ प्रारम्भ में ही इसका वर्णन करता आया है। कितना अच्छा होता कि इन लोगों ने वेदों को इसी ढंग से पढ़ा होता तब दोनों का उद्धार हो जाता, उनका भी और वेद का भी।

२. वेद में भौतिकविज्ञान *(Physics)*:—

(क) **सूर्यरश्मि** : सबसे प्रथम वेद में सूर्य की किरणों के विषय में क्या वर्णन है, देखें।

(i) अथर्ववेद (६/१०५/३) का मंत्र है—

यथा सूर्यस्य रश्मय : परापतन्त्याशुमत् ॥

अर्थात्—सूर्य की अत्यन्त वेग वाली तथा व्यापक होने वाली किरणें बड़े वेग से चलती हैं। यहां आशुमत् तथा रश्मयः बड़े महत्त्व के शब्द हैं। आशुमत् तो अत्यन्त वेग को बताता है। आजकल के फ़िज़िसिस्ट (Physicists) यह मानते हैं कि सूर्य की किरणों से अधिक वेगवान् कोई वस्तु नहीं। रश्मि कहने से यह बताया है कि यह व्यापक हो जाती है। (अश्नुते व्याप्नोतीति रश्मिः उ० को०

४/४६/ उणादिकोश भी रश्मि का अर्थ 'व्यापक होना' ऐसा मानता हैं) सूर्य की अनेक प्रकार की किरणें होती हैं। उनमें कई (α, β, Gamma, x-ray, cosmic rays) अत्यन्त ही व्यापकधर्मी हैं। कई-कई फुट मोटे सीसे में से भी गुजर जाती हैं। अतः उनका व्यापकत्व (Penetration) रश्मि शब्द से प्रकट किया है—

(ii) यजु० १३ अ० के ८वें मन्त्र में सूर्य किरणों के विषय में कहा है :—

ये बामी रोचने दिवोये वा सूर्यस्य रश्मिषु।
येषामप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः॥
(य० १३/८)

अर्थात्—जो (वामी) अत्यन्त गतिशील तथा प्रकाशस्वरूप दिव्यलोक में या सूर्य की व्यापक किरणें हैं जो सर्प गति से चलती हैं उन का हम कल्याण के लिए प्रयोग करें।

इस मंत्र में सूर्य की किरण को सीधी तीर के समान चलने वाली न बताकर सर्प गति कहा है अर्थात् कुण्डल या बलखाती (coils) या दायें-बायें या ऊपर-नीचे होती हुई बड़ी गति से चलती हैं। पश्चिम के विद्वान् किरण को लहर (ऊपर-नीचे) की गति से समझाते हैं। वेद ने उन्हें सर्प गति से 'दायें-बाये होकर चलना बताया है, वात एक ही है। देखना अब यह है कि, ऊपर-नीचे में गति लम्ब (Vertical) होती है और सर्प गति में गति त्रियक (Horizontal) होती है। किसी ने इस दिशा में खोज या ध्यान नहीं दिया। हमें निश्चय है कि वेद की सर्प या त्रियक (Horizontal) गति ठीक निकलेगी।

(iii) इन किरणों के विषय में सामवेद में तीन स्थलों में एक ही भाव को प्रकट करने वाले ३ मन्त्र आते है। मंत्र हैं :—

"त्रिरस्मै सप्त धेनवो दुदुह्रिरे"··· पू० प्र० ६ (२) द २-७।

"अयं त्रिसप्त दुदुहान०"··· उ० प्र० ६ (२) १७ (१)

"ते मन्वत प्रथमं नाम गोनां त्रिसप्त परमं नाम जानन्"।
पू० प्र० ६ (३) द इचं ५

इन तीनों मन्त्रों त्रिसप्त धेनवः दुदुह्रिरे वा त्रिसप्त दुदुहान वा गोनां में त्रिसप्त शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। इन मन्त्रों में गो, धेनु आदि भिन्न-भिन्न प्रकार की किरणों का वर्णन करते हैं। त्रिसप्त का अर्थ है ३-३ बार सात,

अर्थात् सात-सात के तीन गुट वा वर्ग (Sets) अर्थात् किरणों के सात-सात के तीन गुट हैं। आजकल भी तीन ही गुटों में सूर्य की किरणें बाँटी जाती हैं। एक गुट वह है जो हमें दीखती किरणों का है, दूसरे दो गुट हमें दिखाई नहीं देते, जैसे आल्फ़ा, बीटा, गामा, एक्स, कास्मिक आदि किरणों को हमारी आँखें नहीं देख सकतीं, पर वह हैं अवश्य। दीखने वाली श्वेत किरण ७ रंगों के संयोग से बनती है और वह श्वेत किरण वर्षा में से जब निकलती है तो फट जाती है, तब सात रंगों का इन्द्र धनुष (rain bow) दिखाई देता है।

दृश्य किरण सात रंगों का एक गुट है। इसी प्रकार इन किरणों से अधिक सूक्ष्म वा अधिक बड़ी वा दीर्घ लहरों वाली किरणों के भी जुदा-२ गुट हैं। उनके भी ७-७ प्रकार हैं। अभी वैज्ञानिक यहाँ तक नहीं पहुँचे कि यह बता सकें कि वह कितनी-२ हैं। पर हैं अवश्य, यह सिद्ध कर चुके हैं। इस दिशा में खोज की और आवश्यकता है।

(ख) विद्युत्: वेद विद्युत् के विषय में क्या वर्णन करता है ?

(i) इसकी उत्पत्ति आज जितने भी प्रकार से की जाती है उनका मूल सिद्धान्त सामवेद के दो स्थलों में एक ही मन्त्र में प्राप्त होता है:—

"अग्नि नरो दीधितिभिररण्योर्हस्तच्युतं जनयत प्रशस्तम्"।

अर्थ है कि किसी अच्छे प्रकार धारण की हुई वा बाँधी हुई अरणि द्वारा किसी चलाने वाले साधन की सहायता से हस्तों से चूती हुई तथा (प्रशस्तम्) अपनी इच्छा के अनुसार वश में की हुई (well controlled) (अग्नि) अग्रगामिनी शक्ति को (जनयत) उत्पन्न करो।

इस मंत्र में २-३ अति पारिभाषिक शब्द हैं। एक शब्द है 'नर'। नर का अर्थ है (नृ नये) ले जाने-ढकेलने वाला (driving agent) दूसरा शब्द है 'अरणि' अर्थात् लट्टू के समान तीव्र गति से घूमने वाली तथा जिससे कुछ प्राप्त हो (dynamo वा turbines)। तीसरा शब्द है 'हस्त'। अर्थात् रगड़ देने वाले वन्धन (हिंसि हिंसायाम्), इनसे कम बढ़ती, धीमी वा तेज़ (शसु इच्छायाम्) वा पूरी तरह इच्छा के अनुसार शक्ति उत्पन्न करो। सीधा अर्थ यूं बना कि कोई नर वा चलाने वाली शक्ति अच्छे प्रकार बँधी हुई तीव्र गति से भ्रमरी के समान घूमती अरणि रगड़ देने वाले साधनों द्वारा चूती हुई, निकलती हुई पूरे वश में की हुई उत्तम विद्युत् शक्ति (अग्नि) को उत्पन्न करो। ऋग्वेद (६/४८/५) में इसी भाव को इन शब्दों से और स्पष्ट किया है।

सहसा यो मथितो जायते नृभि: 'पृथिव्या अधिसानवि"।

अर्थात् दानशीला अग्रगामिनी शक्ति (नृभि:) नाना प्रकार के धकेलने वा

चलाने वाले साधनों द्वारा पार्थिव वस्तुओं को मथ (रगड़ देकर) सहसा ही उत्पन्न की जा सकती है।

अभिप्राय यह है कि आज जिन भी साधनों से बिजली उत्पन्न की जा रही है, चाहे वह बड़े बिजली घरों में स्टीम इञ्जिनों से वा पानी के बांध (dams) बनाकर पानी में वेग उत्पन्न कर तथा उसमें धकेलने वाला नर बनाकर वा किसी अन्य अनेकों रूपों में धकेलने वाले नरों द्वारा बड़ी वा छोटी घूमने वाली अरणियों (dynamo वा turbines) को रगड़ देकर बिजली उत्पन्न की जा रही है। पर इन विधियों से प्रवाह को कम-अधिक करके उत्पन्न की गई विद्युत् उत्पत्ति का मूल इस मन्त्र में ही है। यह पाठक स्पष्ट देख सकते हैं।

(ii) विद्युत् गुणाः अथर्ववेद में विद्युत् के गुण यूं वर्णित हैं।

> नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे।
> नमस्ते अस्त्वश्मने येनादूडाशे अस्यसिग। (१/१३/१)

अर्थात्—इस विद्युत का सदुपयोग प्रकाश के लिए, शब्द उत्पत्ति के लिए जैसे मोटरों के हॉर्न, रेडियो आदि, व्यापकता के लिए जैसे चुम्बक शक्ति वा x—rays, L.B. गामा आदि अत्यन्त व्यापक होने वाली किरणों के लिए करो वा कर सकते हो, उनसे चला सकते हो (अस्यसि)। एवं अथर्ववेद २/१९ सूक्त में विद्युत् रूपी अग्रगामिनी शक्ति के यह ५ गुण कहे हैं— तपना (heat), हर लेना (attract चुम्बक बनाकर), गति, वस्तुओं में रासायनिक प्रतिक्रियाएँ करके नई वस्तुओं का संघात करना तथा प्रकाश वा तेज उत्पन्न करना। स्थानाभाव के कारण अधिक लिखा नहीं जा सकता, अन्यथा वैज्ञानिक विषयों पर वेद से सूक्त के सूक्त प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

३. वेद में कला-कौशल
(Technology in the Vedas)

(क) शिल्प तथा शिल्पी :—संक्षेप से प्रथम हम शिल्प तथा शिल्पियों के नाम ही देते हैं जिससे पाठक अनुमान लगा लें कि इनके द्वारा काम कर कितना वैभव उत्पन्न कर सकते हैं। यजुर्वेद का ३०वां अध्याय इस विषय पर विशेष प्रकाश डालता है। इसमें अनेकों प्रकार के शिल्प-शिल्पकारों के नाम वा ठीक काम न करें तो उनको क्या दण्ड मिले, इकट्ठे एक ही स्थान पर दे रखे हैं। हम मन्त्रों को न देकर कुछ शिल्पकारों के व्यवसायों से उनके नाम लिख देते हैं। यथाः— सूत, रथकार, तक्षक, कौलाल, कर्मार, मणिकार, वप, इषुकार, धनुष्कार, ज्या-

कार, रज्जुसर्ज, इत्यादि-इत्यादि। यजु: के १६वें अध्याय में सेनानी, रथी, निषाद, पुञ्जिष्ठ, श्वनी (तीव्रगतिशाली), मृगयु (investigator etc), विल्मी (under ground stratagist) कवचिन्, वर्मी, विरूथी आदि रक्षा में शिष्ट आशुषेण, आशुरथ (fast vehicle) आदि अनेक व्यवसायों के नाम दे रखे हैं।

(ख) **अनेक प्रकार के वाहनों के विषय में :** रथ से आजकल किसी भौंडी बैलगाड़ी का ही भाव लिया जाता है। चूंकि हम लोगों ने इसी प्रकार के वाहनों को रथ कहते सुना है, अतः हमारा ज्ञान भी इस शब्द से इसी प्रकार के साधारण वाहनों तक ही सीमित है। रथ का वास्तविक अर्थ है आराम से बैठे-बैठे जिसमें रमण किया जाए। रमते यस्मिन् येन वा रथः यानं शरीरं वा (उणा० २/२) इसके अनुसार भी रथ से यही अभिप्राय निकला। किसी साधन वा वाहन में बैठकर भ्रमण करना वा तीव्र गति से जाना रथ की सवारी है, चाहे वह बैलगाड़ी हो वा घोड़ागाड़ी, रेल हो वा मोटर, वा स्कूटर वा विमान सब रथ ही हैं। अब हम संक्षेप से इन वाहनों, रथों के विषय में वेदविहित ज्ञान दर्शाते हैं।

(i) सामवे० उप्र० ६(१) १ (१) में कहा है—

सुषमिद्धो न आवह देवाँ अग्ने हविष्मते।

हे अग्रगामिनी शक्ति तू ! स्वयं अच्छे प्रकार सुसमिद्ध होकर वा स्वयं अच्छे प्रकार जलाने वा भस्म करने की शक्ति प्राप्त कर, भस्म हो जाने वाले पदार्थों (fuels) को पूर्ण रूप से भस्म कर (complete combustion) उससे शक्ति पाकर हविष्मति बनकर विद्वान् लोगों को वाहन कर। परोक्ष में समझाया है कि विद्वान् लोग जलकर भस्म हो जाने वाले पदार्थों (fuel) को पूर्ण रूप से भस्म कर उस भस्मीभूत पदार्थ से उत्पन्न हुई शक्ति जैसे गैस है, उस शक्ति को अपने वाहन चलाओ वा अन्य कलाओं को चलाओ। यहाँ आजकल के (Combustion engine) का सिद्धान्त वर्णित है।

(२) ऋग्० १०/६४/७ में :—

प्र वो वायुं रथयुजं पुरंधिं स्तोमैः कृणुध्वं सख्याय। इसमें सुख कल्याण के लिए वायु अर्थात् विद्युत् वा gases, जो (पुरंधि) पूरा बोझा वा गाड़ी वा कला को पूर्णरूप से धारण कर सके उसमें इतना दबाव (Pressure) उत्पन्न करने के पश्चात् (स्तोमैः संघातैः) अर्थात् जब वह दबाव चोट मार सके वा धकेल सके, उन पदार्थों का पूर्ण ज्ञानकर अपने रथो में जोड़ो तथा वेग गति से चलाओ। इसमें वायु, गैसेज़ तथा विद्युत् वा जो भी गति उत्पन्न कर सकता है उसको पूर्ण शक्ति वा pressure तक तैयार कर रथादि में जोड़ो।

(३) गौर्धयति मरुतां श्रवस्युर्माता मघोदाम् । युक्ता वह्नी रथनाम् । सा० पूप्र० २ (२) द (१) ५ ।

अर्थात् जिस प्रकार किरणें (मरुतां) वायु में मारने वा चोट देने की शक्ति उत्पन्न करती हैं और उसे वेगवान् बनाती हैं, वैसे वह्नी भी रथों में जोड़ी हुई उन्हें वेगवान् बना सकती है ।

(४) रथों के अंगों का वर्णन

स उत्तिष्ठ प्रेहि प्रद्रव रथः सूचकः सुपविः सुनाभिः । अथर्व० (४/१२/६) में कहा है—उठ प्राप्त कर, प्रयत्न कर, अपने वाहन को प्रद्रव अत्यन्त वेगवान् बना । पर उस रथ के चक्र अत्यन्त ही सुदृढ़ तथा सुन्दर होने चाहिए ।उसकी पवि (rims) अच्छी तथा पक्की हो उसके पहियों की नाभि (hub) बड़ी हो, अति उत्तम हो तो उसे भगा ।

(५) परिष्वजध्वं दश कक्षाभिरुभे धुरौ प्रति वह्नि युनक्तु ।

(ऋ० १०/१०१/१०)

इस मन्त्र में १० कक्षा वाले (10 Chambered) एञ्जिन का सिद्धान्त है और कहा है कि दो धुरों को वह्नि से जोड़ (परिष्वजध्वं) तीव्रगति को प्राप्त हो । १० कक्षा वाले तथा दो धुरों वाले रथ को वह्नि (वाहन शील) पदार्थों से संयुक्त करने का विधान है ।

(६) अग्ने युङ्क्ष्वा हि ये तवाश्वासो देव साधवो अर वहत्याशवः सा उ० प्र० ६(२) २ (१) अर्थात्—हे आगे धकेलने वाली शक्ति (साधवः) सिद्ध हुई (साध्नोति इति साधु, साध संसिद्धौ) आशु गतिवाली शक्ति को जोड़ा जाय तो यह (अरं) पहिये के अरों को वा पहियों को तीव्र गति से चला सकती है ।

इस प्रकार के अनेकानेक मन्त्र उद्धृत किये जा सकते हैं जिनके द्वारा वाहनों को चलाया जा सकता है । केवल संक्षेप में यहाँ बताया गया है ।

(७) अब केवल प्रमाण मात्र ही कई प्रकार के वाहनों को वेद में से दिखाया जाता है ।

(i) स्वस्तिवाहं रथम् (ऋ० १०/१०१/७)

(ii) एवं सुखरथं युयुजे (ऋ० १०/७५/६)

इसमें सुखदायक रथ वा वाहन का वर्णन है ।

(iii) अग्ने सुखतमे रथे देवाँ ईडित आवह ।

सा० वे० उ० प्र० ६ (१) १ (४)

अर्थात्—विद्वान् लोग अग्नि आदि अग्रगामी साधनों द्वारा अत्यन्त सुखदायक रथों में बैठकर जावें जिससे उनकी बड़ी स्तुति भी हो ।

(iv) यं कुमार नवं रथम चक्रं मनसा कृणोः । ऋ० १०/१३५/३

अर्थात्—सुखादि की कामना करने वाले (कामयते भोगानिति कुमारः। उणा० ३/१३१) अपने (मनसा) ज्ञान को बढ़ाकर नये प्रकार के वा (नयतीति नवम्) आगे ले जाने वाले (रथमचक्रं) बिना चक्रों वा पहियों के रथ को करो वा बनाओ। क्या यह tanks वा sledges हैं ?

(v) एवं ऋ० १/१६१/३ में अनश्वरथ का वर्णन है अर्थात् बिना घोड़े आदि के रथ बनाओ।

(vi) ऋ० ८/९१/७ में खे रथस्य खे अनसः खे युगस्य शतक्रमो—यहाँ खेरथ वा खे अनसः से सीधा आकाशगामी रथों का अभिप्राय है।

(ग) नौका चालन :—कलाओं से चलाये जाने वाले नौ वा जहाजों का भी वर्णन है, जैसे—

(i) नावेव पारय (ऋ० १/९७/७)

(ii) "समुद्रे अश्विना ईयते" (ऋ० १/३०/१८)।

(iii) सिन्धाविव प्रेरय नावमर्कैः (ऋ० १०/११६/९)—में अर्कों (propellers) की सहायता से सिन्धुओं को नाव से पार कर। नाव में अर्क (Propellers) लगा कर पार कर !

(घ) पायना :—अग्नि द्वारा धातु विशेषतः लोहे को अधिकतीक्ष्ण करना जिसे पानी देना वा temper करना कहते हैं। अथर्ववेद ३/१९/४ में स्पष्ट शब्दों में इस सिद्धान्त को उदाहरण देकर समझाया है। मन्त्र भाग है—

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत।

अर्थात्—हे अग्नि ! तूं इस तीक्ष्ण परसे (बच्छें) को और भी तीक्ष्ण (तीक्ष्णतर) कर। यह पायन वा temper करने की विधि बताई।

(ङ) झाग वा फेन बनाने का उपाय :—अथर्ववेद १२/३/२९ में यूं बताया है—

उद्योधन्त्यभि वल्गन्ति तप्ताः
फेनमस्यन्ति बहुलांश्च बिन्दून्।

इस मन्त्र का देवता है ओदन, जिसका अर्थ है जो गल सके तथा नरम हो सके (Organic matter)। उनके विषय में कहा कि उन्हें तपा-गलाकर (वल्गन्ति) (वल्ग गतौ) अर्थात् अत्यन्त गतिशील (उद्योधन्ति) (युध संप्रहारे) अर्थात् प्रहार करते हुए साधनों से बहुत विन्दुओं में (अस्यन्ति) फेंटा जा सकता है वा फेंटो। इससे फेन बनाओ। कितने स्पष्ट शब्दों में अनेक प्रकार के

फेन बनाने की विधि बताई है। आज रबर क्रीम-जैली आदि अनेक पदार्थ इसी ढंग से फुलाये वा फेन के रूप में बनाए जा रहे हैं।

(च) आसन्दी अर्थात् सिंहासन, कुर्सी (Couch) आदि का सुझाव:—अथर्व० १५/३/१,२, ९ में उपमा के रूप में देवों के नेता व्रात्य से देवों ने पूछा—आप कहाँ बैठेंगे ? व्रात्य ने कहा मेरे लिए सिंहासन वा कुर्सी का प्रबन्ध करो और ९ वें मन्त्र में कहा कि उस सिंहासन पर चढ़कर वह बैठा। मन्त्र यह है—

स संवत्सरमूर्ध्वो तिष्ठत् तं देवा
अब्रुवन व्रात्य किं नु तिष्ठसीति ॥१॥

सोऽब्रवीदासन्दीं मे सं भरन्त्विति ॥२॥
तामासन्दीं व्रात्य आरोहत् ॥९॥

(छ) रेडियो रिसीवर्ज (Radio Receivers) अथर्ववेद ३/२१/७ में कहा है—

दिवं पृथिवीमन्वंतरिक्षं ये विद्युतमनु संचरन्ति।
ये दिक्ष्वन्तर्ये वाते अंतस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥

इस मन्त्र में यह बताया है कि दिव्यलोक में अंतरिक्ष वा पृथ्वी में वा दिशा (Space) में बहने वाले पदार्थों में जो विद्युत् का संचार करते हैं उस अग्र-गामिनी शक्ति से (हुतं) लेन-देन का व्यवहार हो सकता है। पश्चिम में पतंग उड़ाने से भीगे आकाश में किसी को आकाश में व्यापी विद्युत् का झटका लगा था तो दुनिया को पता लगा कि आकाश में व्यापक विद्युत् होती है। वेद स्वयं कहते हैं। पृथ्वी, अंतरिक्ष, दिशा तथा दिव्य लोक में भी विद्युत् है और इसका जो भी ठीक ढंग से संचार कर ले तो वह उसके द्वारा व्यवहार कर सकता है। पाठक विचार करेंगे कि इसमें रेडियो का सिद्धान्त तो बना नहीं। निवेदन है कि रेडियो कैसे काम करता है, उसके विषय में ऊपर मन्त्र प्रस्तुत किया। अब सुनने का मन्त्र भी लीजिए :—

शृण्वे वृष्टेरिव स्वनः पवमानस्य शुष्मिणः।
चरन्ति विद्युतो दिवि ॥ सामवे० उ० प्र० ३ (१) ६ (३)

अर्थात्—पवमान शोषक पदार्थ यथा अग्नि तथा वायु (Impulsive-agents) द्वारा वर्षा के रूप में (स्वनः) शब्द को (शृण्वे) सुनो, क्योंकि दिव

में विद्युत् चल रही है (उसकी सहायता से)। किसी स्थान से शब्द की किरणें पहिले ऊपर को फेंकी जाती हैं, वह ऊपर अंतरिक्ष के आवर्त (ionosphere) से टकरा कर विद्युत् की लहरों से पुनः पृथिवी की ओर वर्षा के रूप में लौटती हैं और शब्दों की वर्षा करती हैं, जिन्हें रेडियो यन्त्रों द्वारा पृथ्वी के विभिन्न देश पकड़कर सुनते हैं। यह विधि रेडियो के शब्द सुनने की है। वेद भी स्पष्ट कहता है कि उस वर्षा के समान पृथ्वी की ओर आते शब्द को सुनो और द्युलोक में विद्युत् की लहरें चल रही हैं उनका प्रयोग करो ! कितना सुन्दर तथा ठीक उदाहरण शब्दों की वर्षा का देकर समझाया है। आज कल यह ही माना जाता है।

(४) युद्धविद्या और उसके उपकरण वा साधन

वेद इतने वीर रस प्रधान हैं कि एक कायर वा नपुंसक भी यदि इन्हें पढ़ें तो उसका मन भी युद्ध करने को कर आवेगा। यह अहिंसा-अहिंसा का रोग वा मृत्यु भय तो हमें जैन या बौद्ध-काल से लगा है, वर्ना आर्य तो मृत्यु को ललकार कर बुलाता था। वह वीर था।

आजकल यह समझा जाता है कि पुराने लोग तो बस छोटा-मोटा तीर-धनुष बनाकर ही लड़ना जानते थे, पर रामायण तथा महाभारत जिन्होंने पढ़ा हो उन्हें पता है, कि किन-किन भयंकर तथा घातक आयुधों को वह बनाना जानते थे और उनके द्वारा दस्युओं पर विजय प्राप्त करते थे। वह उपकरण उन्होंने बिना वेद विहित सिद्धान्तों के और कहाँ से बनाये ?

(१) **सैनिक विभाग :**—अति संक्षेप से हम इस विषय पर वेद के कुछ मन्त्र प्रस्तुत करते हैं। यजुर्वेद का १६वां सारा अध्याय युद्ध पर है। उसका देवता रुद्र अर्थात् रुलाने वाला सेनापति ही है। इसमें युद्ध के प्रत्येक विभाग तथा शिल्पकारों का वर्णन है। मन्त्र तो सारे यहाँ दिये नहीं जा सकते। हाँ, उसमें दर्शाये शिल्पकार वा विभागों के नाम कुछ लिखते हैं, विस्तार के लिए अध्याय पढ़ लें।

शूर, अवभेदक (Piercers), बिल्मी (under ground stratagist), कवचधारी, वर्मी, पथ्य (road or lane makers), अवटय बड़े-बड़े मार्ग बनाने वाले, कूल्य (coast experts), प्रतरण (swimmers), तीर्थ (पार उतारने वाले), कट्टाय (cutters), व्रज्याय (stable incharge), कूप्याय (well makers), आतप्याय मेघ्यायधूप तथा मेघों के विशेषज्ञ (विद्युताय) बिजली के विषय में सब कुछ जानने वाले (electricians), वर्ष्याय—वर्षा सम्बन्धी ज्ञान वाले, वास्तुपाय (Protectors of Buildings) इत्यादि। सारा अध्याय ही पढ़ने योग्य है।

इसी प्रकार अथर्ववेद में एक विशेष युद्ध के साधनों का वर्णन मणियों के नाम से आता है। यह मणियां हीरा-पन्ना आदि नहीं, युद्ध के साधन हैं। प्रमाण रूप से लिखते हैं :—

(i) शंख मणि। अ० वे० ४/१० सूक्त
(ii) फाल मणि। अ० वे० १०/६ सूक्त
(iii) वरणमणि। अ० वे० १०/३ सूक्त
(iv) दर्भमणि। अ० वे० १९/२८ सूक्त
(v) अस्तृतमणि। अ० वे० १९/४६ सूक्त

एक आध मन्त्र व्यूह (military array वा stratagy) पर देखिये। जब तक सेना का ठीक व्यूह नहीं बनाया जाता वा उसकी रचना वा नयन ठीक नहीं होता, तब तक सेना का नाश होता है, जीत नहीं होती। अतः वेद कहता है :—

इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा
यज्ञः पुर ऐतु सोमः
देवसेनानामभिभञ्जतीनां
जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम् ॥

(ऋ० १०/१०३/८)

इसमें यह बताया है कि सेना का एक नेता बनाओ, एक महान् शक्ति उसकी दाईं ओर से उसे भरती रहे, और नये-नये सेनानी आगे बढ़-बढ़ कर अगली पंक्तियों को शक्ति देते रहें। इस प्रकार जब देव सेना शत्रु सेना को भग्न करती तथा जीतती हो तो (मरुतः) अत्यन्त घातक प्रहार आगे से उस पर किये जाने चाहिएँ। कितनी वैज्ञानिक विधि युद्ध विद्या की बताई गई है। इसी प्रकार अथर्व-वेद ३/३/६ में एक stratagy बताई है कि सेना बड़े ओज से लड़ती हुई आगे बढ़े तो अंधेरे का आश्रय लेकर आगे बढ़े जिससे दूसरे इनको पराया न जान सकें। आज भी युद्ध में अनेक प्रकार के धूम्र वा गैसें बनाई गई हैं जिनका मेघ बनाकर छिपे-छिपे शत्रु सेना पर आक्रमण किया जाता है। वेद ने भी यह इस विधि का सुझाव रखा है।

(२) युद्ध के उपकरण वा शस्त्रः—

(i) यजु० १६/१० "विज्यन्धनु" तथा "विशल्यो वाणं वा उत" वर्णन है। विज्यन्धनु का अर्थ या तो यह हो सकता है कि बिना डोरी का धनुष अर्थात् कोई यन्त्र द्वारा चलने वाला साधन जो वाण फेंकें वा विशेष ज्या वाला धनुष। तब भी वह साधारण डोरी वाला धनुष नहीं रहा। इसी प्रकार विशल्यो बाणः

का अर्थ है विशेष गति से जाने वाला वाण (शल गतौ)। अत्यन्त वेग वाला वाण ! 'वाण' का लोग वह अर्थ लेते हैं जिसे तीर कहते हैं। तीर ही वाण नहीं। शस्त्रों में कई प्रकार के साधन होते हैं। एक प्रकार के वह होते हैं जिन्हें आप युद्ध करते हुए अपने हाथ से कभी पृथक् नहीं करते, जैसे चाकू, तलवार (असि), भाला, बर्छा तथा गदा आदि। दूसरे प्रकार के वह आयुध होते हैं जिन्हें आप बड़े वेग से दूसरों पर फेंकते हैं। इस प्रकार के जितने भी आयुध वा साधन हैं, बड़ी गति से बहकर (With great impulse) जाते हैं। उन्हें वाण वा बाण का नाम दिया गया था (वा गतिगंधनयोः)। इन वाणों में गोली, हाथ का बॉम्ब, तोप का गोला, यहाँ तक कि आजकल का परमाणु बॉम्ब भी इसी श्रेणी का एक प्रकार का बाण है। यह बाण हाथ से वा बन्दूक, तोप वा धनुष से छोड़े वा फेंके जाते थे। इस प्रकार बन्दूक की गोली विशल्य वाण है और बन्दूक विज्यन्धनु है।

(ii) अपनी रक्षा के निमित्त अनेक प्रकार के लोहे के पुर आदि बनाने का वर्णन आता है तथा युद्ध में अपने वाहनों की रक्षा के लिए अनेक प्रकार के 'विरुथ' वा armour तथा bumpers बनाये जाते थे। साम० पू० प्र० ३ (२) द ३-३ में कहा है "त्रिधातु शरणं त्रिविरुथम्" बनाओ अर्थात् तीन प्रकार के धातुओं के वा तीन-तीन विरुथ जो पूरी तरह धारण कर रक्षा कर सकें ऐसे बनाओ।

(iii) हजारों शत्रुओं को मारने वाले यन्त्र बनाने का वर्णन :

"धर्म : समिद्धो अग्निनायं होम : सहस्रह ।।"

अथर्व० ८/८/१७

अर्थात्, अग्नि से अत्यन्त गर्म कर भस्म होने वाले पदार्थ (बारूद आदि) को पूर्ण रूप से (होमः) गैस रूप तथा दबाव में आये हुए से (सहस्रह :) हज़ारों को मार सकोगे। कितना स्पष्ट है। तोप तथा एटम बॉम्ब में केवल अग्नि से, किरणों से गर्मी उत्पन्न कर एकाएक भस्म हो जाने वाले पदार्थों को लोहे के गोले में भरकर दबाव बढ़ाकर जब जहां टकराता है फूटकर हज़ारों का नाश करता है। वेद तो सिद्धान्त का वर्णन करता है।

(iv) और एक विधि बड़े महत्त्व की शत्रु सेना का नाश करने की अथर्ववेद में दी है :—

इन्द्रः सेनां मोहयामित्राणाम् ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो विनाशय ।।

(अथर्व० ३/१/५)

अर्थात्— सेनापति पहिले शत्रु सेना में मोहन वा बुद्धिनाश वा भगदड़ उत्पन्न करे और जब वह भाग निकले तो वायु तथा अग्नि की तीव्र गति की सहायता से (इनकी सहायता से वाहन बनाकर उनके द्वारा) (विषूच) उनको घेरे (सूच वेष्टने) और नाश करे। जर्मन लोग द्वितीय विश्व युद्ध में घबराहट डाल तीव्र गति के यानों द्वारा पिन्सर मूवमेंट (अर्थात् दोनों ओर से आगे बढ़ घेरा डालना) से घेरकर शत्रु का नाश करते थे। यह उनका प्रसिद्ध व्यूह था। वेद इसी सिद्धान्त का सुझाव दे रहे हैं।

इस प्रकार युद्ध के विषय में तथा अनेक प्रकार के आयुधों के वर्णन वेदों में अनेकों अलंकारों तथा उदाहरणों द्वारा समझाये हैं।

५. शरीर रचना तथा चिकित्सा
(Medical Science)

अति संक्षेप से इस विषय का निर्देशन किया जाता है। यहां कुछ एक मन्त्रों के प्रमाण ही दे सकेंगे, शेष पाठक वहां-वहां देख लें।

(i) **शरीर के अंगों का वर्णन** :— अ० वे० ६/७ वें सूक्त में विस्तार से दिया है। यहां उन अंगों के कुछ नाम दिए जा रहे हैं :— शिर, ललाट, ककट, मस्तिष्क, उत्तर हनु, अधर हनु, जिह्वा, दन्त, ग्रीवा, स्कंध, वह, पज, क्रोड विधरणी, कीकसा, पृष्ठ, पार्श्व इत्यादि शरीर के अंग ऊपर से नीचे तक दे रखा है।

(ii) अ० वे० ६/८ वें सूक्त में रोग तथा उनकी चिकित्सा का वर्णन है।

(iii) यजु० ३६/१० में शरीर के धातु वा Tissues का वर्णन है जैसे लोम, त्वच, लोहू (रक्त), मेदा, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा तथा रेतस् आदि।

(iv) दीर्घायु के लिए:— अ० वे० ५/३०/८ में विधान दिया है :—

मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं त्वा।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो ज्वरं तव॥

इस मंत्र का देवता आयु है। मंत्र कहता है कि मत डर, तू नहीं मरेगा, तुझे बुढ़ापे तक ले जाऊंगा, तेरे अंगों में से ज्वर, यक्ष्मा तक दूर कर दूंगा।

ऋक् (१०/१६१/१,२) और अथर्व (३/११/१) में मंत्र आता है :—

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय
कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।

> ग्राहि जग्राह यद्येतदेनं तस्या
> इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ।।

अर्थात् इन्द्राग्नी द्वारा अज्ञात तथा राजयक्ष्मा से भी मनुष्य मुक्त किया जा सकता है। अगले मन्त्र में भी कहा है......"यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।"

अर्थात् यदि मृत्यु के सर्वथासमीप भी रोग हो गया हो तो भी तुझे बचाया जा सकता है और शतशारदाय सौ वर्ष जिलाया जा सकता है। ऋग्वेद का यह इन्द्राग्नी क्या है जो भयंकर से भयंकर रोगों को भी ठीक कर सकता है। इन्द्राग्नी में दो अंश (Component) हैं, एक इन्द्र दूसरा अग्नि। इनके किसी प्रकार के संयोग से इन्द्राग्नी उत्पन्न होती है। यह क्या है ? इसकी खोज बड़ी आवश्यक है। क्या यह आजकल की X-Rays या रडियो आदि की किरणें हैं जो आज कैंसरादि पर भी लगाई जाती हैं या कोई अन्य वस्तु है ?

अनेक प्रकार की जीवनदायक विधियां तथा साधन वेद में दिये हैं। अ० वे० १९/३६ वें सूक्त में शतवार मणि तथा १९/३१ सूक्त में औदुम्बरमणि जीवन दान देने वाली तथा क्षयरोग को ठीक करने वाली बताई है। इन पर बड़ी खोज की आवश्यकता है। चिकित्सा-क्षेत्र में वेद बहुमूल्य सुझाव देते हैं, पर स्थानाभाव से इतना ही लिखकर छोड़ दिया जाता है।

६. प्राणिशास्त्र (Biology)

इसके दो अंग हैं—एक जंगम (Zoology), दूसरा स्थावर (Botany) वा वनस्पति शास्त्र।

(क) जन्तुशास्त्र (Zoology) : इस पर अधिक न लिखकर यजु० वेद अ० २४ के २०-४० मं० तक पाठकों को पढ़ने को कहेंगे ! इस अध्याय में प्राणियों के नाम, उनके स्वभाव तथा वस्तुओं का सम्बन्ध वर्णन किया है। यथा—

> वसन्ताय कपिञ्जलानालभते ग्रीष्माय कलविङ्कान् वर्षाभ्यः
> तित्तिरीञ्छरदे वर्त्तिका हेमन्ताय ककराञ्छिशिराय विककरान् ।।२०।।

इस प्रकार सारे के सारे २०-२१ मंत्र प्राणियों के विषय में बताते हैं।

(ख) वनस्पतिशास्त्र (Botany)

(i) वर्ग—यजुः— (१२/८९) में वनस्पतियों के विभिन्न वर्गों को इन शब्दों में बताया है :—

"या फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणी :......"

इसमें फल वाले, विना फल के, बिना फूलों के तथा फूलों वाले, ४ वर्ग बताये हैं। पाठक देखेंगे कि इन ४ वर्गों में ही सारा वनस्पति संसार आ जाता है— पश्चिमी वनस्पति शास्त्रकारों ने वनस्पतिओं के अत्यन्त अधिक वर्ग वा Families बनाई हैं, पर वेद ने केवल ४।

फल वालों को तो पाठक जानते ही हैं जिसमें आगे अनेक प्रकार हैं।

विना फल के कौन हैं? ऐसी अनेक वनस्पति हैं जिनमें फल लगता ही नहीं जैसे आलू, शकरकन्दी, मूंगफली, गन्ना और अनेकों ऐसी हैं। आलू आदि को जैसे आम-लीची आदि के फल से निकली गुठली के समान पृथ्वी में गाड़ कर नहीं बोया जाता। आलू की आंखें काट-काट कर भूमि में गाड़ी जाती हैं। सो यह विना फल के पौधे हैं। तीसरे अपुष्पा अर्थात् बिना पुष्प की वनस्पति। यह भी एक बड़ा भारी वर्ग है जिसमें पुष्प नहीं लगते! यथा खुम्ब, सर्पक्षत्र, पर्णिया (Ferns) तथा जैसे अचार-मुरब्वों पर वर्षा ऋतु में लगने वाली फुई जिन्हें Fungi कहते हैं एवं Weeds आदि में बीज विना फूल के लगता है। आयुर्वेद में इन्हें वनस्पति वर्ग कहा है (अपुष्पफलवन्तः वनस्पतयः सुश्रुत)! चौथे पुष्पिणीः अर्थात् अनेकों फूल वाले वृक्ष-पौधे आदि। किसी-किसी पौधे में एक फूल तथा उसमें एक फल लगता है जैसे आम, जामुन भिण्डी, मटर आदि। पर जैसे सूर्यमुखी, गेंदा आदि एक फूल नहीं होते। दीखते तो एक ही हैं, पर वह अनेकों छोटे-छोटे फूलों के संघात से एक बनते हैं इन्हें आज कल Composite Family कहते हैं। इनमें फूल ही फूल होते हैं अतः इन्हें पुष्पिणी कहा है।

(ii) चिकित्सा क्षेत्र की अनेक प्रकार की वनस्पतियों के वर्गों का वर्णन वेद में आता है। अ० वे० ८ वें काण्ड का सातवां सूक्त अनेक प्रकार की वनस्पतियों का वर्णन करता है। इस सूक्त के १,४,८,९,१२,१४,२०,२७ मंत्र विशेष ध्यान देने योग्य हैं।

पहला मंत्र है :—

याश्च बभ्रवो याश्च शुक्रा रोहिणीरुत पृश्नयः
असिक्नी: कृष्णा ओषधीः सर्वा अच्छावदामसि ॥१॥

इस मंत्र में (बभ्रवः) भरणशीला, (शुक्राः) पावनी (Disinfectant) (रोहिणीः) पुनः जीवन प्रदान करने वाली (पृश्नयः) घाव वा हड्डियों को जोड़ने वाली (असिक्नीः) शरीर से अधिक पानी सुखाने वालीं, न सेचने वाली (कृष्णाः) काले रंग वाली जैसे पिप्पली आदि औषध हैं। यह रोगी की पूरी रक्षा करती हैं।

मधुमन्मूल मधुमदग्रमासां
मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव।

मधुमत् पर्णं मधुमत्पुष्पमासां मधो: संभक्ता
अमृतस्य भक्षो घृतमन्नं दुह्रतां गोपुरोगवम् ॥२॥

इस मन्त्र में पहिले वनस्पति के अंग गिनाये हैं जैसे मूल अग्र, मध्य (तना आदि), पत्ते, पुष्प आदि। फिर यह कहा कि किसी की जड़ मीठी, किसी का अग्रभाग वा तना मीठा, किसी के पत्ते वा पुष्प मीठे होते हैं। इसमें मुलहठी, दालचीनी आदि के वर्ग हैं।

(iii) पेवन्द लगाना (Grafting)

अ० वे० ६/११/१ में एक सिद्धान्त वर्णित है तथा बड़ा प्रसिद्ध मन्त्र है जिसके द्वारा सुझाव दिया जाता है कि एक वृक्ष वा पौधे पर दूसरे वृक्ष वा पौधे को लगाकर नये प्रकार के फल तथा आस्वाद प्राप्त किये जा सकते हैं। मन्त्र है—

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्।
तद् व पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि ॥

शमी वृक्ष पर अश्वत्थ चढ़ा वा लगाया जावे तब भी संतान होती जानो। इसमें शमी अन्य वृक्ष हैं जिसे आज जण्ड कहते हैं तथा अश्वत्थ, पीपल, वट वृक्ष आदि में से है। किसी ने इनका संयोग वेद के अनुसार नहीं करके देखा कि उस अश्वत्थ के पुन: क्या गुण बनते हैं। यह पेवन्द, कलम वा grafting का सिद्धान्त दृष्टान्त रूप में वेद ने बताया है।

इस प्रकार की ओषधियों वा वनस्पतियों के वर्णन वेद में बाहुल्य से मिलते हैं, पर शोक है इस दिशा में विद्वानों का कोई ध्यान नहीं गया।

७. वास्तुविद्या (Architecture)

अंत में हम वेद में गृहकला वा वास्तुविद्या (Architecture) का संक्षेप में वर्णन करते हैं।

(i) ऋ० वे० ७/५५वें सूक्त का देवता वास्तोष्पति (Architect) हैं। उसको सम्बोधन कर कहा गया है कि तुम अनेक प्रकार के मकान बनाने वाले हो। आप हमारे रहने का शयनागार बड़े सुखमय बनाइये। वेद के शब्द हैं:—

"सखा सुशेव एधि नः"

(ii) अथर्ववेद में उक्त घर बनाने का वर्णन हम नीचे रखते हैं। पाठक कल्पना करके देखें कि वह कैसे-कैसे हो सकते हैं —

आयने ते परायणे दूर्वा रोहतु पुष्पिणी।
उत्सो वा तत्र जायतां ह्रदो वा पुण्डरीकवान्॥
अ०वे० ६/१०६/१३

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम्।
मध्ये ह्रदस्य नो गृहाः पराचीना मुखा कृधि॥
हिमस्य त्वा जरायुणा शाले परि व्ययामसि।
शीतह्रदा हि नो भुवोऽग्निष्कृणोतु भेषजम्॥

इस सूक्त में यह तीन ही मंत्र हैं। एक-एक मंत्र बड़ा सुन्दर है और नये-नये सिद्धान्त का दर्शक है। प्रथम मंत्र में कहा है कि आगे-पीछे घर में दूर्वा जो अत्यन्त फूलवती है उसे लगावो, (उत्सः) घर में जल स्रवण स्थान व साधन वनाओ जैसे नल, स्रोत, झरने वा फव्वारे हों तथा कमलों से भरे छोटे-बड़े सर वा तालाब हों! कितना आदर्श तथा स्वस्थ घर है! दूसरे मंत्र में कहा है कि जल तथा समुद्र के समीप घर बनाओ, वा झील व गहरे तालाव के मध्य में हमारे घर हों। उनका मुख पश्चिम की ओर हो। तीसरे मंत्र में कहा है— हे शाले! मैं तुम्हें (हिमस्य) हनन का तोड़-फोड़ करने वाले कारणों (हिनस्ति इति हिमम् उणा० १/१४७) जैसे वर्षा, वायु, सर्दी वा बरफादि से (जरायुणा) उत्पन्न हुई जीर्णता को चारों ओर से बचाता हूं। आगे कहा कि हमारे घर गर्मियों में शीतल ह्रद, झील व तालाब वाले हों, तथा जव अधिक शीत हो तो अग्नि उसका (भेषजम्) इलाज वा उपाय है।

इन मंत्रों में घरों में फूलों का होना, कमल पूर्ण तालावादि, बहते स्रोत, झरने व नलके आदि होने वताए हैं। इसी प्रकार समुद्र, नदी, झीलों, के समीप भी घर बनाए जायें क्योंकि इन स्थानों की वायु अधिक ओजस्विनी (इन स्थानों में ओजोन (O_3), जो ओषजन से अधिक ओजस्विनी होती है, पाई जाती है) होती है तथा गर्मी-सर्दी अधिक नहीं होती, जैसे बम्बई-कलकत्ते में अधिक गर्मी वा सर्दी नहीं होती तथा यह भी कहा है कि अधिक शीत का उपाय अग्नि विद्युत् आदि से कर लो। क्या यह सब बातें वैज्ञानिक नहीं हैं जो आज वैज्ञानिक देशों में की जा रही हैं?

(iii) अथर्ववेद के नवम काण्ड का तीसरा सूक्त शाला पर है और उसमें अति वैज्ञानिक तथा उपयोगी शाला बनाने की विधियां बताई हैं। हम उनमें से २-३ मंत्र ही यहां रखते हैं —

उपमितां प्रति मितामथो परिमितामुत ।
शालाया विश्ववाराया नद्धानि विचतामसि ॥ १/११

(उपमितां) जिसके चारों ओर क्या है, उसकी समीप की अन्य शालाओं आदि का ध्यान करके, (प्रतिमितां) साथ के गृहों व शालाओं की समानता रखते हुए (Keeping Symmetry), (परिमितां) अधिक विस्तृत नाप जिसको लेकर बनाया हो (With detailed measurements), ऐसी तुम चहुँ ओर से सुरक्षित और जिसके (नद्धानि) बन्धन दृढ़ बनाए गए हों, वह शाला विशेष रूप से सुग्रंथित होनी चाहिए।

इस मन्त्र में बताया कि घर बनाने से पहिले उसके आसपास के नाप लो, क्या बनाना है व बना हुआ है। साथ में देखो कि उसके साथ अन्य कैसे घर वा शालाएं बनी हुई हैं। उनकी समता ध्यान रखकर बनाओ। पुनः घर के एक-एक अंग का अधिक सूक्ष्म तथा विस्तृत नाप पहिले सोचकर उसे बनाओ, उसके बन्धन दृढ़ हों। अगले मंत्र में शाला के (पाश) बंधन, (ग्रंथि) गांठें दृढ़ करो (पाठ है —ग्रंथीश्चकार ते दृढ़ान्), तेरे परूंषि अर्थात् जोड़ वा Joints भी दृढ़ हों। आगे ४ तथा १७वें मंत्र में घर की दृढ़ता को उसकी नींव, मकान की कुर्सी तथा खम्भों को हथिनी के पैर की दृढ़ता से उपमा दी है। पाठ है :—

"मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती ॥"

२१वें मंत्र में मकान व शाला के अनेक पक्ष (Blocks) बनाना बताया है :—

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते ।
अष्टपक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नी-मग्निर्गर्भ
इवाशये ॥ २१ ॥

इस मंत्र द्वारा २, ४, ६, ८ तथा १० पक्षों वा Blocks वाली शालाओं के बनाने का भी वर्णन है।

२२वां मंत्र और भी सुन्दर है। कहता है :—

अग्निर्ह्यन्तरापश्च ऋतस्य प्रथमा द्वाः ॥ २२ ॥

इसमें यह कहा है कि शाला के लिए अन्दर संचार करने वाले, घूमने वाले (ऋतस्य) और अग्नि और आप वा जलादि अति आवश्यक हैं। मोटे शब्दों में यह बना कि अग्नि अर्थात् गर्म तथा जलादि शीतल साधन, (ऋतस्य) Circulate करने के लिए प्रथमा Primary साधन है। अन्दर-अन्दर घूमते हुए अग्नि तथा जलादि या गैस गर्म-ठण्डा करने के आवश्यक साधन हैं। क्या इसमें Central heating वा Cooling की स्पष्ट झलक नहीं है, यह पाठक स्वयं अनुभव करें।

पाठकों के सम्मुख अनेक प्रकार के वैज्ञानिक विषयों को वेद मंत्रों में दिखाया गया है जिससे आज के वैज्ञानिक युग में विज्ञानवेत्ता इन्हें पढ़कर देखें कि वेदों में कितना विज्ञान भरा हुआ है और इधर-उधर प्रयोगशालाओं में वृथा परिश्रम सदियों तक करने की अपेक्षा वेदों पर परिश्रम किया जाए और यदि उनकी परिभाषा के शब्दों के रहस्यों को खोज कर जाना जाए तो इधर-उधर भटकने की अपेक्षा वेदों के सत्य वैज्ञानिक ज्ञान से शीघ्र लाभ उठाया जा सकता है। साथ ही पाठकों को भी वेदों में विज्ञान की कुछ झांकियां दिखाकर वेदों की दिशा में भी खोज करने में अभिरुचि उत्पन्न करना भी हमारा मुख्य उद्देश्य है। अतः आशा है कि अन्य वेदपाठी भी इस ओर ध्यान देंगे। यह किसी अकेले व्यक्ति वा संस्था वा समाज का काम नहीं, इसमें तो सामूहिक प्रयत्न की आवश्यकता है। जैसे पश्चिम में अब तक गुरुशिष्य प्रणाली से कुछ सदियों से काम हो रहा है वैसे ही हमें भी इसी प्रणाली का आश्रय लेकर खोज करनी आवश्यक है। जिसको जो अनुभव हो वह छिपावे नहीं, वरञ्च अन्यों के सामने रखे और वह उसे परख कर आगे चलावे। वेदों की परिभाषा के रूढ़ि अर्थ जो आज तक हमारे सामने आते रहे हैं उन्हें छोड़, यदि नये मस्तिष्क, नयी भावना तथा विचार लेकर अन्वेषण-बुद्धि, श्रद्धा तथा लगन के साथ खोज होगी तो हमें पूर्ण विश्वास है कि अवश्य सफलता होगी और वेदपाठी भी नया आविष्कार संसार के आगे रख वेदों की प्रतिष्ठा, आज के वैज्ञानिक युग में, ऊंची उठावेंगे। साथ ही हमें निश्चय है कि वेदपाठी विज्ञानवेत्ता हिंसक वृत्ति का नहीं होगा, वह विज्ञान को कल्याण कार्य में ही लगावेगा।

—'वेदवाणी' से साभार

वेद और ऊर्जा के संसाधन

पं० वीरसेन जी वेदश्रमी, वेदविज्ञानाचार्य

(१) ऊर्जा का उद्‌गम स्थान

समस्त विश्व ऊर्जा से पूर्ण है । इस अखिल विश्व में ऊर्जा का प्रवाह एवं संभरण कार्य एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म परम महान् शक्ति से हो रहा है। यजुर्वेद अध्याय ३६ के २४ वें मन्त्र में इस रहस्य को—सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च—इन शब्दों से प्रकट किया गया है। अर्थात् सूर्य ही समस्त जगत की आत्मा है। सूर्य ऊर्जा का केन्द्र है । उसी से समस्त पदार्थों में उर्जा की विविध प्रकार की उत्पत्ति, संचरण, संभरण, वृद्धि आदि कार्य होता रहता है ।

(२) विश्व में ऊर्जा का सन्तुलन सूर्य से

सूर्य से समस्त कालचक्र प्रतिक्षण बनता रहता है अतः सूर्य से प्रतिक्षण ऊर्जा का संभरण एवं ऊर्जा का सन्तुलन विश्व में होता रहता है। सूर्य के नियमित रूप से उदय एवं अस्त के चक्र से ऊर्जा के ताप में सुनिश्चित तथा सुनियमित न्यूनाधिकता होती रहती है जिससे विश्व में, उसके विविध पिण्डों में ऊर्जा का संभरण, संगोपन और सन्तुलन होता रहता है। यह क्रम प्रतिक्षण, प्रतिदिन रात, प्रति शुक्ल पक्ष, कृष्ण पक्ष में चलता रहता है । इससे सृष्टि की विविध ऋतुओं का ऊर्जामय जीवन अन्न, बल, ताप, तेज, वृष्टि, वात, शीत से सृष्टि को प्रभावित कर उत्पत्ति का कारण बनता है और एक संवत्सर का उर्जामय चक्र १२ मास में ६ ऋतुओं से बन जाता है।

(३) एक ही केन्द्र से विविध पदार्थों में ऊर्जा

सूर्य से सृष्टि में विविध न्यूनाधिक तापक्रमों से हमारा जीवन प्रभावित होता है अतः ऊर्जा जीवन का आधार है। यह ऊर्जा विविध पदार्थों के माध्यम से विविध रूप में विकरित, प्रसारित या प्रभावित होती है, अतः ऊर्जा के विविध

रूप और संसाधन हो जाते हैं। इसी कारण विविध ऊर्जा के विविध न्यूनाधिक तापक्रम सामर्थ्य से, उन ऊर्जा केन्द्रों के नाम भी भिन्न-भिन्न परिगणित हो जाते हैं। वेद ने समष्टि ऊर्जा की विभिन्न व्याप्तियों में मूलरूप से एक ही ऊर्जा को प्रकट करते हुए कहा—"तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तद् चन्द्रमः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्मा ता आपः स प्रजापतिः" यजुर्वेद, अध्याय ३२ के इस प्रथम मन्त्र में बताया है कि जो समष्टि ऊर्जा है वही अग्नि रूप में है। वही आदित्य अर्थात् संवत्सर के १२ मासों के रूप में न्यूनाधिक ऊर्जा के रूपों में विद्यमान है। वही ऊर्जा विविध तापक्रमों से अनेक रूप या स्थितियों से विविध वात बलों के रूप में वायु संज्ञक है। वही चन्द्रमा रूप से शीतलता के रूप में तीव्र तापमय ऊर्जाओं को विभाजित करने वाली है। वही ऊर्जा शुद्धिकारक एवं शीघ्रकारी है। वही सब से महान् है, परमशक्ति है। वही सर्वत्र व्यापक होने से आपः संज्ञक है। वही ऊर्जा सब प्रजाओं का स्वामी होने से प्रजा का पालक तथा रक्षक होने से प्रजापति है।

(४) ऊर्जा का संभरण आवश्यक एवं ऊर्जा के असन्तुलन से प्राकृतिक उपद्रव

पूर्व मन्त्र में अग्नि, सूर्य, वायु, चन्द्रमा आदि दृष्ट ऊर्जा केन्द्र और अदृष्ट व्यापक ऊर्जा की स्थितियों में शुक्र, ब्रह्म, आपः तथा प्रजापति को बताया है। विश्व में यद्यपि ऊर्जा का सन्तुलन क्रम चलता रहता है तथापि जब उसमें असन्तुलन हो जाता है तो ऋतुओं का कार्य बिगड़ जाता है। तब प्राकृतिक उपद्रव, ऋतु वैपरीत्य, शीत ऋतु में शीत का अभाव, असामयिक वृष्टि, आंधी-तूफान, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, बाढ़ रोगों की वृद्धि आदि अनेक रूप में होने लगते हैं। सृष्टि के पदार्थों में ऊर्जा की कमी होने पर उनमें ऊर्जा का सम्भरण या उनको शक्तिशाली बनाने का कार्य सौत्रामणि याग द्वारा किया जाता है जिसकी प्रक्रिया यजुर्वेद के १९,२० व २१ वें अध्याय के मन्त्रों में वर्णित है। अर्थात् यज्ञ के द्वारा विश्व के किसी भी भाग में ऊर्जा की न्यूनता या असन्तुलन को सन्तुलित करने का विज्ञान वेद प्रदर्शित करता है। ऊर्जा का सन्तुलन सृष्टि का जीवन है और उसी का असन्तुलन प्राकृतिक उपद्रव है।

(५) यज्ञ से विश्व के तत्त्वों में ऊर्जा की उत्पत्ति

यज्ञ प्रक्रिया द्वारा ऊर्जाओं का संभरण एवं सन्तुलन अग्नि तत्त्व में आहुति क्रियाओं द्वारा तथा मन्त्र ध्वनि द्वारा किया जाता है। विश्व में व्याप्त ऊर्जा के किस भाग व पदार्थ में ऊर्जा का असन्तुलन है, उसके निवारण के लिये मन्त्र और उसके छन्द की व्याप्ति या प्रभाव क्षेत्र का ज्ञान होना चाहिये। गायत्री मन्त्रों

की ध्वन्यात्मक ऊर्जा का यज्ञाग्नि में आहुतिपूर्वक कार्य करने से पृथिवी मण्डल एवं उसके पदार्थों पर प्रभाव पड़ता है। त्रिष्टुप् छन्द के मन्त्रों से उत्पन्न ध्वनि ऊर्जा का यज्ञाग्नि में आहुतिपूर्वक प्रयोग से अन्तरिक्ष मण्डल पर अनुकूल प्रभाव होता है और जगती छन्द के मन्त्रों से क्रिया करने पर उसका अनुकूल प्रभाव भूमण्डल पर पड़ता है। वेद के यज्ञविज्ञान से समस्त विश्व क्रमशः छन्दों से संगठित एवं नियंत्रित है।

(६) ऊर्जा का विकिरण एवं संचरण

विश्व व्याप्त मूल ऊर्जा, विश्व के विविध पदार्थों में विविधता को प्राप्त होकर अपने प्रसारण धर्म के कारण एवं उपयोग लेने पर निष्कासित, विकरित एवं निर्गमन करती है तथा अन्य पदार्थों में प्रविष्ट होती है। पुनः उस पदार्थ की धारण सामर्थ्य के अनुसार उसमें स्थित रहकर क्रमशः निर्गमन करती है। इस प्रकार विश्व के पदार्थों में ऊर्जा का संक्रमण चक्र परस्पर चलता रहता है। परन्तु जब हम किसी पदार्थ का इन्धनवत् प्रयोग ऊर्जा की प्राप्ति के लिये करते हैं और इन्धन नष्ट हो जाता है तथा भस्म रूप को प्राप्त हो जाता है तो ऊर्जा के इन्धन की उत्पत्ति भी आवश्यक है। ऊर्जा के इन्धनों की उत्पत्ति भी प्रकृति में, विश्व में स्वतः होती रहती है। प्राकृतिक ऊर्जा की क्षमता से अधिक यदि हम ऊर्जा का निर्माण करेंगे तो ऊर्जा के स्रोत साधन इन्धनों का उपयोग लेना पड़ता है और ऐसी भी स्थिति आ जाती है कि वैकल्पिक व्यवस्था का आश्रय लेना पड़ता है।

(७) भस्मीभूत ऊर्जा इन्धन को पुनर्जीवित करना

वैकल्पिक व्यवस्था में एक व्यवस्था भस्मीभूत इन्धन के शीघ्र पुनरुज्जीवन की है। प्रकृति के नियमों के आधार पर प्रकृति में उसी भस्म में इन्धन की पुनः रचना कार्य में पर्याप्त समय अपेक्षित होता है। मानवकृत प्रयत्नों की विज्ञानाश्रित प्रक्रिया से शीघ्र सफलता हो सकती है। वेद ने ऊर्जा के विनष्ट साधन या भस्मीभूत रूप को पुनर्जीवित करने के लिये कहा है—प्रसद्य भस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने। संसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान् पुनरासदः ।। (यजुः० अ० १२/३८) अर्थात् हे ऊर्जा से सम्पन्न अग्नि, तू जिन ऊर्जा के संसाधन रूप इन्धनों से प्रदीप्त होता है वे भस्म रूप को प्राप्त होते हैं। उस भस्म में पार्थिव पदार्थ, ताप और तरल के मिश्रण को संरक्षित कर पुनः इन्धन रूप को प्राप्त हो।

(८) ऊर्जा की पुनः स्थापना

इसी उक्त पुनः ऊर्जा की आवृत्ति के लिये यजुर्वेद अध्याय १२, मन्त्र ९ में

भी कहा है—पुनरुर्जा निवर्तस्व पुनरग्न इषायुषा। पुनर्नः पाह्यंहसः ।। अर्थात् हे अग्नि, तू पुनः ऊर्जा सम्पन्न हो। पुनः ऊर्जा सम्पन्न होने के लिये जिस अन्न अर्थात् जीवन साधन से जीवन स्थिरता प्राप्त करता है उससे पुनः ऊर्जा सम्पन्न होकर पुनः हमें रक्षण प्रदान कर। इसी प्रकार यजुर्वेद अध्याय १२ मन्त्र ८ में नष्ट ऊर्जा को पुनः प्राप्त करने को लिखा है :—

अग्ने अंगिरः शतंते सन्त्वावृतः सहस्रंत उपावृतः
अधा पोषस्य पोषेण पुनर्नो नष्टमाकृधि पुनर्नोरयिमाकृधि ।।

अर्थात् हे विविध ऊर्जा के सारभूत अग्नि, तेरे सैकड़ों आवर्तन और हजारों उपावर्तन होवें। इस प्रकार इन आवर्तन और उपावर्तनों से पोषित होकर हमें नष्ट हुई ऊर्जा से पुनः सुसम्पन्न कर और पुनः ऐश्वर्यवान्, सामर्थ्य युक्त कर।

(९) ऊर्जा का आहरण व स्थापन

ऊर्जा का एक स्थान से आहरण करके अपने कार्य के निर्विघ्न संचालन के लिये स्थापित करने का भी वेद में उपदेश है—आ त्वाहार्षमन्तरभू ध्रुवस्तिष्ठा विचाचलिः। विशस्त्वा सर्वा वांछन्तु मात्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् ।। अर्थात् हे ऊर्जा, तुझको हम द्युलोक, अन्तरिक्ष और पार्थिव साधन स्थानों से अच्छे प्रकार आहरण करें, चाहे तुझको सुरक्षित स्थानों में अविचल, स्थिर करें। सब प्रजा तेरी कामना करे, चाहे उपयोग ले, तुझ से राष्ट्र का अकल्याण, अमंगल न हो। अर्थात् राष्ट्र में ऊर्जा की स्थिति दृढ़ रहनी चाहिये और उसका अन्यत्र स्थानों से आहरण, आकर्षण करना चाहिये।

(१०) आध्यात्मिक एवं भौतिक ऊर्जायें

ऊर्जायें अनेक प्रकार की हैं। वर्तमान विज्ञान भौतिक ऊर्जा के साधनों की खोज करता है। वैदिक विज्ञान भौतिक ऊर्जा, मानसिक ऊर्जा, आत्मिक ऊर्जा के भी अनुसन्धान, तथा उसको ऊर्जावान् बनाने का उपदेश देता है। सुप्रसिद्ध गायत्री मन्त्र में भर्गोदेवस्य धीमहि द्वारा जिस भर्ग—तेज को धारण करने का उपदेश है वह परब्रह्म की सर्वश्रेष्ठ ऊर्जा है। परब्रह्म की वह ऊर्जा सविता देव तत्व से ध्यान द्वारा प्राप्त होती है। य आत्मदा बलदा मन्त्र यजु० अ० २५/१३ में उपासना, भक्ति, योग के द्वारा आत्मिक एवं शारीरिक ऊर्जा-बल प्राप्ति बताया है। येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा येन स्व स्तमितं येन नाकः। यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः (यजुः ३२/६) मन्त्र में सृष्टि के पदार्थों में व्याप्त महती ऊर्जा-शक्ति को जानने का संकेत है। हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे यजु० १३/४ मन्त्र

द्वारा एक महान् ऊर्जागर्भित ऊर्जा पिण्ड के रूप को प्रकट कर रहा है जो सृष्टि के प्रारम्भ से है।

(११) ऊर्जा से सृष्टि का क्रमशः निर्माण

सृष्टि के पदार्थों में अनेक रूप से ऊर्जा है परन्तु यह ऊर्जा सृष्टि में कहीं से आई है या आ रही है इसका विवेचन वेद ने ऋग्वेद के अघमर्षण मन्त्रों में प्रकट किया है। ये मन्त्र ऋग्वेद दशम मण्डल के १९० सूक्त के ३ मन्त्र हैं। उसमें बताया है कि सर्वप्रथम सृष्टि निर्माण के कार्य के प्रारम्भ में परमात्मा की अनन्त ऊर्जा सामर्थ्य—अभीद्धात्तपसः—से ऋतं च सत्यं च अजायत—ऋत और सत्य इन दो रूपों को धारण करता है। ऋत अर्थात् गति और सत्य अर्थात् स्थिरता, केन्द्र स्थित भाव का युग्म उत्पन्न हुआ। दोनों प्रकार की ऊर्जाओं की गति से एक ऊर्जा का प्रादुर्भाव हुआ जिसे वेद में—ततो राज्यजायत—शब्दों द्वारा रात्रि की संज्ञा दी। दैनिक रात्रि से भिन्न वह रात्रि है जिसे ऋग्वेद के दशम मण्डल के नासदीय सूक्त १२९ मन्त्र १ में—नासदासीन्नो सदासीन्नासीद्रजो नो व्योमापरोयत्—स्थिति वाली प्रथम स्थिति वाली रात्रि रूप में वर्णित की है। इस रात्रि रूपी ऊर्जा के विकेन्द्रित, अर्थात् खण्ड भाव की स्थिति उत्पन्न होने से—ततः समुद्रो अर्णवः—दो ऊर्जाओं का युग्म रूप समुद्र और अर्णव की स्थितियां उत्पन्न हुई। रात्रि रूपी ऊर्जा में एकरूपता साम्य भाव था। समुद्र और अर्णव स्थितियों में घनत्व एवं विरलत्व का भेद सापेक्ष रूप से उत्पन्न हुआ। नासदीय सूक्त के प्रथम मन्त्र में—किमावरीवः कुहकस्य शर्मन् अम्भः किमासीद्गहनं गंभीरम्—यह स्थिति जो वर्णित की गई है वह समुद्र और अर्णवात्मक स्थिति, कुहक—कुहरा और अम्भस—जल की गहन और गम्भीर स्थिति थी। इसी को अर्णव कहा है। अर्थात् दो प्रकार की सापेक्ष्य जलीय ऊर्जा की उत्पत्ति हुई। साभार जलों के मूल रूप को हेवीवाटर की श्रेणी में परिगणित कर सकते हैं। जब इस सापेक्ष घनत्व विभाजित समुद्र और अर्णवों का ऊर्जामय गति चक्र प्रवाह चलता है तो उस सापेक्ष घनत्व चक्र से काल सापेक्षता गर्भित एवं संवर्धित होकर सांवत्सरिक ऊर्जामय स्थिति प्रकट हो जाती है। इस सांवत्सरिक ऊर्जामय स्थिति के गर्भ से दिन और रात्रि का काल सापेक्ष भाव प्रकट होकर गति करता है। पुनः कालात्मक, घनात्मक एवं दिशात्मक सापेक्षता से सूर्य-चन्द्रादि रूप में पृथिवी-अन्तरिक्ष एवं द्यु रूप में विश्व की ऊर्जा के केन्द्र बन जाते हैं। समस्त ज्ञात और अज्ञात ऊर्जा के ये साधनरूप-से हैं। इनसे निष्पन्न ऊर्जायें परस्पर पूरक भी हैं और परस्पर में ऊर्जा का अन्तर्निवेश भी आदान-प्रदान रूप में होता है।

(१२) विश्व में व्याप्त ऊर्जा ओम् है

घनात्मक, दिशात्मक एवं कालात्मक सापेक्षता विश्व का जीवन है—परन्तु ये उत्तरोत्तर अपने मूल से सम्बन्धित हैं और अन्त में ऊर्जा के परम सूक्ष्म एवं व्याप्त ऊर्जा के स्रोत से प्रादुर्भूत हैं। ऊर्जा का यह मूल स्रोत परमात्मा है जिसे वेद में—ओम्—कहा गया है। उसे ही—खं ब्रह्म—यजुर्वेद अ० ४० मन्त्र१७ में कहा है। खम् —आकाश के समान व्यापक और ब्रह्म—अर्थात् सबसे महान् बड़ा। अर्थात् कालात्मक, तत्त्वात्मक एवं दिशात्मक सापेक्षताओं की जहां समाप्ति हो जाती है वही ऊर्जा का व्यापक मूल स्रोत है। इसी मन्त्र में यह भी कहा है कि—योसाऽवादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्—अर्थात् जो इस आदित्य मण्डल में व्याप्त पुरुष, पौरुष, ऊर्जा है वह मैं—ओम् ही हूँ। इस प्रकार अघमर्षण मन्त्रों में जिस ऊर्जा से सृष्टि निर्माण का प्रवाह एवं उसके विकास व प्रकाश का विवेचन किया है वह महान् ऊर्जा का स्रोत ओम्—नाम से वेद में विख्यात है।

(१३) ऊर्जा के अनुसन्धान की प्रेरणा

वेद ने उपर्यक्त प्रकार से ऊर्जा के परम तथा आदि स्रोत से उत्तरोत्तर सृष्टि के तत्वों में ऊर्जा के अधिष्ठान एवं दैनन्दिन ऊर्जा के चक्रों की स्थिति का ज्ञान दिया और उस ऊर्जा के लाभ को विकसित एवं अन्वेषित करने के लिये ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र द्वारा निम्न प्रकार ज्ञान दिया—अग्निमीडे पुरोहितम्—हम अग्नि अर्थात् ऊर्जा का, उसके संसाधनों का अनुसन्धान करें। क्योंकि यह पुरोहित है, उत्पत्ति के समय से पहिले परमाणु आदि सृष्टि के मूल कारण को धारण करने वाला है। तथा—यज्ञस्य देवम्—संगम, संयोग, मिश्रण, रचनादि कार्य का करने वाला, पदार्थों का प्रकाशक, व्यवहार का प्रणेता है। ऋत्विजम्-विविध ऋतुओं को निर्माण करने वाला है।—होतारम्—अग्नि पदार्थों को ग्रहण करने वाला तथा दाता भी है। उसमें जिन, शब्द, रूप, रस, गन्धादि पदार्थों की आहुति दी जाती है उसका वह दाता भी है वह अग्नि—रत्नधातमम्—भी है अर्थात् पृथिवी में जो अनेक प्रकार की सुवर्णादि धातु हैं उनका और विविध रत्नों का धारण करने वाला व उनका दाता भी है। अतएव—'अग्निमीडे'—अग्नि का अन्वेषण नित्य करते रहना चाहिये—अर्थात् विविध प्रकार की ऊर्जाओं का तथा उसके संसाधनों का अनुसंधान करना चाहिये। इन्धनों से उत्पन्न उर्जा इन्धन की समाप्ति के साथ शीघ्र ही नष्ट हो जाती है अतः ऊर्जा प्राप्ति के लिये एवं उसके इन्धन संसाधनों का अनुसन्धान आवश्यक है। इसलिये वेद ने इसके ही अनुसन्धान का सर्वप्रथम उपदेश किया।

(१४) ऊर्जा का अनुसन्धान पूर्व काल में भी

ऊर्जा के संसाधनों तथा ऊर्जा की अन्वेषण प्रक्रिया सदा होती रही है और सदा ही होती रहेगी क्योंकि ऊर्जा इन्धनों से प्राप्त होती है अतः इन्धन के साथ ऊर्जा का भी ह्रास होना स्वाभाविक है। इसलिये ऋग्वेद के दूसरे ही मन्त्र में कहा—अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। सदेवाँ एह वक्षति ।। अर्थात् पहले के ऋषि, वैज्ञानिकों द्वारा यह अग्नि नित्य स्तोतव्य एवं अन्वेष्टव्य रहा है और वर्तमान के ऋषि, वैज्ञानिकों द्वारा भी नित्य अन्वेष्टव्य है। ऊर्जा के संसाधनों की उत्तरोत्तर गवेषणा होनी चाहिये तथा संगोष्ठियाँ करनी ही चाहिये। क्योंकि ऊर्जा ही दिव्यगुणों, दिव्य भोगों और दिव्य ऋतुओं को इस संसार में हमें प्राप्त कराने वाली है।

(१५) ऊर्जा का साधन वायु, इन्द्रवायु और मित्रावरुण

अग्नि के पश्चात् दूसरा ऊर्जा का संसाधन वायु है अतः ऋग्वेद के दूसरे सूक्त में—वायो आयाहि—वायु को ग्रहण करने को कहा है। इसी सूक्त में पुनः ऊर्जा के साधनों के लिये इन्द्र अर्थात् पार्थिव और सौर ताप जन्य विद्युत् के साथ वायु का उपदेश है। अर्थात् पार्थिव क्षेत्र के समीप के और उससे उत्तरोत्तर ऊपर के स्थानों में ऊर्जा के संसाधनों का वेद उपदेश करते हुए इस क्षेत्र से भी ऊपर के क्षेत्र के दो उर्जा तत्त्वों का उल्लेख मित्र और वरुण नाम से कर रहा है। मित्र और वरुण से जल के निर्माण का भी साथ ही उपदेश इसी दूसरे सूक्त में है। मित्र को ऑक्सीजन, वरुण को हाइड्रोजन माना गया है।

(१६) ऊर्जा के साधन अश्विनी, विद्युतादि एवं ध्वनियां

तीसरे सूक्त में इससे भी ऊपर के क्षेत्र की उर्जाओं का वर्णन है। अश्विनी नाम से प्रसिद्ध ऊर्जाओं का निर्माण सूर्य एवं चन्द्र का संयोग समय में होता है। द्युलोक और पृथिवी की शक्तियों के सम्मिश्रण से भी अश्विनी की उत्पत्ति होती है। इसके पश्चात् इन्द्र अर्थात् विद्युत् ऊर्जा का क्षेत्र है और उसके पश्चात् अनेक समूह रूप में ऊर्जा के संसाधन हैं और उसके भी ऊपर ध्वनि की ऊर्जा है तत्पश्चात् चतुर्थ सूक्त से ग्यारहवें सूक्त तक द्युलोक की विशाल ऊर्जा का विद्युन्मय क्षेत्र बताया है।

(१७) एक ऊर्जा संसाधन के साथ दूसरे का संयोग

हमें अपने उपयोग के लिये एक ऊर्जा के संसाधन के साथ दूसरे ऊर्जा के संसाधन का प्रयोग करना चाहिये जिससे ऊर्जा की शक्ति-सामर्थ्य में वृद्धि हो। उदाहरणार्थ काष्ठ से प्रदीप्त अग्नि में यदि किसी तरल ऊर्जा रूप इन्धन का

प्रयोग होगा तो मूल इन्धन के जीवन की वृद्धि होगी और ऊर्जा में तेजस्विता उत्पन्न होगी। इसी में वायु की ऊर्जा के सहयोग के लिये वायु का वेगपूर्वक प्रवाह स्थूल इन्धन की बचत का कारण बन कर ऊर्जा को विशेष बल देने वाला हो जाता है। भार, दबाव आदि का संतुलित गतिचक्र-यन्त्र वैज्ञानिक रीति से प्रयोग करने से ऊर्जाओं को उत्पन्न कर सकता है।

(१८) ऊर्जा के वर्तमान इन्धनों से पर्यावरण प्रदूषण

ऊर्जा के लिये अनेक प्रकार के इन्धनों का प्रयोग हो रहा है। वृक्षों की कटाई, कोयले के लिये खानों की खुदाई, मट्टी के तेल, पेट्रोल एवं गैस के लिये पृथिवी और समुद्र में खुदाई द्वारा प्राप्त इन्धन से ऊर्जा की प्राप्ति हो रही है जो कि उत्तरोत्तर अपर्याप्त होती जा रही है। इससे पृथिवी की शक्ति का ह्रास ही हो रहा है। परन्तु इन इन्धनों से भूमण्डल का पर्यावरण उत्तरोत्तर दूषित एवं घातक होता जा रहा है। क्या हम खानों में कोयला उत्पन्न कर सकते हैं? क्या हम मट्टी का तेल, डीजल, पेट्रोल आदि पृथिवी में उत्पन्न करने की क्षमता रखते हैं? यदि उत्पन्न करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेंगे तो पर्यावरण प्रदूषण भयंकर रूप से बढ़कर प्राणिमात्र के जीवन के लिये घातक ही बनेगा।

(१९) प्रदूषण दोष रहित ऊर्जा का संसाधन घृत

ऐसी स्थिति में ऊर्जा के ऐसे संसाधनों की खोज करनी होगी जिनसे प्रदूषण कम से कम हो। वेद ने इसका उपाय बताया है—समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोध्यतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन॥ (यजुः ३/१) कतिपय यज्ञिय वृक्ष विशेष की समिधाओं से जिनसे ऊर्जा अधिक उत्पन्न होती है और अपकारक कार्बन-डाई-ऑक्साइड आदि गैसों की उत्पत्ति अपेक्षाकृत न्यून होती है उनमें सुगन्धित पदार्थ कपूर से अग्नि प्रदीप्त करें—फिर उस प्रदीप्त अग्नि को घृत से संवर्धित करें और उसमें सुगंधित, रोगनाशक और पर्यावरण शोधक हव्य द्रव्यों की आहुति देवें। इस प्रकार अग्नि और घृत से उत्पन्न ऊर्जा और उपर्युक्त गुण युक्त हवि के द्वारा ऊर्जा का निर्माण तो होगा ही परन्तु पर्यावरण प्रदूषित न होकर शुद्ध और पुष्टिकारक होगा तथा वृक्ष वनस्पति, अन्न, जलादि सभी के लिये परम लाभकारी भी होगा।

(२०) घृत की ऊर्जा से यन्त्र संचलन

घृत का उपयोग ऊर्जा के निमित्त प्रारम्भ में कुछ सीमित क्षेत्र में परीक्षणार्थ करना चाहिये। यद्यपि पेट्रोलियम आदि पदार्थ शीघ्र ज्वलनशील हैं और घृत

शीघ्र ज्वलनशीलता में सामान्य रूप से नहीं के बराबर है, परन्तु जब घृत को तीव्र गरम कर दिया जाता है और उष्णता के कारण उसमें वाष्प की उत्पत्ति होती है तो वह भी शीघ्र ज्वलनशील अवस्था में आ जाता है और उस अवस्था में उसके तापिय धूम्र की क्रियाशीलता से कार, मोटर आदि का संचालन किया जा सकता है। यजुर्वेद अध्याय तीन के मन्त्र दो में कहा है—सुसमिद्धाय शोचिषे घृते तीव्रञ्जुहोतन। अग्नये जातवेदसे।: अर्थात् जब समिधाओं से अच्छी प्रकार अग्नि प्रदीप्त हो तो उस अग्नि में अत्यन्त उष्ण घृत की आहुति कुछ-कुछ समय के अन्तर से थोड़ी-थोड़ी देनी चाहिये जिससे अग्नि का ताप घृत के ताप से बार-बार तेजस्वी होकर उससे उत्पन्न गैस बार-बार शक्ति से एक मार्ग से निकलकर नियमित ऊर्जा का साभार शक्ति प्रभाव आघात प्रदान करती हुई यन्त्र को चला सके। पर्यावरण प्रदूषण को यह उत्पन्न नहीं करेगी, प्रत्युत पर्यावरण शोधन के साथ पर्यावरण को पुष्ट भी करेगी।

(२१) घृत की ऊर्जा के लिये गौ तथा पशुपालन

यजुर्वेद के प्रारम्भ का मन्त्र-इषेत्वोर्जे त्वा वायवस्थ—है इस मन्त्र में ऊर्जा की प्राप्ति के लिये यज्ञ का आश्रय लेने के लिये बताया है और यज्ञ के लिये उत्तम गौओं के पालन का—अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीः—तथा—यजमानस्य पशून् पाहि—यज्ञ के यजमान के पास बहुत गौवें हों—और यजमान के पशुओं की रक्षा हो यह उपदेश दिया है। वास्तव में ऊर्जा का आधारभूत साधन गौ आदि पशु ही हैं। गौ की ध्वनि से, उसके श्वास-प्रश्वास से, उसके दूध, दही, घृत आदि से, उसके मूत्र एवं गोबर से पृथिवी एवं पर्यावरण शुद्ध होता है। जीवन की नई सभ्यता एवं संस्कृति ने गौ का तिरस्कार किया है। उसको अपने घरों में न रखकर कसाईखानों में भेज दिया है और पृथिवी को उर्वरा बनाने के लिये फर्टिलायज़रों को स्थापित किया है जिनसे अन्न बल, उर्जा एवं स्वाद विहीन, रोगोत्पादक बन गया है। यदि गौ आदि प्राणी हमारे पास बहुत होंगे तो ऊर्जा के साधन शुद्ध होंगे। ऊर्जा का स्रोत घृत प्रचुर मात्रा में पृथिवी को बिना खोदे, बिना बड़े-बड़े कारखाने खोले प्राप्त होगा। ऊर्जा प्राप्ति के साधन की प्राप्ति गौ के माध्यम से होती रहेगी। अतः यज्ञ द्वारा विश्व के पदार्थों और पर्यावरण में ऊर्जा के संभरण के लिये घृत की आहुति देना विहित किया।

(२२) अग्नि, विद्युत् और सोम से ऊर्जा

सामवेद का प्रथम मन्त्र—अग्न आयाहि वीतये०—है। इसमें यज्ञ अग्नि से ऊर्जा द्वारा प्रकाश, गति, ऊर्जा उत्पत्ति, स्थान, स्थिति की उपयोगिता, विद्युत् की ऊर्जा की उपयोगिता ऐन्द्रकाण्ड में और सोम की ऊर्जा की उपयोगिता के

लिये पवमान सोमकाण्ड में वर्णन है। किसी भी वेद ने दुर्गन्धयुक्त ऊर्जा के संसाधनों के प्रयोग का आदेश नहीं दिया। यदि घृत से ऊर्जा की प्राप्ति एवं उसका प्रचलन प्रारम्भ किया जावे तो संसार में उसका प्रचलन होने लगेगा। घृत से उत्पन्न ऊर्जा में प्रदूषण दोष तो होगा ही नहीं अपितु अमृत का प्रसारण होगा। यजुर्वेद अध्याय दो के मन्त्र चौंतीस में—उर्ज्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम—जब अग्नि में परिस्रुत प्रणाली अर्थात् क्रमशः अल्प-अल्प मात्रा में घृत, दूध और अन्य रसों का निर्षिचन किया जायगा अर्थात् आहुति दी जायगी तो अमृतमय ऊर्जा का प्रवाह गति करेगा।

(२३) जलीय ऊर्जा एवं ध्वनि की ऊर्जा

अथर्ववेद अनेक प्रकार की जलीय ऊर्जाओं के लिये—शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः ॥—इससे प्रारम्भ होता है। अर्थात् जलों की ऊर्जाओं से मनोवांछित कामनाओं की पूर्ति होगी और जलाभाव नष्ट होगा, अनावृष्टि, सूखा से संसार मुक्त होगा और सर्वत्र सुख ही सुख होगा। जिन साधनों से वर्तमान समय में ऊर्जा प्राप्त कर रहे हैं वे सर्वत्र सुख का प्रसार प्रदूषण उत्पन्न करने से नहीं कर सकते। अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के प्रथम सूक्त का मन्त्र—ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः। वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्यदधातु मे ॥—यह है। यह मन्त्र विश्व व्याप्त ध्वनि शक्ति की उर्जा को धारण कर विश्व कल्याण में प्रयुक्त करने का संकेत दे रहा है। ध्वनि व्यक्त और अव्यक्त रूप में है। उसमें महान् ऊर्जा है। ध्वनि की उर्जा से अत्यन्त शक्तिशाली कार्यों की प्रेरणा यह मन्त्र दे रहा है।

(२४) ऊर्जा के लिये वेद की उपयोगिता

वेद में ऊर्जा प्राप्ति, उसके संसाधन, उनके अनुसन्धान का बहुत ज्ञान विद्यमान है। उनका प्रयोगात्मक एवं व्यावहारिक ज्ञान का लाभ विश्व के लिये हितकर है। प्रस्तुत लेख में ऊर्जा के संसाधन के विषय पर वेद के आधार पर कुछ लिखा है। आशा है पाठकगण वेद का अध्ययन कर अपने अनुसन्धान कार्य के लिये प्रवृत्त होंगे।

ऋग्० १०.१९०.१

देदीप्यमान तप से उद्भूत्
विश्व का ऋत् और सत्य रूप,
जिससे रात्रि उत्पन्न हुई,
तत्पश्चात् समुद्र और अर्णव।

ऋतं च सत्यं चाभीध्दात् तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रोऽर्णवः ॥

अनुमान

जब हम जागे तो यह सब बन चुका था। हमें तो तेरे चरण-चिह्नों से ही पता लगा कि यह सब तूने बनाया है।

पश्चिम के दूर क्षितिज में सागर-किनारे घन-पटलों की छाया में किसी बाला को हेम-कुम्भ भरते देखकर ही हमने अनुमान लगाया कि तेरे श्रमसीकर से धरती कितनी भीगी होगी।

अंधकार की लम्बी निशा के पश्चात् पूर्वांचल की अरुणिमा देख यदि कमल अपनी बन्द पलकें न खोलते तो हमें कैसे पता चलता कि विश्व-कमल विकसित करने के लिये सबसे पूर्व तूने ही अरुण-बाला को दीप लेकर भेजा था।

झरनों के कलकल, पक्षियों के कलरव, नदियों के गायन में गुंजित प्रतिध्वनि से ही हमें पता चला कि पनघट पर खड़े होकर तूने ही बंशी बजायी थी।

पर, सब कुछ बन जाने के पश्चात् तूने किसको देखकर अट्टहास किया, यह बात या तो बसन्त की रानी मल्लिका को पता है, या कास कुसुमों से हँसते नदी के कगार जानते हैं, या जेठ की दुपहरी में मुकुलित अमल-मंजरी व पलाश-पुष्प ही बता सकेंगे।

हे मेरे देव ! हम तो मात्र अनुमान ही लगा सकते हैं, क्योंकि जब हम जागे तो यह सब बन चुका था।

योगेश्वर देव

—'मधु मञ्जरी' से

वेदों में गणित विद्या की चर्चा

डा० शिवपूजन सिंह कुशवाहा

वेदों में अनेक विद्याओं की चर्चा है। वेदों में गणित विद्या का भी वर्णन पाया जाता है।

"एका च मे तिस्रश्च मे तिस्रश्च मे पञ्च च मे पञ्च च सप्त मे सप्त च मे नव च मे नव च म एकादश च म एकादश च मे त्रयोदश च मे त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे पञ्चदश च मे सप्तदश च मे सप्तदश च मे नवदश च मे नवदश च म एकविंशतिश्च म एकविंशतिश्च मे त्रयोविंशतिश्च मे त्रयोविंशतिश्च मे पञ्चविंशतिश्च मे पञ्चविंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे नवविंशतिश्च मे नवविंशतिश्च मे एकत्रिंशच्च मे त्रयस्त्रिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥१॥"
(यजुर्वेद अ० १८, मं० २४)

"चतस्रश्च मेऽष्टौ च मेऽष्टौ च मे द्वादशच मे द्वादशच मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विंशतिश्च मे विंशतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मे ऽष्टाविंशतिश्च मे ऽष्टाविंशतिश्च मे द्वात्रिंशच्च मे षट्त्रिंशच्च मे षट्त्रिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मे ऽष्टाचत्वारिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २॥"
(यजुर्वेद अ० १८, मं० २५)

महर्षिदयानन्द जी सरस्वती का भाष्य :— "अभि०—अनयोर्मन्त्रयोर्मध्ये खल्वीश्वरेणाङ्क बीजरेखागणितं प्रकाशितमिति।"

(एका०) एकार्थस्य या वाचिका संख्यास्ति (१), सैकेन युक्ता द्वौ भवतः (२) यद्, द्वावेकेन युक्तौ सा त्रित्ववाचिका (३)। १॥"

द्वाभ्यां द्वौ युक्तौ चत्वारः (४), एवं तिसृभिस्त्रित्वसंख्यायुक्ताषट् (६), एवमेव "चतस्रश्च मे पञ्च च मे" इत्यादिषु परस्परं संयोगादिक्रिययाऽनेकविधाङ्क-

गंणितविद्या सिध्यति। अन्यत्खल्वत्रानेकचकाराणां पाठान्मनुष्यर्यैरनेक विधा गणित विद्याः सन्तीतिवेद्यम् ॥ २ ॥

सेयं गणितविद्या वेदांगे ज्योतिषशास्त्रे प्रसिद्धास्त्यतो नात्र लिख्यते। परन्त्वीदृशा मंत्रा ज्योतिषशास्त्रस्थ गणित विद्याया मूलमिति विज्ञायते। इयमङ्कसंख्या निश्चितेषु संख्यात पदार्थेषु प्रवर्त्तते।

ये चाज्ञात संख्याः पदार्थास्तेषां विज्ञानार्थं वीजगणितं प्रवर्त्तते। तदपि विधानमेका चेति।

$अ^{२} - क^{3}$ इत्यादि संकेतेनैतन्मंत्रादिभ्यो बीजगणितं निःसरतीत्यःवधेयम्।''

इन मंत्रों से परमात्मा ने अङ्क, बीज और रेखा भेद से तीन प्रकार की गणित विद्या प्रकाशित की है।

(ए०) उनमें से प्रथम अङ्क जो संख्या है (१), वह दो बार गिनने से दो की वाचक होती है। जैसे —१+१=२। ऐसे ही एक के आगे एक तथा एक आगे दो, वा दो के आगे एक आदि जोड़ने से भी समझ लेना। इसी प्रकार एक के साथ तीन जोड़ने से चार (४) तथा तीन को तीन (३) के साथ जोड़ने से (६), अथवा तीन को तीन से गुणा करने से ३ × ३ =९ हुए ॥१॥

इसी प्रकार चार के साथ चार, पांच के साथ पांच, छः के साथ छः, आठ के साथ आठ इत्यादि जोड़ने वा गुणा करने तथा सब मंत्रों के आशय को फैलाने से सम्पूर्ण गणित विद्या निकलती है; जैसे पांच के साथ पांच (५५), वैसे ही छःछः (६६), तथा सात सात (७७), इत्यादि जान लेना चाहिए। ऐसे ही इन मंत्रों के अर्थों को आगे योजना करने से अंकों से अनेक प्रकार की गणित विद्या सिद्ध होती है। इन मंत्रों के अर्थ और अनेक प्रकार के प्रयोगों से मनुष्यों को अनेक प्रकार की गणित विद्या अवश्य जाननी चाहिए॥ २ ॥

वेदों के अंग ज्योतिषशास्त्र में भी इसी प्रकार के मंत्रों के अभिप्राय से गणित विद्या सिद्ध की है। इस प्रकार के मंत्र ज्योतिषशास्त्र की गणित विद्या का मूल है। अंकों से जो गणित विद्या निकलती है वह निश्चित और संख्यात पदार्थों में होती है।

जिन पदार्थों की संख्या ज्ञात नहीं उनके जानने के लिए जो बीजगणित होता है यह भी (एका च मे०) इत्यादि मन्त्रों से ही सिद्ध होता है। $(अ^{२} + क^{२})$ $(अ^{२} - क^{२})$, $(क^{२} \div अ^{२})$ इत्यादि संकेत से निकलता है। यह भी वेदों ही से ऋषियों ने निकाला है।[1]

पं० जयदेव शर्मा 'विद्यालङ्कार', मीमांसातीर्थ :—(एकाच) एक, (तिस्रः च तिस्रः च) तीन और तीन (पञ्च च पञ्च च) पांच और पांच, (सप्त च

सप्त च) सात और सात, (नव च नव च) नौ और नौ, (एकादश च एकादश च) ग्यारह और ग्यारह, (त्रयोदश च त्रयोदशच) तेरह और तेरह, (पञ्चदश च पञ्चदश च) पन्द्रह और पन्द्रह, (सप्तदश च सप्तदश च) सत्रह और सत्रह, (नवदश च नवदश च) उन्नीस और उन्नीस, (एकविंशतिः च एकविंशतिः च) इक्कीस और इक्कीस, (त्रयोविंशतिः च त्रयोविंशतिः च) तेईस और तेईस, (पञ्चविंशतिः च पञ्चविंशतिः च) पच्चीस और पच्चीस, (सप्तविंशतिः च सप्तविंशतिः च) सत्ताईस और सत्ताईस, (नवविंशतिः च नवविंशतिः च) उनतीस और उनतीस, (एकत्रिंशत् च एकत्रिंशत् च) इकतीस और इकतीस और (त्रयस्त्रिंशत् च त्रयस्त्रिंशत् च) तेंतीस और तेंतीस इस क्रम से (मे) मेरी सेनाएं व्यूह बनाकर (यज्ञेन) परस्पर के मेल और दान अर्थात् ऋण, घटाने द्वारा (कल्पन्ताम्) अधिक समर्थ हों।

१, ३, ५, ७, ९, ११, १३, १५, १७, १९, २१, २३, २५, २७, २९, ३१, ३३, ये अयुग्म स्तोम या अयुग्म राशियां कहाती हैं। इन-इन संख्या में सेनाओं और सैनिक संघों को चलाकर उत्तम राष्ट्ररूप स्वर्ग को विद्वान् लोग प्राप्त होते हैं। व्यूह में ओर छोर के छोड़ने से दो-दो की क्रमशः वृद्धि और न्यूनता होनी संभव है।

१		१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११
१ २ ३		१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९
१ २ ३ ४ ५	अथवा	१ २ ३ ४ ५ ६ ७
१ २ ३ ४ ५ ६ ७		१ २ ३ ४ ५
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९		१ २ ३
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११		१

गणित में इसी प्रकार दो-दो के जोड़ने से वा परस्पर के गुणन से संख्या की उपर्युक्त वृद्धि और दो-दो के घटाने से वा परस्पर के भाग द्वारा संख्या की न्यूनता करनी चाहिए। व्यूहों में भी एक-एक, तीन-तीन, पांच-पांच, सात-सात की पंक्ति बनाकर चलने का उपदेश है।......

"(चतस्रः च) चार, (अष्टौ च अष्टौ च) आठ और आठ, (द्वादश च द्वादश च) बारह और बारह, (षोडश च षोडश च) सोलह और सोलह, (विंशतिः च विंशतिः च) बीस और बीस, (चतुर्विंशतिः च चतुर्विंशतिः च) चौबीस और चौबीस, (अष्टाविंशतिः च अष्टाविंशतिः च) अट्ठाईस और अट्ठाईस, (द्वात्रिंशत् च द्वात्रिंशत् च) बत्तीस और बत्तीस, (षट्त्रिंशत् च षट्त्रिंशत् च) छत्तीस और छत्तीस, (चत्वारिंशत् च चत्वारिंशत् च) चालिस और चालिस, (चतुश्चत्वारिंशत् च चतुश्चत्वारिंशत् च) चवालिस और चवालिस, (अष्टाचत्वारिंशत् च अष्टाचत्वारिंशत् च) अड़तालीस और अड़तालीस के

सेनाओं के समूह (मे यज्ञेन कल्पन्ताम्) मेरे यज्ञ परस्पर मेल, संयोग और विभाग, गुणन और भाग द्वारा अधिक बलवान् हों।

१+१=२, १+२=३, ३+२=५, ५+२=७ इत्यादि।
३+५=८, ५+७=१२, ७+९=१६, ९+११=२०,
११+१३=२४

इस प्रकार अयुग्म संख्याओं के योग से युग्म संख्याओं की निष्पत्ति होती है। इसी प्रकार परस्पर गुणन और भाग से भी वृद्धि और न्यूनता होती है।[२]

"इमा मे ऽअग्न ऽइष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं च नियुक्तं च प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्धश्चैता मे ऽअग्न ऽइष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिँल्लोके ॥"

—[यजुर्वेद १७/२]

महर्षि दयानन्द जी सरस्वती कृत भाष्य—(अब इष्टका आदि के दृष्टान्त से गणित विद्या का उपदेश किया है):

पदार्थः—हे (अग्ने) विद्वन् पुरुष! जैसे (मे) मेरी (इमाः) ये (इष्टकाः) इष्ट सुख को सिद्ध करने हारी यज्ञ की सामग्री (धेनवः) दुग्ध देने वाली गौओं के समान (सन्तु) होवें आपके लिए भी वैसी हों जो (एका) एक (च) दशगुणा (दश) दश (च) और (दश) दश (च) दश गुणा (शतम्) सौ च और (शतम्) सौ (च) दशगुणा (सहस्रम्) हजार (च) और (सहस्रम्) हजार (च) दशगुणा (अयुतम्) दश हजार (च) दशगुणा (नियुतम्) लाख (च) और (नियुतम्) लाख (च) दशगुणा (प्रयुतम्) दश लाख (च) इसका दश गुणा क्रोड़ इसका दशगुणा (अर्बुदम्) दश करोड़ इसका द० (न्युर्बुदम्) अर्ब (च) इसका दशगुणा खर्ब इसका दसगुणा निखर्ब इसका दशगुणा महापद्म इसका दसगुणा शङ्कु इसका दशगुणा (समुद्रः) समुद्र (च) इसका दशगुणा (मध्यम्) मध्य (च) इसका दशगुणा (अन्तः) अन्त और (च) इसका दशगुणा (परार्द्धश्च) परार्द्ध (एताः) ये (मे) मेरी (अग्ने) हे विद्वन्! (इष्टकाः) वेदी की ईंटें (धेमवः) गौओं के तुल्य (अमुष्मिन्) परोक्ष (लोके) देखने योग्य (अमुत्र) अगले जन्म में (सन्तु) हों वैसा प्रयत्न कीजिए।

भावार्थः—जैसे अच्छे प्रकार सेवन की हुई गौ दुग्ध आदि के दान से सबको प्रसन्न करती हैं वैसे ही वेदों में चयन की हुई ईंटें वर्षा की हेतु होके वर्षादि के द्वारा सबको सुखी करती हैं। मनुष्यों को चाहिए कि एक (१) संख्या को दशवार गुणने से दश (१०) दश को दश बार गुणने से सौ (१००) उसको दस बार गुणने से दश हज़ार (१००००) उसको दश बार गुणने से लाख (१०००००) इसको दश बार गुणने से दश लाख (१००००००) इसको दश बार गुणने से

क्रोड़ (१०००००००) इमको दश बार गुणने से दस क्रोड़ (१००००००००) इसको दस बार गुणने से अर्ब (१०००००००००) इसको दश बार गुणने से दश अर्ब (१००००००००००) इसको दश् बार गुणने से खर्ब (१०००००००००००) इसको दश वार गुणने से नील (१००००००००००
०००) इसको दश बार गुणने से दश नील (१००००००००००००००) इसको दश बार गुणने से एक पद्म (१०००००००००००००००) इसको दश बार गुणने से दस पद्म (१००००००००००००००००) इसको दश बार गुणने से एक शङ्ख (१०००००००००००००००००) इससे दश बार गुणने से दश शङ्ख ((१००००००००००००००००००) इन संख्याओं की संज्ञा पड़ती है। ये इतनी तो कहीं, परन्तु अनेक चकारों के होने से और भी अंकगणित, बीजगणित, और रेखागणित आदि की संख्याओ को यथावत् समझें। जैसे भूलोक में ये संख्या हैं वैसे अन्य लोकों में भी हैं। जैसे यहां इन संख्याओं से गणना की और अच्छे कारीगरों ने चिनी हुई ईंटें घर के आकार को शीत, उष्ण, वर्षा और वायु आदि से मनुष्यादि की रक्षा कर आनन्दित करती है वैसे ही अग्नि में छोड़ी हुई आहुतियां जल, वायु, और ओषधियों के साथ मिलके सबको आनन्दित करती हैं।"[३]

"शतं वा यः शुचीनां सहस्रं वा समाशिराम्। एदु निम्नं न रीयते"।
—(ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त ३०, मंत्र २)

महर्षि दयानन्द जी सरस्वती— ......(शतम् वा) सौ गुना, अथवा... (सहस्रम् वा) हजारों गुना......"[४]

"वाय उक्थेभिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितारः। सुतसोमा अहर्विदः।"
(ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त २ मंत्र २)

पं० अलगूराय शास्त्री लिखते हैं :—इस मंत्र का 'अहर्विदः' शब्द ज्ञान का सूचक है। इसी के द्वारा काल सम्वन्धी सब ज्ञान सूचित होते हैं। दिन, रात, ऋतु, पक्ष, मास, सप्ताह वर्ष आदि की सम्पूर्ण गणना की दिशा इस शब्द से ज्ञात होती है।"[५]

अक्षितोतिः सनेदिमं वाजमिन्द्रः सहस्रिणम्।
यस्मिन्विश्वानि पौंस्याः।"

—(ऋग्वेद १/५/६)

यहां 'सहस्रिणम्' शब्द आया है जो 'असंख्य' वा हजार अर्थवाला है।

पं. जयदेव शर्मा विद्यालंकार ने ('सहस्रिणम्') "सहस्रों असंख्य···" अर्थ किया है।[६]

पं० अलगूराय शास्त्री लिखते हैं :—"मंत्र में 'सहस्रिणम्' शब्द स्पष्ट संख्या का द्योतक होने से गणित का ज्ञापक है। विश्वानि शब्द भी।"[७]

"अनवद्यैरभीद्युभिर्मख सहस्वदर्चति। गणैरिन्द्रस्य काम्यैः"

(ऋग्वेद १/६/८)

पं० अलगूराय शास्त्री—मंत्र का 'गणैः' शब्द, गण समूह सूचक होने से गणना गिनती का निर्देश करने वाला शब्द है। गण शब्द स्पष्ट ही गणित शब्द अथवा गणक शब्द का जनक होने से गणित विद्या का द्योतक है।"[८]

"इन्द्र वजेषु नो ऽवा सहस्र प्रधनेषु च। उग्र उग्राभिरूतिभिः"

—(ऋग्वेद १/७/४)

पं० अलगूराय शास्त्री :—"मंत्र का 'सहस्र' शब्द गणित ज्ञान का ज्ञापक है"[९]

"य एकश्चर्षणीनां वसूनाभिरज्यति। इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम्"

—(ऋग्वेद १/७/९)

"इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः। अस्माकमस्तु केवलः"

—(ऋग्वेद १/७/१०)

पं० अलगूराय शास्त्री :—"मंत्रों में 'पञ्च' 'एक' 'विश्वतः' तथा 'केवलः' शब्द गणित ज्ञान के अवबोधक हैं।"[१०]

"अस्मे धेहि श्रवो वृहद् द्युम्नं सहस्रसातमम्।······ (ऋग्वेद १/९/८)

पं० अलगूराय शास्त्री—"मंत्र का 'सहस्रसातमम्' शब्द संख्यात्मक होने से गणितपरक है और तत्सम्बन्धी ज्ञान का दाता है।"[११]

"इन्द्रमीशानमोजसाभिस्तोमा··· —(ऋग्वेद १/११/८)

पं० अलगूराय शास्त्री :—इस मंत्र में 'सहस्रं भूयसीः' शब्द गणित का ज्ञान बताने वाले हैं। सहस्र नियत संख्या तथा भूयसीः सैकड़ों सहस्र अनगिनत के

अर्थ का द्योतक होकर उसके कितने ही गुन का वोध कराता हुआ गुणन विधि का प्रतिपदक है। So many times thousand इत्यर्थः।"[१२]

पं० जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार, मीमांसातीर्थ :—"··· (सहस्रं) हजारों, अनेक और पूर्ण हैं।"···[१२]

"तां उशतो विवोधय यदग्ने भासि दूत्यम्।···" —(ऋग्वेद १/१२/४)

पं० अलगूराय शास्त्री :—मंत्र का शतः शब्द संख्या सूचक गणितार्थ वोधक है।"···[१३]

इळा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयों भुवः।··· —(ऋग्वेद १/१३/६)

पं० जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार :—"··· (तिस्रः देवीः) तीनों देवियाँ···।"[१४]

पं० अलगूराय शास्त्री :—"इस मंत्र का तिस्र शब्द तीन की संख्या का ज्ञापक है। पृथक्-पृथक् एक इडा, एक सरस्वती, एक मही के योग से तीन की संख्या का बोध कराके संख्यागत योगविधि का गणित सिद्धान्त इस मंत्र द्वारा दिया गया है।"[१५]

महर्षि दयानन्द जी ने अपने भाष्य में (तिस्रः) त्रिप्रकारकाः—'तीन प्रकार की' अर्थ किया है।

"इह त्वष्टारमग्रियं विश्वरूपमुणह्वये। अस्माकमस्तु केवलः"—
(ऋग्वेद १/१३/१०)

पं० अलगूराय शास्त्रीः—"इसी प्रकार यहाँ विश्व तथा केवल के दो विरोधी शब्द Reflex Categories द्योतक एक एक ओर वाला, दूसरा दूसरे छोर वाला सापेक्षवाद के सिद्धान्त को स्थापित करता हुआ एक तथा अनेक के भावों का द्योतक है और गणित विद्या का विस्तारक है।"[१६]

"इन्द्रः सहस्रदाव्नां वरुणः शस्यानाम्। ऋतुर्भवत्युक्थ्यः।"
(ऋग्वेद १/१७/५)

पं० अलगूराय शास्त्रीः—"मंत्र में दान तथा प्रशंसा के वर्णन के साथ-साथ सहस्र शब्दगणितार्थ का ज्ञान कराता है। सहस्र अनेक के अर्थ में आता है। वहुत के अर्थ में आता है। थोड़े का प्रतियोगी है अथवा विरोधी यह शब्द गणित के संख्यात्मक मूल्य का द्योतक है। गुणात्मक नहीं। Quantitative न च Qualitative।

"उतत्यं चमसं नवं त्वष्टुर्देवस्य निष्कृतम्। अकर्त्त चतुरः पुनः"—
(ऋग्वेद १/२०/६)

"तेनो रत्नानि धत्तन त्रिरासाप्रानि सुन्वते । एकमेकं सुशस्तिभिः"—
(ऋग्वेद १/२०/७)

महर्षि दयानन्दजी सरस्वती ऋ० १/२०/७ में "···(सप्रानि) जो सात संख्या के वर्ग अर्थात् १. ब्रह्मचारी, २. गृहस्थ, ३. वानप्रस्थ, ४. संन्यासियों के कर्म, ५. पूर्वोक्त यज्ञ का करना=विद्वानों का सत्कार, तथा ६. उनसे मिलाप, और ७. दान अर्थात् सबके उपकार के लिए विद्या का देना है। इनमें से (एकमेकम्) एक-एक कर्म करके (त्रिः) 'त्रिगुणित सुखों को (सुन्वते) प्राप्त करते हैं, (ते) वे बुद्धिमान् लोग (नः०) हमारे लिए (रत्नानि) विद्या और सुवर्णादि धनों को (धत्तन) अच्छी प्रकार धारण करें।"[१७]

"वेदों में गिनतियों का उपयोग एक साधारण वात है।"

ऋग्वेद में प्रयुक्त कुछ संख्यावाचक शब्द हम यहाँ देते हैं।

एक-एकः	१/७/९	सप्तति	१०/९३/१५
एकादश	१०/८५/४५	सप्तिः	२/३१/७
एकऽशत	१०/१३०/१	द्वितीय	१/१४१/२
द्वि	१/५३/९	त्रय	१/३४/२
द्वादश	१/२५/८	तृतीय	१/१४१/२
त्रि	१/२०/७	त्रयर्स्त्रिशत्	१/४५/२
त्रिंशत	३/९/९	चत्वारः	१/१२२/१५
त्रिंशतऽशत	६/२७/६	चत्वारिंशत्	१/१२६/४
चतस्र	१/१६२/७	चत्वारिंशता	२/१८/५
चतुः	१/३१/१३	अष्ट	७/८४/५
चतुःऽदश	२०/११४/७	नव	२/१८/१
चतुःर्त्रिशत्	१/१६२/१८	नवःऽनवः	१०/८५/१९
चतुःऽशत	८/५५/३	नवति	१/३२/१४
चतुःसहस्र	५/३०/१५	दश	१/५३/६
पंच	१/७/९	शत	१/२४/९
पंचऽदश	१०/८६/१४	सहस्र	१/११/८
पंचऽपंच	३/५५/१८	षष्टिः सहस्र	१/१२६/३
पंचाशत्	४/१६/१३	अयुत	४/२६/७
पंचाशतः	१/१३३/४	अष्टम	२/५/२
षट्	१/२३/१५	नवम	५/२७/३
षट्त्रिंश	१०/११४/६	दशम	८/२४/२३
षष्टि	६/१२६/३	शतऽतम	४/२६/३
सप्त	१/२२/१६		

इस सूची से ऋग्वेद में प्रयुक्त संख्याओं का कुछ अनुमान हो सकता है। संभवतः अयुत (१०,०००) से बड़ी संख्या मापक इकाई वाला नाम नहीं मिलता, यों तो षष्ठि सहस्र का अर्थ ६०,००० है। लक्ष, कोटि, अर्वुद आदि संख्यावाचक शब्दों का भी प्रयोग नहीं है।[१८]

"यजुर्वेद में संख्यात्मक शब्दों का कुछ स्थलों पर अच्छा उल्लेख है। इनके नवें अध्याय में 'अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत्' से लेकर 'सप्तदशाक्षरेण सप्तदशं स्तोममुदजयत्तमुज्जेषम्' तक एक से लेकर सत्रह तक की संख्या का प्रयोग हुआ है।" (यजु० ९/३१-३४)

एक मंत्र में प्रथम, द्वितीय, तृतीय से लेकर द्वादश तक की संख्याओं का प्रयोग हुआ है—

'सविता प्रथमेऽहमग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीयऽआदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमाः पञ्चमऽऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे। मित्रो नवमे वरुणो दशमऽइन्द्रऽएकादशे विश्वेदेवा द्वादशे।' (यजु० ३९/६)

यह मन्त्र इस दृष्टि से और महत्त्व का है कि इसमें १,२,३, अदि से सम्बन्ध रखने वाले प्रथम, द्वितीय, तृतीय आदि संख्यावाचक शब्दों का एक क्रम से उल्लेख है।

एक मन्त्र में १५,१७,१९; १८,१९,२०; २२,२३,२४,२५; ३१,३३; ३४, ३६ और ४८ संख्याओं का उक्तक्रम में प्रयोग हुआ है। (यजु० १४/२३)

शत और सहस्र शब्दों का उल्लेख अनेक स्थलों पर है, जैसे "याशतेन प्रतनोषि सहस्रेण विरोहसि"—(यजु० १३/२१)। एक मन्त्र में असंख्य हज़ार का भी संकेत है—'असंख्याता सहस्राणि' —(यजु० १३/५४)।

यजुर्वेद के १४ वें अध्याय में चार मन्त्र एक क्रम से इस प्रकार के आए हैं जिनमें एक क्रम से १ से लेकर ३३ तक की समस्त विषय गिनतियों अर्थात् १,३,५,७,९,११,१३,१५,१७,१९,२१,२३,२५,२७,२९,३१ और ३३ का तृतीया विभक्ति में प्रयोग हुआ है।

यजु० 'एकमास्तुवत प्रजा०' से नवदशभिरस्तुवात् तक १४/२८-३१। इसी प्रकार 'सकाचमे तिस्रश्चमे' (यजु० १८/२४) में भी।

यजुर्वेद के एक मन्त्र में १,२ और ३ के १०,२० और ३० से स्पष्ट सम्बन्ध की ओर संकेत है—'एकया च दशभिश्च स्वभूते द्वाभ्याभिष्टये विषंशती च। तिसृभिश्च वहसे त्रिषंशता च नियुद्धिर्वायविहता वि भुञ्च।"

—(यजु० २७/३३)।"[१९]

ऋग्वेद में एक मन्त्र है।

"इन्द्रेण युजा निःसृजन्त वाघतो व्रजं गोमन्तमश्विनम्
सहस्रं मे ददतो अष्टकर्ण्यः श्रवो देवेष्वक्रत"
(१०/६२/७)

अर्थात् ऐसी हजार गायें मुझे दीं, जिनके कानों पर ८ का अङ्क लिखा हुआ था। ऋग्वेद में 'अक्षकितवनिन्दा' सूक्त में 'अक्षस्याहमेक परस्य हेतोः,' (१०.३४.२) जो शब्द आए हैं, 'एक पर दांव लगाने के कारण', वे जुए के पांसे पर एक, दो आदि के अंक लिखे होने का ही संकेत है।...[20]

अथर्ववेद १३—५, २०—२५, १६—१८; अथर्व० ५.१६.१—११; अथर्व, ५.१५.१—११ में गणित की चर्चा है।[21]

ऋ० १।८४।१३; अथर्व १६।४७।३ से ५ तक ऋ० ८=४६.२२;

ऋ० १०।५२।६; अथर्व० ८.२.२१ में भी गणित की चर्चा है।[22]

रेखागणित

"इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥" यजु० २३।६२

महर्षिदयानन्द जी सरस्वती:—"(इयं वेदिः) अभिप्रा०-इन मंत्रों में रेखागणित का प्रकाश किया गया है, क्योंकि वेदों की रचना में रेखागणित का भी उपदेश है। जैसे तिकोन, चौकोन, सेन पक्षी का आकार और गोल आदि जो वेदी का आकार बनाया जाता है उसे आर्यों ने रेखागणित ही का दृष्टांत माना था। (परो अन्तः पृ०) पृथिवी का जो चारों ओर का घेरा है उसको परिधि और (यज्ञो०) ऊपर से अन्त तक मिलाने वाली जो पृथ्वी की रेखा है उसको व्यास कहते हैं। यही सारे संसार की नाभि है। (अयं० सो०) चन्द्र आदि लोक भी इसी प्रकार परिधि आदि से युक्त हैं। (वृष्णो अश्व०) वृष्टि करने वाले सूर्य, अग्नि और वेग के हेतु वायु की भी परिधि आदि इसी प्रकार है। (रेतः) शक्ति उत्पन्न करने के लिए इनका जो ओषधि के रूप से वीर्य है वह सर्वत्र विस्तृत है। (ब्रह्मायं वा०) जो ब्रह्म है वह वाणी की (परमं व्योम) परिधि रूप के अन्दर और बाहर सर्वत्र विद्यमान है। इसी प्रकार से इस मंत्र से आदि, मध्य और अन्त आदि रेखाओं को भी जानना चाहिए और इसी रीति से तिर्यक् तथा विषुवत आदि भी निकलती हैं।"[23]

"अग्नेय यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि। स इद्देवेषु गच्छति।"
(ऋ०, मं० १, सू० १, मंत्र ४)

पं० अलगूराय शास्त्री—:"इस मंत्र का विश्वत: शब्द चक्र वृत्त, सम्पूर्ण अर्थों का द्योतक होकर हमें गोलाई, शून्य सम्पूर्ण का रेखागणितीय ज्ञान प्रदान करता है। अपेक्षा की दृष्टि से इसी शब्द से अपूर्ण अधूरे की भी ध्वनि निकलती है और प्रकार अंशांशी भाव का ज्ञान होता है। Whole तथा Parts सम्पूर्ण एवं अंग अथवा अंश का बोध प्राप्त होता है।"[२४]

"कासीत् प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत् परिधि: क आसीत्। छन्द: किमासीत् प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे।"

(ऋग्वेद मंडल १०, सूक्त १३०, मंत्र ३)

महर्षि दयानन्दजी सरस्वती :—"(कासीत् प्र०) १-यथार्थ ज्ञान क्या है? (प्रतिमा) २-जिससे पदार्थों का तोल किया जाय वह क्या चीज है? (निदानम्) ३-कारण, जिससे कार्य उत्पन्न होता है। वह क्या चीज है? (आज्यं) ४-जगत् में जानने के योग्य घृतवत् सारभूत या सर्वदु:खनिवारक आनन्द से स्निग्ध सारभूत क्या है? (परिधि०) ५-परिधि किसको कहते हैं? (छन्द:) ६-स्वतन्त्र वस्तु क्या है? (प्रउ०) ७-प्रयोग और शब्दों से स्तुति करने के योग्य क्या है? इन सात प्रश्नों का उत्तर यथावत् दिया जाता है— (यद्देवा देव०) जिसको सब विद्वान् लोग पूजते हैं, पूजेंगे और पूजते थे वही परमेश्वर-प्रमा आदि नाम वाला है। (प्रमा) यथार्थ ज्ञानवान् (प्रतिमा) परिमाण करने वाला, नाचने वाला। इस प्रकार आगे के शब्दों के अर्थ भी लगा लेने चाहिए।

इन मन्त्रों में प्रमा और परिधि आदि शब्दों से परमात्मा ने रेखागणित सिद्ध करने का उपदेश दिया है।"[२५]

पं० अलगूराय शास्त्री :—"इस मन्त्र में रेखागणित का प्रकाश किया है क्योंकि वेदों की रचना में रेखागणित का भी उपदेश है जैसे तिकोन-चौकोन सेन पक्षी के आकार और गोल आदि जो वेदी का आकार किया जाता है सो आर्यों ने रेखागणित का ही दृष्टान्त माना था। पृथ्वी का जो चारों ओर घेरा है वह उसकी परिधि है और ऊपर से अन्त तक जो पृथिवी की रेखा है उसको व्यास कहते हैं।"...[२६]

आचार्य पं० वैद्यनाथ शास्त्री[२७], पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार मीमांसा-तीर्थ[२८], पौराणिक पं० रामगोविन्द त्रिवेदी, वेदान्तशास्त्री व पं० गौरीनाथ व्याकरणतीर्थ[२९] भी महर्षि दयानन्दजी सरस्वती के समान अर्थ करते हैं।

ऋग्वेद १/५२/५; अथर्व० ८/६/२; ऋग्वेद १/१०५/१७, शतपथ ब्राह्मण १०/३/७-८ मन्त्रों से भी रेखागणित सिद्ध किया जाता है।[३०]

बीजगणित

"अग्न आ याहि वीतये गृणानो हव्यदातये। निहोता सत्सि बर्हिषि"—(साम० छ०। प्र०-१/खं०१/मं०१) तथा ऋ०६/१६/१०।

महर्षि दयानन्दजी सरस्वती का भाष्य:—"यथैका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धतिन्यायेन स्वरसंकेताङ्कै र्बीजगणितमपि साध्यत इति बोध्यम्।

(अग्न[२] ओ[१]) इस मन्त्र के संकेतों से भी बीजगणित निकलता है।"[३१]

पाश्चात्य विद्वानों की मान्यताएँ

३०० वर्ष के लम्बे-चौड़े अनुभव के आधार पर सर टामस मुनरो प्रमाणित करते हैं—"वे (हिन्दू) योरोपियनों की अपेक्षा अच्छे मुनीम (Accountant) होते।"[३२]

सर डब्ल्यू० डब्ल्यू० हण्टर महोदय बतलाते हैं कि "हिन्दुओं ने अंकगणित और बीजगणित में स्वतन्त्रतापूर्वक बहुत ऊंची योग्यता प्राप्त कर ली थी।"[३३]

प्रोफेसर मैकडानल लिखते हैं कि "विज्ञान में भी भारतवर्ष का योरोप बहुत ऋणी है। प्रथम सबसे बड़ी बात यह है कि भारतवासियों ने गणित अंकों का आविष्कार किया जिनका प्रयोग समस्त संसार में हो रहा है। इन अंकों पर निर्भर रहने वाले दर्शक सिद्धान्त का गणित ही नहीं परन्तु सभ्यता के उत्कर्ष पर जो प्रभाव पड़ा वह अमूल्य है।"[३४]

मिस्टर केजोरी (Cejori) भी बताते हैं—"यह ध्यान देने की बात है कि भारतीय गणित ने हमारे वर्तमान विज्ञान में किस हद तक प्रवेश किया है। आधुनिक बीजगणित और अंकगणित दोनों ही आत्मा तथा रूप में भारतीय हैं। यूनान के नहीं। सबसे अधिक उस पूर्ण गणित चिह्नों को देखिए। वे भारतीय हैं। उनकी बीजगणित प्रथाओं को देखिए, वे हमारी प्रथाओं के बराबर पूर्ण हैं, फिर सोचिए कि गंगा-घाट वासी ब्राह्मणों को इसका कुछ न कुछ श्रेय मिलना चाहिए। दुर्भाग्यवश हिन्दुओं के कितने ही अमूल्य अविष्कार योरोप में बहुत पीछे पहुंचे। जिनका प्रभाव यदि वे दो-तीन सदी पहले पहुँचते तो बहुत पड़ता।"[३५]

सुप्रसिद्ध जर्मन आलोचक श्लेगल के अन्वेषणानुसार "हिन्दुओं ने ही दशमलव के विन्दुओं (Cyphers) का आविष्कार किया है।"[३६]

डी० मार्गन (De Margan) भी स्वीकार करता है कि "हिन्दुओं का अंकगणित यूनान के किसी भी अंकगणित से बहुत बड़ा है, जिसे आजकल हम व्यवहृत करते हैं वह भारतीय अंकगणित है।"[३७]

श्रीमती मैंनिग के शब्दों में "कोई भी निबन्ध, पत्रिका और कोष देखिए।

हमारी गिनतियाँ हिन्दुओं की हैं. अरब लोग तो उन्हें भारत में लाने वाले एक मध्यस्थल थे।"[३८]

"हिन्दू लोगों ने दशमलव चिह्नों (Decimal Notation) का आविष्कार दुनियां में सबसे पहले किया था।"[३९]

पर्यटक अलबेरूनी भी मुक्तकण्ठ से स्वीकार करता है कि "जिन अंकों को हम काम में लाते हैं वे हिन्दुओं के सबसे सुन्दर अंकों से लिए गए हैं। जिन जातियों से मेरा सम्पर्क रहा है उन सबकी भाषाओं के संख्या सूचक अंकों (इकाई, दहाई आदि) का मैंने अध्ययन किया है। इससे मालूम हुआ है कि कोई जाति एक हजार से आगे गिनना नहीं जानती। अरब लोग भी एक हजार तक जानते हैं। अपने अंक क्रम में जो एक हजार से अधिक जानते हैं वे हिन्दू हैं।"[४०]

भारत में इस विज्ञान में पुरुषों ही ने नहीं स्त्रियों ने भी अद्‌भुत उन्नति की थी। **श्रीमती लूसी और सुप्रसिद्ध अंग्रेज गणितज्ञ प्रोफेसर वैलेस** तक लीलावती का लोहा मानते हैं। लीलावती में विज्ञान के केवल साधारण नियम ही नहीं किन्तु अनेक प्रकार के मिती-काटा, ब्याज, आदि में उनका प्रयोग भी किया गया है। इसके नियम बिल्कुल ठीक हैं।"[४१]

श्रीमैकडानल के शब्दों में:—"आठवीं तथा नवीं शताब्दी में अंकगणित तथा बीजगणित में अरबों के शिक्षक थे। उनके (अरबवालों के) द्वारा इसका प्रचार योरोप में हुआ। हम यद्यपि इस शास्त्र का अरबी नामकरण करते हैं तो भी इस प्रसाद को हम लोगों ने भारतीयों द्वारा प्राप्त किया।"[४२]

"अंकगणित और बीजगणित का बहुत गहरा सम्बन्ध है। हिन्दू लोग एक शाखा अंकगणित के विधाता थे और **हंक्ल** के शब्दों में बीजगणित के वास्तविक आविष्कर्त्ता में इसका बहुत बड़ा श्रेय **विद्वान् आर्भिद** को है। **डी० मार्गन** के कथनानुसार योरोप के मशहूर गणितज्ञ **डामो फ्रैट्स** का समस्त गणित हिन्दुओं के बीजगणित के सामने कुछ भी नहीं।"[४३]

प्रोफेसर वेल्स महोदय ने फ्लेप सर साहब की कुछ पंक्तियां उद्धृत की हैं जिनका आशय है कि ज्योतिष ज्ञान के बिना बीजगणित की रचना एकान्त कठिन है।"[४४]

विद्वान् विल्सन कहते हैं कि "यह हिन्दुओं के गणित विज्ञान की प्राचीनता, मौलिकता और विकास का अकाट्य उत्तर है।"[४५]

सरमोनियर विलियम्स का भी कथन है, "बीजगणित और रेखागणित के आविष्कार और ज्योतिष में उनके प्रयोग का श्रेय हिन्दुओं को है।"[४६]

"क्षयराशि (Negative quantity) का भाव तथा वर्ग समीरण की व्याख्या का आविष्कार (Quadratic equation) ब्रह्मगुप्त ने ६६० ई० पूर्व किया था। हिन्दुओं ने सर्वप्रथम अंक पाश (Permutation) तथा संयोग

(Combination) तथा अर्द्धनिर्धारित समीकरण (Undetrermined Equation) का पता हिन्दुओं ने लगाया था।"

विद्वान् गणितज्ञ भास्कराचार्य ने, जिसे इल्फिन्सटन महोदय 'सिद्धांत शिरोमणि' पुस्तक कर्त्ता बतलाते हैं, भिन्नों को गणित क्षेत्र में जन्म दिया था। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि :—

$$क+0=क, \quad 0^2=0$$
$$\sqrt{0} = 0$$

इन समस्त प्रमाणों के आधार पर मिस्टर काल ब्रुक बतलाते हैं कि "हिन्दू साहित्य अपनी इस अवनतावस्था में भी, जब कि उनके बहुत थोड़े ग्रन्थ उपलब्ध हैं, उनकी गणित सम्बन्धी रचनाओं से प्रकट होता है कि वे आधुनिक योरोपियनों से विज्ञान में पीछे नहीं।"[४७]

रेखागणित

हिन्दुओं ने इस विज्ञान में कहां तक उन्नति की थी प्रोफेसर वेल्स की जबानी सुनिए—"रेखागणित भारत में "सूर्य सिद्धान्त" के निर्माण से भी लोग बहुत पहले जानते थे।"[४८]

मिस्टर एल्फ़िस्टन बतलाते हैं कि "सूर्य सिद्धान्त में त्रिकोणमिति (Trignometry) का वर्णन है और साथ ही (Theorem) का भी समावेश है। इनका अनुसन्धान योरोप में विगत दो शताब्दी पूर्व तक नहीं हो सका था।"[४९]

स्वीडस कांट जर्नास्टजर्ना ने अकबर कालीन अब्दुल फ़जल 'आइने अकबरी' से यह पता लगाया है कि "जब अरब और यूनान वालों को कुछ पता नहीं था, उस समय भी हिन्दू परिधि, वृत्त, चतुर्भुज (Square) आदि सभी रेखागणित सम्बन्धी बातों का पूर्ण ज्ञान रखता था।"[५०]

ग्रीस के रेखागणित और शुल्व सूत्र में अत्यधिक समानता पाई जाती है। इस सूत्र का काल ईसा के जन्म से आठ शताब्दी पूर्व माना गया है। डॉ० थीबोट ने दर्शाया है कि रेखागणित के अन्तर्गत प्रथम पुस्तकें ४७वें सिद्धान्त को जिसे लोग पाइथागोरस द्वारा प्रतिपादित समझते हैं हिन्दुओं ने उसे कम से कम दो शताब्दी पूर्व सिद्ध किया था। विद्वान् स्क्रोईक भी उसे भारत का ऋणी समझता हैं।[५१]

यही नहीं, हिन्दुओं ने ज्यासारिणी (Table of Sines) तथा आभ्यन्तर ज्यासारिणी (Table of versed Sines) का भी निर्माण किया था। जिन नियमों का प्रचार पहले-पहले योरोपियन गणितज्ञ व्रिग ने १६वीं शताब्दी में किया था वे भारतीयों द्वारा अनेक सहस्राब्दियों पूर्व खोजे जा चुके थे।[५२]

डॉ० थी बोट नत मस्तक होकर भारत का यह आभार स्वीकार करते हुए

कहता है कि "रेखागणित के लिए संसार यूनान का नहीं, भारत का ऋणी है।"[५३]

विद्वान् रेवरेण्ड पीटर पार्सिवल बतलाते हैं:—"हिन्दू दिमागों ने बीजगणित, रेखा गणित, त्रिकोणमिति आदि विज्ञान की शाखाओं में महानतम योग्यता दिखलाई थी। उन्होंने अत्यन्त प्राचीनकाल में ही काफी उन्नति कर ली थी जैसा कि उनके इस विषय के ग्रन्थों को विशेषज्ञ विद्वानों से ऊँचा ठहराया है।"[५४]

Ser W. W. Hunter also says—"To them (the Hindus) we owe the invention of the numerical symbols on the decimal scale. The Indian figures 1 to 9 being abbreviated forms of initial letters of the numerals themselves and the zero, or, 0 representing the first letter of the Sanskrlt word for empty (Sunya). The Arabs borrowed them from the Hlndus, and transmitted them to Europe."[55]

अर्थात् "महाशय डल्लू० डब्लू० हण्टर कहते हैं: दशमलव श्रेणी पर संख्या वाचक चिह्नों के आविष्कार के लिए हम हिन्दुओं के ऋणी हैं। भारतीय अङ्क १ से ६ उन सांख्यिकी के प्रारम्भिक अक्षरों के घटाव रूप हैं और बिन्दी संस्कृत शब्द के प्रथम अक्षर शून्य को प्रस्तुत करती है। अरबों ने उन्हें हिन्दुओं से उधार लेकर योरोप में पहुंचाया।"

Prof. Weber says—"It is to them (the Hindus) also that we owe the ingenious invention of the numerical symbols, which in like manner passed from them to the Arabs and from them again to European Scholars..."[56]

अर्थात् "प्रो० वेबर कहते हैं—हम लोग हिन्दुओं के संख्यावाचक चिह्नों के प्रवीण आविष्कारों के ऋणी हैं जो अरब में और पुनः योरोपियन गवेषकों में भेजे गए।"

Mr. Lethbridge. Says "Bhaskara Charya is said to have discovered a mathematical process very nearly resembling the differential calculas of modern European mathmaticians."[57]

अर्थात् "महाशय लेथब्रीज कहते हैं कि भास्कराचार्य जी ने गणित विद्या का प्रचलन आधुनिक योरोपियन गणितज्ञों के विभिन्न गणनाओं से विशेष मिलता-जुलता आविष्कार किया है।"

भारतीय विद्वानों के विचार

वैदिक विद्वान्

पं० रघुनन्दन शर्मा 'साहित्य भूषण' लिखते हैं:—"ज्योतिष का सूक्ष्म गणित

वीज गणित के बिना सरलता से नहीं हो सकता। अतः आर्यों ने याज्ञिक ज्योतिष के लिए उसका भी आविष्कार किया था। मोनियर विलियम् लिखते हैं कि— 'वीजगणित और रेखागणित का आविष्कार तथा ज्योतिष के साथ उनका उपयोग सवसे प्रथम हिन्दुओं के ही द्वारा हुआ है।"[५८]

प्रो० शिवदत्त जी ज्ञानी, एम० ए० लिखते हैं:—"गणित-अङ्क गणित का प्रारम्भ वैदिक काल से ही होता है। उस समय छोटी-से-छोटी और वड़ी-से-वड़ी संख्या गिनने की विधि ज्ञात थी। यजुर्वेद (१७/२) में इन संख्याओं का उल्लेख हैं—एक, दश, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्वुद, समुद्र। मध्यम, अन्त व परार्ध। इस (यजु० १८/२५) में दो और चार के पहाड़े का भी स्पष्ट उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि जोड़, घटाना, गुणन, भाजन आदि अङ्क गणित के मौलिक तत्त्व वैदिक काल में पूर्णतया ज्ञात थे। शतपथ ब्राह्मण के अग्नि-चयन प्रकरण में ऋग्वेद के सब अक्षरों की संख्या ४, ३२००० दी है। इसी प्रकार, अन्य वेदों के अक्षरों की गणना भी की गई है। वैदिक काल के पश्चात् भी अङ्क गणित का विकास होता रहा। गणित का 'सशून्य दशांश गणना विधि' का आविष्कार भारतीय गणितज्ञों ने ही किया। जिसके लिए समस्त विश्व सदैव उनका ऋणी रहेगा ··।

रेखागणित का प्रारम्भ भी वैदिक काल से होता है। इसके विकास का सम्बन्ध यज्ञों से हैं। यज्ञों की वेदियों व उनकी ईंटें निश्चित आकार की रहती थीं। इस प्रकार रेखागणित का विकास हुआ। यज्ञ-वेदी आदि से सम्वन्धित मंत्रों में प्रमा, प्रतिमा, निदान, परिधि, छन्द (ऋ० १०/१३२/३) आदि रेखागणित के पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख है, शुल्वसूत्र (बौधायन कात्यायन और आपस्तम्व) भारतीय रेखागणित से सम्वन्धित प्राचीनतम ग्रन्थ हैं···।

वीजगणित का अङ्कगणित और रेखागणित से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यों तो इसका भी प्रारम्भ वहुत पहले से हुआ था किन्तु ई० स० ४०० व १४०० वर्ष के वीच में इसका विशेष विकास हुआ। आर्यभट्ट ने अपने ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में वर्गमूल व घनमूल निकालने की विधि, वृत्त के प्रश्नादि का वर्णन किया है। उसने ज्या (Sine) के कार्यों का भी वर्णन किया है···।"[५९]

डॉ० सूर्यकान्त शास्त्री, विद्याभास्कर, एम०ए०, पी-एच डी०, लिखते हैं— "गणित—गणित भी ज्योतिष का ही अङ्ग बन कर विकसित हुआ है। ४७६ ई० में उत्पन्न आर्यभट्ट एक ऐसे प्राचीन सिद्धान्त-ज्योतिषी हैं, जिन्होंने सिद्धान्त-ज्योतिष की पृष्ठभूमि पर गणित का विश्लेषण किया। उनके १०८ आर्या पद्यों के ग्रन्थ 'दश गीतिका सूत्र' के ३३ पद्यों में गणित पर, २५ पद्यों में समय की गणना पर, और ५० पद्यों में मण्डल (Sphere) पर विचार किया गया है।

आर्यभट्ट का सिद्धान्त है कि पृथ्वी गोलाकार है और वह अपनी धुरी पर घूमती है। उनका ग्रहण-विषयक धारणा भी वही है जो आधुनिक वैज्ञानिकों की है...।"[६०]

अन्यान्य भारतीय विद्वानों के विचार

डॉ० रामजी उपाध्याय, एम० ए०, डी० फिल्, सागर विश्वविद्यालय, सागर लिखते हैं—"भारतीय गणित के विकास का प्रारम्भ शून्य और दशमलव के आविष्कार से हुआ है। भिन्न की कल्पना उसका गुणन और भाग, ऐकिक नियम,व र्गमूल और घनमूल, ऋण का चिह्न, ज्यातालिका का मूल्य (३.१४१६), बीजगणित में अक्षरों के उपयोग और समीकरण से गणित विज्ञान की प्रगति का द्वार खुला। पांचवीं शती से बारहवीं शती तक गणित के विद्वानों ने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। ४९९ ई० में आर्यभट्ट ने २३ वर्ष की अवस्था में ज्योतिष और गणित का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'आर्यभटीय' लिखा। आर्यभट्ट ही भारत में बीजगणित के जन्मदाता कहे जाते हैं। इस ग्रन्थ में गीतिकापाद, गणित पाद, काल क्रिया-पाद और गोलपाद का विवेचन किया गया है..."[६१]

श्री बहादुरमल, एम० ए०, लिखते हैं—"गणितशास्त्र की आधारशिला भारत में हो रखी गई। वैदिक काल में ही गणितशास्त्र के अन्तर्गत ज्योतिष, अंकगणित तथा बीजगणित की परिगणना होती थी। उस समय रेखागणित की गणना शास्त्रों के उस पृथक् समुदाय में की जाती थी, जिसे 'कल्प' कहते थे। हमने पहले ही उन प्रयोजनों का उल्लेख किया है, जिनकी सिद्धि के लिए वैदिक आर्य ज्योतिष की ओर आकर्षित हुए। इसी कारणवश वे रेखागणित की ओर भी आकर्षित हुए थे। प्रत्येक यज्ञ किसी विशेष परिमाण की वेदी पर ही किया जा सकता था और ऐसा माना जाता था कि वेदी को निर्धारित परिमाण तथा आकृति में न बनाने से यज्ञ सफल नहीं हो सकेगा। इसलिए वे यज्ञ की वेदी का निर्माण करने में बड़ा परिश्रम करते थे। इससे उन्हें रेखागणित-सम्बन्धी समस्याओं पर चिन्तन करने का अवसर मिला और फलतः रेखागणित की विद्या का जन्म हुआ। इस विद्या का नाम 'शुल्व' था।

रेखागणित में भारतवर्ष ने बहुत उन्नति की। किन्तु, यूनान और सिकन्दरिया में भी इसकी उन्नति इसी प्रकार हुई। हां, अंकगणित तथा बीजगणित में भारत अद्वितीय था...।"[६२]

आचार्य भास्करानन्द लोहनी शास्त्री, ज्योतिषाचार्य, लिखते हैं—"गणित और रेखागणित—भारतीय वैदिक विज्ञान इस विषय में भी पारंगत थे। वैदिक यज्ञों का रेखागणित से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। यज्ञों में दिशाशोधन, यज्ञ के लिए कुण्ड व मण्डपादि निर्माण में रेखागणित का ज्ञान बहुत ही अनिवार्य

होता है (अन्यथा यज्ञ का प्रभाव उलटे अनिष्ट कर माना गया है) जिसका उल्लेख वैदिक यज्ञों से सम्बन्धित श्रौत सूत्र और गृह्य सूत्रों में मिलता है।

दशमलव के सिद्धान्त को लेकर अंकों के प्रयोग के लिए विश्व भारत का ऋणी है क्योंकि इस सिद्धान्त के न होने के अर्थ यह थे कि गणितशास्त्र का ही न होना। अरब के लोगों ने भारत से यह विद्या सीख कर यूरोप में प्रचार किया। प्राचीन यूनानी इस सिद्धान्त को नहीं जानते थे इसीलिए वे गणित में उन्नति न कर सके। भारतीय विद्वानों ने रेखागणित के मूल सिद्धान्त निकाले जिन्हें यूनानियों ने सीखा।

आधुनिक विद्वान् रेखागणित के एक विशेष सिद्धान्त निकालने का श्रेय ग्रीस देश के दार्शनिक गणितज्ञ पाइथागोरस को देते हैं। वह सिद्धान्त यह है कि समकोण त्रिभुज के सामने वाले भुजा पर जो वर्ग क्षेत्र खींचा जायगा वह अन्य दो भुजाओं के ऊपर खींचे गए वर्ग क्षेत्रों के योग के बराबर होगा। किन्तु भारतीय विद्वानों ने इस सिद्धान्त को ग्रीस गणितज्ञ से सैकड़ों वर्ष पहले सिद्ध कर लिया था। बौधायन शुल्व सूत्र (जो वेद से सम्बन्धित ग्रन्थ है) में १/४८ में इसका निरूपण किया गया है।"[६३]

म० म० डॉ० प्रसन्न कुमार आचार्य, आई० ई० एस०, बी० ए० (आनर्स), एम० ए०, पी-एच डी०, डी लिट्, लिखते हैं—"गणित एक प्रकार से ज्योतिष शास्त्र की सन्तति है। इसमें ज्यामिति, बीजगणित तथा अंकगणित अथवा अंकशास्त्र तीनों सम्मिलित हैं। सोमयज्ञ के लिए बड़ी-बड़ी वेदियों की आवश्यकता पड़ती थी। इनके निर्माण के लिए भिन्न-भिन्न मापने की विधियों की आवश्यकता होती थी। संभवतः इसी से ज्यामिति की सर्वप्रथम उत्पत्ति हुई। शुल्व सूत्र (२०० ई० पूर्व) में वेदियों के दस भिन्न-भिन्न आकारों का उल्लेख मिलता है। इन वेदियों के निर्माण के सम्बन्ध में ही वर्गों, त्रिभुजों, आयतों और वर्गों की समानता एवं समान आकार के वृत्तों और वर्गों के बनाने की विधि पर प्रकाश डाला गया है...।"[६४]

श्री गुलाब राय, एम० ए० लिखते हैं—"गणितशास्त्र का ज्योतिष से विशेष सम्बन्ध रहा है। जैसा हम पहले कह चुके हैं कि वेदियों के निर्माण के सम्बन्ध में रेखागणित के सिद्धान्तों का विकास हुआ। भारत ही बीजगणित का आविष्कर्ता है। अंकों की गणना का प्रचार यहीं से हुआ। पहले लोग शून्य भी नहीं जानते थे। १०, २०, ३०, १०० तक के लिए पृथक् 2 संख्या चिह्न थे। जैसे रोमन अंकों में है। दश के लिए X, पचास के लिए L, सौ के लिए C। हमारे यहां भी शिलालेखों में ऐसे गणना चिह्न मिलते हैं। भारतवासियों ने एक पर शून्य लगाकर १० तथा एक पर एक लिखकर ११ लिखने तथा इसी प्रकार दहाई सैकड़ों आदि की दश गुणोत्तर रीति निकाली...।"[६५]

महामहोपाध्याय, साहित्यवाचस्पति डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डी० लिट्० लिखते हैं—"गणित विषयक जो पुस्तकें उपलब्ध होती हैं, वे प्रायः ज्योतिष के उन्हीं विद्वानों की हैं···। आर्यभट की पुस्तक के प्रथम दो भाग, 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' में गणिताध्याय और कुतुकाध्याय तथा 'सिद्धान्त शिरोमणि' में लीलावती और बीजगणित नामक अध्याय गणित से सम्बन्ध रखते हैं। इन पुस्तकों को देखने से पता लगता है कि वे गणित के सभी उच्च सिद्धान्तों से परिचित थे। सरल गणित के आठों नियमों—योग, ऋण, गुणा, भाग, वर्गीकरण, घनीकरण, वर्गमूल और घनमूल का उनमें पूर्ण वर्णन मिलता है। इसके बाद भिन्न सम्बन्धी, शून्य सम्बन्धी, क्षेत्रफल, कार्य सम्बन्धी, त्रैराशिक, कुट्टक तथा अनंत राशियों के मान-सम्बन्धी अर्थात् शून्य गणित और व्याज सम्बन्धी नियमों का भी वर्णन मिलता है···।

भारतीयों ने बीजगणित में बहुत-से मुख्य नियम आविष्कृत कर लिए थे। रेखागणित में भी भारत ने बहुत उन्नति की थी। भारत का प्राचीनतम रेखागणित बौधायन और आपस्तम्ब के शुल्व सूत्रों में पाया जाता है ···।"[६६]

पं० श्रीकण्ठ शास्त्री, एम० ए०, व्याकरणाचार्य लिखते हैं—"···जब संसार के अन्य देशों में लोग गणित ज्ञान से सर्वथा शून्य थे तब इन्हीं ऋचाओं के सहारे भारत में गणित (Arithmetic) अंक विचार, सांख्यिकी शास्त्र (Statistics), ज्यामिति शास्त्र (Geometry) आदि अपने उत्कर्ष को प्राप्त हो रहे थे। अंकों का विस्तार संसार में भारत (हिन्दुस्तान) से ही हुआ, इसी से उन्हें आज भी मध्य पूर्वी एशिया की भाषा में हिन्सा (हिन्द से) कहा जाता है। गणित के पहाड़ों का मूल इन मंत्रों में द्रष्टव्य है।"[६७]

पं० राम गोविन्द त्रिवेदी, वेदान्त शास्त्री, ('ऋग्वेद' के हिन्दी भाषान्तरकार) लिखते हैं—"ज्योतिष विद्या के अन्तर्गत अङ्कगणित, बीजगणित, रेखागणित आदि को आर्यों ने माना है। इस विद्या में ईसा से बहुत पहले आर्यों ने दक्षता प्राप्त की थी ···।

तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायणी संहिता, काठक संहिता आदि में शतोत्तर गणना का उल्लेख है। ऋग्वेद (८-५६-२२) में कहा गया है—"मैंने साठ हज़ार और अयुत (दश हजार) अश्वों को प्राप्त किया है।" यजुर्वेद (१७-२) में १ पर १२ शून्य देकर दस खरब तक की संख्या का उल्लेख है···।"[६८]

पाद टिप्पणियां

१. 'ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका', गणित विद्या विषयः।

२. 'यजुर्वेद संहिता भाषा भाष्य', द्वितीय खण्ड, पृ० १८, १९, २०। [संवत् २००५ वि० में आर्य साहित्य मण्डल लि०, अजमेर द्वारा प्रकाशित द्वितीयावृत्ति]

तुलना करो—श्री टी. एच. ग्रिफिथ एम. ए., कृत 'The white Yajurveda translated with a popular commentary', PP. 165 (सन् १९७६ ई० में चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१ द्वारा प्रकाशित)।

वैदिक संस्थान के अनेक विद्वानों द्वारा सम्पादित "यजुर्वेद संहिता भाषानुवाद, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ४८७-४८८ (संवत् १९९८ वि. में वैदिक संस्थान, ५ हिल्टन रोड, लखनऊ द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण); उव्वट महीधर भाष्य "शुक्ल यजुर्वेद संहिता" द्वितीय खण्डम्, पृष्ठ ९३४-९३५ (सन् १९१३ ई. में चौखम्भा संस्कृत बुक डिपो, वाराणसी द्वारा प्रकाशित); स्वामी भगवदाचार्य जी महाराजकृत "यजुः संस्कार भाष्येन सहित शुक्ल यजुर्वेदः", पृष्ठ १४७ (संवत् २०२४ वि. में काश्यीय सोसाइटी, अहमदाबाद-७ द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण); पं० श्रीराम शर्मा आचार्य कृत यजुर्वेद सरल हिन्दी भावार्थ सहित); पृष्ठ-३०३-३०४ (सन् १९६७ ई० में संस्कृति संस्थान, बरेली, द्वारा प्रकाशित, चतुर्थ संस्करण); आचार्य पं० गोपालप्रसाद कौशिक, गोवर्धनकृत "यजुर्वेद" (सरल हिन्दी भावार्थ सहित), पृष्ठ ३४६ (सन् १९६८ में गङ्गा बुक डिपो, घीया मंडी, मथुरा द्वारा प्रकाशित, प्रथमावृत्ति) पं० श्रीकण्ठ शास्त्री; एम. ए., व्याकरणाचार्यकृत शुक्ल यजुर्वेद संहिता, (सनातनभाष्य); पृष्ठ ५७०-५७१ (श्रावणी २०३७ वि. में सद्गुरु गंगेश्वर इन्टरनेशनल वेद मिशन, तुलसी निवास, ३·३१ डी रोड, चर्च गेट, बम्बई द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण); "शुक्ल यजुर्वेद संहिता', मिश्र भाष्य पूर्वार्द्ध, पृष्ठ ७७२, ७७३, ७७४ (संवत् १९५९ वि. में श्रीवेंकटेश्वर (स्टीम) मुद्रणालय, बम्बई द्वारा प्रकाशित)

३. "यजुर्वेद भाष्यम्" द्वितीयो भागः, पृ० ४२४, ४२५ [संवत् २०१७ वि० में वैदिक मन्त्रालय, अजमेर द्वारा मुद्रित, तृतीयावृत्ति] तुलना करो पं० शिवशंकर शर्मा, काव्यतीर्थ, कृत "वैज्ञानिक सिद्धान्त", पृ० ५१ [संवत् १९६९ वि० सन् १९१२ ई० में रामभूषण प्रेस, आगरा द्वारा मुद्रित और मंत्री, आर्य समाज, कमतौल, जिला दरभंगा (विहार) से प्राप्य] पं० जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार कृत "यजुर्वेद संहिता भाषा भाष्य", प्रथम खण्ड, ६९४ [संवत् १९९६ वि० में आर्य साहित्य लि० अजमेर द्वारा प्रकाशित,

द्वितीयावृत्ति], वैदिक संस्थान के विद्वानों कृत "यजुर्वेद संहिता भाषानुवाद", द्वितीय खण्ड, पृ० ४४०-४४१। श्री ग्रिफिथ कृत "The white Yajurveda" pp. 148; महीधर-उव्वट कृत "शुक्ल यजुर्वेद संहिता" द्वितीय खण्डम, पृ० ८४६-८४७; शुक्ल यजुर्वेद संहिता मिश्र भाष्य, पूर्वार्द्ध, पृ० ६९६ से ६९८ तक [संवत् १९५९ वि० में श्री वेंकटश्वर (स्टीम) मुद्रणालय, वम्बई द्वारा मुद्रित व प्रकाशित], यजुर्वेद संहिता सनातन भाष्य, प्रथमो भागः, पृ० ५१२।

४. पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक द्वारा सम्पादित "ऋग्वेद भाष्यम्" द्वितीयो भागः, पृ० १५८ [संवत् २०३० वि० में चौधरी प्रताप सिंह, करनाल द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण] तुलना करो पं० जयदेव शर्मा विद्यालङ्कार कृत "ऋग्वेद संहिता भाषा भाष्य" प्रथम खण्ड, पृ० १५६-१५७ [संवत् २००० वि० में आर्य साहित्य मं० लि०, अजमेर, द्वारा प्रकाशित द्वितीयावृत्ति]।

५. "ऋग्वेद-रहस्य", पृ० १६० [संवत् २००७ वि., सन् १९५१ ई. में घासीराम प्रकाशन विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तर प्रदेश, ५ मीरावाई मार्ग, लखनऊ द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण]

६. "ऋग्वेद संहिता भाषा भाष्य" प्रथम खण्ड, पृष्ठ २५

७. "ऋग्वेद-रहस्य" पृष्ठ १६०

८. वही, पृष्ठ १६१

९. वही, पृष्ठ १६१

१०. वही, पृष्ठ १६१

११. वही, पृष्ठ १६२

१२. "ऋग्वेद संहिता भाषा भाष्य", प्रथम खण्ड, पृष्ठ ५६

१३. "ऋग्वेद-रहस्य", पृष्ठ १६३

१४. "ऋग्वेद संहिता भाषा भाष्य", प्रथम खण्ड, पृष्ठ ३५

१५. "ऋग्वेद रहस्य", पृष्ठ १६३

१६. वही, पृष्ठ १६३

१७. "ऋग्वेद-भाष्यम्" द्वितीयो भागः, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ८.

१८. डॉ० सत्य प्रकाश डी० एस-सी० कृत "वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा", पृष्ठ २४-२५ (विक्रम संवत् २०१०, सन् १९५४ ई० में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, सम्मेलन भवन, पटना-३ द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण).

१९. वही, पृष्ठ २५-२६.

२०. वही, पृष्ठ ४२.

२१. आचार्य पं० वैद्यनाथ शास्त्रीकृत Sciences in the Vedas, PP. 2/15/24 [सन् १९७० ई० में श्रीमती सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा महर्षि दयनन्द भवन, रामलीला मैदान, नई दिल्ली १ द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण—]
२२. वही, पृष्ठ २६, ३५
२३. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, गणित विद्या विषय। तुलना करो- "ऋग्वेद-रहस्य", पृष्ठ १९९-२००
२४. वही, पृष्ठ १५८
२५. "ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका", गणितविद्या विषय:।
२६. "ऋग्वेद-रहस्य", पृष्ठ १९९
२७. ऋग्वेद भाषाभाष्य, भाग ५, पृष्ठ ११०४ (सन् १७९६ ई० सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली-२ द्वारा प्रकाशित) व "Sciences in the Vedas", pp.36"
२८. ऋग्वेद संहिताभाषा भाष्य, सप्तम खण्ड, पृष्ठ ५३६ (संवत् १९९३ वि० सन् १९३६ ई० में आर्य साहित्य मण्डल लि० अजमेर द्वारा प्रकाशित, प्रथमा वृत्ति)
२९. ऋग्वेद संहिता (सरल-हिन्दी-टीका सहित), अष्टम अष्टक, पृष्ठ २०२ [संवत् १९९३ वि० में वैदिक पुस्तक माला, सुलतानगंज (भागलपुर) बिहार द्वारा प्रकाशित प्रथम संस्करण]
३०. "Sciences in the Vedas", pp. 36, 41.
३१. "ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका" गणित विद्या विषय:।
३२. India "Impressoins and suggestions," pp. 34, तुलना करो "पं० रामशंकर मिश्र "साहित्यरत्न" लिखित "महान् भारत", पृष्ठ ३२६-३२७ [संवत् १९९३ वि० में दुर्गादास प्रेस पुस्तकालय, चौक पासियां, अमृतसर (पंजाब) द्वारा प्रकाशित, प्रथमवार]
३३. "महान् भारत," पृष्ठ ३२७
३४. "History of the Sanskrit literature"; तुलना करो "महान् भारत" पृष्ठ ३२७
३५. "History of mathematics, see also, Hindu Achievments in exact Science, pp.8, तुलना करो "महान् भारत", पृष्ठ ३२८
३६. "Schelgel,s history of literature, pp. 123, तुलना करो "महान्-भारत", पृष्ठ ३२८
३७. "महान्-भारत", पृष्ठ ३२८
३८. 'Ancient and Medeaval India, Vol. I, pp. 344 तुलना करो

"महान्-भारत", पृष्ठ ३२८
३९. "Encyclopaedia Britanica" Vol. II, pp.626, तुलना करो, "महान् भारत", पृष्ठ ३२९
४०. "History of the Sanskrit literature", pp.424, तुलना करो "महान् भारत," पृष्ठ ३२८-३३०
४१. "महान् भारत", पृष्ठ ३३०
४२. 'History of the Sanskir literatura", pp. 424. तुलना करो "महान् भारत", पृष्ठ ३३०,
४३. "महान् भारत", पृष्ठ ३३०-३३१
४४. वही, पृष्ठ ३३१
४५. "Mill's India", Vol II. pp. 151 तुलना करो "महान् भारत", पृष्ठ ३३१।
४६. "Indian wisdom", pp. 185, तुलना करो।
४७. "महान् भारत", पृष्ठ ३३१-३२।
४८. "Mill's India", Vol, II, pp. 150
४९. "History of India", pp. 129 तुलना करो—"महान् भारत", पृष्ठ ३३३।
५०. Theogony of the Hindus", pp. 37 तुलना करो, "महान् भारत", पृष्ठ ३३३।
५१. "Hindu Chemistry", Vol. I, Chapter II, तुलना करो "महान् भारत", पृष्ठ ३३३।
५२. "Hindu Chemistry," Vol. I. Chapt. II, pp. २०, तुलना करो "महान् भारत", पृष्ठ ३३४।
५३. "महान् भारत", पृष्ठ ३३४।
५४. "The land of the Vedas", pp. 47 तुलना करो, "महान् भारत", पृष्ठ ३३४।
५५. "Inperial gazetteern", p. 219 ; "India", तुलना करो "श्री हर बिला शारदा बी० ए० एफ० आर० एस० एल० कृत "Hindu Superiarity", pp. 260 [सन् १९७५ ई० में आर० टी० भाटिया, हिन्दू एकेडमी, नई दिल्ली; तृतीय संस्करण]।
५६. "Weber's Indian literature", p. 256, तुलना करो, "Hindu superiority", pp. 260।
५७ "School history of India", Appendix A., p. II, तुलना करो "Hindu superiority, pp. 269।

५८. "वैदिक सम्पत्ति", पृष्ठ ३७० [संवत् १९९६ वि० में सेठ सूरजी वल्लभ दास कच्छ केसल, सेन्डहर्स्ट ब्रिज, बम्बई द्वारा प्रकाशित, द्वितीय संस्करण]।

५९. "भारतीय संस्कृति", पृष्ठ ३०७ से ३१० तक [वि० संवत् २००८ में राजकमल पब्लिकेशन्स लि०, द्वारा प्रकाशित, द्वितीय संस्करण]।

६०. "संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास", पृष्ठ ३४२-३४३ [सन् १९७२ ई० में ओरिएण्ट लांगमैन लिमिटेड, बी ३/७ आसफ अली रोड, नई दिल्ली १ द्वारा प्रकाशित]।

६१. "भारत की प्राचीन संस्कृति", पृष्ठ २११-२१२ [सन् १९४८ ई० में किताबमहल, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण]।

६२. "भारतीय संस्कृति की कहानी", पृष्ठ १७३ से १७५ तक [संवत् २०२७ वि०, सन् १९७० ई० में विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान, साधुआश्रम, होशियारपुर द्वारा प्रकाशित, प्रथम संस्करण]।

६३. वैदिक साहित्य और संस्कृति", पृष्ठ ३५-३६ [सन् १९६१ ई० में श्री भास्करानन्द लोहनी, ४०, कैसरबाग, लखनऊ द्वारा प्रकाशित प्रथम संस्करण]।

६४. भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता", पृष्ठ २७४ से २७६ तक [शक संवत् १८८५ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग द्वारा प्रकाशित, द्वितीय संस्करण]।

६५. "भारतीय संस्कृति", पृष्ठ ३०३-३०४ [सन् १९७४-७५ में रवीन्द्र प्रकाशन, पाटनकर बाजार, ग्वालियर द्वारा प्रकाशित, आद्योपान्त संशोधित व परिवर्द्धित संस्करण]।

६६. "मध्यकालीन भारतीय संस्कृति", पृष्ठ ९२ से ९४ तक [सन् १९४५ ई० में हिन्दुस्तानी एकेडेमी, संयुक्त प्रान्त, प्रयाग द्वारा प्रकाशित]।

६७. "शुक्ल यजुर्वेद संहिता, सनातन भाष्य", प्रथमोभागः पृष्ठ ५७०-५७ ।

६८. "वैदिक साहित्य", पृष्ठ ३७८ से ३८० तक [सन् १९६९ ई० में भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५ द्वारा प्रकाशित, द्वितीय संस्करण]।

वैदिक गणित

प्रो० कँवरभान सेतिया

प्राचीन काल की बात है कि एक बार मुनि नारद सनत् कुमार के पास पहुंचे और उन्होंने 'ब्रह्म विद्या' का ज्ञान देने के लिये प्रार्थना की । सनत कुमार ने नारद से पूछा कि पहिले तुम यह बतलाओ कि तुमने क्या-क्या पढ़ा हुआ है जिससे कि मुझे पता लगे क्या-क्या सीखना शेष रह गया है । यह छान्दोग्योपनिषत् की कथा है । तब नारद ने धार्मिक और दार्शनिक साहित्य के अतिरिक्त अनेक प्रकार के विज्ञान व कलाओं को, जिनका उन्होंने अध्ययन किया था, गिनाया । उन्होंने कहा, हे "महाभाग! मैंने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, व्याकरण, कर्मकांडीय, विज्ञान (The Science of Religion), राशि विद्या (The Science of Numbers), दैवविद्या, (Natural Science), कालक्रम विद्या (Chronology), वाक्-विद्या (The Science of logic), नागरिकशास्त्र (The Science of Polity), निरुक्त (The Science of Etymology), शिक्षा, कल्प आदि (The Sciences Cognate to the Vedas) अध्यात्म विद्या (The Science of Spirits) धनुर्विद्या (Aachary) नक्षत्रविद्या (The Science of Artionomy), सर्पविद्या (The Science of Antidotes), देवजन विद्या (Fine Arts) का अध्ययन किया है ।

कुछ अन्तर के साथ यही कहानी महाभारत में भी आती है । यहां बृहस्पति मुनि ने अपने गुरु (Preceptor) से पूछा, "ब्रह्माण्ड का मूल कारण क्या है ? ज्ञान की परिणति किस में है ? क्या कोई ऐसा विषय है जो वेदों में न हो ?" इत्यादि । उन्होंने यह भी पूछा कि उसके किये प्रश्नों के सन्तोषजनक समाधान के लिए उन्होंने क्या-क्या अध्ययन किया है ? छान्दोग्योपनिषद् में दी गई सूची से यह सूची बहुत छोटी है । तो भी इसमें नक्षत्रविद्या का गणन है । यह प्राचीन कथा भीष्म ने युधिष्ठिर को कही थी ।

इन कहानियों से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि प्राचीन काल में लोग

गणितशास्त्र अथवा ज्ञान की किसी अन्य शाखा को आध्यात्मिक ज्ञान में बाधक नहीं समझते थे। वास्तव में मुण्डकोपनिषद् में अपराविद्या को पराविद्या, अर्थात् वह विद्या जो सत्य से भी सत्य अर्थात् परमसत्य है, का सहायक स्वीकार किया गया है।

छान्दोग्योपनिषद् में गिनायी गयी विषय सूची इस बात की स्पष्ट द्योतक है कि प्राचीन आर्यों ने आर्ट्स व विज्ञान के किन-किन विषयों में खोज की थी। इनमें गणितशास्त्र को उत्कृष्ट शास्त्र समझा जाता था। यह कहा जाता था कि मोर के सिर पर जो स्थान कलगी तथा सांप के सिर पर जो स्थान मुक्ता का है वही स्थान 'वेदांग' में गणित का है। उस सुदूर काल में ज्यामिति को छोड़कर गणित में ज्योतिष (Astronomy), अंकगणित (Arithmetic) और बीजगणित (Algebra) सम्मिलित थे। रेखागणित उस समय विभिन्न समुदाय—'कल्प' से सम्बन्ध रखता था। वैदिक काल के आर्य गणित की दो शाखाओं 'ज्यामिति' (शुल्व) और ज्योतिष में विशेष रुचि रखते थे। वे हमेशा प्रत्येक कार्य में अत्यधिक पारंगत, निष्णात तथा यर्थाथे होते थे। 'यज्ञ' वैदिक काल में आर्यों का परम धार्मिक कृत्य हुआ करता था। यज्ञ के लिए विभिन्न आकार व परिमाण की वेदी हुआ करती थी। वे इस विषय में बहुत कट्टर थे। उनका विश्वास था कि वेदी के परिमाण में जरा-सी अनियमितता से न केवल सम्पूर्ण धार्मिक कृत्य का उद्देश्य नष्ट हो जाता है, अपितु उसका उल्टा प्रभाव होता है, अतः वेदी के आकार, प्रकार व निर्माण में अत्यधिक सावधानी बरती जाती थी। इस प्रकार ज्यामिति शास्त्र की उत्पत्ति हुई। ज्योतिष भी इसी प्रकार यज्ञ करने के काल व अवधि की आवश्यकता अनुभव करते हुए और यह जानने के लिए कि यज्ञ किस समय किया जाना चाहिए से प्रारम्भ हुआ था। शास्त्रों का इस प्रकार से उद्भव, चाहे वह धार्मिक कृत्यों को दृष्टिकोण में रखकर ही हुआ था, अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि किसी भी देश में और किसी भी काल में किसी नवीन ज्ञान का अनुभव किन्हीं विशेष कारणों से ही होता है। वैदिक काल में इस प्रकार का कारण धार्मिक था। और एक बार उदित होकर इस प्रकार का शास्त्रीय विज्ञान समय के प्रभाव के साथ अपने में पल्लवित होना प्रारंभ हो गया।

वैदिक गणित शास्त्र के प्राप्य क्षेत्र जिनसे उनकी जानकारी हो बहुत ही कम हैं। इस विषय पर किया गया कार्य प्रायः नष्ट हो चुका है। वर्तमान समय में केवल वैदिक ज्योतिष शास्त्र पर लिखा गया अल्प-सा साहित्य तीन रूपों में मिलता है—आर्च ज्योतिष, याजुष् ज्योतिष आथर्व, ज्योतिष। वैदिक ज्यामिति पर वेद के छः अंगों का उल्लेख मिलता है। अतः वैदिक गणित को जानने के लिए इसी साहित्य पर निर्भर करना पड़ता है।

ज्योतिष विद्या

वैदिक संहिताओं में ज्योतिष सम्बन्धी साहित्य पर्याप्त मात्रा में प्राप्य है। लेकिन वह सब इतने रहस्यपूर्ण व आलंकारिक ढंग से लिखा गया है कि आज के युग में उस पद्धति को जानना व समझना अत्यधिक कठिन है। और अब यदि उन पूर्वजों द्वारा आविष्कृत ज्योतिष सम्बन्धी उपलब्धियों पर आज के विद्वान् एक मत नहीं होते तो आश्चर्य की बात नहीं है। तो भी यह तो स्पष्ट ही है कि ब्राह्मणकाल में इतनी प्रगति हो चुकी थी कि ज्योतिष को एक पृथक विज्ञान मान लिया गया था, जिसे नक्षत्र विद्या कहा जाता था।

ऋग्वेद में (1/115/1, 2/40/4) विश्व तीन लोकों में विभक्त किया गया है— पृथ्वी, अंतरिक्ष (आकाश अर्थात् तारों के नीचे का क्षेत्र) तथा द्यौः इसके पश्चात् पुनः प्रत्येक के तीन भाग किये गये हैं। (4/53/3) आकाश का सम्बन्ध बादल, विद्युत्, वायु से है। तथा सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह और तारों का सम्बन्ध द्युलोक से है। पृथ्वी की द्युलोक से दूरी अलग-अलग ग्रंथों में अलग-अलग ढंग से बताई गई हैं।

'ऋग्वेद' में पृथ्वी का आकार वर्तुलाकार (1/33/8) कहा गया है और बताया गया है कि पृथ्वी अपने आप हवा में स्वतन्त्र रूप से विद्यमान है (4/53/3)। शतपथ ब्राह्मण ने इसे स्पष्ट रूप से 'परिमण्डल' संज्ञा दी है। पृथ्वी के विस्तार के विषय में भी कल्पना की गई है (1/23)। प्रो० तारकेश्वर भट्टाचार्य तथा डा० एकेन्द्र नाथ घोष का मत है कि वेद में पृथ्वी की दोनों गतियों—पृथ्वी की अपनी धुरी पर तथा सूर्य के चारों ओर कक्षा-गति (Axial Rotation, orbtital rotation) के प्रमाण हैं। ये गतियां सूर्य के कारण उत्पन्न हुई हैं। लुडविग ने बहुत पहिले ध्यान आकर्षित करते हुए बताया था कि ऋग्वेद में इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूम रही है।

ऋग्वेद में लिखा है (7/58/2) कि सूर्य ही दिन, रात, संध्या, मास और वर्ष का बनाने वाला है। ऋतुओं का जनक भी यही है (1/95/3) इसकी रश्मियां सात हैं। सूर्य की किरणों में सात रंग होते हैं। वायु चलाने वाला भी सूर्य ही है (ऐतरेय ब्राह्मण 2/7)। वहां यह भी लिखा है कि सूर्य न उदय होता है और न अस्त।

ऋग्वेद में वर्णन है कि वरुण ने सूर्य के लिए मार्ग निर्मित किया है जिसे ऋत (1/41/4) कहते हैं।

स्पष्ट रूप से यह राशिचक्र सम्बन्धी पट्टी (Zoadical Belt) का उल्लेख है, लुडविग का विचार है कि ऋग्वेद में रविमार्ग का पृथ्वी की भू-मध्य रेखा (1/110/2) तथा धुरी (10/86/4) के साथ सम्बन्ध का वर्णन है। मोटे तौर पर सूर्य की वार्षिक गति दो अर्द्ध भागों उत्तरायण और दक्षिणायन में विभाजित

है। रविमार्ग (Ecliptic) बारह भागों में या बारह राशिचक्रों में विभाजित है। परिणामस्वरूप एक वर्ष में बारह महीने होते हैं। सूर्य प्रत्येक महीने में पृथक्-पृथक् राशि से गुजरता है। प्रत्येक राशि से गुजरता हुआ सूर्य पृथक्-पृथक् नामों से पुकारा जाता है जिससे 12 आदित्यों की परिकल्पना की गई है।

ऋग्वेद (9/71/9/9/76/4) में आता है कि चन्द्रमा सूर्य की रोशनी से चमकता है। चन्द्रमा की कलाओं तथा उसका सूर्य के साथ सम्वन्ध को वे अच्छी तरह जानते थे। ग्रहों के विषय में भी उन्हें ज्ञान था।

तैत्तरीय ब्राह्मण से (1/5/2/1) प्रतीत होता है कि वैदिक काल के ज्योतिषियों ने बिना किसी यंत्र की सहायता से अपनी नंगी आंखों से सूर्य के साथ उदित तथा अस्त होने वालों तारों की सहायता से सूर्य की गति का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। जैसा कि इससे पहिले तिलक ने भी उद्धृत किया था "यह पद्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें प्राचीन काल में आकाशीय निरीक्षण की विधि का वर्णन है।" ऋग्वेद में अनेक सूर्य-ग्रहणों के निरीक्षणों का उल्लेख है। ऋग्वेद में (5/40/5-9) उल्लेख है कि अत्रि ने 'तुरीय' उपकरण की सहायता से स्वर्भानु द्वारा सूर्य के पूर्ण ग्रहण का निरीक्षण किया था। वे सूर्य ग्रहण के प्रारम्भ, अवधि तथा समाप्ति काल की गणना कर सकते थे। उनकी वंशपरम्परा को भी सूर्य-ग्रहण के गणन-क्रम का ज्ञान था। अथर्ववेद में (19/9/10) लिखा है कि सूर्य-ग्रहण राहु द्वारा लगा करता है। ऋग्वेद के काल में लोगों को इस बात का भली प्रकार ज्ञान था कि सूर्य-ग्रहण का कारण चन्द्रमा होता है। वहां चन्द्र-ग्रहण का भी उल्लेख है।

संहिता में एक वर्ष में पांच ऋतुओं का उल्लेख आता है—वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त-शिशिर। कभी-कभी हेमन्त और शिशिर को पृथक्-पृथक् भी गिना गया है जिससे एक वर्ष में छः ऋतुएं हो जाती हैं। कदाचित् सात ऋतुओं का उल्लेख पाया जाता है। सातवीं ऋतु मलमास में गिनी जाती है जिसे 'एकमासिक' (Single Born) कहा जाता है, जबकि प्रत्येक ऋतु के दो महीने होते हैं। वैदिक काल के आर्य ऋतुओं का आरम्भ सूर्य द्वारा तीन तारों के एक विशेष समूह (Asterism) में प्रवेश द्वारा मानते थे। बहुत समय पश्चात् यह देखा गया कि वही ऋतु सूर्य द्वारा तारों के एक पृथक् समूह में प्रवेश करने पर प्रारम्भ होती है। वसन्त ऋतु ऋतुओं में सबसे पृथक् समझी जाती थी और वर्ष का आरम्भ इसी से होता था। तैत्तरीय संहिता तथा ऐतरेय ब्राह्मण की कथा के अनुसार पुनर्वसु नक्षत्र के देवता अदिति को यह वरदान है कि सम्पूर्ण यज्ञों का आरम्भ उसी से होगा। यह स्पष्टतः पुनर्वसु सम्पात (जब रात और दिन समान होते हैं) की ओर संकेत करता है।

ज्यामिति (रेखागणित)

दि थ्योरम ऑफ स्क्वेयर ऑफ दि डॉयगनल (The theorem of Square of the Diagonal) का जनक ग्रीक का पाइथागोरस (540 ई० पू०) माना जाता है, यद्यपि सर टी० हीथ इसका खण्डन कर चुके हैं और उन्होंने स्वीकार किया है कि "इस बात का कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं है कि इस प्रमेय (theorem) का आविष्कारक पाइथागोरस है।" वास्तव में पाइथागोरस के नाम के साथ इस सिद्धान्त का सम्बन्ध उसके जन्म के पांच शताब्दी पश्चात् जुड़ा है। और इसके अतिरिक्त उसने कोई अन्य ज्यामितिक आविष्कार भी नहीं किया। इसके विपरीत बौद्धायन के शुल्व (geometry) में इस प्रकार के सिद्धान्त का उल्लेख पाते हैं जो पाइथागोरस से कहीं पहिले ईसा से 800 वर्ष पूर्व हुआ था। इस सिद्धान्त के क्रियात्मक प्रयोग के उदाहरण **बौद्धायन श्रौत** तथा **शतपथ ब्राह्मण** में (2000 ई० पू०) मिलते हैं। और यह मानने के प्रमाण हैं कि इस सिद्धान्त की जानकारी उससे भी कहीं पूर्व **तैत्तिरीय** तथा अन्य **संहिताओं** के काल में भी थी।

यह निर्विवाद है कि पूर्व काल में the Theorem of the Spuare Diagonal की ज्यामितिक सिद्धि जानते थे। शुल्व अर्थात् ज्यामिति में इसके स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। ग्रीक के वैज्ञानिक पाइथागोरस के साथ जिस 'प्रमेय' (the Theorem of the Sguare of the Diagonal) का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, वह इस प्रकार है—

"एक समकोण त्रिभुज में कर्ण का वर्ग आधार लम्ब के वर्गों के जोड़ के बराबर होता है।"

इसकी सिद्धि ज्यामितिक ढंग से (चित्र १) पृष्ठ संख्या २०५ पर देखें—

त्रिभुज क ख ग में क ग कर्ण है, क ख लम्ब है तथा ख ग आधार है।

कर्ण क ग पर बने वर्गों की संख्या 25 (पच्चीस) है। लम्ब क ख पर बने वर्गों की संख्या 9 है तथा आधार ख ग पर बने वर्गों की संख्या 16 है।

इनका जोड़ (16+9) पच्चीस बनता है जो कि कर्ण क ग पर बने वर्गों के बराबर है।

इसी प्रमेय (Theorem) को बौद्धायन ने इस प्रकार दिया है—"आयत के विकर्ण का वर्ग उसकी भुजाओं (लम्बाई तथा चौड़ाई) के वर्ग के जोड़ के बराबर है।" और यह स्वाभाविक है कि इस प्रमेय से पूर्व 'वर्ग के विकर्ण के वर्गों के प्रमेय' के सिद्धान्त का आविष्कार पहिले हुआ हो कि "वर्ग के विकर्ण का वर्ग भुजा के वर्ग का दुगुना होता है" और प्रतीत होता है कि पहिले पहल

चित्र : १
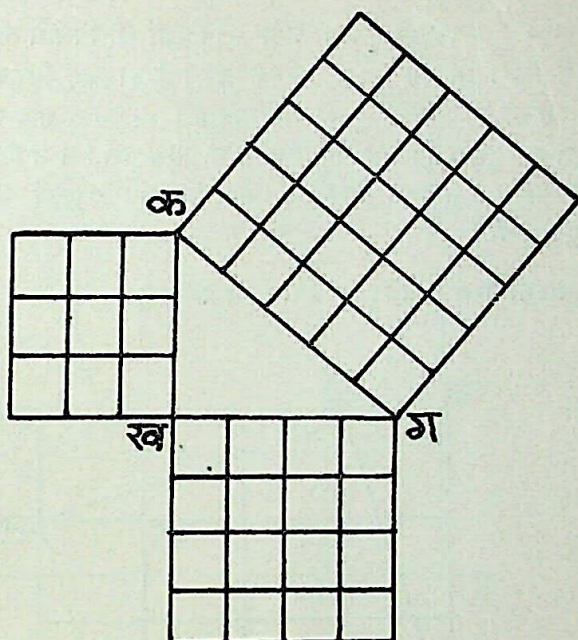
'पैत्तृकी वेदी' के सम्बन्ध में यह प्रमेय आविष्कृत हुआ था। प्रमेय की सिद्धि इस प्रकार है—

चित्र : २
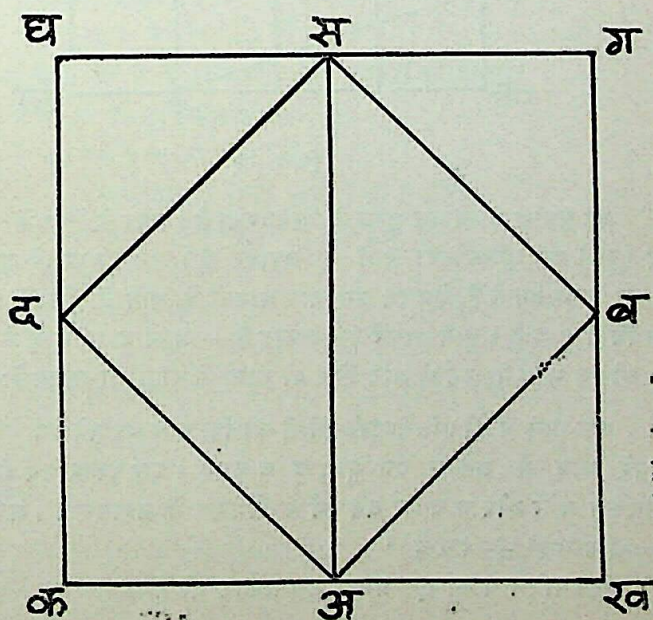
क ख ग घ वर्ग की भुजाओं के मध्य बिन्दुओं को मिलाने से एक वर्ग अ ब स द बनाया । इस वर्ग का अ स एक विकर्ण है और यह विकर्ण अ स पहिले वाले वर्ग क ख ग घ की भुजा के बराबर है । वर्ग क ख ग घ का क्षेत्रफल वर्ग अ ब स द से दुगुना है । अतः वर्ग क ख ग घ का क्षेत्रफल अ स के वर्ग के बराबर है और यह अ ब स द का विकर्ण है । अतः कर्ण अ स का वर्ग, अ ब स द के वर्ग से दुगुना हुआ ।

पाइथागोरस के प्रमेय का प्रमाण इस प्रकार है—
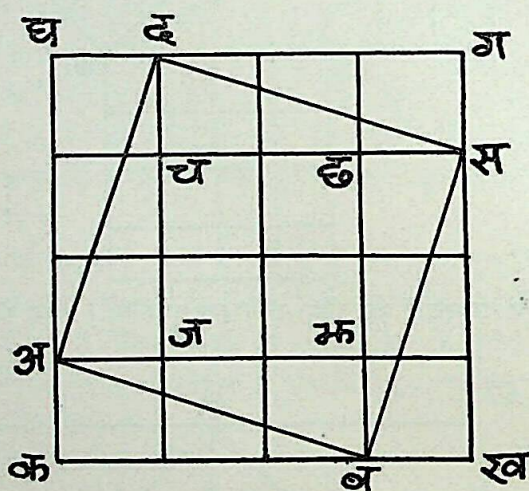
चित्र : ३

यह प्रमाण कात्यायन शुल्व से लिया गया है । ऊपर के चित्र में वर्ग अ ब स द (10) दस एलिमेण्टरी वर्गों के बराबर है। इनमें चार तो आन्तरिक वर्ग च घ ज झ बनाते हैं, शेष छः उन चार आयतों के आधे हैं जिनसे वर्ग च छ ज झ घिरा हुआ है । चार आयतें इस प्रकार हैं— अ ज द घ, द ग स च, छ स ख ब और ब झ अ क, इनको आगे फिर दो भागों में बांटा जा सकता है:—

एक भाग में नौ एलिमेण्टरी वर्ग हैं जो कि च स पर बने वर्ग के बराबर है। दूसरे भाग में अकेला वर्ग भुजा च द पर है । इस प्रकार वर्ग अ ब स द का क्षेत्रफल च स और च द पर बने वर्ग के क्षेत्रफल के बराबर है । अतः (द स) $= (\text{च स})^2 + (\text{च द})^2$

इसी परिणाम का एक प्रमाण इस प्रकार भी है—

चित्र : ४

माना वर्ग क ख ग घ की भुजा = (य + र) लम्बाई की इकाई

जिसमें घ द = य

द ग = र
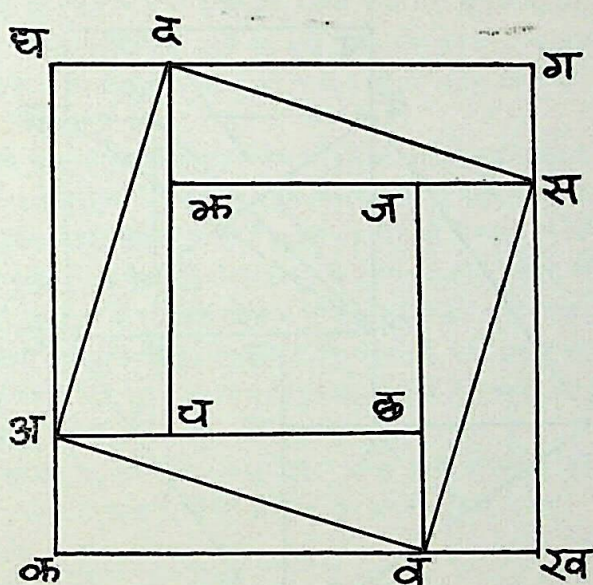
माना वर्ग अ ब स द की भुजा = ल लम्बाई की इकाई

वर्ग अ ब स द का क्षेत्रफल = ल^2

= वर्ग च छ ज झ का क्षेत्रफल

+ चार समान क्षेत्रफल वाली त्रिभुजें जैसे—

अ च द, अ ब छ, ब स ज, द झ स

झ ज = झ स — ज स

= द ग — घ द

= र — य

वर्ग अ ब स द का क्षेत्रफल ल^2 = (र—य)^2 + $4 \times \frac{1}{2}$ (य र)

= य^2 + र^2 — 2 य र + 2 य र

ल^2 = य^2 + र^2

अतः (द स)^2 = (झ स)^2 + (झ द)^2

इस प्रमेय—Theorem of the Square of the Diagonal की सिद्धि इस प्रकार भी की जा सकती है—

चित्र : ५

वर्ग अ ब स द में अ स को मिलाया तथा अ क, अ प को अ स के बराबर काटा और अ क पर अ क ग प वर्ग बनाया। द क को मिलाते हुए एक वर्ग द क ब फ बनाया। शेष रचना चित्र में दिखाये अनुसार की।

वर्ग द क य फ = (चार त्रिभुज अ ब द) + वर्ग अ म भ न

त्रिभुज अ क द = त्रिभुज द न फ = त्रिभुज फ भ य = त्रिभुज म य क

वर्ग द क य फ = आयत अ क ख द + आयत अ ब घ प + वर्ग स ख ग घ

= वर्ग अ ब स द + वर्ग अ क ग प

द क² = (अ य)² + (अ क)²

शुल्व में ऊपर दिखाई रचनाएं में आवश्यक हैं।

किसी भी वेदी की रचना में इस प्रकार की आकृतियों (Figures)—जैसे—वर्ग, आयत, त्रिभुज को जोड़ना और घटाना आवश्यक था। नियत वर्गों को मिलाकर उपयुक्त परिणाम पर पहुंचने के लिए The Theorem of the Square of the Diagonal का प्रयोग आवश्यक था लेकिन दूसरी

आकृतियों के लिए पहिले उन्हें वर्ग बनाने आवश्यक थे जिससे इस प्रमेय का प्रयोग कर सकते और तब वर्गों को सम्मिलित कर अपनी इच्छानुरूप आकृति निर्मित कर सकते थे। एक 'वर्ग' को 'आयत' में परिणित की शुल्व की विधि बहुत ही वैज्ञानिक है ।

'शुल्व' में साथ एक अनिश्चित समीकरणें (Simultanious Indeterminate Equations) के हल भी मिलते हैं। इन समीकरणों को देखने के लिये हम 'श्येन चित्' आकृति वाली वेदी को लेते हैं। इस का सम्पूर्ण क्षेत्रफल $7\frac{1}{2}$ अ² है, और अ=एक पुरुष । इस वेदी को चार सतहों में बनाना होता है, और प्रत्येक सतह में 200 ईंटे होती हैं और प्रत्येक सतह के बीच की ईंटों की दरार एक जैसी नहीं होनी चाहिए। बौद्धायन द्वारा बताये गये एक प्रकार में चार प्रकार की वर्गाकार ईंटें लगाई गई हैं और दूसरे प्रकार में उसने आयताकार ईंटें प्रयुक्त की हैं। अगर चार प्रकार की ईंटों का क्षेत्रफल —

अ²/क, अ²/ख, अ²/ग, अ²/घ हो और प्रत्येक सतह में लगाई गई ईंटों की संख्या को क्रमशः प फ ब भ संकेत करे तो इस प्रकार हमारे पास

$$\frac{प}{क}+\frac{फ}{ख}+\frac{ब}{ग}+\frac{भ}{घ} = 7\frac{1}{2}$$

$$प+फ+ब+भ = 200$$

कौकायन इस समीकरण के चार हल इस प्रकार बताये हैं—

(1) क=16, ख=25, ग=36, घ=100

(1-i) प=24, फ=120, ब=36, भ=20

अथवा (1-ii) प=12, फ=125, ब=63, भ=0

(2) क=25, ख=50, ग=50/3, घ=100

(2-i) प=160, फ=30, ब=8, भ=2

अथवा (2-ii) प=165, फ=25, ब=6, भ=4

आपस्तम्ब ने इसी के निर्माणार्थ चार सतहें लीं —

$$\frac{प}{क}+\frac{फ}{ख}+\frac{ब}{ग}+\frac{भ}{घ}+\frac{म}{ङ} = 7\frac{1}{2}$$

$$प+फ+ब+भ+म = 200$$

इन समीकरणों के पांच हल इस प्रकार हैं—

क=16, ख=25, ग=64, घ=100, ङ=144
प=67, 74, 77, फ=58, 45, 42, ब=48, 52, 40,
भ=18, 20, 32, म=9, 9, 9
क=16, ख=25, ग=36, घ=64, ङ=100
प=12, 70, 10, फ=157, 45, 159, ब=9, 9, 9,
भ=0, 56, 8, म=22, 20, 14

वैदिक काल के आर्य सर्द के प्रारम्भिक प्रयोग (Elementary treatment of Surds) को जानते थे। वे $\sqrt{2}$ की अननुपातिकता (Irrationality) से परिचित थे और जानते थे कि ज्यामितिक ढंग से $\sqrt{2}$ का सूक्ष्म से सूक्ष्म मूल्य कैसे निकाला जाता है—

$$\sqrt{2} = 1 + \frac{1}{3} + \frac{1}{3.4} - \frac{1}{3.4.34}$$

दो वर्ग जिनकी भुजा एक इकाई बनाये। दूसरे वर्ग को तीन बराबर भागों
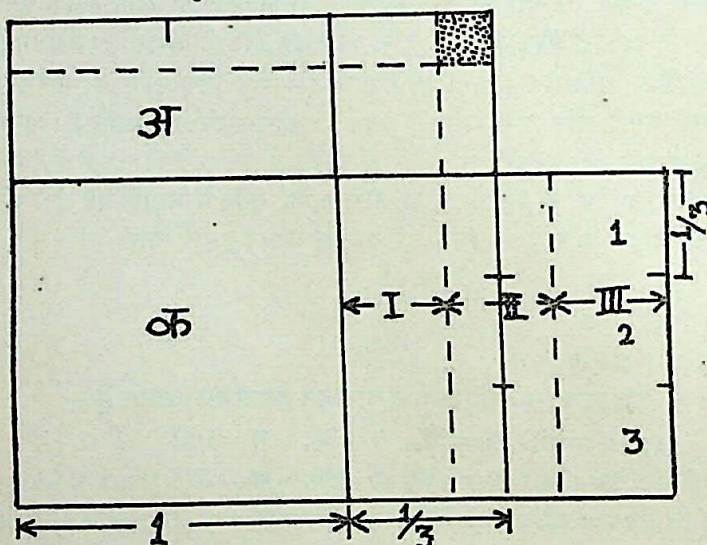
चित्र-6

में बांटा। आखिरी भाग को पुन: तीन बराबर भागों में बांट लिया। अब दूसरे वर्ग के बीच वाले भाग को तथा आखिरी भाग के एक वर्ग को उठा कर पहले वर्ग स के ऊपर वाले हिस्से में रखा जाय। इस प्रकार एक वर्ग बन जाएगा जिसकी भुजा $1+\frac{1}{3}$ है।

शेष दो वर्ग (2) और (3) हैं। इनमें प्रत्येक को चार भागों में बांट कर वर्ग $(1+\frac{1}{3})$ भुजा वाले के ऊपर तथा दाईं ओर रखा। इस प्रकार एक अन्य वर्ग जिसकी भुजा $(1+\frac{1}{3}+\frac{1}{3.4})$ है बन जाएगा।

इस वर्ग का क्षेत्रफल पहिले वाले दो वर्गों के क्षेत्रफल से $(\frac{1}{3.4})^2$ अधिक है तथा इसका क्षेत्र छायांकित वर्ग के क्षेत्रफल के बराबर है।

माना कि पतली पट्टी की चौड़ाई 'क' है

$$\text{तो } 2\text{क}\left(1+\frac{1}{3}+\frac{1}{3.4}\right)-\text{क}^2=\left(\frac{1}{3.4}\right)^2$$

क्योंकि क² बहुत ही छोटी मात्रा है अतः उपेक्षित होने के पश्चात् बचेगा—

$$2\text{क}\left(\frac{12+4+1}{3.4}\right)=\left(\frac{1}{3.4}\right)^2$$

$$2\text{क}\ \frac{17}{3.4}=\left(\frac{1}{3.4}\right)^2$$

$$2\text{क}\times 17=\frac{1}{3.4}$$

$$\text{क}=\frac{1}{3.4}\times\frac{1}{3.4}=\frac{1}{3.4.34}$$

परिणामस्वरूप

$$\sqrt{2}=1+\frac{1}{3}+\frac{1}{3.4}-\frac{1}{3.4.34}\text{ लगभग}$$

अङ्कगणित Arithmetic

वैदिक अङ्कगणित की सम्पूर्ण सामग्री समय चक्र में समाप्त हो चुकी है और जो कुछ क्षीण सी सामग्री प्राप्य है वह भी दूसरे क्रम की साक्षी पर आधारित है। अतः वैदिक अङ्कगणित के विषय में विचार-विमर्श की सीमाएं सीमित सी हो गई हैं।

वैदिक काल के आर्यों का ध्यान विभाजन की एक समस्या पर बहुत अधिक गया था, और वह थी एक हज़ार को तीन बराबर भागों में बांटना। केवल इन्द्र और विष्णु ही इसे हल करने में समर्थ हो सके थे और इस कारण वैदिक साहित्य में उनकी बहुत प्रशंसा की गई है। इस सम्बन्ध में इन्द्र और विष्णु का सबसे प्राचीनतम् उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त होता है (ऋक् 6.69.8)। अन्य साहित्य में भी यह प्राप्य है (अथर्व० 3.44.1)। यह जानना अत्यधिक कठिन है कि उन्होंने इसका हल कैसे निकाला था, क्योंकि 1000 को 3 से भाग देने पर एक शेष रह जाता है।

लेकिन शतपथ ब्राह्मण (111/3.1.13) में उल्लेख आता है कि जब इन्द्र और विष्णु ने 1000 को तीन बराबर भागों में बांटा तो एक शेष रह गया, और उन्होंने पुनः उसे तीन भागों में बांटा, यही कारण है कि अब भी यदि कोई 1000 को तीन से भाग देता है तो एक शेष रह जाता है। यह निश्चित रूप से अङ्कगणितीय उपलब्धि है।

वैदिक आर्यों ने गिनती की उच्चस्तरीय पारिभाषिक शब्दावली का निर्माण कर रखा था। ग्रीक लोग गिनती की अधिक से अधिक दस हज़ार की संख्या (10^4) तक जानते थे। और जिसका प्रयोग ईसा की चौथी शताब्दी में हुआ।

रोमन लोग तो केवल एक हज़ार (10^3) पर जाकर ही रुक गये। लेकिन प्राचीन काल में आर्य ईसा से हज़ारों वर्षों पूर्व परार्ध (10^{14}) अर्थात् 100000000000000 अङ्क तक बिना किसी कठिनाई के गिन सकते थे और उनके पास इस के लिये उच्चकोटि की पारिभाषिक शब्दावली भी थी। इस विषय में उनका ढंग बहुत ही वैज्ञानिक था।

वैदिक काल से ही गिनती में दशमलव का प्रयोग होने लग गया था और उन्होंने तत्सम्बन्धित अङ्कीय वृद्धि को पृथक्-पृथक् संज्ञाओं से अभिहित किया हुआ था और कोई संख्या कितनी भी बड़ी क्यों न हो वे उसे आसानी से व्यक्त कर सकते थे। एक हजार से ऊपर की संख्याओं की वृद्धि अथवा घटती की वे सैन्टेसिमल स्केल से सूचित किया करते थे, जैसे—षष्ठिम् सहस्राणि (=60,000), पंचशत् सहस्राणि (=50,000) द्वासप्तिः सहस्राणि (=72,000)। उस काल में सौ अङ्क को आधार मानकर बड़ी-से-बड़ी संख्या को व्यक्त करने की प्रणाली थी, जैसे षष्ठि शत (6,000)। यद्यपि वैदिक साहित्य में छः अङ्कों तक की संख्या के लिए 'नियुत' शब्द है, लेकिन फिर भी अनेकों बार इसे 'शत सहस्र कहा गया है। यह इस बात का द्योतक है कि भारत में गिनने के लिए सौ की संख्या का आधार बहुत प्राचीन काल से है। प्राकृत में इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं, यद्यपि संस्कृत भाषी आर्यों ने इससे अधिक सुविधाजनक 'दस' को आधार मान लिया था। हिंदी आदि आधुनिक अन्य भाषाओं में आज भी दस हज़ार तथा दस-लाख का आधार 'दस' ही है। उन संख्याओं के लिये अलग से कोई अन्य शब्द नहीं हैं।

किसी परिमाण को मापने के लिए प्राचीन काल में आर्य विभिन्न पैमाना प्रयुक्त करते थे। उदाहरण के लिए शतपथ ब्राह्मण में समय को 15 का आधार मानकर सूक्ष्मतः विभक्त किया गया है। समय की सबसे छोटी इकाई 'प्राण' दिन का $1/15^5$ भाग कहा गया है।

वैदिक काल के आर्यों ने सम्पूर्ण अङ्कों की शब्दावली को तीन वर्गों में बांटा हुआ था—

अ—एक, द्वि, त्रि, चतुर, पञ्च, षट्, सप्त, अष्ट, नव ;

ब—दस, विंशति, त्रिशत्, चत्वारिंशत्, पंचाशत्, षष्ठि, सप्तति, अष्टति, नवति ;

स—शत, सहस्र, अयुत, नियुत, कोटि, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त, परार्ध।

अ वर्ग में गिनती का क्रम एक अङ्क की वृद्धि से बढ़ता चला गया है। ब में पूर्व अंक से 10 अंक की वृद्धि से बढ़ता चला गया है। स में गिनती का क्रम पूर्व से दस गुना वृद्धि से बढ़ता चला गया है। सौ से नीचे की संख्या का कोई भी समस्त

शब्द अ तथा ब वर्ग के शब्दों के संयोग से बनता है। प्रायः अ वर्ग का शब्द ब वर्ग से प्रथम आता है, जैसे-एक दस (ग्यारह), सप्त विंशति (सत्ताईस), अष्ठ-विंशति (अठाइस)। समस्त शब्द निर्माण का मोटा नियम दोनों को जोड़ना है। जोड़ने के अतिरिक्त घटाने का नियम भी दृष्टिगोचर होता है; जैसे—उन्नीस के लिए 'नवदश' $9+10=19$ शब्द है। लेकिन इसे एकान्नविंशति $(20-1=19)$ भी कहते हैं। इसी प्रकार नवविंशति$(20+9)$ या एकान्नत्रिंशत् $(30-1)$; नवनवति $(9+90)$ या एकान्नशत $(100-1)=99$ घटाने का नियम वैदिक युग से पाया जाता है। परवर्ती युग में 'एकान्न' के स्थान पर 'एकोन' उपसर्ग प्रयुक्त होने लगा और यही प्रचलित है, जैसे एकोन्नविंशत्, एकोनत्रिंशत् आदि।

अतः कैंजोरी का अपनी पुस्तक 'हिस्टरी ऑफ मैथेमेटिक्स' में यह कथन कि इटली खे ईट्रूरिया के लोगों को छोड़कर शब्दावली के निर्माण में घटाने का नियम कोई अन्य जाति लागू नहीं करती थी, गलत सिद्ध होता है। प्राचीन काल के भारतीय उनसे कम से कम 2,000 वर्ष पूर्व घटाने की प्रक्रिया के लिए शब्द-निर्माण आरम्भ कर चुके थे।

'ग, वर्ग की सौ की संख्या के ऊपर की संख्या का शब्द-निर्माण 'गुणा' तथा 'जोड़' द्वारा किया जाता था। यदि किसी संख्या शब्द से पूर्व कोई छोटी संख्या रखी जाती है तो उसे बड़ी के साथ गुणा करना होता है और यदि बाद में रखी जाती है तो उसे जोड़ना होता है जैसे ऋग्वेद (1.164.11) में सप्तशतानिविंशति $=720$, सहस्राणि शतदस$=1110$ षष्टि सहस्र नवतिनव $=60,099$। कहीं-कहीं इस नियम का अपवाद मिलता है।

जहां तक वैदिक काल में संख्याओं का दिग्दर्शन कराने वाले संकेत-चिन्हों का सम्बन्ध है निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, लेकिन कुछ प्रमाणों से यह अवश्य पता चलता है कि वैदिक युग में संकेत-चिन्ह थे अवश्य। ऋग्वेद (10.62.7) में गौओं के एक समुदाय को दूसरों से पृथक् दर्शाने के लिए 'अष्टकर्णी' शब्द आया है। इससे स्पष्ट है कि उन गौओं के कान पर आठ का चिन्ह होगा इसी प्रकार यजुर्वेद में सोने के सिक्के के लिए 'अष्टा मृदमृ हिरण्यम् (काठक संहिता 13.10) का अर्थ यही है कि सोने के उस सिक्के पर आठ का चिन्ह खुदा हुआ होगा। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि वैदिक युग में लोग सख्या-चिन्हों से परिचित थे।

मोहन जोदड़ो की खुदाई से प्राप्त होने वाली मोहरों से सिद्ध हो चुका है कि ईसा से 4,000 वर्ष पूर्व की-सिन्धु घाटी की सभ्यता में लोग संख्याओं को संकेत-चिन्हों से प्रकट करते थे और यह निश्चित है कि वैदिक युग में बड़ी-बड़ी संख्याओं को यहां तक कि 10^{14} जैसी संख्याओं को अभिव्यक्ति करने वाले

लघु-संकेत-चिन्ह व सूत्र जान चुके थे। यदि उपनिषदों में आने वाले उद्दालक श्वेतकेतु, अष्टावक्र, तथा जनक से सम्बन्धित आख्यानों पर कुछ भी विश्वास किया जाये तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ब्राह्मण काल में दशमलव लगाने की पद्धति का आविष्कार हो चुका था।

पाणिनि (ई० पू० 700) की व्याकरण में इस प्रकार का प्रमाण है कि उस समय अंकों को अक्षरों द्वारा अभिव्यक्त करने की प्रणाली चल चुकी थी। वैदिक काल में अंकों का स्थायी रूप से सुरक्षित रिकार्ड रखने के लिये तत्सम्बन्धित वस्तुओं के नाम व शब्दों द्वारा चाहे वे पारस्परिक व अन्य किसी प्रकार से जुड़े हुए थे, प्रयुक्त हुआ करते थे। प्राचीन संहिताओं में इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। अंकों को इस प्रकार अक्षर व शब्दों के रूप में प्रयोग की प्रणाली—विशेष रूप से ज्योतिषियों तथा गणितज्ञों में सर्वप्रिय थी और इस प्रणाली के जन्म का मुख्य श्रेय उस काल के लोगों का पद्य-काव्य से प्रेम व आकर्षण था। और अंकों को पद्य में प्रयोग करने के लिए कई प्रकार अपेक्षित होते थे।

वेदकालीन आर्यों ने अंकों को युग्म तथा अयुग्म दो वर्गों में बांटा हुआ श्री विभूति विभूषण दत्त का विचार है कि अथर्ववेद के दो मंत्रों (19.22.3) था। में शून्य तथा नैगेटिव नम्बर का उल्लेख है। 'शून्य' को 'क्षुद्र' कहा गया है। नैगेटिव नम्बर को वहां 'अनृच' तथा पॉजिटिव नम्बर को 'ऋच' कहा गया है। परवर्तीकाल में यही 'ऋण' तथा 'धन' में परिवर्तित हो गया।

वैदिक काल में आर्य अंकों को शृंखलित करने में तत्पर दिखाई देते हैं। तैत्तरीय संहिता (7.2.12=7) में इस प्रकार के निम्नलिखित अंकगणितीय शृंखला वाले पद्य प्राप्त होते हैं—:

1, 3, 5......19, 29, 39...99
2, 4, 6......20
4, 8, 12......20
5, 10, 15......100
10, 20, 30......100

ये अंकगणितीय शृंखलाएं युग्म और अयुग्म में बंटी हुई हैं।

पंचविंश ब्राह्मण (18.3) में गुणोत्तर श्रेणी (Geometrical series) को भी जानते थे—

24, 48, 96, 192......491252, 98304, 196608, 393216

इस श्रेणी को योग करने का प्रकार भी वे जानते थे। अर्थमेटिकल प्रोग्रेशन जिसकी पहली वृत्ति (Term) 24 और सामान्य अन्तर (Comman difference) 4 है और वृत्ति की संख्या 7 हो तो उसके जोड़ का तीन गुना 756 के बराबर है यह तथ्य वे जानते थे।

उपर्युक्त संदर्भ में बौद्धायन द्वारा किसी वर्ग की रेखागणितीय जोड़ (Addition of gnomons) द्वारा वर्ग का बड़ा करने के प्रकार से यह स्पष्ट है कि वे यह तरीका जानते था।

$1+3+5\ldots+(2\text{क}+1)=(\text{क}+1)^2$

वैदिक आर्य भिन्नों के अंकगणितीय घटा, गुणा, योग तथा भाग करना भी जानते थे।

'शुल्व' से हम यह उदाहरण लेते हैं—

$$7\frac{1}{2}+\frac{1}{25}=187\frac{1}{2}$$

$$\left(2\frac{2}{7}\right)^2+\left(\frac{1}{2}+\frac{1}{12}\right)\left(1-\frac{1}{3}\right)=7\frac{1}{2}$$

$$\sqrt{7\frac{1}{9}}=2\frac{2}{3}$$

—श्री विभूति विभूषण दत्त द्वारा लिखित लेख पर आधारित
(Cultural Heritage of India) से साभार

इन्द्र

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल

ऋग्वेद में इन्द्र देवता की महिमा और व्याख्या के अनेक मन्त्र हैं। इन्द्र ईश्वर का वाचक है। परमैश्वर्यरूप सृष्टि का विधाता यदि किसी शब्द से यथार्थ में अभिहित किया जाय तो उसके लिए 'इन्द्र' यही उपयुक्त नाम हो सकता है। इस विश्व में सर्वव्यापक शक्ति तत्व इन्द्र है। इस शरीर में इन्द्रियों का अधिष्ठाता मध्यप्राण भी इन्द्र कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट कहा है कि कोई मूलभूत शक्ति या अग्नि इस देह में प्रतिष्ठित हुई है। उसी के संचालन से अन्य सब अवयव कार्य में प्रवृत हैं। वह अग्नि या जीवनी शक्ति समिद्ध होने के कारण इन्ध कहलाती है। उसका शतायुपर्यन्त समिन्धन हम सब प्रत्यक्ष देख रहे हैं। वनस्पति, पशु और मानव, इन तीन धरातलों या रूपों में वह शक्ति प्राणन-क्रिया कर रही है। उसकी मध्यगत सत्ता से ही जीवन का सत्र संतत है। इस शक्ति की संज्ञा इन्धनात्मक होने के कारण परोक्ष या सांकेतिक भाषा में 'इन्द्र' कही जाती है। शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से इस निरूक्ति का जो कुछ मूल्य हो, तात्विक दृष्टि से यह नितान्त सत्यात्मक है।

मध्य या केन्द्रीय प्राणशक्ति मूलरूप में एक है। किन्तु सृष्टि या अभिव्यक्ति में आते ही वह बहुधा हो जाती हैं। 'एकम् सद्धिप्रा बहुधा वदन्ति' ऋषियों का दर्शन है। यह अर्थवाद या कथन मात्र नहीं, सृष्टि का अविचल तथ्य है। विश्व में मूल शक्ति एक है पर उसके रूप बहुधा हैं। शरीर की मूलभूत शक्ति एक है, पर वही चक्षु, श्रोत्र, वाक्, प्राण, मन आदि के रूप में कार्य करती हैं। इन्द्रदेव कहा जाता है। स्थूल इन्द्रियों के अधिष्ठात्तृ देवता शक्ति के ही रूप हैं। इन्द्रियों को प्राकारान्तर से लोक कहा गया है, और उनके देवों को लोकी या लोकपाल। देवों का अधिपति इन्द्र एक होते हुए भी नाना रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। इसके मूल में इन्द्र की प्रातिस्विक शक्ति ही कारण है, यही उसका स्वभाव है :—

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपे इयते

शरीर में इन्द्रियों की सत्ता इस बात का प्रमाण है कि उनके मूल में इन्द्र शक्ति सक्रिय और सत्तावान् है। वनस्पतिजगत्, पशुजगत् और मानवजगत् इन तीनों में इन्द्रियों का विकास देखा जाता है। वृक्ष भी स्पर्श का अनुभव करते हैं। उनमें स्पर्शेन्द्रिय का और इन्द्रियों की अपेक्षा अधिक विकास है। जहाँ इन्द्रिय की क्रिया है, उसके मूल में मनस्तत्व अश्वय रहता है। अतएव इन्द्र को 'मनस्वान्' कहा जाता है :—

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् ऋतुना पर्यभूषत्।

इन्द्र मनस्वी देव है। उसकी सत्ता अन्य देवों वा इन्द्रियों की ऋतु पा संकल्पात्मक कर्मशक्ति से युक्त करती है।

इन्द्र इन्धनात्मक शक्ति है। उसके तीन रूप हैं—मन, प्राण, वाक्। पंचभूतों की संज्ञा वाक् है। क्योंकि पंचभूतों में सबसे सूक्ष्म आकाश है। जिसका गुण शब्द है, अतएव शब्द या वाक् को सब भूतों का प्रतीक मान लिया जाता है। अग्नि, वायु, इन्द्र ये तीन रूप एक ही मूलभूत शक्ति तत्व के हैं। स्थूलभूत रूप में उसे अग्नि प्राणरूप में वायु और मनस्तत्व के रूप में इन्द्र कहा जाता है। अग्नि पृथिवी लोक, वायु अन्तरिक्ष लोक और इन्द्र या आदित्य द्युलोक की शक्ति है। द्युलोक में जो आदित्य है, उसे ही इन्द्र भी कहा जाता है।

द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी।

हम अपने ही शरीर में देखें। जठराग्नि वासव इन्द्र है जो वसु या भूत-तत्वों को शरीर में सम्भृत करता है। मध्य भाग में मरुत्वान् इन्द्र है जो हृदय फुप्फुस का संचालन करता है। यह ठीक वैसी ही विद्युत शक्ति है जो किसी यन्त्र को संचालित करती है। मरुत या प्राणों के द्वारा ही यह विद्युत मिल रही है। तीसरा मस्तिष्क संस्थान है जहाँ चिन्तन या मननशक्ति का अधिष्ठान है। यह सबसे सूक्ष्म और व्यापक है, एवं उसकी शक्ति सबसे अधिक प्रभावशाली है। वह मघवान् इन्द्र हैं। मन की यज्ञिय शक्ति ही मघ तत्व है। मघ तत्व के अपान में ही मन मोहग्रस्त या तमोग्रस्त होता है।

इन्द्र का रथ यह शरीर है। इन्द्र को अपने रथ में गति की आवश्यकता है। गतितत्व ही अश्वतत्व है। पंजर का नाम रथ नहीं। रथ वह है जिसमें पंजर संचालक वाहन भी हो। इन्द्र के रथ में दो अश्व हैं। उन्हें ही 'अश्विनी' कहते

हैं। प्राणायान या प्राण के द्विविध रूप ही अश्विनी कुमार हैं। प्रत्येक शरीर को जीवन या प्राणन की आवश्यकता है। वनस्पति, पशु, मानव इन तीनों को गति स्पन्दन प्राणयान से ही प्राप्त होता है। दो रूपों में अभिव्यक्त होते हुए भी प्राण एक ही है। शतपथ ब्राह्मण में उसकी यथार्थ वैज्ञानिक परिभाषा की गई है :—

प्राणो वै समञ्चनप्रसारणम् ।

फैलना और सिकुड़ना—यही स्पन्दन का रूप है। जहाँ यह क्रिया हो वही प्राणन की अभिव्यक्ति जाननी चाहिए। प्राणनात्मक कर्म ही जीवन का सबसे महत्वपूर्ण लक्षण है। यह प्राणन क्रिया श्वास-प्रश्वास की धौंकनी है। जिस शरीर में धौंकनी चल रही है वही जीवन है। अथवा यह कहना उपयुक्त होगा कि प्राणायान की धौंकनी के लिए शरीर की अनिवार्य आवश्यकता है। विराट शक्ति की अभिव्यक्ति हमारे अनुभव में तभी आती है जब वह शरीर में प्रकट हो भूत-प्राण-मन की समष्टि संज्ञा शरीर है। इसी संघात को देह कहते हैं। प्रत्येक शरीर शक्ति का एक आवपन या पात्र है। यही यज्ञ की वेदि है, अथवा समष्टि या विराट् भुवन का केन्द्र बिन्दु या नाभि है :—

अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ।

इस मन्त्र भाग में शरीर की सीमा में प्रवर्तमान् यज्ञ की ओर संकेत है। शरीर में जो शक्ति कार्य करती है, वह छन्द या सीमा से छन्दित हो जाती है। जहाँ छन्द है वहीं दैवी यज्ञ है। जो शक्ति छन्द से बहिर्भूत है वह आसुरी है। प्रत्येक शरीर देश और काल के छन्द का अनुशासन मानकर जीवित हैं। जन्म वृद्धि और अन्त ये कालकृत छन्द हैं जो क्रमशः शरीर की देशगत सीमा में प्रकट होते हैं। इन्हें ही गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती इन नामों से अभिहित किया जाता है।

ऊपर जिस अश्व या अश्विनी का उल्लेख किया गया है उसकी एक संज्ञा दध्यङ अथर्वा भी है। अथर्वन् की दो व्युत्पत्तियां हैं, जो दोनों संगत हैं। शतपथ के अनुसार प्राण या अग्नि अथर्वा है। (श० ६/४/२/१)। यजुः ११/३२ के अनुसार अथर्वा ने प्राणाग्नि मथन किया :—

अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने ।

अथर्वा में जो 'अथर' शब्द है वह अग्नि का वाचक है, जिससे ईरानी परम्परा में अतर-आज़र-आतिश शब्दों की परम्परा चली। पर गोपथ में एक दूसरी व्युत्पत्ति दी है—

तद् यद् अब्रवीद अथ अर्वाङ एतासु अप्सु अन्विच्छ इति तद् अथर्वाऽभवत् तदथर्वणोऽथर्वत्वम् (गो० पू० १/४) 'अथ अर्वाङ' से अथर्वा की व्युत्पत्ति क्या संकेत करती है? पहले जल की सृष्टि और उसमें अग्नि का जन्म या गर्भधारण —यह सृष्टि की प्रक्रिया है जिसका कई वार उल्लेख ऋग्वेद में आता है। 'अग्नि 'अपांगर्भः' (ऋग्वेद ३/५/३) अर्थात् जलों का पुत्र है। देवों ने दर्शनीय अग्नि को जलों में ढूंढ़ निकाला :—

अविन्दन्नु दर्शतमप्स्वन्तर्देवासो अग्निमपसि स्वसृणाम्
(ऋग्० ३/१/३)

पहले ऋतात्मक जल फिर सत्यात्मक अग्नि—यही सृष्टि का क्रम है। माता-पिता का शुक्र शोणित ऋत या सोम है। उसमें शिशुप्राण रूप अग्नि का जन्म होता है। इस शिशु को ऋग्वेद में 'चित्र शिशु' कहा जाता है। यही क्रमशः चित होने वाले अद्‌भुत प्राणतत्व या जीवन है। कवियों ने इसे ही 'कुमार' कहा है जो किसी देश या काल विशेष की विजड़ित घटना नहीं, वरन सृष्टि का नित्य तत्व है। इसका जन्म प्रतिक्षण हो रहा है। हमारे जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना या लीला यही 'कुमार सम्भव' है जो तारकासुर रूपी मनस्तवकों को मर्यादित करने वाली दैवी शक्ति है। **चन्द्रमा मनसो जातः** के अनुसार चन्द्रमा रूपी नक्षत्र या तारक ही मन है।

जल पहली सृष्टि है—**अप एव ससर्जादौ**। उसमें त्रयी विद्या का बीज अग्नि या प्राण का रूप है। वही **'अथ अर्वाङ'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार अथर्वा है। यह अथर्वा गति का ही प्रतीक है। यह अश्व या गति प्रत्येक प्राणी के मस्तक के साथ जुड़ा है। ऐसा कोई जीवधारी नहीं जिसमें अथर्वा अश्व का शीर्ष भाग न हो। इस वैदिक आख्यान का मूल तात्पर्य क्या है? हमारा जो भौतिक शरीर है वह पार्थिव है। इस पृथिवी को जो प्राणात्मक स्पन्दन प्राप्त है उसका मूल मनस्तत्व में है। भौतिक दृष्टि से भी समस्त शरीर में रुधिर का अभिसरण कराने वाला यन्त्र हृदय है। यह ऐसा इंजिन है जो जन्म से मृत्युपर्यन्त स्पन्दन या संघमन करता रहता है। जिस शक्ति से यह निरंतर संचालित होता है, वह वैद्युत शक्ति इन्द्र कही जाती है। यह अन्तरिक्षचारी मरुत्वान इन्द्र है। पर इस प्राणात्मक शक्ति के प्रेरणा-केन्द्र मस्तिष्क में हैं जहां से हृदय नित्य संचालित रहने का विधान प्राप्त करता है। जो स्थूल

मस्तिष्क है वह भौतिक है। किन्तु उसके आधार पर प्रतिष्ठित जो मनस्तत्व है वह देव कहा जाता है। यह ऐसे ही है जैसे सूर्य के पाँच भौतिक शरीर के मूल में भी कोई सूर्य या भौतिक मस्तिष्क को स्थूल विज्ञानगत साधनों से देखा या जाना जा सकता है। पर मस्तिष्क के अभ्यन्तर में कार्य करने वाले मानस तत्त्व का केवल अनुभव किया जा सकता है। यही देवों का देवत्व है। प्रत्येक भूतात्मक संस्थान के पीछे यही देवमयी शक्ति है। वह देवात्मक मनस्तत्त्व जो मस्तिष्क की प्रतिष्ठा है, इन्द्र कहलाता है। ऋग्वेद में इन्द्र को यर्थाथ ही 'मनस्=वान्' कहा है। उसी की शक्ति अन्य सब देवों या शरीर संस्थान के प्राणावयवों को शक्ति प्रदान करती है। वैदिक परिभाषाओं में अर्थ की व्यापकता निहित रहती है। अतएव प्राण की शक्ति भी इन्द्र है और मनस्तत्त्व भी इन्द्र है, एवं इन दोनों से ऊपर शुद्ध आत्मतत्त्व भी इन्द्र है।

अथर्वा को 'दध्यङ' क्यों कहा जाता है ? कालान्तर के आख्यानों में इसे ही दधीचि ऋषि की संज्ञा दी गई जिसके दृढ़ अस्थितत्व से इन्द्र के वज्र का निर्माण होता है। 'दधि अञ्चतीति दध्यङ' अर्थात् जो 'दधि' का निर्माण करता है वह दध्यङ प्राण है। इसे ही 'दधिक्रा' या 'दधिक्रावा' भी कहा जाता है। दधि का विकिरण करने वाला यह प्राण सूर्य के केन्द्र में है। वही अपनी रश्मियों से महती ब्रह्माण्डव्यापिनी शक्ति का विकिरण या वितरण करता हुआ भूतों का निर्माण करता है। जिसे हम दधि कहते हैं, वह दुग्ध का जमा हुआ रूप है, उसे ब्राह्मण ग्रन्थों में पृथिवी लोक का प्रतीक माना गया है—

दधि हैवास्य लोकस्य रूपम्
(शतपथ ७/५/१/३)

गेहूँ के पौधे में पहले जल या सोम संचित होता है। जल जलीय सोम में दूध मिलाया जाता है, और वही दूध रूपी सोम गेहूँ के दाने के कोटर या पोखली में भर जाता है। अन्त में वही दुग्ध जम जाता है जिसे लोक भाषा में दधि और विज्ञान की भाषा में श्वेतसार या स्टार्च कहते हैं। पानी-दूध-दही ये तीनों सोम के ही तीन रूप हैं। सोम के कूटने-पीसने छानने दूध मिलाने और पीने की समस्त प्रक्रिया प्रत्येक प्राणिसंस्थान में नित्य होती है। वनस्पति-पशु-मनुष्य तीनों के शरीर निर्माण सोम की चमत्कारिक पद्धति पर ही निर्भर करता है। जो प्राण तत्त्व इस सोमयज्ञ का संधमन करता है, जो जीवन की धौंकनी चलाकर शरीरगत उष्णता और वाह्य सूर्य की उष्णता से सोम का अधिश्रयण और पवित्री-करण करता है, वही इन्द्र है। यदि वह इन्धनात्मक मध्यप्राण या समिद्ध जीव-नीय अग्नि सक्रिय न हो तो सोमसम्बन्धी कोई प्रक्रिया शरीर में सिद्ध नहीं हो

सकती।

प्रत्येक शरीर या देह संस्थान में प्राणाग्नि द्वारा रस या सोम की शुद्धि और पाचन के लिए तीन अच्छिद्र पवित्र लगे हुए हैं--पहला छानने का नतना शरीर की कोष्ठाग्नि या वैश्वानर है जो खाए हुए अन्न को पचाकर रसों को छानती है। आदि से अन्त तक यह अतिसूक्ष्म और पेचीदा रासायनिक क्रिया है, जिसमें कई प्रकार के अम्ल और क्षार स्वयम् उत्पादित होकर योग प्रदान करते हैं। दूसरे अच्छिद्र पवित्र प्राणायान है और तीमरा मन है। शरीर की धातुओं पवित्रीकरण इन तीनों के द्वारा उत्तरोत्तर उत्कृष्ट बनाया जाता है। ये तीनों ही तीन प्रकार की अग्नियाँ हैं, अथवा एक ही अग्नि के तीन रूप हैं, जो इसी कारण 'त्रिषधस्थ' कही जाती हैं। पहली पार्थिव वैश्वानर अग्नि को 'पावमान' दूसरी अन्तरिक्ष्य प्राणायानरूपी अग्नि को 'पावक' और तीसरी दिव्य या मानस अग्नि को 'शुचि' कहते हैं। पहली पवमान अग्नि को निर्मंथ्याग्नि भी कहा जाता है यही शरीर की शक्ति के अरणि मन्थन से मथी जाती हैं। जीवन की मूलभूत अग्नि यही है। यह पार्थिव या स्थूल है जो रासायनिक रूप में उन रसों में निवास करती है जिनसे शरीरस्थ अन्नसामग्री का परिपाक किया जाता है।

इन्द्र और सोमपान

वेदों में इन्द्र की सबसे बड़ी विशेषता सोमपान है। इन्द्र रूपी अग्नि निरन्तर सोम चाहती है। सोम के अभाव में क्षणभर भी अग्नि का स्पन्दन या जीवन सम्भव नहीं। वैश्वानर जठराग्नि को अन्नरूपी सोम न मिले तो उसकी क्षीणता का अन्त मृत्यु है। ऐसी ही जितनी धातुचित्तियां है सब एक दूसरे से अनुस्यूत हैं और सब में प्राणाग्नि का संधमन हो रहा है। अन्न से रस, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र का संस्थान पुष्ट किया जाता है। पहला सोम है, बाद वाला अग्नि है। प्रत्येक को सोम और प्रत्येक को अग्नि के रूप में कार्य करना पड़ता है। ये ही अध्यात्मक शरीर यज्ञ की स्पष्ट चितियां हैं। सर्वत्र इन्द्र के सप्त मरुतों की श्रृंखला व्याप्त है। प्रत्येक चिति में इन्द्र का सोमपान चालू है। सबसे अन्त में उपोज और ओज से मन शक्ति का निर्माण होता है। मन रूपी इन्द्र को सदा सोम चाहिए सोम के भी अनेक रूप हैं। अंशु सोम स्थूल रसात्मक सोम है। सोम का अग्नि द्वारा जहां मन्थन होता है वही संस्थान 'औषधि' कहलाता है। शरीर और उसके प्रत्येक अवयव या चिति में 'औषधि' संस्थान कार्य कर रहा है। दूसरा ग्रह सोम है। जो शरीर के भिन्न भागों में या इन्द्रियों में प्राणशक्ति रूप में संचित होता है। तीसरा राजा सोम है जो मनस्तत्व के रूप में आलोम आनखाग्र व्याप्त है। इसे ही चन्द्रमा

कहते हैं। चन्द्रमा सोम की शान्ति अमृत है जो शरीर को प्रतिक्षण जीवन देकर अमर बना रही है। सबसे अन्त का बीज सोम है जो हमारे भीतर बुद्धि या विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित है और जो हमारे व्यक्ति भाव को समष्टि प्राण समष्टि विज्ञान और समष्टि चेतना के साथ जोड़ने वाला यही बीज सोम है।

इन्द्र और बृहस्पति

इसके अधिष्ठाता बृहस्पति समष्टि विज्ञान या सूर्य के ही रूप हैं। ये इन्द्ररूपी व्यष्टि मन और व्यष्टि अहङ्कार या चन्द्र सोम या प्रज्ञान की नियामक गुरु हैं। बृहस्पति की गौएं किसी अद्रि की गुफा में मुंदी है। वही समष्टि विज्ञान या विराट मन है। उन गौओं की व्यष्टि जीवन के लिए उन्मुक्त करने वाला इन्द्र व्यक्ति का निजी मन है। बृहस्पति और इन्द्र दोनों एक दूसरे से अविनाभूत हैं। समष्टि और व्यष्टि दोनों का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। एक ब्रह्म है दूसरा क्षत्र है। जो क्षत्र है वही राजा है। जो राजा है वही धर्म का पालक या व्यवस्थापक है। धर्म ही मर्यादा या सीमाभाव है। यही व्यक्ति या व्यष्टि भाव है। क्षत्र से उच्चतर ब्रह्म भाव है। वह निर्धर्मक स्थिति है। उसमें सब धर्मों का अन्तर्भाव या समन्वय रहता है। वही ऋषि की स्थिति है। राजसूय से राजा और वाजपेय से सम्राट बनता है :—स वाजपेयनेष्ट्वा सम्राडिति नामाधत्त (गोपथ पू० ५/८) अनेक राजाओं का अधिपति सार्वभौम सम्राट कहलाता है। एक जनपद की सीमित पृथिवि का स्वामी पार्थिव या राजा कहलाता है। समस्त जनपदों की भूमियों को वश में करने वाला सम्राट होता है। व्यष्टि जीवन 'राजा और समष्टि जीवन सम्राट' के समान है। प्रत्येक जीवन एक इकाई, एक जनपद राज्य या एक यज्ञ के समान है।

जीवन का अधिपति देवता इन्द्र है। एक-एक प्रजा या जनता में एक-एक इन्द्र होता है। जो उसका सर्वश्रेष्ठ और ओजिष्ठ-बलिष्ठ रूप है। वही इन्द्र कहलाता है। इन्द्र की शक्ति का स्रोत सोमपान है। सोम की वैदिक कल्पना एक ओर सरल और दूसरी ओर जटिल है। सारे विश्व की व्याख्या ही अग्नि सोम के रूप में की गई है। 'अग्निषोमात्मकं जगत' वही सृष्टि का संक्षिप्त सूत्र है। जहां भी प्राण या जीवन का स्पन्दन है वही 'अग्निषोमीय पशु का आलम्बन हो रहा है। अग्नि अन्नाद है, सोम अन्न है। अन्नाद में अन्न की आहुति ही यज्ञ है। सोम मातृतत्व है। अग्नि पितृतत्त्व हैं। अग्नि अक्षर या शक्ति है, सोम क्षर या भूत है। अग्नि के बिना सोम निर्जीव है और सोम के बिना अग्नि अरूप रहता है। सोम से ही भूतात्मक शरीर का निर्माण गर्भित मातृ कुक्षि या गर्भ में किया जाता है। अग्नि रूप इन्द्र को सोम की उपलब्धि ही उसकी पूर्णता है।

सोम की व्याख्या

सृष्टि के मूल-भूत शक्ति तत्त्व को वेदों में पारमेष्ठय समुद्र कहा गया है। वही ऋत है—**ऋतमेव परमेष्ठि** उस महतो महीयान् अखंड समुद्र की उर्मियां या लहरें ही विश्व का ओजायमान जीवन प्रवाह है। उस महासमुद्र की तुलना में एक-एक विश्व एक ऊर्मि या एक मध्यविन्दु है। उस मध्यविन्दु की निरन्तर आहुति सूर्य को प्राप्त हो रही है। उसी सोमाहुति से सूर्य का जीवन संचालित है। सूर्य की एक संज्ञा इन्द्र भी है। सूर्य अपने विश्व का केन्द्र या मध्यप्राण या इन्द्र है। पारमेष्ठय की सोम, अजस्र धारा ही सूर्यरूपी इन्द्र का विराट् सोमपान है। समष्टि विज्ञान के एकाकार अखंड संस्थान में जो सृष्टि के नाना भावों का उदय होता है, वही उसका सोमपान या मातृसंपर्क है, जिससे व्यष्टि का, अस्तित्व का संभव होता है। जहां अग्नि में सोम की आहुति नहीं, वहां तम या अंधकार व्याप्त रहता है अग्नि का निजी रूप कृष्ण है : वह अनभिव्यक्त है। सोम से ही उसमें प्रकाश उत्पन्न होता है। जो अग्नि काष्ठ या समिधा में व्याप्त है, वह कृष्ण है। अग्नि के संयोग से सोमरूप समिधा का समिन्धन ही ज्योति या शक्ति का अविर्भाव है। सूर्य या इन्द्र द्युलोक का अधिपति है। **'द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी'** का यही तात्पर्य है। जहां इन्द्र है वही द्युलोक है और जहाँ द्युलोक है वहां इन्द्र की सत्ता अवश्य है। कोई ऐसी पृथिवि नहीं जिसका निजी द्युलोक न हो। जो स्थूल दृष्य है वह भौतिक रूप पृथिवि है। उसी में अग्नि का पार्थिव रूप दिखाई पड़ता है। उस पृथिवि के आधार पर स्थित अग्नि का जो विरल रूप है वहीं द्युलोक का इन्द्र तत्व है। उससे अन्ततः उत्पन्न होने वाली जो मन की विचार शक्ति या ज्योति है वह उसका विरल रूप है। वही इन्द्र है।

शीर्ष भाग में वह ज्योति का लोक है। उसे ही ज्योति से आवृत स्वर्ग कहा जाता है। जहाँ मनस्वान् इन्द्र का अधिष्ठान है। जैसे व्यष्टि में मन है, वैसे ही समष्टि ब्रह्माण्ड में विज्ञानात्मा सूर्य है। वहां सूर्य से स्थूल भौतिक सूर्य का ग्रहण नहीं करना चाहिए। सूर्य का स्थूल भूतात्मक अंश तो उसका पार्थिव भाग है। उस पार्थिव लोक पर अधिष्ठित विज्ञान या बुद्धि तत्त्व ही सूर्य का द्युलोक है। यह बुद्धि ही प्रज्ञा या धी तत्व है। मस्तिष्क का जो स्थूल रूप है वह उसका पार्थिव भाग है। उसी संस्थान के द्वारा प्रज्ञा भाग प्रकाशित होता है। यही नियम प्रत्येक प्राणि-केन्द्र में चरितार्थ हो रहा है। जो सूर्यगत प्रज्ञातत्व या प्राण है उसे निरन्तर सोम चाहिए। इन्द्र ने अपना परिचय देते हुए 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' कहा है। प्राणमय संस्थान में अभिव्यक्त प्रज्ञात्मक चितितत्व ही इन्द्र है। यही विश्व में जीवन की अभिव्यक्ति है जो मानव है। अन्यथा तीनों में तीनों है। प्रत्येक त्रिवृत् सृष्टि है।

अश्व का प्रतीक

सूर्य के एक ओर परमेष्ठी है, दूसरी ओर पृथिवी। पारमेष्ठय समष्टि सोम और पार्थिव व्यष्टि दोनों सूर्य की सत्ता के लिए आवश्यक हैं। सूर्य अपनी रश्मियों से जहां भी पृथिवी पर सोम है, प्रत्येक तृण और जलाशय से उसका संग्रह करता है। मेघों के रूप में सोम के विशाल द्रोण कलश भौतिक सूर्य के चारों ओर आकाश में संचित हो जाते हैं। वही सोम अभिवर्षण द्वारा पुनः पृथिवी पर आता है। उससे ओषधि—वनस्पतियों का जीवन चक्र प्रवर्तित होता है। इसी सोमाहुति परम्परा से अन्त में पुरुष का निर्माण होता है। जहां सोम की आहुति है वहीं भूत की अभिव्यक्ति या भूतात्मक शरीर की रचना होती है। भूतात्मक देह की संज्ञा ही 'दधि' है। इस दधि का निर्माता ही दध्यङ् अथर्वा अग्नि है। जिसे सोमविद्या का रहस्य ज्ञात है। दध्यङ् अथर्वा मूल आग्नेय प्राण है। उसके द्वारा सोम का रहस्य दो अश्विनीकुमारों को प्राप्त होता है। प्राणायान का द्विधा विभक्त क्रम ही अश्विनी है। जब तक शरीर में अश्विनी-कुमारों का निवास है तभी तक उसका गति से सम्बन्ध रहता है। गति का वास्तविक रूप समञ्चनप्रसारण है।

गति के दो रूप हैं, एक गति दूसरा आगति। गति आगति का युग्म ही एक अश्व के दो रूप हैं, जिन्हे अश्विनी कहा जाता है। ये अश्विनी वस्तुतः विराट् विश्व और व्यष्टि शरीर दोनों के लिए आवश्यक हैं। विराट में गति का स्रोत सूर्य है। सूर्य की शक्ति ही व्यष्टि में सूर्या है। सूर्य का वर सोम है। सोम और सूर्य का प्रतिक्षण विवाह, विवाह ही जीवन और प्राण है। सोम के सहयोगी अश्विनी हैं। यदि किसी संस्थान में अश्विनी रूप प्राणायान का द्विविध स्पन्दन नहीं है तो उसमें सोम या मधु का पाचन नहीं हो सकता।

आख्यान के रूप में कहा जाता है कि अश्विनीकुमार वधु-कामुक सोम के सहयोगी है; अथवा उनके रथ पर बैठकर सूर्य की पुत्री सूर्या अपने पति के यहां जाती है। यदि विराट् सूर्य की ब्राह्माड-व्यापी शक्ति का एक अंश हमें प्रतिक्षण न मिले, यदि हमारे जीवन का स्वस्तिक विश्वस्वस्तिक के साथ संतुलन न रहे तो जीवन का रथ नहीं चल सकता। उसमें विषमता उत्पन्न हो जायेगी जो उसकी गति कुंठित कर देगी। एतएव सूर्य-सूर्या-सोम अश्विनी की कथा का रहस्य सस्पष्ट है।

इसका ही परिवर्तित या उपबृंहित रूप विवस्वान्-सूर्य और सरण्यू-छाया की कहानी है। सूर्य की पुत्री या दुहिता शक्ति ही सरण्यू या उसकी छाया है। यह छाया प्रत्येक चिदंश या जीव को प्राप्त हो रही है। ईश्वर आतप और जीव छाया रूप है। विराट् प्राण सूर्य और वृष्टि प्राण छाया है। इसी छाया ने अश्वा

का रूप धारण किया और सूर्य ने अश्व का। उनके सम्मिलन से दो अश्विनी कुमारों का जन्म हुआ जो प्रत्येक जीवन—केन्द्र या शरीर संस्था के सञ्चालक हैं। एक ही मूलभूत तत्त्व की द्विविध कल्पना इन आख्यानों में पाई जाती है। सबसे रहस्यात्मक शक्ति तो प्राण या जीवन है। समष्टि जीवन का व्यष्टि जीवन के साथ जो स्थिर और फलवान् सम्वन्ध है उसको वताना ही वैदिक आख्यान का लक्ष्य है।

अश्व और अश्वा शब्द सृष्टिविषयक भावों के प्रतीक हैं गतितत्व का स्थूल प्रतीक अश्व है। सूर्य ही विराट् अश्व है जिसके मेघ से यह विश्व विरचित हुआ है। और नित्य रचा जा रहा है। यह अनादि अनन्त अश्वमेध है। विराट प्राण ही विराट् अश्व है। उस विराट शक्ति के एकत्र संचय या यज्ञ से ही विश्व की रचना होती है। सूर्य ही अपनी सहस्र रश्मियों से प्राणों को समन्वित और प्रसारित करता हुआ यज्ञ का विधाता है। सूर्य सापेक्ष काल या संवत्सर का प्रतीक है। संवत्सर प्रजापति के घूमते हुए चक्र की संज्ञा सूर्य है। सूर्य स्वयं महाकाल का अभिव्यक्त रूप है। यह अभिव्यक्त सापेक्ष काल ही हमारे वर्ष, अयन, ऋतु, मास, पक्ष अहोरात्रों के रूपों में प्रतिपल प्रकट हो रहा है। इनकी उपलब्धि ही जीवन है। काल के ये खण्ड जव तक हमें प्राप्त होते रहते हैं तव तक आयुष्य का अमृत-सत्र चलता रहता है।

महाकाल की दृष्टि से एक ही उषा है। सापेक्ष काल की दृष्टि से जो अनेक उषाएँ हैं जो आती जाती रहती हैं। यही कालचक्र का परिभ्रमण है। वस्तुतः काल रूपी अश्व का जबसे आरम्भ हुआ तभी से यह उषा है। अतएव उषा काल के उपक्रम का एक छोर या सिरा है—**उषा वै अश्वस्य मेध्यस्य शिरः।** जो सिर या मस्तक है वही शरीर का एक छोर है। प्रत्येक उषा सूर्य की पुत्री है। वह किसी एक दिन थी, दूसरे दिन नहीं—ऐसा नहीं है। प्रत्येक क्षण उषा के आरम्भ का क्षण है। प्रत्येक क्षण में संवत्सर के आरम्भ की गणना की जा सकती है। काल के पटल पर जितने भी चिन्ह मानव ने अंकित किए हैं वे अपनी कल्पना के अनुसार हैं। वे ध्रुव नहीं, सापेक्ष हैं। अतएव शतपथ में यह कहा है कि संवत्सर उषा में अपने रेत का सिंचन करता है और उससे कुमार का जन्म होता है। वही कुमार रुद्र है। जो इन्द्र है वह अग्नि है।

(श० ६/१/३/३-१०)।

संवत्सर सविता है, उषा उसकी सावित्री शक्ति है। संवत्सर और उषा के संयोग से ही कुमार या प्राण या जीवन का जन्म होता है। प्रत्येक प्राणी का जीवन चक्र उसका अपना संवत्सर है। जितनी कालावधि में जो अपने जीवन का एक मंडल चक्र पूरा कर लेता है वही उसका जीवन चक्र या संवत्सर चक्र है।

अग्निरूपी अद्भुत कुमार या चित्त शिशु

प्रत्येक बीज के अभ्यन्तर में यह अग्नि रूपी प्राणतत्व सोया हुआ रहता है। जब वीजाधान किया जाता है तब मातृ कुक्षि में वह जीवन केन्द्र जागृत हो जाता है। उसका वह जागरण ही जीवन का आरम्भ या यज्ञ का उपक्रम है। वही कुमार का जन्म है। यही कुमार अग्नि भी कहा जाता है और इसी की संज्ञा इन्द्र है। समिन्धन या समिद्ध अग्नि ही इस कुमार का जागरण या सदन भी कहलाता है। अशनाया तत्त्व की संज्ञा रुदन है। बालक अन्न के लिए रोता है। ऐसे ही प्राणरूपी अन्नाद अग्नि जन्म लेते ही अन्न या सोम के लिए रोता है। ऐसे ही प्राणरूपी अन्नाद अग्नि जन्म लेते ही अन्न या सोम के लिए व्याकुल हो पड़ता है। इसी अशनाया या अन्न ग्रहण की इच्छा को ब्राह्मण ग्रन्थों में रुदन कहा गया है। पृथिवी और द्युलोक के मध्य में जितनी प्राणसृप्ति है, वनस्पति पशु, मानव जिसके विविध रूप हैं, उस सबको रोदसी सृष्टि कहते हैं। रोदसी में सर्वत्र अन्न-अन्नाद एवं स्त्री पुरुष का नियम व्याप्त है। पुष्टि और प्रजनन के दो लक्षण हैं। अग्नि से पुष्टि और इन्द्र से कामात्मक प्रजनन संभव होता है। दोनों के मध्य में प्राणात्मक शक्ति वायु है।

जहाँ जीवन है वहाँ तीन नियम कार्य करते है। एक तो अन्न-अन्नाद या अशनाया का नियम है। इसी से स्थूल भौतिक देह का निर्माण होता है। यही अग्नि देवता पार्थिव क्षेत्र है। दूसरा नियम श्वास—प्रश्वास की क्रिया है। प्राण की धौंकनी से ही अन्न का ग्रहण और परिपाक होता है। प्राणन क्रिया बीच में होने से अन्तरिक्ष लोक का वायु देवता है। इसी में तीसरी अवस्था प्रजनन की है। जिसके कारण प्रत्येक बीज वृक्ष के रूप में परिवर्तित होता हुआ अन्त में पुष्प और फल के माध्यम से बीच सृष्टि में पर्यवसान पाता है। बीज से चलकर फिर वीज तक पहुंच जाना ही जीवन का पूरा चक्र है। जो बोया जाता है वह बीज या शुक्र है। उसका अन्तिम परिणाम भी वीज ही है।

समस्त रोदसी सृष्टि शुक्र—शोणित या बीज सृष्टि है सर्वत्र माता-पिता का द्वन्द्व आवश्यक है। अर्ध शरीर पुरुष, अर्ध शरीर नारी—यही प्राणसृष्टि है। इसमें प्रजनन की प्रक्रिया ही इन्द्र का रूप है। प्रजनन आनन्द की सर्वोच्च स्थिति है। उसका मूल काम है। काम मन का रेत या वीर्य है—

'कामस्तदग्रे समवर्ताधि मनसो रेतः प्रथम यदासीत्'

(ऋ० १०/१२९/४)।

मन एक रहस्यात्मक शक्ति है। मन ही इन्द्र है—यन्मनः स इन्द्रः

(गोपथ उ०४/१२) यो जात एवं प्रथमो मनस्वान् (ऋ० २/१२/१)—यह मनस्वान् इन्द्र ही सब देवों का अधिपति देव है। शरीर में मन ही सबसे महत्वपूर्ण दिव्य शक्ति है। इसे ज्योतियों की ज्योति एवं अमृत ज्योति कहा गया है। ऋषि ने प्रश्न किया है—

कवियमानः क इह प्रवोचद।
देव मनः कुतो अधि प्रजावम्॥
(ऋ० १/१६४/१८)।

जो कवि है और जो अपने दर्शन को छन्दों में निवद्ध करता है, वह जानता हो तो इस वात को वताये कि विश्व में मनरूपी देवता की सृष्टि कहाँ से और कैसे हुई।

सचमुच मन की रचना वहुत वड़ा रहस्य है। इन्द्रियां, प्राण और शक्ति के अन्य अनेक स्फुट रूपों का स्रोत और रहस्य मन में है। मन प्राण-वाक् (=पंचभूत) की समष्टि ही तो मानव या जीवन है। तीनों इन्द्र के रूप हैं जो द्युलोक अन्तरिक्ष—पृथिवी के अधिपति हैं। ये तीनों ही आदित्य वायु अग्नि देवता हैं। इन तीनों का एक सूत्र में नध जाना ही तानूनप्त्र सम्वन्ध कहलाता है। एक के भी अभाव में शरीर की स्थिति सम्भव नहीं रहती। इन तीनों में भी मन की महिमा सवसे विशिष्ट है। उपनिषद् के अनुसार तीन वस्तुएं आत्मा के लिये रची गईं। मन प्राण-वाक् को आत्मा की अभिव्यक्ति के लिए निर्मित किया गया है। जब मन अन्यत्र चला जाता है तो देखता सुनता नहीं। मन से ही व्यक्ति देखता है, मन से ही सुनता है। वस्तुतः काम संकल्प विचिकित्सा (संशय) श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, ह्री, धी, भय—ये सब मन के ही कुछ रूप है। वाङ्मय, मनोमय, प्राणमय प्रवृत्ति और क्रियाओं की समष्टि आत्मा है। (बृ० उप० १/५१३)।

जिसे प्रज्ञा या बुद्धि कहते हैं वह मन ही है। पुराणों ने इस रोचक विषय का और विस्तार किया। तद्नुसार क्षेत्रज्ञ पुरुष से अधिष्ठित प्रधान या प्रकृति से सर्वप्रथम महत् का प्रादुर्भाव होता है। गुणों के वैषम्य से ही नाना तत्त्व की सृष्टि होती है। इस महान् की अनेक संज्ञाएं हैं। जैसे मन, मति, बुद्धि, प्रज्ञा, चिति, स्मृति, संवित्, भू, ज्ञान आदि। सवको जानने और सवकी उपलब्धि करने के कारण मन को ही संवित कहा जाता है। जिससें द्वन्द्व है वे इस मन में ही घर बनाते हैं। इसलिए इसका एक नाम 'विपुर' है। लोक में मन ही सबका अधिपति और नियामक है, अतएव ईश्वर भी इसकी संज्ञा है। यही सबसे बृहत् है। अतएव ब्रह्मा इसकी संज्ञा है। यह उत्पन्न होता है, अतएव भव है। शरीर

रूपी पुर में निवास करने के कारण यही पुरुष है। विराट् में इसकी स्वयं सत्ता सबसे पूर्व विद्यमान है। अतएव यह स्वयम्भू भी कहा जाता है। सब कार्यों का स्मरण करने से यही स्मृति है। भोग्य पदार्थों का चयन करने के कारण इसे चिति भी कहते हैं। प्रत्येक में जो बोध शक्ति है, वह बुद्धि मन ही है। भूतमात्रा से भूतों का अपने भीतर भरण कर लेता है, प्राणमात्रा के रूप में भूतों के पृथक्-पृथक् विभागों को बांटता है और प्रज्ञामात्रा के रूप में सबका ज्ञान रखता है।-- ऐसी विलक्षण रहस्यमयी शक्ति मन है। "बिर्भात मान मनुते विभाग मन्यतेऽपि च," (वायु० ४/२/५०)। यजुर्वेद में शिव-संकल्प मन्त्रों के अनुसार प्रजाओं के अन्त: करण में निवास करने वाला यह मन अदभुत यक्ष है, जो कभी विश्राम नहीं लेता, सदा काम में व्यापृत रहता है, जिसमें अनन्त शक्ति है, जो जागृत स्वप्न अवस्थाओं में अपनी दुरंगम प्रवृत्ति का परिचय देते हुए कभी बाहर जाता है कभी भीतर लौट आता है, जो नश्वर भूतों में रहते हुए स्वयं अमर ज्योति है, प्रज्ञान, चिति, धृति, चित जिसके अनेक रूप हैं, ऋक्-यजु-साम जिसकी नाभि या केन्द्र में पिरोए हुए है, भूत-भविष्य-वर्तमान की समस्त रचना जिसके अन्तराल में परिगृहीत है, जिसके बिना कोई कर्म करना संभव नहीं, यज्ञों में और सभाओं में होने वाले मानवों के कर्म जिस पर निर्भर हैं, जिसका स्वरूप अजर है और वेग सबसे अधिक है—ऐसा विचित्र मन प्रजापति की सृष्टि में सबसे रहस्यमयी रचना है। यह मन ही इन्द्र तत्व है। मन की शक्तियों का भी क्या कहीं अन्त है ? 'यदि यह पृथिवी दस गुनी बड़ी हो जाय और प्रतिदिन मनुष्य संख्या बढ़ने लगे तो भी रुद्र की बृहण शक्ति का वामी अन्त नहीं होगा।' (ऋ० १/५२/११) ऐसा जो समष्टि मन है, उसी का एक अंश हमारा व्यष्टि मन है जो प्रत्येक व्यक्ति केन्द्र में स्फुट हुआ है। यह अभिव्यक्ति ही मानव का जीवन है। यही इन्द्र की प्रतिरूपता है—**रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव**। विश्व का बड़ा या छोटा कोई रूप ऐसा नहीं जो इन्द्र के बिना बन सके। इन्द्र की नाभि बैठा हुआ नभ्य प्राण है। मन के रूप में प्रतिष्ठित उसी केन्द्र से प्राणों की रश्मियाँ चारों ओर छिटकती हैं जिनसे व्यक्तित्व रूपी मंडल का विधान बनता है।

इन्द्र और असुर

इन्द्र अपने मंडल का अधिपति है। यह विश्वकर्मा विश्वदेव है (ऋ० ८/११/२)। वह धर्मकृत है (ऋ० ८/१८/१) अर्थात् अपने मंडल में मर्यादा का पालन कराने वाला है। जहाँ तक इन्द्र की सत्ता है, कोई असुर उसका घर्षण नहीं कर सकता। असुरों का पराभव इन्द्र का अपराजित यश है।

जहाँ इन्द्र का मंडल है उस पर असुरों का आक्रमण होता रहता है। इन्द्र और असुर दैवी और आसुरी वृत्तियों के प्रतीक हैं। इन्द्र अपने मंडल का राजा

है। वह असुरों का प्रवेश नहीं चाहता। असुर उसके मंडल में बलपूर्वक प्रवेश कर जाना चाहते हैं। इन्द्र और वृष के संघर्षों को दैवासुरम कहा जाता है। दैवासुरम की लीला भूत, प्राण, मन इन तीनों क्षेत्रों में हो रही है। वस्तुत: सृष्टि के मूल में दो प्रधान तत्त्व हैं—एक आकर्षण, दूसरा विकर्षण। मित्र और वरुण का सम्बन्ध पारस्परिक आकर्षण पर आश्रित है। इनके भी अपने-अपने मंडल हैं। मित्र को आंगिरस और वरुण को भार्गव कहते हैं। पर ये दोनों मंडल माता-पिता की तरह एक दूसरे को अपनी ओर खींचते हैं। इसके विपरीत इन्द्र और वृत्र एक दूसरे को परे फेंकते हैं। उनमें विकर्षण का नियम काम करता हैं। विकर्षण या विरोध ही वैर है। आकर्षण से शृंगार और विकर्षण से वीर रस का जन्म होता है। इन्द्र सबसे महान् वीर है। जो वीर है उसे असुरों को पराजय करना ही चाहिए। विजयी युद्ध से ही वीर की चरितार्थता होती है। प्रसुप्त शक्ति का संघर्ष के लिये जागरण ही उसका वीरण है। एक बार जब इन्द्र को युद्ध का नायक कल्पित किया गया तो उसके वाहन, आयुध, सेना आदि अनेक उपकरणों का वर्णन रोचनात्मक अर्थवाद है। इन्द्र अपने रथ में दो अश्वों का संयोजन करता है।—'योजानन्विन्द्र ते हरी' ऋषि ने प्रश्न किया है—कौन इन्द्र के हरी अश्वों को जानता है—हरी इन्द्रस्य नि चिकाय कः स्वित(ऋ० १०/११४/६)। कहा है—ऋक्सामे वै इन्द्रस्य हरी—ऋक् और साम ही इन्द्र के दो अश्व हैं (ऐ० ब्रा० २/२४)। ऋक् और साम को रथ में जोड़कर ऋषि उसका संचालन करते हैं—

'यज्ञं विमाय कवयो मनीष ऋक्सामाग्यं प्ररथ वर्तयन्ति।' यज्ञ ही रथ है। जिसे विमित किया गया है, अर्थात् मात्रा या नाप-जोख के अनुसार जिसका पञ्जर-संस्थान रचा गया है। इस यज्ञीय रथ को गति देनेवाले इन्द्र के दो अश्व हैं और इसकी व्यवस्था करने वाले मनीषी कवि हैं। प्रत्येक का शरीर ही देवरथ या इन्द्ररथ है। मन रूपी प्रज्ञातत्त्व का अधिष्ठाता इन्द्र इस रथ का नियामक है। ऋक् और साम वाक और मन के, प्राण और अपान के या दो अश्विनी के गति या आगति के प्रतीक हैं। इन्द्र को मण्डल का व्यास ऋक् और घेरा या परिधि साम कहा जाता है।

वस्तुत: इन द्वन्द्वों का अन्त नहीं है। समस्त रचना ऋक्-साम का वितान है। और परिधि को ही वृत का विस्तार समझना चाहिए। मंडल छोटा हो या बड़ा उसका केन्द्र बिन्दु सदृश रहता है। उस केन्द्र में स्थिति के धरातल पर गतितत्त्व प्रतिष्ठित रहता है। केन्द्र-बिन्दु या स्थिति-गति के सम्मिलित रूप को यजु कहा जाता है। यजु में यत् और जू के दो प्रतीक हैं। 'यज्जू' ही सांकेतिक भाषा में यजु कहा जाता है। यज्जू में 'यत्' गति और जू स्थिति तत्त्व का प्रतीक है। इन्हीं सांकेतिक परिभाषाओं को और आगे बढ़ाते हुए गति को वायु और स्थिति को आकाश

भी कहा जाता है। इस प्रकार स्थिति तत्त्व, गतितत्त्व और अगति-तत्त्व इन तीनों के सम्मिलन से वर्त का मूर्त्त रूप या मंडल का संपूर्ण रूप बनता है। मंडल ही जीवन की इकाई है। प्रत्येक शरीर एक-एक मंडल है।

मंडल ही पुर या राष्ट्र है। मुख्य प्राण इन्द्र मंडलेश्वर है, अन्य सब प्राण उसके समन्त कहे जाते हैं। इन्द्र का असुरों से सदा युद्ध भी रहता है क्योंकि मंडल की रक्षा का दायित्व इन्द्र पर रहता है। पर वस्तुतः वेदों और ब्राह्मणों में जो युद्धों के वर्णन हैं, वे सब रोचक अर्थवाद हैं। इन्द्र तो अशत्रु उत्पन्न हुआ है— अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे, (ऋ० १०/२८६)। इन्द्र के वलों की कहानी माया है। न उसका कोई शत्रु पहले था न आज है—

यदचरतन्वा वावृधानों बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु।
मायेत्सा ये तानियुद्धान्याहुर्नाघ शत्रु न पुरा विवित्से॥
(ऋ० १०/५४/२)

शतपथ में भी इसी की व्याख्या करते हुए कहा है—

नैतदस्ति यदैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वत् उद्यते इतिहासे त्वत्। (शत. ११/१/२/१७)।

आख्यानों में और इतिहासों में जो देवों और असुरों के युद्ध की कहानियाँ कही जाती है, उनमें घटना की तथ्यात्मक सचाई नहीं देखनी चाहिए। वे वर्णन तो अर्थवाद रूप हैं। वे सृष्टि विद्या के प्रतीक हैं। इन वर्णनों में इतिहास की खोज व्यामोह है। वृत्र, बल, शम्बर, पासि—ये असुर ऐतिहासिक नहीं : ये तो आसुरी भावों के प्रतीक हैं। जैसे इन्द्र कोई पुरुष विशेष नहीं, ऐसे ही असुर भी जातीय पुरुषों के नाम नहीं। दैवासुरम की कल्पना सृष्टि के ज्योति और तम का संघर्ष है। वृत्र एक है और अनेक भी हैं, इसलिये उसे 'वृत्राणि' भी कहा जाता है। इन्द्र की शक्ति का अवरोधक वृत्र है—सर्व वृत्वा शिश्ये जो सबको घेर कर बैठ गया वही आवश्यक तत्व वृत्र है। वृत्र का निराकरण इन्द्र का सबसे बड़ा कर्म है। इन्द्र वृत्र वृत्रहन् हैं। इन्द्र की विजय शाश्वत है। वह जेता और अपराजित है। 'जितं ते' कहकर उसे प्रणाम किया जाता है। सूर्य प्रकाश का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतीक है। सूर्य और प्रकाश पर्याय है। इन्द्र सूर्यमरोचयत् (ऋ० ८/३/६), अर्थात् इन्द्रत्व के कारण सूर्य में अग्नि ही 'इन्द्र या इन्ध' है। प्रत्येक व्यक्ति महान् अश्वत्थ वृक्ष की एक शाखा है। इस शाखा में अग्नि गर्भित हैं। शाखा का ज्वलनशील होना ही जीवन है। सौ वर्ष की अवधि तक जलने के लिए जीवन या प्राणरूपी समिधा या शाखा का प्रकृति का निर्माण करती है। इस ओर अर्ज इस शाखा को जीवन के लिए अन्न और शक्ति प्रदान करते हैं। यह शाखा कटी

हुई नहीं है। इसकी अव्यक्त जड़ सदा हरी रहती है। अतएव वह शाखा फलती फूलती हैं। मधु या सोम चखकर जीवित रहने वाला मध्वद, सुपर्ण या जीव इन शाखा पर रहता है और प्रसव करता है। जो एक सुपर्ण की गति है, वही सब सुपर्णों के जीवन-चक्र का नमूना है।

इन्द्र और श्वा

ऋग्वेद में इन्द्र को 'शुन हुवेम् मघवानमिन्द्रम' (ऋ० ३/६/६/३/३०/२२) आदि मंत्रों में श्वा कहा गया है। इन्द्र भौंकने वाला कुत्ता है, यह भी विचित्र कल्पना है। इसके पीछे तत्त्वात्मक संकेत है जो अमृत आकाश है, इन्द्र उसका अधिष्ठाता है इसे ही परमव्योम कहते हैं। परमव्योम में परा वाक् या अमृता वाक् का स्रोत है। उसी की भूतात्मक अभिव्यक्ति भौतिक आकाश के रूप में होती है। आकाश का गुण शब्द है। शब्द ही वाक् है। जो शब्द या वाक् है, वही ब्रह्म है। वेदों में वाग्ब्रह्म का पूरा दर्शन ही है—यावद ब्रह्म विष्ठित तावती वाक् (ऋ० १०/११४/८) परा वाक् और अपरा वाक् यही विश्व सृष्टि है। जहां आकाश है वहीं शब्द है। जो परमाकाश या अमृत आकाश है वही वैयाकरणों द्वारा स्फोट और ऋग्वेद में गौरी वाक् या चतुष्पदा वाक् का पहला 'परा' नामक चरण कहा जाता है। इसी आकाश तत्त्व का अधिष्ठातृ-देव इन्द्र है। आकाश में अनन्त शब्द भरा हुआ है। स्तनयित्नु मेघ शब्द से लेकर नानावागात्मक शब्दों का उद्गम आकाश है। यही इन्द्र का भौंकता हुआ कुत्ता है। श्वान तो एक प्रतीक है। जैसे स्तनयित्नु मेघगर्जन प्रचण्ड शब्द सहसा उत्पन्न करता है, ऐसे ही कुत्ता अपने कण्ठ में अकस्मात् शब्द का ढेर उत्पन्न करता है। अतएव श्वा आकाश का का प्रतीक है, सरमा देवशुनी वाक की संज्ञा है। जो सृष्टि व्यापनी शक्ति का मूल सरस्वान समुद्र है, जिसे ब्रह्मसर भी कहते हैं, उसी के जलों का मापन व्यष्टि रचना में होता है। प्रत्येक व्यक्तिगत शरीर एक कमण्डल है जिसमें उस सरस्वान समुद्र का सलिल भरा हुआ है। यही सर-मा का शब्दार्थ है सरमा ब्रह्मवादिनी है। जैसे आम्भृणी, सरस्वती आदि वाक् की संज्ञाएं हैं ऐसे ही सरमा हैं। सरमा इन्द्र की गतिविधि से परिचित है। आकाश का गर्जन या शब्द इन्द्र का वज्र है। भौतिक आकाश मानो परमव्योम या अमृताकाश रूपी सरस्वान समुद्र का फेन है। शब्द तन्मात्रा ही सृष्टि का मूल है। पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश में आकाश सबसे सूक्ष्म है। वाक्-तत्त्व आकाश नाम का पहला भूत है। वह मर्त्या वाक है उससे ऊपर जो ब्रह्मतत्त्व है वह अमृता वाक् कहा जाता है। मर्त्या वाक् इन्द्र की माया इन्द्राणी या शचि शक्ति है अमृतावाक् स्वयं इन्द्र है। केवल शब्द की और पंजीकृत पंचभूतों के समुच्चय को भी वाक् कहा जाता है। पंचभूतों का मूल उपादान वाक् है। देवश्वा और देवशुनी प्रतीकों का यही अभिप्राय

है। शब्दात्मक आकाश के रूप में इन्द्र की सत्ता का हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। अव्यक्त रूप में इन्द्र नभ्य आत्मा है। सृष्टि में उसी का वितान होता है। यही परिवृंहती यह समृद्ध रूप उसका श्वा रूप है। 'यद्धं समृद्धं तच्छुनम्' (श० ७।२।२।६)। मूल आत्मतत्त्व का विस्तृत तूलभाव कितना अनन्त है, इसका पल्लवित वर्णन विज्ञान और दर्शन के शब्दों में मिलता है। वही शुन इन्द्र है। सर्वत्र उसमें शब्द का अधिष्ठान है।

इस प्रकार वेदों में इन्द्र का स्वरूप अनेक आख्यानात्मक वर्णनों और प्रतीकों के रूप में पल्लवित हुआ है। हमारे इस शरीरात्मक विश्व में प्रज्ञान रूपी इंद्र की महिमा सबसे अधिक और रहस्यात्मक है।

—'वेदवाणी' मे साभार

वैदिक काव्य

(ऋग्वेद में उपमाएं)

ऋषि—मधुच्छन्दाः
देवता—इन्द्रः
छन्दः—विराडनुष्टुप
स्वरः—गान्धारः

गायन्ति त्व गायत्रिणोऽर्चयत्त्यर्कमर्किणः ।
ब्रह्मणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे ॥ —ऋक्० १/१०/१

सामगान करने वाले तेरे गीत गाते हैं। मंत्रों के ज्ञाता तुझे पूजा मानकर तेरी अर्चना करते हैं। हे असंख्य प्रज्ञ तथा असंख्यकर्मन् ! ज्ञानी जन अपने कर्मो और बुद्धि से तेरी महिमा को ऐसे ही फहराते हैं, जैसे बांस को ऊंचा उठाकर झंडा फहराया जाता है।

ऋषि—गृहत्समदः
देवता—अग्निः
छन्दः—गायत्री
स्वरः—षड्जः

विश्वा उत त्वया वयं धारा उदन्या इव । अति गाहे महि द्विषः ।
ऋक्० २/७/३

जैसे स्नानार्थी जल की धाराओं को तैर जाता है, वैसे ही हमें शत्रुओं और द्वेषवृत्तियों को तैर जाना चाहिए।

ऋषि—त्रित:
देवता—अग्नि:
छन्द:—निचृत्त्रिष्टुप्
स्वर—धैवत:

प्र ते यक्षि प्र त इयर्मि मन्म भुवो यथा वन्द्यो नो हवेषु ।
धन्वन्निव प्रपा असि त्वमग्न इयक्षवे पूरवे प्रत्न राजन् ।। ऋक् १०/४०१

हे अग्ने ! तू क्योंकि देवकार्यों के आह्वानों में सदा वन्दनीय है, इसीलिए मैं तुझे छवि प्रदान करता हूं। सनातनकाल से सबका शासन करने वाले राजन् तू यश करने वाले मनुष्य को उसी प्रकार शान्ति प्रदान करता है जैसे मरुभूमि में प्याऊ जल प्रदान द्वारा शान्ति प्रदान करता है।

ऋषि:—प्रभूवसुरांगिरस:
देवता—इन्द्र:
छन्द:—निवृत्रिष्टुप्
स्वर:—निषाद:

चक्रं न वृत्तं पुरुहूत वेयते मनो भिया मे अमतेरिदद्रिव: ।
रथादधित्वा जारिता सदावृध कुविन्नु स्तोषन्मघवन्पुरूवसु: ।।
ऋक्० ५/३६/३

हे बहुस्तुत, वज्रधर इन्द्र ! मुझ अल्पमति मत का मन रथ चक्र के समान सदा वृत्ताकार में भय से कांपा करता है। हे सदावहार परमैश्वर्यशालिन् ! क्या आप कृपा करके उसे अपने रथ पर नहीं बैठाओगे, जिससे वह आपकी भूरि-भूरि स्तुति करने लग जाये ।

ऋषि:—भारद्वाजोवार्हस्पत्य:
देवता—अग्नि:
छन्द:—पङ्क्ति:
स्वर:—पंचम:

त्वद्विश्वा सुभग सौभगान्यग्ने वि यन्ति वनिनो न वया: ।
श्रुष्टी रयिर्वाजो वृत्रतूर्ये दिवो वृष्टिरीड्यो रीतिरपाम ।। ऋक्० ६/१३/१

हे सुभग अग्ने ! जैसे वृक्ष से शाखाएं निकलती हैं, वैसे ही तुझसे सुलभ धन, शत्रु संग्राम में बल, द्युलोक से वृष्टि और जलों के प्रवाह—सौभाग्य रूप में प्राप्त होते हैं।

ऋषि:—भरद्वाजोवार्हस्पत्यः
देवता—इन्द्रावरुणौ
छन्दः—स्वराट्पङ्क्तिः
स्वरः—पञ्चमः

नू न इन्द्रावरुणा गृणाना पृङ्क्तं रयिं सौश्रवसाय देवा।
इत्था गृणन्तो महिनस्य शर्धोऽपो न नावा दुरिता तरेम् ॥
ऋक्० ६/६८/८

हे इन्द्र और वरुणदेव ! स्तुति करने पर सौभाग्यवर्धन के लिए हमें ऐश्वर्य से संयुक्त कीजिए। इस प्रकार आपकी सहायता से, आपकी महिमा का गान करते हुए हम दुःख और दारिद्रय को वैसे ही तर जाएं, जैसे नाव की सहायता से तैरकर नदी को पार कर लेते हैं।

ऋषि:—मेधातिथिः
देवता—विष्णुः
छन्दः—गायत्री
स्वरः—षड्जः

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥
ऋक्० १/२२/२०

ज्ञान प्रकाश दीप्त विज्ञजन, सर्वव्यापक उस प्रभु के प्राप्तव्य (अनुभवगम्य) परमपद को सदा देखते रहते हैं, जैसे द्युलोक में प्रकाशित सूर्य को हमारी आंख देखती रहती हैं।

ऋषि:—वसिष्ठः
देवता—इन्द्रः
छन्दः—सारनीयपंक्तिः
स्वरः—पंचमः

रायस्कामो वज्रहस्तं सुदक्षिणं पुत्रो न पितरं हुवे ॥
ऋक्० ७/३२/३

धन की कामना से मैं, दक्षिणा देने वाले उस वज्रधारी इन्द्र को याद करता हूं, बुलाता हूं, जैसे किसी भी दुःख में पुत्र पिता को बुलाता है।

वैदिक राज्य-तंत्र की रूपरेखा

आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति

भारतीय आर्य वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं। उनका विश्वास है कि सृष्टि के आरम्भ में भगवान् ने मनुष्य को सन्मार्ग दिखाने और कर्तव्याकर्तव्य का उपदेश करने के लिये वेद का उपदेश किया था। मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन, उसका कौटुम्बिक, सामाजिक और राष्ट्रिय जीवन किस प्रकार समृद्ध, उन्नत और सुखी बन सकता है इस सम्बन्ध में सब प्रकार का आवश्यक ज्ञान वेद में दिया गया है। इसीलिये भारतीय आर्यों की विचार-परम्परा में वेद को सब सत्य विद्याओं का पुस्तक माना जाता है। मनुष्य जीवन के सभी क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाली विद्याओं का आवश्यक ज्ञान वेद में दिया गया है ऐसा सभी भारतीय आचार्य और ऋषि-मुनि मानते आये हैं। भारतीय आर्यो के आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और दर्शन आदि सभी शास्त्र अपना उद्भव वेद से ही मानते हैं।

राजनैतिक क्षेत्र मनुष्य के जीवन से सम्बन्ध रखने वाला एक बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र है। राजनीति के सम्बन्ध में भी वेद में बड़ा ऊंचा और विस्तृत उपदेश दिया गया है। राज्य व्यवस्था के भली-भांति संचालन के लिये आवश्यक सभी प्रकार का ज्ञान वेद में दिया गया है। मनुस्मृति में, जोकि वेद के आधार पर लिखा गया राजनीति का एक महान् ग्रन्थ है, लिखा है कि जो व्यक्ति वेद को भलीभांति समझ और जान लेता है उसे सेनाओं के संचालन का ज्ञान हो जाता है, उसे राज्यों का शासन करना आ जाता है, वह दण्डनीति अर्थात् राजनीति और न्याय व्यवस्था का पण्डित हो जाता है और उसे सारे भूमण्डल के चक्रवर्ती राज्य के संचालन का भी ज्ञान हो जाता है (मनु० १२/१०)। ऋषि दयानन्न प्राचीन ऋषि-मुनियों की परम्परा के एक महान् ऋषि थे। उन्होंने अपने महान् ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में वेद की शिक्षाओं का निचोड़ दिया है। सत्यार्थप्रकाश के छठे समुल्लास में ऋषि दयानन्द ने राजधर्म का प्रतिपादन

किया है । इस समुल्लास में ऋषि ने वेद और वेदानुकूल शतपथ ब्राह्मण और मनुस्मृति के प्रमाण देते हुए वैदिक राजनीति का एक अति उज्ज्वल चित्र उपस्थित किया है । उसके आधार पर तथा वेद के कुछ अन्य प्रमाणों के आधार पर वैदिक राज्य-तंत्र का एक अति संक्षिप्त रूप इन पंक्तियों में अंकित करने का प्रयत्न किया जा रहा है ।

ऋषि ने सत्यार्थप्रकाश और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेद के आधार पर लिखा है कि राजा को निरंकुश, एकतंत्र और वंशानुगत शासक नहीं होना चाहिये । उसे प्रजो द्वारा चुना हुआ शासक होना चाहिये । और इस प्रकार उसे प्रजा के अधीन रहना चाहिये । राज्य के उत्तम संचालन के लिये राज्य में तीन सभायें होनी चाहियें । विद्यार्य सभा, धर्मार्य सभा और राजार्य सभा ये नाम ऋषि ने इन सभाओं के दिये हैं । इन सभाओं के नामों में आर्य शब्द यह सूचना देता है कि इन तीनों सभाओं के सदस्य आर्य अर्थात् श्रेष्ठ, परोपकारी और धार्मिक प्रकृति के विद्वान् होने चाहियें जो उस सभा से सम्बन्ध रखने वाले विषयों के विशिष्ट ज्ञाता हों । 'विद्यार्य सभा' राज्य में विभिन्न विद्या-विज्ञानों की उन्नति, प्रचार और आविष्कार का काम करेगी । 'धर्मार्य सभा' चरित्र निर्माण और न्याय व्यवस्था के संचालन का कार्य देखेगी । 'राजार्य सभा' में शासन व्यवस्था के संचालन के लिये नियम और कानून बनाने का कार्य होगा । राजा को इन तीनों सभाओं को सलाह और सहयोग से कार्य करना चाहिये ।

वेद में राजा का प्रजाओं द्वारा चुना हुआ होने का वर्णन स्थान-स्थान पर किया गया है । **"त्वां विशां वृणतां राज्याय"**—अथर्व० ३/४/२; **"सर्वाः संगत्य बरीयस्ते अक्रन्"**—अथर्व० ३/४/७; अर्थात् "हे राजन् सारी प्रजायें राज्य करने के लिये तुम्हारा चुनाव करें", और "हे राजन् सब प्रजाओं ने मिलकर तुम्हारा चुनाव किया है", इस प्रकार के वाक्य वेद के राजनीति सम्बन्धी प्रकरणों में भरे पड़े हैं । जितने चाहें ऐसे प्रमाण वेद से उद्धृत किये जा सकते हैं । स्थानाभाव के कारण यहां वैसा कर सकना सम्भव नहीं है ।

ऋषि दयानन्द ने राजा की तीन सभाओं का वर्णन किया है । वेद में भी राजा की सभाओं का वर्णन है । वेद में राजा की दो सभाओं का उल्लेख मिलता है । अथर्ववेद के सातवें काण्ड का १२वां सूक्त इस सम्बन्ध में विशेष रूप से देखने योग्य है । उस सूक्त में राज्य की राष्ट्रसभा का वर्णन है । सूक्त में राष्ट्र-सभा के दो सदनों का वर्णन किया गया है । एक सदन का नाम **"सभा"** है और दूसरे सदन का नाम **"समिति"** है । सभा और समिति के सदस्यों को अथर्ववेद के इस सूक्त में **"पितरः"** का नाम दिया गया है । राजसभा के सदस्य क्योंकि राष्ट्र की रक्षा और पालना करते हैं इसलिये उनका **"पितरः"** यह नाम बड़ा भावपूर्ण है । सभासदों के **"पितरः"** नाम से यह भी सूचना मिलती है कि

राजसभा राजा के भी ऊपर है क्योंकि राजा के भी असल में रक्षक और पालक तो राजसभा के सदस्य ही हैं। स्थानाभाव के कारण इस सूक्त की विस्तृत व्याख्या और विवेचना यहां नहीं दी जा सकती। वेद के और भी कितने हो स्थलों में "सभा" और "समिति" नामक राष्ट्र सभा के इन दो सदनों का उल्लेख आता है। राष्ट्रसभा के "सभा" नामक सदन में जो सदस्य चुने जाते हैं उनमें राष्ट्र की जनता का प्रतिनिधित्व राष्ट्र के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण के लोगों की संख्या के अनुपात से होगा। अर्थात् उसमें वैश्य वर्ण के लोगों की संख्या सबसे अधिक होगी क्योंकि राष्ट्र में वैश्यवृत्ति के लोग ही सब से अधिक संख्या में होते हैं। और इसीलिये वेद में प्रजा का एक नाम ही "विशः" है जो कि प्रजा में वैश्यों की बहुलता की सूचना देता है "समिति" नामक सदन में ब्राह्मण वर्ण के लोगों की संख्या अधिक रहेगी। ब्राह्मण लोग वे लोग होते हैं जो विद्या और चरित्र की दृष्टि से तो श्रेष्ठ होते ही हैं, साथ ही उनके पास कोई विशेष निजी भौतिक सम्पत्ति भी नहीं होती, और इसी लिये उनके द्वारा जो कानून बनाये जायेंगे उनके निर्माण में लोक-कल्याण की भावना ही काम करेगी, निजी तुच्छ स्वार्थ की भावना नहीं। इस प्रकार वैदिक राज्य में राजा प्रजा द्वारा चुना हुआ व्यक्ति होता है और उसे राजकार्य में सहयोग और मार्गदर्शन देने के लिये राजसभा भी प्रजा द्वारा ही चुनी हुई होती है तथा राजा के ऊपर राजसभा का अंकुश और नियन्त्रण रहता है।

वेद के अनुसार राज्य तीन प्रकार के होंगे। सबसे पहले तो छोटे-छोटे मांडलिक राज्य होंगे। इनके प्रधान शासक के लिये राजा और उसके पर्यायवाची नृपति आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। इन छोटे मांडलिक राज्यों की भी अपनी अपनी राजसभायें होंगी और उनके भी "सभा" और "समिति" नामक दो-दो सदन होंगे। इन माण्डलिक राज्यों के ऊपर बड़े राज्य होंगे। इन बड़े राज्यों के प्रधान शासक का नाम वेद में इन्द्र और सम्राट् दिया गया है। सम्राट् की अपनी राजसभा होगी। और उसके भी "सभा" और "समिति" नामक दो सदन होंगे। ऋषि दयानन्द ने राजा की विद्यार्य सभा, धर्मार्य सभा और राजार्य सभा नामक तीन सभाओं का उल्लेख किया है। वेद में और मनुस्मृति आदि राजनीति के ग्रन्थों में ये तीन नाम नहीं मिलते। वेद में "सभा" और "समिति" ये नाम ही मिलते हैं। ऋग्वेद (३/३८/६) में "त्रीणो सदांसि" ये शब्द आते हैं जिनकी व्याख्या में ऋषि ने विद्यार्य सभा आदि तीन सभाओं के नाम लिखे हैं। परन्तु उक्त तीनों नाम वेद में उपलब्ध नहीं होते। ये तीन सभायें ऋषि की अपनी कल्पना हो सकती हैं जोकि बड़ी सुन्दर और महत्वपूर्ण हैं। वेद में राजसभा के "सभा" और "समिति" ये दो नाम ही आये हैं। ऋग्वेद (३/३८/६) के "त्रीणी सदांसि" की व्याख्या एक तो वह हो सकती है जो

ऋषि ने की है और एक व्याख्या यह भी हो सकती है कि सभा और समिति नामक दो सभायें और एक मंत्रिमण्डल। किसी राज्य के संचालन के लिये, विशेषकर प्रजातन्त्रात्मक पद्धति से चलने वाले राज्य के लिये जिसे वेद और ऋषि दयानन्द स्वीकार करते हैं, किराजसभा का होना नितान्त आवश्यक है। और वेद में इस सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश दिये गये हैं।

ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में यजु० ९/४० मन्त्र की व्याख्या करते हुए चक्रवर्ती राज्य का उल्लेख किया है। ऋषि ने वहीं मनुस्मृति के सातवें अध्याय के ११९वें श्लोक की व्याख्या करते हुए चक्रवर्ती राजसभा का भी उल्लेख किया है। ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में चक्रवर्ती राज्य की कल्पना स्थान-स्थान पर मिलती है। ऋषि के मन्तव्य के अनुसार जो कि स्पष्टतः वेद पर आधारित है, सारी धरती का एक सार्वभौम या चक्रवर्ती राज्य भी होना चाहिये। ऐसा सार्वभौम या चक्रवर्ती राज्य होने पर ही धरती के राष्ट्रों के आपसी झगड़े कलह और विवाद मिट सकते हैं। चक्रवर्ती राज्य की भी एक राजसभा होनी चाहिये जिसका नाम ऋषि ने सत्यार्थप्रकश के छठे समुल्लास में चक्रवर्ती महाराजसभा लिखा है। वेद में भी अनेक स्थानों पर ऐसे स्पष्ट निर्देश और उल्लेख मिलते हैं जिनसे स्पष्ट व्यक्त होता है कि जहां छोटे माण्डलिक राज्यों के ऊपर सम्राट् या इन्द्र के बड़े राज्य होने चाहिये वहां इन बड़े राज्यों के ऊपर सारी धरती या विश्वभर का भी एक सार्वभौम राज्य होना चाहिये और उस सार्वभौम राज्य की भी अपनी एक सार्वभौम राजसभा होनी चाहिये। वेद में सार्वभौम राजसभा को "आमन्त्रण" नाम दिया गया है और सार्वभौम सम्राट् को "इन्द्रेन्द्र" नाम से कहा गया है। वेद के राजा और सम्राट् की भांति ही सार्वभौम सम्राट् भी प्रजाओं द्वारा चुना हुआ व्यक्ति होगा। स्थानाभाव के कारण वेद के इन प्रसंगों की यहां व्याख्या और विवेचना कर सकना सम्भव नहीं है।

वैदिक राजनीति में जिस सार्वभौम या चक्रवर्ती राज्य की कल्पना की गई है उसमें किसी एक शक्तिशाली राज्य द्वारा कम शक्ति वाले निर्बल राज्यों को उनकी इच्छा के विरुद्ध जबरदस्ती अपने साम्राज्य में मिलाने की बात नहीं आती है। यह जबरदस्ती वाली बात तो वैदिक राजनीति की भावना से लाखों कोस दूर है। वेद किसी को किसी पर शक्ति का प्रयोग करके अधीन करने का उपदेश नहीं देता। वेद में सार्वभौम महाराजसभा का जो "आमन्त्रण" यह नाम प्रयुक्त हुआ है उसका शब्दार्थ निमन्त्रण देकर बुलाना होता है। सार्वभौम महाराज सभा के इस नाम से यह ध्वनित होता है कि चक्रवर्ती राज्य में जो देश सम्मिलित होंगे उन्हें चक्रवर्ती राज्य में सम्मिलित होने के लिये निमंत्रित किया जायेगा और वे स्वेच्छा से, अपने और विश्व के लिये हितकारी समझ

कर चक्रवर्ती राज्य में सम्मिलित होंगे । महाभारत में राजसूय यज्ञ के अवसर पर शिशुपाल ने युधिष्ठिर के चक्रवर्ती राज्य में सम्मिलित होने के सम्बन्ध में जो बात कही थी उस से वैदिक राजनीति के चक्रवर्ती साम्राज्य की भावना अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है । शिशुपाल ने कहा था—

वयन्तु न भयादस्य न लोभान्न च सान्त्वनात् ।
प्रयच्छामः करान् सर्वे धर्मज्ञ इति कारणात् ।।
अस्य धर्मे प्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः ।
प्रयच्छामः करान् सर्वे सोयमस्मान्न मन्यते ।।

अर्थात्—"हम सब राजा लोग युधिष्ठिर के डर से, किसी लोभ के वश या खुशामद किये जाने के कारण इसे कर नहीं देते हैं, किन्तु यह जानकर कि युधिष्ठिर धार्मिक राजा है इसे कर देते हैं । क्योंकि यह धर्म में प्रवृत्त होकर राज्य कर रहा है । इसलिये हम सब राजा लोग इसे कर दे रहे हैं, किन्तु यह हमारी कोई परवाह नहीं करता है, उलटा हमारा अपमान करता है ।" यह है वैदिक चक्रवर्ती राज्य की भावना । वैदिक साम्राज्य में वलप्रयोग से किसी देश को साम्राज्य में नहीं मिलाया जाता । किन्तु विभिन्न देशों को निमन्त्रण देकर साम्राज्य में शामिल होने के लिये प्रेरित किया जाता है और विभिन्न राज्य अपने लिये और धरती के सारे मानव समाज के लिये हितकारक समझ कर साम्राज्य में सम्मिलित होते हैं ।

वेद जिस राज्य-तंत्र का प्रतिपादन करते हैं उसमें स्त्रियों की राजनैतिक स्थिति बिलकुल पुरुषों के समान रखी गई है । स्त्रियां भी सभा और समिति तथा आमंत्रण की सदस्य चुनी जा सकती हैं । वेद के अनुसार स्त्रियां न्यायाधीश आदि भी वन सकती हैं और वे राजा या सम्राट् भी चुनी जा सकती हैं ।

वैदिक राज्य में बाधित और सार्वभौम शिक्षा की व्यवस्था होगी । राष्ट्र के सभी लड़के और लड़कियों को आवश्यक रूप से एक निश्चित आयु में शिक्षा संस्थाओं में पढ़ने के लिये जाना होगा । जो लोग अपने बच्चों को पढ़ने के लिये शिक्षणालयों में नहीं भेजेंगे वे दण्डनीय होंगे । कम से कम १६ वर्ष की आयु तक बालिकाओं को तथा २४ वर्ष की आयु तक बालकों को पढ़ना अनिवार्य होगा । छात्र-छात्राओं को भोजन-वस्त्र, चिकित्सा और पुस्तकें आदि सब कुछ शिक्षणालयों की ओर से निःशुल्क मिलेगा । किसी से किसी प्रकार की फीस नहीं ली जायेगी । सह-शिक्षा नहीं होगी । कन्याओं के लिये अलग शिक्षणालय होंगे तथा लड़कों के लिये अलग । शिक्षणालय नगरों के वीच में न होकर नगरों से बाहर स्वच्छ वातावरण में होंगे । छात्र २४ घण्टे अपने शिक्षकों के निरीक्षण में रहेंगे ।

शिक्षक भी छात्रों के पास ही रहेंगे। विभिन्न विषयों के शास्त्रीय और सैद्धान्तिक शिक्षण के अतिरिक्त छात्रों को व्यवहारोपयोगी शिक्षा भी दी जायेगी जिससे वे आगे चलकर गृहस्थ जीवन में अपने लिये आजीविका भी अर्जित कर सकें।

वैदिक राज्य में समाज की रचना और उसकी आर्थिक व्यवस्था वर्णाश्रम-व्यवस्था की पद्धति से होगी। ब्राह्मण लोग धर्म-प्रचार और भांति-भांति के विद्या-विज्ञानों के आविष्कार तथा उनके प्रचार प्रसार एवं पठन-पाठन आदि का काम करेंगे। क्षत्रिय लोग शासन-व्यवस्था के संचालन और राष्ट्र की रक्षा का काम करेंगे। वैश्य लोग कृषि, पशु-पालन, व्यवसाय, उद्योग-धन्धे और व्यापार आदि के द्वारा राष्ट्र की धन-सम्पत्ति को बढ़ाने के काम करेंगे। वैश्य लोग इन कार्यों के द्वारा प्रजाजनों तक जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक उपयोग सामग्री पहुंचाने का काम करेंगे। शूद्र लोग ब्राह्मण आदि तीनों वर्णों के लोगों की सेवा करके और उनके कामों में सहायता करके राष्ट्र की सेवा का काम करेंगे। शूद्र लोग किसी प्रकार की घृणा या अपमान के पात्र नहीं होंगे। वे भी आर्य ही होंगे और सब वर्णों के लोगों से यथोचित प्रेम और सन्मान प्राप्त करेंगें। कोई व्यक्ति जन्म के आधार पर शूद्र नहीं होगा। आवश्यक रूप से पढ़ने-लिखने का अवसर दिये जाने पर भी जो व्यक्ति कुछ विशेष पढ़-लिख नहीं सकेगा, मूर्ख ही रहेगा, और इसी कारण केवल सेवा आदि के साधारण काम ही कर सकेगा, उसे ही शूद्र कहा जाएगा। किसी भी वर्ण का और किसी भी कुल और मां-बाप का इस प्रकार का विद्या-हीन मूर्ख व्यक्ति शूद्र ही कहा जायेगा। वर्ण-व्यवस्था वेद के अनुसार जन्म पर नहीं, गुण-कर्म पर आधारित है। गुण-कर्म के आधार पर ही वर्णों की व्यवस्था होगी। शिक्षणालयों में अध्ययन समाप्ति के अवसर पर छात्रों को ब्राह्मणों आदि की उपाधियां दी जायेंगी। राज्य-शासन वर्णाश्रम व्यवस्था का पालन करायेगा।

सब वर्णों के लोगों को, राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को, रहने के लिये घर, भोजन, वस्त्र और चिकित्सा मिल सके इसकी व्यवस्था वैदिक राज्य में की जायेगी राष्ट्र के सब लोगों के बच्चों को शिक्षा का पूर्ण अवसर मिल सके इसकी व्यवस्था भी राज्य करेगा। वैदिक राज्य में घर, भोजन, वस्त्र, चिकित्सा और शिक्षा ये पांच सुविधाएं राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यक रूप में प्राप्त कराई जायेंगी।

वैदिक राज्य में दुर्बल को कोई सबल सता नहीं सकता। कोई किसी पर अत्याचार नहीं कर सकता। कोई किसी के अधिकारों का जबरदस्ती अपहरण नहीं कर सकता। वैदिक राज्य में न्यायालयों की भरपूर व्यवस्था होगी। अत्याचारियों और अपराधियों को अपराध के अनुसार यथोचित दण्ड दिया जायेगा।

न्यायालय सदाचारी और कर्त्तव्यपरायण प्रजाजनों के अधिकारों की रक्षा करेंगे। इस सम्बन्ध में वेद में बड़ा कुछ कहा गया है। और तो और, जंगल के चीता, व्याघ्र आदि हिंसक प्राणियों को भी यों ही बिना कारण नहीं मारा जा सकता। उन्हें भी तभी मारा जा सकेगा जब यह सिद्ध हो जायेगा कि कोई विशेष हिंसक जन्तु नगर या गांव के लोगों को या उनके पशुओं को मार कर खा रहा है।

वैदिक राज्य-व्यवस्था में राष्ट्र की रक्षा के लिए शक्तिशाली सेनाओं की व्यवस्था होगी। स्थल-सेना, वायु-सेना और जल सेना रखी जायेगी। साधारण तलवार और भाले से लेकर भुशुण्डी (बन्दूक), शतघ्नी (तोप) और वज्र जैसे संहारक शस्त्रास्त्र सेनाओं के पास होंगे। अच्छे से अच्छे सैनिक सेनाओं के लिए प्राप्त किए जायेंगे। बाधित सैनिक शिक्षा होगी, कुछ काल के लिए प्रत्येक युवक और युवति को आवश्यक रूप से सैनिक प्रशिक्षण लेना होगा। इस प्रकार राष्ट्र को शत्रुओं के भय से सर्वथा सुरक्षित और निरापद रखा जायेगा।

वेद में राज्य-व्यवस्था से सम्बन्ध रखने वाली अन्य अनेक बातों पर भी विशद प्रकाश डाला गया है। मन्त्री कैसे हों, दूत कैसे हों, कर किस प्रकार से लगाया जाये, लोगों के रहने के घर किस प्रकार के हों, कृषि उत्पादन में राज्य किस प्रकार सहायता करें, नहरें कैसी हों, राष्ट्र की सड़कें किस प्रकार की बनें, व्यापार और व्यवसाय में, उद्योग-धन्धे और कल-कारखाने आदि चलाने में, तथा विविध प्रकार की खानें खोदने और चलाने में राज्य प्रजाजनों की किस प्रकार सहायता करे, गौ और घोड़े आदि विभिन्न पशुओं के पालन में राज्य प्रजाजनों की किस प्रकार सहायता करे, विवाहों पर राज्य का नियन्त्रण किस प्रकार का हो और राज्य विवाहों के अवसर पर लोगों की किस प्रकार सहायता करे, इत्यादि अनेकानेक बातों पर वेद में बड़े विस्तार से प्रकाश डाला गया है। इन सब बातों पर इस लघु लेख में लिखने का स्थान और अवसर नहीं है।

अन्त में वैदिक राज्य-पद्धति के स्वरूप के सम्बन्ध में यहाँ एक अन्य बात की ओर भी पाठकों का ध्यान आकृष्ट करके हम इस लेख को समाप्त करते हैं। वैदिक पद्धति के अनुसार संचालित राज्य धर्मराज्य होगा। अथर्व वेद के १२ वें काण्ड का प्रथम सूक्त जो कि ६३ मन्त्रों का एक लम्बा सूक्त है, राजनीति विषयक सूक्त हैं। इस सूक्त में राष्ट्रों की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए आवश्यक मूलभूत तत्वों का बड़ा सुन्दर और मार्मिक प्रतिपादन किया गया है। वैदिक राजनीति और संस्कृति के मर्म को समझने की इच्छा रखने वाले पाठकों को हमारी पुस्तक "वेद का राष्ट्रीय गीत" पढ़नी चाहिये। जिसमें इस सूक्त की विस्तृत व्याख्या और विवेचना की गई है। इस सूक्त में एक बात यह कही गई है कि आदर्श राज्य धर्म-राज्य होना चाहिए। राजा और राजकर्मचारी भी धर्म-परायण हों

और प्रजाजन भी धर्मपरायण हों। परन्तु धर्म का अर्थ इस सूक्त में सत्य, न्याय, दया, परोपकार, सहिष्णुता, तप और संयम आदि धर्म के सार्वभौम सिद्धान्त हैं। सूक्त में स्थान-स्थान पर राजा और प्रजा को इस प्रकार की धर्मपरायणता का उपदेश दिया गया है। साथ ही सूक्त में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि राष्ट्र को धर्मपरायण तो होना चाहिए पर साथ ही उसे असाम्प्रदायिक ही रहना चाहिए। यदि कभी किसी राष्ट्र में परिस्थितियों के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार के मतों, सम्प्रदायों, जिन्हें धर्म भी कह दिया जाता है, को मानने वाले तथा विभिन्न बोलियों और भाषाओं को बोलने वाले लोग रहने लगें तो उन्हें आपस में लड़ना झगड़ना नहीं चाहिए। प्रत्युत इस प्रकार प्रेम से मिलकर रहना चाहिये जिस प्रकार किसी एक परिवार के लोग प्रेम से मिल कर रहा करते हैं। राज्य को भी इन विभिन्न मतावलम्बी और विभिन्न भाषा-भाषी लोगों पर किसी प्रकार का अत्याचार नहीं करना चाहिए। उन सब की रक्षा करना भी राज्य को अपना कर्त्तव्य समझना चाहिए। इस सम्बन्ध में इस सूक्त का १५वां १६वां और ४५वां मन्त्र विशेष रूप से देखने योग्य है। वैदिक राज्य जहां धर्म-राज्य होगा वहां वह असाम्प्रदायिक राज्य भी होगा और उसकी राजनीति बड़ी उदार होगी।

वैदिक यम—एक दृष्टिकोण

(आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री)

वेदों में आया हुआ यम पद विविधार्थक है इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। महर्षि दयानन्द ने स्वयं ही अपने ग्रन्थों में इसके विभिन्न अर्थ दिखाये हैं। अन्त्येष्टि संस्कार में वे संस्कार विधि में निम्न विचार प्रस्तुत करते हैं :—

इस शरीर का संस्कार (भस्मान्तम्) अर्थात् भस्म करने पर्यन्त है। १॥ शरीर का आरंभ ऋतुदान और अन्त में श्मशान अर्थात् मृतक कर्म है। २॥

(प्रश्न) जो गरुड़ पुराण आदि में दशगात्र, एकादशाह, द्वादशाह, सपिण्डी कर्म, मासिक, वार्षिक गया श्राद्ध आदि क्रिया लिखी है क्या ये सब असत्य हैं ?

(उत्तर) हाँ अवश्य मिथ्या हैं, क्योंकि वेदों में इन कर्मों का विधान नहीं है इसलिए अकर्त्तव्य हैं। और मृतक जीव का संवन्ध पूर्व संवन्धियों के साथ कुछ भी नहीं रहता और न इन जीते हुये सम्वन्धियों का, वह जीव अपने कर्म के अनुसार जन्म पाता है।

(प्रश्न) मरण के पीछे जीव कहां जाता है ? (उत्तर) यमालय को।

(प्रश्न) यमालय किसको कहते हैं ? (उत्तर) वाय्वालय को।

(प्रश्न) वाय्वालय किसको कहते हैं ?

(उत्तर) अन्तरिक्ष को, जो कि यह पोल है।

(प्रश्न) क्या गरुण पुराण आदि में यमलोक लिखा है वह झूठा है ?

(उत्तर) अवश्य मिथ्या है।

(प्रश्न) पुनः संसार क्यों मानता है ?

(उत्तर) वेद के अज्ञान और उपदेश के न होने से। जो यम की कथा लिख रखी है वह सब मिथ्या है क्योंकि यम इतने पदार्थों का नाम (है)—

षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति॥ १॥ ऋ० मं० १/ सूक्त १६४/ मंत्र १५
शकेम वाजिनो यमम्॥ २॥ ऋ० मं० २/ सूक्त ५/ मंत्र १

यमाय जुहुता हवि :। यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृता ॥ ३ ॥ ऋ० मं० १०/ सूक्त १४/मंत्र १३

यम: सूयमानो विष्णु: सम्भ्रियमाणो वायु: पूयमान: ॥ ४॥ यजु० अ० ८। मंत्र ५७

वाजिनं यमम् ॥५॥ ऋ० मं० ८/ सूक्त २४/ मंत्र २२

यमं मातरिश्वानमाहु: ॥६॥ ऋ० मं० १। सूक्त १६४/ मंत्र ४६

यहां ऋतुओं का यम नाम है।१॥ यहां परमेश्वर का नाम ॥२॥ यहाँ अग्नि का नाम ॥३॥ यहां वायु, विद्युत, सूर्य के यम नाम हैं ॥४॥ यहाँ भी वेग वाला होने से वायु का नाम यम है ॥५॥ यहां परमेश्वर का नाम यम है ॥६॥

इत्यादि पदार्थों का नाम 'यम' है, इसलिए पुराण आदि की सब कल्पना झूठी[1] है।

यास्क[2] के निर्वचन से भी यही भाव झलकता है। विविधार्थ को स्वीकार करते हुए भी हमारा यहां पर तात्पर्य सीमित है। यदि सब अर्थों पर विचार किया जावे तो वृहद् पुस्तक लिखनी पड़ जावे। इन सभी अर्थों में सूर्य अर्थ भी यम का है। अतः इसके द्योतक 'यमं राजानम्' ऋ० १०/१४/१ मंत्र में आये यम का ही हम यहां पर विचार करना चाहते हैं। इस संदर्भ में वर्णित यम मृत्यु है। यह विनास्वान् का पुत्र, पितरों का राजा, दक्षिणादिक् का अधिपति, चतुरक्ष (चार आँखों वाला) श्वान् रूपी दूतों का पालनकर्त्ता है। यम के साथ इनका क्या वास्तविक सम्बन्ध है, इस पर भी विचार अपेक्षित है। यहां पर इस सम्बन्धी तथ्यों का उद्घाटन करना अभिप्रेत है।

ऋग्वेद के दशम मण्डल में कई मंत्रों में यम का वर्णन पाया जाता है जो यहां पर प्रस्तुत करना आवश्यक है। वे निम्न प्रकार हैं।

१. वैवस्वतं सगमनं जनानाम् यमम्०/ऋ०१०/१४/१

२. यत्ते यनं वैवस्वतम्० / ऋ० १०/५८/१

३. यमादहं वैवस्वतात्० / ऋ० १०/६०/१०

इन संदर्भों से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि यम वैवस्वत है इसलिए कि वह विवस्वान् का पुत्र है। स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता है कि यहां पर यम मृत्युकाल है और विवस्वान् सूर्य है। दार्शनिक दृष्टि से काल की सभी प्रवृत्तियां सूर्य पर आधारित हैं। अतः इसका सूर्य का पुत्र होना स्वाभाविक है। क्षण आदि सारे

व्यवहार सूर्य के कारण होते हैं। काल की गति इतनी सूक्ष्म है कि सूर्य के विना उस पर विचार नहीं किया जा सकता है। काल वस्तुतः एक तारतम्य (Succession) है। इसका सम्बन्ध जन्य पदार्थों से है। उसके क्षण, घड़ी आदि औपाधिक व्यवहार सूर्य से होते हैं।

मृत्यु क्या है इसका वर्णन शतपथ १०.४.३.१ में इस प्रकार किया गया है। यह जो संवत्सर[१] है वही मृत्यु है। यही मरण धर्मावों अर्थात् मर्त्यों की आयु को दिन और रात्रि के माध्यम से क्षीण करता है और लोग मरते हैं। पुनः २/३/३/७ में[४] कहा गया है कि यह ही मृत्यु है जो यह सूर्य तप रहा है। अतः यह सुतराम् सिद्ध है कि विवस्वान् का पुत्र वैवस्वत (यम) मृत्युकाल है। संवत्सर और सूर्य में इतना निकट संवन्ध है कि दोनों में एक प्रकार का ऐक्य भी वर्णित करना कोरी कल्पना नहीं।

शतपथ १४/१/३/४[५] में कहा गया है कि "यह ही यम है जो यह सूर्य तप रहा है। यह ही इस सब विश्व को नियंत्रित रखता है और सव इसी से यत है। वेद में सूर्य को भी संवत्सर कहा गया है। जैमिनीय और शतपथ आदि में सूर्यार्थक संवत्सर पद की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि यद्विभगति तत् संवत् यन्न विभाति तत् सरः अर्थात् जो प्रकाशमान भाग है वह संवत् कहा जाता है और जो प्रकाशमान नहीं है वह सर कहाता है। इससे एक वैज्ञानिक रहस्य खुलता है।

यम और पितर—वैदिक साहित्य में पितरों की दक्षिण दिशा, पितृयान, कृष्णपक्ष, अपराह्न काल माना गया है और यमाधीन कहा गया है। शतपथ[६] १३/४/३/६ में लिखा है कि यम वैवस्वत राजा है और पितर प्रजायें हैं। इसी प्रकार शतपथ २/१/३/१[७] में अपरान्ह का सम्बन्ध पितरों से बताया गया है और षड्विंश ३/१/[८] में पितरों की दक्षिण दिशा बताई गई है।

पितर का अर्थ—पितर के दादा, परदादा, बड़े ज्ञानी, रक्षक किरण और औषधि आदि अनेक हैं परन्तु यहां पर पितर पद से वे ज्ञानी अभिप्रेत हैं जो याज्ञिक और कर्मकाण्डी जन हैं। देव और पितर को ध्यान में रखकर वेद में भगवान् ने दो मार्ग बताये हैं। ये हैं देवयान और पितृयाण। देवों का मार्ग देवयान है और पितरों का मार्ग पितृयाण है। इन मार्गों का वेद और वैदिक साहित्य में वर्णन है।[९] देवयान वाले देव मोक्षमार्गी हैं। वे एक परान्त काल तक मोक्षानंद को भोगते हैं और जन्म-मृत्यु के चक्र में उतने समय तक नहीं आते हैं। सकाम कर्म करने वाले याज्ञिक पितर पितृयाण मार्गी हैं। ये स्वर्ग सुख का उपभोग कर जन्म-मरण के चक्र में आते हैं। उपनिषदों आदि में इसका वर्णन पाया जाता है। चान्द्रमसी स्थिति और सौर्यायणी दशा का वर्णन भी इसी आधार पर है।

पितरों का अयन दक्षिणायन है जो कर्क राशि से प्रारम्भ हो छः मास तक होता है। देवों का उत्तरायण अयन है जो कर्क राशि से छः मास तक रहता है।

एक निराकरण—यहां पितर का वर्णन होने से कोई यह न समझे कि मृतक श्राद्ध वा पितृ श्राद्ध का इससे कोई सम्बन्ध है। वैदिक दृष्टिकोण जीवित को पितर मानकर श्राद्ध अर्थात् उनको खानपान देना है। पितर जीवित को कहते हैं मुर्दों को नहीं। यहां पर इसका अधिक वर्णन न करके संक्षेप में कुछ कहा जाता है।

चाहे पौराणिक पंडित हों चाहे वैदिक सभी आशीर्वाद के लिए एक यजुर्वेदीय मन्त्र का प्रयोग करते हैं। वह मंत्र यजुर्वेद २५/२२ में है। इस मंत्र में आशीर्वाद दिया गया है कि 'हे देव लोग=विद्वज्जन ! हमारे पुत्र पितर हो जावें। यदि पितर मृत का नाम है तो ऐसा आशीर्वाद अपने पुत्र आदि को कौन चाहेगा। अतः पितर का अर्थ है पुत्र पौत्र वाले। अर्थात् हमारे पुत्र लोग पुत्र पौत्र वाले हो जावें।[१०]

इसके अतिरिक्त मृत पितरों के श्राद्ध के विषय में लोग जो वेद मंत्र उपस्थित करते हैं उनमें निम्न बातें पाई जाती हैं:—

१. पितर लोग आवें और हमें उपदेश करें।
२. वे अपनी दाहिनी जांघ को मोड़कर दक्षिण दिशा में यज्ञ में बैठें और यज्ञ करें।
३. वे बुलाये हुये आवें।
४. उनकी श्री शोभा हमें १०० वर्षों तक प्राप्त हो।
५. जिन्होंने जीवन धारण किया है (जीवित) वे हमारी यज्ञ में रक्षा करें। यहां जीवन के लिए 'असु' प्राणपद का प्रयोग है।
६. वे इस यज्ञ में आवें, सुनें, बोलें और रक्षा करें।

इन बातों को कोई भी मुर्दा पितरों से करा नहीं सकता है। अतः पितर जीवित का नाम है और उन्हीं की भोजनपान आदि से श्रद्धा के साथ सेवा करना श्राद्ध है।

यम से पितरों का सम्बन्ध—काठक शाखा ३८/१२ यम को राजा कहा गया है और पशु तथा मनुष्य आदि से तृप्त होने वाला बताया गया है। पितर याज्ञिक हैं अतः वे मृत्यु के राज्य में ही हैं—इसमें तो सन्देह नहीं है। वे मृत्यु के मुख से नहीं निकलते हैं। शतपथ[११] ब्राह्मण में लिखा है कि जब सूर्य उत्तर की तरफ होता है, तब देवों में होता है और उनकी रक्षा करता है और जब वह दक्षिण दिशा में होता है तब पितरों में होता है और पितरों की रक्षा करता है ज्योतिष की कल्पना के अनुसार उत्तरायण और दक्षिणायन का सम्बन्ध क्रमशः देवों और पितरों से दिखाया गया है।

अन्य मतों में मृत्यु देवता की कल्पना—यूनानियों में (Hades) नरक लोक का स्वामी प्लुटो माना गया है। मुसलमान इज़राइल को मृत्यु का देवता मानते हैं। प्राचीन पारसियों में यह देवता मुदीद के नाम से जाना जाता था। यहूदी लोग (Deuma) को मृत्यु का फरिश्ता मानते हैं। जन्द अवेस्ता को मानने वाले यम को मृत्यु का देवता स्वीकार करते हैं। उनके यहां इसको (Vevanhvo Yim) विवन्हो यिम कहा गया है। यह विवन्हवो यिम पद वैवस्वत यम का अप्रभंश है।

पारसियों में यम की कथा को इस प्रकार कहा गया है।

आहुरमज्द (असुरमहत्) परमेश्वर ने यम को एक सुनहरी तलवार और जड़ाऊं अंकुश दिया है जो उसके राजा होने के चिन्ह हैं। जन्द में एक स्थान पर 'यम' का विशेषण क्षयेता (Kshaeta) दिया गया है। इसका अर्थ राजा है। इसे वहां पर मनुष्य और पशुओं को इकट्ठा करने वाला कहा गया है। यह ऋग्वेद १०/१४/१ में आये संगमनं जनानाम् का ही अर्थ है।

यमदूत—वेद में यम के साथ इस के दूतों का भी वर्णन आया है। ये दूत दो कुत्ते हैं और इनकी प्रत्येक की चार-चार आंखें हैं। इन दोनों में एक का रंग काला और दूसरे का चितकवरा लिखा है। इनकी माता का नाम सरमा है, इसीलिए ये सारमेय कहे गये हैं। ये मनुष्यों के हर समय पीछे चलते हैं और रास्ते में बैठते हैं। ऋग्वेद १०/१४/१०, ११, और १२ मंत्रों में इनका वर्णन आया है। अथर्व० ८/१/९ में भी इस प्रकार का वर्णन आता है।

मुसलमानों के माने दूत—मुसलमान मृत्यु के देवता के साथ दो सहायक मानते हैं। ये दो फरिश्ते हैं—एक का नाम मुनक़िर और दूसरे का नाम नकीर है। इन का रंग भी काला माना गया है। ख्याल यह है कि शव जब दबाया जाता है तब मुनक़िर पापियों को घोर नरक के दुःख सुनाता और नकीर धर्मात्मावों को स्वर्ग के हर्ष के समाचार सुनाता है।

जन्द के यमदूत—इसमें भी मृत्यु देवता के दूत दो कुत्ते माने गये हैं। वहां भी इनकी चार आंखें लिखी हैं और इसका रंग पीला माना गया है। विचार यह है कि मृत्यु के पश्चात् प्राणी को चिनवत नाम का पुल पार करना पड़ता है। ये दोनों मिहिर और सरोश नाम वाले कुत्ते पुल पर खड़े रहते हैं। उनमें एक धार्मिक प्राणियों को स्वर्ग में भेजता है और दूसरों को नरक में।

ये दो कुत्ते क्या हैं?—इनका निर्णय करने से पूर्व इनकी माता का निर्णय करना आवश्यक है। ऋग्वेद १०म मण्डल के सूक्त १०८ में पणि राक्षस द्वारा छिपाई गयी इन्द्र की गौवों के पता लगाने का कार्य सरमा के द्वारा किया गया वर्णित है। 'पणि' वृत्र है जो मेघ की भांति आवरक है। अतः अन्धकार है। गौवें सूर्य की किरणें हैं। रात्रि का अन्धकार सूर्य की किरणों को ढक लेता है। प्रातः

काल में उषा इन छिपी हुई किरणों का संदेश दे देती है। अतः स्पष्ट है कि इन्द्र सूर्य है और उषा सरमा है तथा सूर्य किरणें गौवें है। 'गावः' पद का अर्थ किरणें भी होता है। अतः सरमा यहाँ पर उषा है।

यूनानी साहित्य में इस उषा को हरेमा कहते हैं। इन भाषाओं के में 'स' को 'ह' हो जाता है। जन्द में सेना को हेना कहा जाता है। असुर को अदुर और मास को माह कहा जाता है। वैदिक साहित्य में 'सिरा' 'हिरा' को समानार्थक पाकर यह परिवर्तन किया गया होगा कि 'स' के स्थान में 'ह' बोला जावे। गुजरात और सौराष्ट्र में अभी भी 'स' को अनेकों बार 'ह' बोलते हैं। यूनानी साहित्य में उषा का अर्थ देने वाली 'सरमा' को हरेमा (Harema) कहा गया है। इसका अर्थ (Dawn) अर्थात् उषा है।

जब यह निश्चित है कि सरमा उषा है तो उसके पुत्र 'सारमेय' भी कोई इसी तरह के प्राकृतिक पदार्थ यहां पर होंगे। ये दो कुत्ते जो सारमेय कहे जा रहे हैं रात्रि और दिन। रात और दिन उषा के बाद ही उत्पन्न होते हैं अतः इन्हें उषा का पुत्र कहा गया है। इनको काला और चितकवरा कहा गया है। रात्रि अंधकार होने से काली और दिन प्रकाश होने के कारण चितकवरा हैं।

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १/६ दिन को शबल और रात्रि को श्याम कहा गया है। इसी प्रकार कौसीतकी[११] २/६ में अथर्ववेद ८/१/६ का संदर्भ देकर दिन को शवल और रात्रि को श्याम कहा गया है। इनको मनुष्य की आयु को काटने वाले होने से कुत्ते कहा गया है। ये अलंकारिक हैं। ये मृत्यु के दूत भी इसी लिए हैं। दिन रात्रि माप में चार प्रहर के होते हैं अतः इनको चार आंखों वाला कहा गया है। ये मार्ग में बैठने वाले इसलिए हैं कि ये वड़े ही चौकन्ने हैं। इनसे कोई बचता नहीं और प्रत्येक आने वाला व्यक्ति रात वा दिन में ही मरेगा दूसरा कोई समय नहीं है।

यूनानी साहित्य में दो कुत्ते मैक्समुलर ने इनका वर्णन इस प्रकार किया है :—

Sarmeya (सारमेय) the son of Sarma (सरमा) was in Sanskrit as independent a name as Haremeis (हरेमीज) in Greek. Both meant originally the same thing, the child of the down.

(Maxmullar's chips Vol. 4 P. 410)

अर्थात् सरमा का पुत्र संस्कृत में वहीं है जो यूनानी भाषा में 'हरमीस' है। इनका वास्तविक अर्थ वही है कि ये उषा के पुत्र हैं। मैक्समुलर के इस कथन से स्पष्ट हो जाता हैं कि हरेमा (उषा) के 'हरमीस' पुत्र वे ही हैं जो संस्कृत में सरमा के पुत्र सारमेय हैं। इन दोनों के नाम क्रमशः सर्ब्रस (Cerberos) और आर्थस (Orthos)। ये दोनों कुत्ते उनके यहां माने जाते हैं। ये उनके

साहित्य में कुत्ते का अर्थ देते हुए रात और दिन का अर्थ भी देते हैं।

यूनानी भाषा में सर्न्र स का अर्थ है रात्रि और काला कुत्ता जिसका कार्य नरक लोक की देखभाल करना है। इस पर मैक्समुलर महाशय फिर कहते हैं:

Cerberos therefore in Greek would have meant originally dark One, the dog of night watching the path to the lower world (Maxmuller's chips (Vol. 4 P. 251)

दूसरे आर्थस नामक कुत्ते का अर्थ यूनानी भाषा में प्रातः काल का प्रकाश है—यह भी माना जाता है :

But is also a name for the first pal light of the down (The Mythology of the Aryan nations' by—H, G.W. Cox. Page 537)

महाशय कॉकस फिर इस बात को खोलते हैं। ये दोनों वस्तुतः दिन और रात्रि का अर्थ देते हुये भी वेद में राजा यम के कुत्ते माने गये हैं। कॉकस के कथन से यह और स्पष्ट हो जाता है। वे कहते हैं—

'The dog of the hateful king, the Cerberos of the Hesioldic Theogany is but another form of Orthros, who is Called his brother. (Cox P. 531)

अन्ततोगत्वा कहना यही है कि यह एक दृष्टिकोण है। प्रक्रियान्तर से अनेक रहस्य खुल सकते हैं। वेदार्थ को खोलने में हमें जो देन महर्षि ने दी है वह प्रशस्त है और उससे सभी रास्ते खुलते हैं।

प्रमाण संदर्भ

१. संस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण पृ० ३७१, अजमेरीय २५ वां संस्करण।
२. यच्छतीति सतः। निरुक्त १०/२/१६
३. एषवै मृत्युयत्संवत्सरः। एष हि मर्त्यानामहोरात्राभ्यामायुः क्षिणोत्यथ म्रियन्ते। श० १०/४/३/१
४. एष एव मृत्युः। य एष (सूर्यः) तपति। श० २/३/३/७
५. एष वै यमो य एष (सूर्यः) तपत्येष हीदथं सर्वं यमयति एतेवेदं सर्वं यतम्। श० १४/१/३/४
६. यमो वैवस्वतो राजेत्याह तस्य पितरा विशः। श० १३/४/३/६
७. अपराहृणः पितरः। श० २/१/३/१
८. पितृणो वा एषादिग्यद्द। क्षिणा ष० ३/१
९. द्वे सृती अश्रणवमहं पितृणांदेनाम्०। यजु० १९/४७

१०. पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति । यजु: २५/२२
११. स यत्रोदङ्भवर्तते० आदि शतपथ २/१/३/३
१२. अथ ह एतौ श्यामशवलाविव यदेहोरात्रे अहर्वैशवलोरात्रिः श्यामः । जैमिनीय० १/६
१३. अहर्वैशवलः रात्रिः श्यामः (अथर्ववेद का० ८/सू० १/मं० ६—श्यामश्च त्वा मा शवलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ प्रतिरक्षी श्वानौ…) कौ० २/६

'गायत्री'
दो विचार

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल
एवं
डॉ० सत्यकाम भारद्वाज

एक

गायत्री एक छन्द है। इसमें तीन चरण होते हैं। इसलिए इसे त्रिपदा गायत्री कहा जाता है। ऋग्वेद में त्रिपद या तीन चरण का बहुत कुछ अर्थ है। इसमें विश्व के अनेक त्रिकों का अन्तर्भाव हो जाता है। तीन वेद, तीन लोक, तीन देव, यज्ञ की तीन अग्नियां, तीन गुण, ये त्रिपाद के ही रूप हैं। इन्हीं का प्रत्येक त्रिविक्रम है जिसका अभिप्राय विष्णु नामक संसार की महती जातक शक्ति का त्रेधा स्पन्दन या गति है। इसीलिए मन्त्रों में कहा है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।

विष्णु के तीन चरणों में सब भुवनों का अन्तर्भाव है। **यस्योरुषुत्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।** ऋ० १/१५४/२ पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्यौः ये तीन लोक ही विश्व भुवन हैं। ये ही समस्त ब्रह्माण्ड को नापने वाले विष्णु के चरण हैं। ये ही तीन विश्व रूप हैं, जिनका दर्शन तीन योजन की दूरी चलने से पूर्ण कहा गया है।

विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु (ऋ० १/१६४/६)

सृष्टि के इस मूलभूत चक्र को इसी नाम से कहते हैं। यह तीन स्कन्दों में व्यक्त होने वाला एक छन्द है। मानवीय जीवन का भी यही नमूना है। जैसे विश्व वैसे ही जीवन। दोनों में प्राण की त्रेधा स्पंदित गति है। अतएव सारा विश्व ही गायत्री छंद है। स्पंदन के ही कारण इसे महासुपर्ण भी कहा जाता है। सारे विश्व के मूल में जो छंदित गति है वही गायत्र प्राण है। विश्व रचना में दो

ही तत्त्व प्रधान हैं—एक देव या प्राण, दूसरा भूत। केवल भूत बिना प्राण के स्पंदहीन रहता है अतएव प्रत्येक भौतिक गायत्री का जीवन तत्त्व उसका प्राण है। इसे गायत्र कहते हैं, जैसा ऋग्वेद में कहा है—**यद् गायत्रे अधिगायत्रमाहितम्** (ऋ०१/१६४/२३)। पंचभूतों से बना हुआ मानव शरीर नितांत प्राकृत है। यह मर्त्य गायत्री है। मन, प्राण, वायु इसके ही तीन चरण हैं। जैसे मुख से उच्चरित होने वाले चौबीस अक्षरों वाली शब्दमयी गायत्री मर्त्य अर्थात् उसके शब्द उत्पन्न होकर कहीं विलीन हो जाते हैं, वैसे ही यह शरीर है। इसका एक चरण पंचभूतों से बना हुआ है, पंचभूतमय या वाङ्मय है। क्योंकि पंचभूतों की एकत्र संज्ञा वाक् है। इसका दूसरा चरण पंचप्राणमय है। किन्तु यह भौतिक प्राण है। इसका तीसरा चरण मनोमय है। पंचकोषात्मक मन या विज्ञान समझना चाहिए। इन तीनों के मिलने से जो संस्थान बनता है, उसे अपरा, प्रकृति, प्राकृत, अंड या भौतिक देह कहते हैं। बिना अमृत चैतन्य प्राण के इसमें चेष्टा नहीं आती। वही चैतन्य तत्त्व गायत्र प्राण है जिसकी ओर ऊपर संकेत किया गया है। अतएव 'गायत्र' इस एक शब्द में ही प्राण या त्रिक शक्ति का समग्र रूप आ जाता है। इसे ही उपनिषदों में देव की शक्ति कहा गया है—**देवात्मशक्तिः स्वगुणैर्निगूढः** और भी प्राचीन शब्दों में कहना चाहें तो इसे ही देवमाया या इन्द्र माया कहते हैं। माया का अर्थ कोई चेटक नहीं किन्तु देव की सत्तात्मक शक्ति है। जिसके द्वारा विश्व रूपों का विकास होता है।

इंद्रो मायाविः पुरुरूप ईयते। —ऋग्वेद

इन्द्र अपनी माया शक्ति से अनेक रूप धारण करता है। उसके सहस्र अश्व हैं।

तस्य हरयः शता दश।

सूर्य ही इन्द्र है जिसकी सहस्र किरणें, सहस्र अश्व कही जाती हैं। एक-एक रश्मि एक-एक रूप है। सूर्य की रश्मियों में जो अनंत प्राण शक्ति है वही उसका गायत्र रूप है। जैसे गायत्री के तीन चरण हैं, वैसे ही सूर्य के भी हैं। विश्व के त्रिकात्मक आधार का सर्वोत्तम रूप देखना चाहें तो सूर्य की ओर संकेत कर सकते हैं। इसीलिए ऋषियों ने सूर्य को त्रयी विद्या कहा।

सूर्य क्या है? इस प्रश्न का उत्तर कई प्रकार से संभव है स्थूल रूप में सूर्य आग का गोला है, इसका ताप अत्यधिक है। इसमें प्रकाश की मात्रा भी वैसी ही है। सूर्य रश्मियों के वर्णन में एक ओर नील और दूसरी ओर लाल रश्मियों

की प्रभा है। मध्य में दोनों की संधि है जिसकी आभा पीली है। स्थूल भौतिक दृष्टि से ही सूर्य का यह त्रयी रूप सच्चा है। स्थूल सूर्य से कहीं अधिक शक्तिशाली उसका प्राणात्मक रूप है जो अमृत है।

प्राणः प्रजानाम् उदयत्येष सूर्यः ।

वह सूर्य ब्रह्म तत्त्व ही है जिसका भौतिक प्रतीक स्थूल सूर्य है।

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः (यजुर्वेद २३/४८)

इसे किसी भी रूप में देखें और कहें, मूल तत्त्व एक ही रहता है। जिस प्रकार मूलभूत एक प्राण सृष्टि के लिए प्राण, अपान व्यान इन तीन रूपों में प्रकट होता है, जिस प्रकार चतुष्पाद् ब्रह्म एक पैर से विश्वातीत, अव्यय और अजन्मा है एवं त्रिपादरूप से त्रिगुणात्मक विश्व है, जिस प्रकार एक अग्नि मेधा संमिन्धन से यज्ञ की तीन अग्नियां बन जाती हैं, जिस प्रकार एक प्रणव अर्ध मात्रा और त्रिमात्रा के भेद से चतुर्धा कहा जाता है; वैसे ही विश्व में त्रिक का नियम नाम और रूपों के अनेक क्षेत्रों में और अनेक धरातल पर अभिव्यक्त हुआ है।

व्यष्टि और समष्टि कुछ भी ऐसा नहीं है जो त्रिक या गायत्री के अनुशासन में न हो।

ऋग्वेद में गायत्र प्राण पर विचार करते हुए एक सुन्दर कल्पना आती है। उसके अनुसार प्रत्येक गायत्र्य प्राण या स्पंदन की तीन समिधाएं हैं। उन्हीं की निजी शक्ति और बाहरी महिमा से जीवन का विकास हो रहा है—

गायत्रस्य समिधस्तिस्त्र आहुस्ततो मह्ना प्ररिरिचे महित्वा

(ऋ० १/१६४/२५)

गायत्र प्राण की ये तीन समिधाएं कौन सी हैं ? बाल, यौवन और जरा ये ही तीन समिधाएं हैं जिनके जलने से जीवन का यज्ञ पूरा हो रहा है। इन्हीं तीन काष्ठखंडों का समिन्धन या जलनशील ताप और प्रकाश आयुष्य का क्रम है। प्रकृति का कैसा विचित्र विधान है कि एक के बाद दूसरी समिधा अपनी विशेषता लिए हुए स्वयं ही इस यज्ञ में प्रकट हो जाती है। बालकपन का बाल भाव और यौवन भाव एक दूसरे से कितने विलक्षण हैं। वही गायत्र प्राण जिसका पहला स्पंदन शिशु रूप में आता है, क्रमशः काल की शक्ति पाकर

यौवन के उस ललाम भाव को प्रकट कर देता है जिसका अनुभव मानव के लिए पृथ्वी पर साक्षात् स्वर्ग का प्रतीक है और जिसके लिए देवता भी लालायित रहते हैं। यौवन की रसवत्ता अपरंपार है। यह गायत्र प्राण की दूसरी समिधा के भीतर अंतर्हित वह रस गंगा है जो स्वर्ग के वरदान पृथ्वी पर ले आती है। फिर इसके अनंतर गायत्री की तीसरी समिधा का अनुभव होता है, जिसमें प्राण के वेगशाली रस स्थिर होने लगते हैं और उनकी मात्रा में न्यूनता आ जाती है, मानो किसी क्रूराक्ष यज्ञ की घूरती हुई दृष्टि उस पर पड़ गई हो। दूसरे शब्दों में ये ही त्र्यम्बक देव के तीन नेत्र हैं। इनकी चक्षुशक्ति की परिधि में गायत्र प्राण के तीनों भाग समाये हुए हैं। यही गायत्री की उपासना या त्र्यम्वक देव का यजन है जिसके लिए कहा है—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगंन्धि पुष्टिवर्धनम् ।

जिस गायत्री मंत्र की आराधना की जाती है उसके तीन भाग हैं। पहले में प्रणव, दूसरे में तीन व्याहृतियां और तीसरे में त्रिपदा गायत्री का मंत्र है—

(१) ओम् (अ उ म्)
(२) भूर्भुवः स्वः
(३) तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

प्रणव की तीन मात्राएं सृष्टि के त्रिक की प्रतीक हैं जैसा कि वह अव्यक्त विज्ञान या मनोमय क्षेत्र में विद्यमान रहता है। इस मानसी शक्ति का क्रमशः अवतार प्राण रूप में होता है— जिसकी प्रतीक तीन व्याहृतियां हैं। स्पंदन ही व्याहरण है। व्याहरण का उल्टा समाहरण है। समष्टि के भीतर से ही व्यष्टि भाव जन्म लेता है। ऐसे ही प्रजापति की मानस समाधि विश्व के लिए व्याहृतियों के रूप में प्रकट होती है। भूर्भुवः स्वः, इन तीन के उच्चारण से क्रमशः भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक बन जाते हैं। इन्हीं की संज्ञा पृथ्वी, अंतरिक्ष और द्यौ लोक है। प्रजापति के विज्ञान में इसी से त्रिक का दर्शन होता है और उसी से सृष्टि का प्रादुर्भाव। इन व्याहृतियों से विरचित जो प्राणात्मक संस्थान हैं, त्रेधागति जिसका स्वरूप है, उसका जब भूत के धरातल पर अवतार होता है तो प्राण और भूत के उस सम्मिलित रूप का वर्णन गायत्री के तीन चरणों में पाया जाता है, इसके प्रथम भाग में सविता या मन की शक्ति है।

मन एव सविता ।

दूसरे भाग में देव के वरणीय भर्ग या प्राण का संकेत है जो अपनी प्रेरणा या जागरण के लिए निरंतर सविता शक्ति पर निर्भर रहता है । समस्त जीवन प्राण के द्वारा मनरूपी सविता देव का ध्यान ही है । सविता को छोड़कर जीवन का कुछ भी स्वरूप नहीं ।

मंत्र के तीसरे चरण में उसके धरातल पर प्रकट होने वाली उन कर्म-शक्तियों का उल्लेख है जिन्हें 'धियः' कहा गया है ।

कर्माणि धियः ।

यह ब्राह्मण ग्रंथों की परिभाषा है । इस प्रकार गायत्री मंत्र समग्र जीवन का सारगर्भित सूत्र है। ब्रह्मचर्य काल में सवितृ या मनस्तत्त्व, यौवन में भर्ग या प्राणतत्त्व और आयुष्य के शेष भाग में धियः या ज्ञानाधिष्ठित कर्मतत्त्व का विशेष महत्त्व है । वैसे ये तीनों परस्पर ओत-प्रोत हैं, एक भी दूसरे के विना नहीं रह सकता ।

गायत्री एक छंद है । छंद का प्रयोजन गान है । गायत्र साम को जो गाता है गायत्री उसकी रक्षा करती है। इसीलिए ब्राह्मण ग्रंथों में यह व्युत्पत्ति पाई जाती हैं—**तमेतदेव (गायत्रं) साम गायन्नत्रायत । यद्गायन्नत्रास्य तद्गायन्नत्रास्य गायत्रत्वम्** । जै० उ० ३/३८/४ ।। ये जो समस्त लोक हैं, इनमें व्याप्त जो सामगान है उसे ऋषियों ने गायत्र्य कहा है । अर्थात् गायत्री लोकत्रयी की संज्ञा हैं इसे व्यापक और सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने लगें तो वेद की अनेक विद्याओं का अन्तर्भाव गायत्री में हो जाता है। उदाहरण के लिए प्राण विद्या गायत्री का ही रूप है । प्राण का स्वरूप है—समंचन—प्रसारण (**प्राणो वै समञ्चनप्रसारणम्**) । गायत्री प्रणात्मक त्रेधा स्पंदन का रूप है । ब्राह्मण ग्रंथों में गायत्री और प्राण इन दोनों के तादात्म्य सम्बन्ध का उल्लेख किया गया है:—

प्राणो गायत्री प्रजननम् । तां० १६/१४/५ ।।

१६/१६/७ ।। १९/५/९ ।। १९/७/७ ।।,

प्राणो गायत्रं (साम) । तां० ७/१ ।। ९/७/३/७ ।।

तत्प्राणो वै गायत्रम् । जै० उ० १/३७/७ ।।

प्राणो वै गायत्र्यः । कौ० १५/२ ।। १६/३ ।। १७/२ ।।

प्राणो वै गायत्री । श० ६/४/२/५ ।। ष० ३/७ ।।

प्राणो गायत्री । श० ६/२/१/१४ ॥ ६/६/२/७ ॥ १०/३/१/१ ॥
तां० ७/३/८ ॥ १६/३/६ ॥

यो वै स प्राण एषा सा गायत्री ५/१/२१ ॥
गायत्री वै प्राणः । श० १/३/५/१५ ॥

गायत्री का एक स्थूल प्रतीक पृथिवी को माना गया है । गायत्री एक शक्ति है । जिसके मूल में प्राण का स्पन्दन है । यही स्वरूप पृथ्वी का है । मातृ-तत्त्व की संज्ञा पृथ्वी है । (द्यौः पिता पृथिवी माता) इसी स्पन्दन के कारण पृथिवी की कुक्षि में वीर्य अंकुरित होता है और उसके सदृश अनन्त उत्पादन शक्ति पृथिवी का मातृत्व है जो अनादि काल से है । हमारे इस भूगोल की सीमित पृथिवी जैसे इस विश्व की माता है, वैसे ही अनन्त काल से ब्रह्माण्ड की जो माता है वह महापृथ्वी भी गायत्री का ही रूप है । क्योंकि गायत्री सूर्य की शक्ति है और सूर्य साक्षात् ब्रह्म का प्रतीक है ।

सूर्यो ब्रह्मसमं ज्योतिः ।

सूर्य द्युलोक का इन्द्र है ।

द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी ।

उसकी शक्ति गायत्री पृथिवी रूपिणी है । पृथ्वी का तात्पर्य स्थूल भूत से नहीं किन्तु प्राण सम्पन्न भूत से है । प्राण से अनुप्रविश्य महाकृत्य ही सत्य और सकल लोक है । इन उदात्त अर्थों की ओर लक्ष्य करते ही आचार्यों ने गायत्री विद्या की व्यापक व्याख्या करते हुए लिखा ।

इयं पृथिवी वै गायत्री । तां० ७/३/११/१४/१/४ ॥

शतपथ में एक जगह स्पष्ट कहा है कि निदान विद्या के आधार पर ही पृथिवी को गायत्री कहा जाता है—

गायत्री वा एषा निदानेन । श० १/४/१/३६ ॥

निदान विद्या की दूसरी दृष्टि से अग्नि को भी गायत्री कहा गया है । वहां अग्नि से तात्पर्य प्राणाग्नि से है—

योवा अत्राग्निर्गायत्री स निदानेन। श० १/८/२/१५ ॥

गायत्री युक्त प्राणछन्द की दृष्टि से गायत्री और अग्नि का तादात्म्य है। बृंहण तत्त्व की संज्ञा ब्रह्म, ब्रह्मा या ब्राह्मण है। अतएव ब्राह्मण गायत्री है। ब्राह्मण ब्रह्म या मनस्तत्त्व है। और उसी में जीवन के छन्द का निवास है।

ब्रह्म हि गायत्री। तां ११/११/९ ॥
ब्रह्म उ गायत्री। जै० उ० १/१/८ ॥
ब्रह्म वै गायत्री। ऐ० ४/११ ॥ कौ० ३/५ ॥
ब्रह्म गायत्री। श० ॥१/३/५/८॥

गायत्री एक प्रकार का तेज है जो प्रकाश और ऊष्मा के रूप में विश्व का मूल है। सूर्य गायत्री तेज का सबसे बड़ा भण्डार है और विश्व के निर्माण में सबसे बड़ा कारण है :—

तेजसा वै गायत्री प्रथमं त्रिरात्रं दाधार
पदैर्द्वितीयमक्षरैस्तृतीयम्। १०/५/३॥
तेजो वै गायत्री। गो० उ० ५/३॥
ज्योतिर्वै गायत्री छन्दसाम्। तां० १३/७/२॥
ज्योतिर्वै गायत्री। को० १७/६॥

गायत्री के चारों तरफ उजाला है या विश्व का तेज है। जहां-जहां वैद्युती का तेज है वहां-वहां गायत्री का खेल है। लोक के स्पन्दन के अतिरिक्त शक्ति और कुछ नहीं है और वह प्रातः मध्याह्न और सायंकाल के तीन परस्पर भिन्न और सहयुक्तरूपों में देखी जाती है—

दविद्युतती वै गायत्री। तां० १२/१/२॥

गायत्री ही सविता देव का वरणीय भर्ग है जिसके रहस्यमय स्वरूप से प्राणी मात्र को चैतन्यात्मक प्रेरणा मिल रही है। जब तक यह भार्ग है तभी तक यह द्यु है। गायत्र्येव भर्गः। गो० पू० ५/१५ ॥

गायत्री को अयातयामा कहा गया है अर्थात् वह छन्द जिसका रस काल से मुक्त नहीं हुआ, जिस केन्द्र का रस काल पी लेता है, जिसे प्राण की चेतना छोड़ देती है। प्राण की सत्ता ही तो गायत्री का सबल रूप है—

यातयामान्यन्यानि छन्दांस्ययातयामा गायत्री। तां० १३/१०/१॥

मस्तक सब प्राणात्मक देवताओं का केन्द्र है। अतएव वही गायत्री छन्द है। सिर के बिना शेष सब प्राण शून्य है।

गायत्रं हि शिरः। श० ८/६/२/६॥
शिरो गायत्र्यः। श० ८/६/२/३॥

इसी परिभाषा का अनुसरण करते हुए गायत्री को मुख भी कहा है। इन्द्र और अग्नि इन दो देवताओं का जन्म ब्रह्म के मुख से हुआ है। ये ही दोनों मानो मुख के दो जवड़े हैं—

नानाहनु विभ्रते।

जो वेध प्राण है उसी की दृष्टि से इसे मुख कहा गया है। प्रत्येक प्राण शरीर अन्न ग्रहण की दृष्टि से एक बड़ा मुख ही है। किन्तु प्राणात्मक होने के कारण आदान के साथ विसर्ग भी शरीर का धर्म है। प्रजापति ने या दो अश्वियों ने जिस सुनहले डंडें से (हिरण्यवेतस) चलते शरीर का संगठन किया है। उसके छोर पर इन्द्र और दूसरे छोर पर अग्नि की शक्ति है। अश्विनी कुमारों ने डंडे पर कमलों की माला पहनायी है। (आदत्तां पुष्करस्रजम्) वही तो मेरुवन्द में आठ प्रश्नों का क्रमिक विकास है। प्रत्येक शरीर में यही श्री वृक्ष है। जिसे पुष्करस्रज् भी कहा जाता है :—

मुखं गायत्री। कौ० ११/२॥
मुखमेव गायत्री। तां० ७/३/७॥

जैसा पहले कहा जा चुका है कि गायत्री त्रिपदी छन्द है। उसकी तीन समिधाएं हैं। उसका त्रिविधस्तोम है। उसके तीन अक्षर देवता हैं। वह जीवन के त्रिवृत्त यज्ञ का साक्षात् रूप है।

त्रिपदा गायत्री। तां १०/५/४॥

विश्व और जीवन के त्रेधा विधान में गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती ये तीन छन्द तीन अवस्थाओं के, तीन दिशाओं के प्रतीक हैं। यद्यपि ये दूसरे तीनों में

ओत प्रोत हैं। गायत्री बाल्य अवस्था, प्राचीन दिशा और वस्तुओं का प्रतीक है। त्रिष्टुप् दक्षिण दिशा, रूद्र और यौवन का प्रतीक है। जगती प्रतीची दिशा, आदित्य देवता और जीवन के तीसरे सवन का प्रतीक है। गायत्री वस्तुओं की पालनकर्त्री माता है :—

गायत्री वसूनां पत्नी । गो० उ० २/६॥

गायत्री को रथन्तर और सूर्य को वृहत् साम कहते हैं पृथिवी या पार्थिव शरीर एक रथ है, इसका जो साम या छन्द है उसकी संज्ञा रथन्तर है। क्योंकि वह रथ की सीमाओं को पार करता हुआ सूर्य के वृहत् साम से अपना सम्वन्ध स्थापित किए रहता है। यही मर्त्य पृथिवी का सम्वन्ध निरन्तर अमृत सूर्य के साथ निरन्तर संयोग है :—

गायत्री वै रथन्तरस्य योनिः तां० १५/१०/५॥

ऋषियों ने व्यक्ति और समष्टि के धरातल पर प्रवृत्ति यज्ञ को ही गायत्री या गायत्र कहा है।

गायत्रो यज्ञः । गो० पू० ४/२४॥

प्रत्येक यज्ञ तीन अग्नियों से सम्पन्न होने के कारण त्रिपदा गायत्री के समान त्रिभृत् होता है। बिना तीन अग्नियों के यज्ञ सम्भव नहीं। ऐसे ही बिना मन्त्र और वाक्य के गायत्री की सत्ता संभव नहीं।

गायत्री विद्या का दृष्टान्त लोक विद्या है। अर्थात् तीन लोक गायत्री के तीन चरण हैं। स्वयं शरीर में शिरोभाग, मध्य भाग और अधोभाग में लोक हैं। अतएव पृथ्वी-अन्तरिक्ष-द्यौः इन तीनों का निर्माण गायत्री की शक्ति के त्रिधा विभाग से हुआ है।

इस प्रकार निदान विद्या के आधार पर मूलभूत गायत्री विद्या का संबोध और उसकी व्याख्या अन्य अनेक व्याख्याओं के साथ मिल जाती है। यही वेदार्थ की बहुमुखी क्षमता है। जो गायत्री मन्त्र, ध्यान और जप के लिए प्रचलित है, उसके मुख्य अर्थ तीन ही तत्त्व हैं—एक सविता नामक देव तत्त्व जो समस्त विश्व शक्तियों का प्रेरक है, दूसरे उसकी प्राण शक्ति जिसका आवाहन या ध्यान किया जाता है, तीसरे उसकी सम्प्राप्ति से व्यक्ति के निजी विचार और कर्मों का प्रवर्त्तन।

दो

गायत्री की महिमा वेदों, तथा अनेक आर्ष ग्रन्थों और गीतादि में भी मुक्त-कण्ठ से की हुई पाई जाती है। स्यात् ही कोई ऐसा अभागा वैदिकधर्मी होगा जो गायत्री को बड़ी श्रद्धा तथा पवित्र भाव से न देखता हो। आजकल ऐसा देखने मैं आता है मानों वेदों का प्रतिनिधित्व गायत्री ही कर रही है, क्योंकि जब कभी किसी से पूछा जाय कि तुम्हें वेद का कोई मंत्र आता है तो और नहीं वह गायत्री मंत्र सुना ही देता है, वा उससे इतना जानने की आशा तो अवश्य की ही जाती है। आर्षकाल में तथा अब भी जब किसी व्यक्ति को उपनयन वा जनेऊ पहिनाया जाता है तो उसे गायत्री की दीक्षा देने की प्रथा है। इसकी पुष्टि वृहदारण्यक (५।१४।४) में की है—"इसी सावित्री गायत्री का उपदेश दे"। इसी ब्राह्मण की पांचवी कण्डिका में शंका उठाकर ऋषि कहते हैं :—

तां हैतामेके सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वागनुष्टु वेतद्वाचमनुब्रूम इति न तथा कुर्याद् गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयाद्यदि ह वा अप्येवं विद्वदिव प्रतिग्रह्णति न हैव तद्गायत्र्या एकं च न पदं प्रति ।।

अर्थात् यदि कोई अनुष्टुप सावित्री का उपदेश देने को कहे और कहे कि अनुष्टुप 'वाक्' है, तब भी ऐसा न करे किन्तु सावित्री गायत्री का ही उपदेश करे क्योंकि अनुष्टुप का उपदेश देने से गायत्री के एक पद का फल भी उसे प्राप्त नहीं होता।

यह स्थान उपनिषत्कारों ने गायत्री को दिया। महर्षि दयानन्दजी ने भी इसी पद्धति को अपनाया और सत्यार्थ प्रकाश के तृतीय समुल्लास में यही लिखा—"प्रथम लड़कों का यज्ञोपवीत घर में हो और दूसरा पाठशाला में आचार्यकुल में। पिता-माता वा अध्यापक अपने लड़के-लड़कियों को अर्थसहित गायत्री मन्त्र का उपदेश कर दें। ऋषि दयानन्द जी ने अपने जीवनकाल में भी कई योग्य तथा जिज्ञासुओं को गुरुमंत्र दिया तो वह मन्त्र केवल गायत्री ही था।

अथर्ववेद का एक प्रसिद्ध मन्त्र है जिसका देवता गायत्री है। वह मंत्र गायत्री को इन सुन्दर शब्दों में वर्णन करता है :—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां
यावमानी द्विजानाम् ।
आयु: प्राणं प्रजां पशुं कीर्ति द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् ।
मह्यं दत्वा व्रजत् ब्रह्मलोकम् ।।
अथर्व वेद का १९ सू. ७ मं. २ ।। (१९/७१।१)

इस मन्त्र में गायत्री को साधारण अर्थों में वेदमाता कहा है। यह है गायत्री की वेद-महिमा।

छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ३ खण्ड १२ श्लोक प्रथम में गायत्री की महिमा इन शब्दों में की गई है।

२. गायत्री वा इदं् ँ सर्वं भूतं यदिदं किं च, वाग्वै गायत्री, वाग्वा इदं् सर्वं भूतं गायति च त्रायते च ॥

अर्थात यह सब भूत वर्तमान वा भविष्य सब गायत्री हैं अथवा यह जितना भी भूत वा प्राणीवर्ग है यह सब गायत्री ही है। गायत्री 'वाक' है और इस सब प्राणी वर्ग का यह गायन करती और उसकी रक्षा करती है। छान्दोग्य उपनिषद् गायत्री को प्राणीमात्र के चलाने वाली तथा उसकी रक्षा करने वाली मानता है।

वृहदारण्यकोपनिषद् के पांचवे अध्याय का १४ वां सारा का सारा ब्राह्मण गायत्री की महिमा का वर्णन करता है यथा :—

भूमिरन्तरिक्षं द्यौरिति अष्टावक्षराण्य
ष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदम्···॥

अर्थात् २४ अक्षरी गायत्री का एक पद है। "भूमिरन्तरिक्षं द्यौः।" ये आठ अक्षर होते हैं और ये तीनों लोक गायत्री का एक 'पद' है। पुनश्च

ऋचो यंजूषि सामानीत्यष्टावक्षराण्य—
ष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदम्···॥

अर्थात् गायत्री के दूसरे आठ अक्षरों का एक 'पद' ऋक्, यजुः तथा साम अर्थात् विश्व की त्रयी विद्या पुञ्ज वनता है।

और—प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्ष
राण्यष्टाक्षरं ह वा एकं गायत्र्यै पदम् ···॥

अर्थात् प्राण, अपान, व्यान यह आठ अक्षरों का पुंज गायत्री का एक और पद है। इस पद में संसार के सारे प्राणी समूह समा गए। पाठक देखें कि ऋषि के इस कथन से गायत्री के वाहर कुछ छुटा ही नहीं। यह सम्मति वृहदारण्यक उपनिषद् की गायत्री के विषय में है। गीता के १० वें अध्याय में जहां विभूतियों का वर्णन किया गया है, वहां ३५ वें श्लोक में छन्दों में गायत्री ही विभूति बताई

है। पाठ है—"गायत्री छन्दसाहम्"। अर्थात् छन्दों में मैं गायत्री हूं। अथवा छन्दों में सबसे ऊँची व अच्छी गायत्री है।

अब विचारणीय है कि यह गायत्री क्या है ? गायत्री को सावित्री इसलिए कहते हैं क्योंकि गायत्री मन्त्र का देवता सावित्री है। गायत्री का जो प्रायः अर्थ लिया जाता है वह है :—

(भुर्भुव स्वः) तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्। यजु० २२/३, ३०/२, ३६/३ ॥

इन सब मंत्रों का देवता सावित्री ही है। गायत्री मंत्रों की विशेषता यह है कि इसके २४ अक्षर होते हैं, त्रिष्टुप् के ४४ अक्षर और जगती के ४८ वेद में ये तीनों छन्द प्रायः इकट्ठे ही वर्णन किये जाते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि गायत्री मंत्र में जो २४ अक्षर हैं क्या इनमें ही इतनी शक्ति है जो ऋषियों ने वर्णित की। हमारे सम्पर्क में ऐसे कई व्यक्ति (विशेषकर देवियाँ) आये जिन्होंने लाख-लाख बार इस मंत्र का जाप अर्थसहित किया है। पर हमें खेद है कि इतना तप करने के उपरान्त भी उनके व्यवहार में अन्य लोगों की अपेक्षा कोई विशेष अन्तर नहीं पाया गया। उन पर इस सावित्री गायत्री का कोई भी प्रभाव नहीं देखने में आया। तो फिर गायत्री है क्या ? जिसकी इतनी महिमा गाई गई है। इसलिए हमें सब ज्ञानविज्ञान के आदि स्रोत वेद की शरण लेनी होगी और देखना होगा कि गायत्री के विषय में वेद भगवान क्या कहते हैं :—

(१) दिवि विष्णुर्व्यक्रं ँस्त जागतेन छन्दसा ततो निर्भक्तो योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रंस्त त्रैष्टुभेन छन्दसा ततो निर्भक्तो—द्विष्मः पृथिव्याम् विष्णुऽस्मानद्वेष्टि यं च वयं द्विष्मोऽस्मादन्नादस्यै प्रतिष्ठाया अगन्म स्वः स ज्योतिषाभूम॥ यजु० २/२४ ॥

(२) अग्नेर्जनित्रमसि वृषणौ स्थ उर्वश्यस्यायुरसि पुरूरवा असि। गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि ॥ यजु० ५/२ ॥

(३) उपयामग्रहीतोऽस्यग्नये त्वा गायत्रच्छन्दसं गृह्णामीन्द्राय त्वा त्रिष्टुप्छन्दसं गृह्णामि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यो जगच्छन्दसं गृह्णाम्यनुष्टुप्तेऽभिगरः। यजु० ८/४७ ॥

(४) वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसा ऽङ्गिरस्वद्ध्रुवासि पृथिव्यसि धारया मयि प्रजा ँरायस्पोषङ्गौपत्यं ँसुवीर्यं ँसजातान्यजमानाय रुद्रास्त्वा

कृण्वन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसा ''अन्तरिक्षमसि'''आदित्यास्त्वा कृण्वन्तु जागतेन छन्दसा'''द्यौरसि'''यजमानाय ॥ यजु० ११/५८ ॥

(५) वसवस्त्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्दसा'''रुद्रास्त्वा धूपयन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसा'''आदित्यास्त्वा धूपयन्तु जागतेन छन्दसा'''॥ यजु० ११/६० ॥

(६) वसवस्त्वाछृन्दन्तु गायत्रेण छन्दसा'''रुद्रास्त्वाछृन्दन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसा'''आदित्यास्त्वा छृन्दन्तु जागतेन छन्दसा'''॥ यजु० ११/६५ ॥

(७) विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा गायत्रं छन्द आरोह पृथिवीमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यभिमातिहा त्रैष्टुभं छन्द आरोहान्तरिक्षमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽस्यरातीयतो हन्ता जागतं छन्द आरोह दिवमनु विक्रमस्व विष्णोः क्रमोऽसि शत्रूयतो हन्तानुष्टुभं छन्द आरोह दिशोऽनु विक्रमस्व ॥

यजु० १२/५॥

(८) '''गायत्र्या त्रिष्टुभाऽनुष्टुभा च देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन् ॥

यजु० १३/३४॥

(९) वसवस्त्वाञ्जन्तु गायत्रेण छन्दसा रुद्रास्त्वाञ्जन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसा— दित्यास्त्वाञ्जन्तु जागतेन छन्दसा ॥ यजु० २३/८ ॥

इत्यादि-इत्यादि

पाठक इन मन्त्रों पर कुछ ध्यान दें तो स्वतः साक्षात् हो जाएगा कि यह गायत्री आदि छन्द केवल २४, ४४ तथा ४८ अक्षर-समूह तक सीमित नहीं, यह तो विश्व को चलाने वाले विधान तथा साधन हैं। पहिले मन्त्र पर विचार कीजिए, इस मन्त्र का देवता विष्णु है। इस मन्त्र में विष्णु के ३ क्रमों का वैज्ञानिक वर्णन है। यह मन्त्र बताता है कि दिवि (द्यु लोक में) विष्णु जगती छन्द से कुछ व्यवहार कर रहा वा चला रहा है, अन्तरिक्ष में त्रिष्टुप छन्द से और पृथ्वी लोक में गायत्री छन्द से व्यवहार कर रहा है। दूसरे मन्त्र (यजु० ५/२) का देवता भी विष्णु वा यज्ञ है। इस मन्त्र में अग्नि तथा विद्युत् उत्पन्न करने के लिए बताया कि वृषणों (वृष शक्तिबन्धने)। अर्थात् दो शक्ति-बन्धन (Poles) बनाने होंगे। उसी से उर्वशी गतिशीला विद्युत् तथा आयु (एति प्राप्नोति सर्वानिति आयुः), उणा० १/२ तथा २/११९; अर्थात् सब कुछ प्राप्त करने के साधन चुम्बकादि तथा अनेक प्रकार के शब्द साधन

(पुरुवा:) इन गायत्री छन्दों के मन्थन से उत्पन्न हो सकते हैं।

यदि पाठक उल्लिखित मंत्रों को ध्यान से देखें तो निम्न बातें स्पष्ट होती हैं :—

(१) तीन छन्दों अर्थात् गायत्री, त्रिष्टुप तथा जगती छन्दों का इकट्ठा वर्णन है।

(२) तीनों लोकों—पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यौ एक-एक छन्द के साथ जोड़े गए हैं।

(३) तीन अग्नि ग्रों—अग्नि इन्द्र तथा द्यौ को भी एक-एक छन्द के साथ इकट्ठा किया गया है।

(४) गायत्री को पृथिवी लोक से और अग्नि (Heat) से त्रिष्टुप को अन्तरिक्ष (Atmosphere) तथा इन्द्राग्नि (Electricity) और (Gaseous-ions) से हैं, तथा जगती को दिव्य लोक (Space) तथा द्यौ वा (Irradia-tion) से जोड़ा गया है।

(५) गायत्री को वसुओं से, त्रिष्टुप को रुद्रों से तथा जगती को आदित्यों से सम्बन्धित किया है। मंत्र कहते है कि गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती छन्दों द्वारा वसु, रुद्र और आदित्य संसार से धूपयन्तु (धूप संदहने) अर्थात् संदहन करते हैं वा छृन्दन्तु अर्थात् संदीपन कर रहे हैं।

अव विचार उठता है कि क्या यह कोई अन्य गायत्री वेद में अभिप्रेत है अथवा यह वही गायत्री है जिसे साधारण प्रतिदिन जपते वा मनन करते हैं ?

प्राय: गायत्री, त्रिष्टुप तथा जगती का सम्बन्ध जब वसु, रुद्र वा आदित्यों से किया जाता है तो इन छन्दों के अक्षरों की गणना के अनुसार २४, ४४ तथा ४८ वर्षों के ब्रह्मचर्य काल से जोड़ा जाता है। इसकी पुष्टि के लिऐ छान्दोग्योपोनिषद् के तृतीय प्रपाठक का १६ वां खण्ड साक्षी है। पाठ है :—

> पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशति बर्षाणि तत्प्रातः सवनं चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातः सवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसवः एते हीद्ँसर्वं वासयन्ति। छा० ३/१६/१॥

इसी प्रकार छा० ३/१६/२ से ६ तक त्रिष्टुप् तथा जगती के रुद्र तथा आदित्य, ४४ तथा ४८ वर्षों के ब्रह्मचर्य को बताया है। यहां वसु, रुद्र और आदित्यों को प्राण कहा है।

इनमें यह कहा कि पुरुष का प्रातःकाल उसके जीवन के पहले २४ वर्ष हैं। २४ अक्षर की ही गायत्री है; गायत्र प्रातःकाल का सवन है। इससे उसके वसु भी अनुकूल हो, जाते हैं। वसु ही प्राण हैं। वही अपने वल से सब को शरीर में वास

करा रहे हैं। अर्थात् प्राण निकलने पर सब कुछ निकल जाता है।

इसी प्रकार जीवन काल के ४४ वर्ष त्रिष्टुप् के अक्षरों के समान हैं। यह जीवन का मध्यकाल है और उसके रुद्ररुपी प्राण उसके शारीरिक रोगों को रुलाने वाले होते हैं और उसकी रक्षा करते हैं। और जो ४८ वर्ष का ब्रह्मचर्य पालन करता है वह अति उत्तम कोटि का है। वह जगती छन्द के ४८ अक्षरों के समान है। इसमें आदित्य रूपी प्राण उसकी रक्षा करते हैं। इत्यादि छान्दोग्योपनिषद् ने भी इन २४,४४,४८ अक्षरों की गायत्री, त्रिष्टुप तथा जगती और वसु, रुद्र तथा आदित्यों को सम्बन्धित किया।

परन्तु जो ऊपर वेद के मन्त्र दिये गए हैं वे तो पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक से सम्बन्ध रखते हैं। तो इन दोनों का सामञ्जस्य कैसे हुआ? वेद के मन्त्रों के अर्थ आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक हैं। यह वेद की महिमा है। वेद का मुख्य प्रयोजन मनुष्य को ऊंचा करना तथा प्रभुभक्ति प्राप्ति कराना है। ऋषि दयानन्द ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में यही लिखा है कि 'परमेश्वर ही वेदों का मुख्य अर्थ है'। वा "वेदों का मुख्य तात्पर्य परमेश्वर के प्राप्त कराने तथा प्रतिपादन करने में है।" यही वेदों के मन्त्रों का आध्यात्मिक स्वरूप है। इसलिये ऋषियों ने इन गायित्री आदि का आध्यात्मिक भाव लेकर ही मनुष्य को उन्नत कराने और परमेश्वर को प्राप्त कराने को ही मनुष्यों के आगे रखा और उसे प्राथमिकता दी। पर उन मन्त्रों का आधिदैविक अर्थ भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं था, जैसा आज दुर्भाग्य से ओझल हुआ है। उन्होंने जब सृष्टि की रचना वा उसके चलाने वाले विधान को तथा साधनों को साक्षात् किया तो उन्होंने वेद के आधिदैविक अर्थ भी किये और इसी रूप में ऊपर लिखे वृहदारण्यक वा छान्दोग्योपनिषद् के गायत्री के आधिदैविक स्वरूप का वर्णन किया।

अब विचार करने की और आवश्यकता यह है कि ऋषियों ने गायत्री का आधिदैविक अर्थ क्या किया? उनकी दृष्टि में गायत्री क्या है? वृहदारण्यक में ऋषि गायत्री की लक्षणा यूं करता है :—

> सा (गायत्री) हैषा गयांस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे
> तद्यद गयांस्तत्रे तस्माद् गायत्री नाम··· वृ० उ० ५/१४/४॥

अर्थात्—इस गायत्री ने 'गयों' की रक्षा की वा कर रही है और निश्चय रूप में 'प्राण' ही 'गय' हैं। इसलिये यह प्राणों की रक्षा करती है। गयों (प्राणों) का त्राण करने के कारण ही इसका नाम गायत्री हुआ। यह लक्षणा गायत्री ने की। छान्दोग्य उपनिषद् में भी यही कहा है :—

सर्वं भूतं गायत्ति (प्राणयति) च त्रायते च।

अर्थात् यह प्राणियों में प्राण डालती तथा उनकी रक्षा करती है, इस लिये गायत्री है।

इन लक्षणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि गायत्री आधिदैविक रूप में परमात्मा का वह विधान है जिसके द्वारा संसार में विश्व को चलाने वाले प्राणों (Energies and Forces) को नियमित कर प्राणियों की रक्षा हो रही है। इसी कण्डिका में ऋषि कहता है "प्राणों वै बलम्" अर्थात् प्राण बल हैं। प्राण जहाँ शक्ति का स्रोत होते हैं वहां वह बड़े घातक भी हो सकते हैं, यदि संयत न हो। और उनसे रक्षा भी करनी आवश्यक है।

हमारे सूर्य (प्राणपुंज से अत्यन्त घातक प्राण (जैसे आल्फ़ा α, बीटा β, गामा, एक्स तथा आल्ट्रा वॉयलट) किरणों के रूप में हमारी पृथिवी की ओर अत्यन्त अचित्य वेग से आते हैं और उनमें हमारी पृथिवी की भी क्षति करने की शक्तियां होती हैं। तो उस पर जीवन धारी हम कोमल प्राणियों का तो क्या कहना ? सूर्य के अतिरिक्त विश्व में घूमते अत्यन्त घातक तथा भयानक परमाणु-समूह पृथिवी की ओर आ रहे हैं। जिन्हें जगती छन्द अथवा जगत् में व्यापक (Cosmic rays) कहा जा सकता है। इन भयानक घातक रश्मियों वा प्राण-परमाणुओं से बचाने वा रक्षा करने का कोई प्रवन्ध वा विधान भगवान् ने अवश्य वना रखा है, जिसकी कृपा से हम सव वचे हुए हैं। वह विधान वा वह कृपा इन छन्दों की है।

उणादिकोष (४/२/१९) के सूत्र 'चन्देरादेश्च छः' के अनुसार छन्द की व्युत्पति चदि धातु से हुई जिसका अर्थ है अत्यन्त आनन्दित होना व चमकना इसलिऐ सूत्रकी व्याख्या करते हुए कहा :—

चन्दति हृष्यति येन दीप्यते वा तत् छन्दः।

अर्थात् जिसके द्वारा आनन्द प्राप्त हो वा चमके, वह छन्द है। गायत्री छन्द के कारण पृथिवी पर आनन्द है। गायत्री का सम्बन्ध पृथिवी से है। इसे आगे और स्पस्ट करेंगे। छन्द का दूसरा अर्थ आवरण या ढकना के भाव में लिया जाता है। वह छदि धातु से लिया जाता है। अतः छन्द वह हुआ जो ढके रहे, चहुं ओर लिपटा रहे और आवरण बना रहे। यह अर्थ भी गायत्री छन्द में पूर्ण सार्थक है, क्योंकि गायत्री पृथिवी को ढककर पृथिवी तथा पार्थिव प्राणियों की रक्षा कर रही है। छन्द की व्युत्पत्ति एक तीसरे अर्थ में भी है। इसी अर्थ में विष्णु। वह है 'छदिर ऊर्जने' अर्थात् वल तथा प्राण डालने वाली वा प्राणपुञ्ज हो। इसी अर्थ में विष्णु दिव्यलोक में जगती (विश्वव्यापी) (Cosmic rays)

छन्द (प्राण-पुञ्ज-कणों) से काम कर रहा है। अन्तरिक्ष में त्रिष्टुप् अर्थात् (Ultraviolet, X rays तथा electric-ions) छन्द द्वारा इन्द्र के रूप में काम चला रहा है और पृथिवी पर गायत्री छन्द (gaseus ions) वायुमण्डल तथा पृथिवी का अपना महान् चुम्बक, (earth's gigantic magnet) द्वारा इन घातक रश्मियों से रक्षा कर रहा है (यजु० २/२५)। पृथिवी का अपना चुम्बक उन घातक विश्वव्यापी प्राणकणों (Cosmic Pasitive Particles) को पृथिवी से दूर धकेल देता है। और अन्य भयानक रश्मियों पृथिवी के वायु-मण्डल को जो पृथिवी को हजारों मील दूर तक, चारों ओर कम्बल के समान लपेटे हुए है चीरती-चीरती पृथिवी तक पहुंचती हुई स्वयं बहुत ही छिन्न-भिन्न होकर निर्बल हो जाती है और उनकी घातकता दूर हो जाती है। साथ ही उनकी सूक्ष्म-मात्रा में रह गया अंश स्थावर तथा जंगम प्राणियों के जीवन का आधार बन जाता है। यह सब पृथिवी की रक्षा करने वाली गायत्री भगवती की कृपा है। इसी भाव को लेकर छान्दोग्योपनिषद् में ऋषि कहता है—

> गायत्री वा इद सर्वं भूतं यदिदं किं च वाग् वै गायत्री
> वाग्वा इद ँ सर्वं भूतः गायतिः च त्रायते च। छा० ३/१२/१॥

अर्थात् गायत्री ही सब भूत वा प्राणिवर्ग है, यह स्थावर-जंगम प्राणी गायत्री की कृपा से ही गायति अर्थात् प्राणवान् हैं (अन्यथा यह मर जावें।) क्योंकि यह उनकी रक्षा करती है।

यह श्लोक हमारे ऊपर लिखे गायत्री के स्वरूप को पूर्णरूप से सार्थक करता है और गायत्री का यह आधिदैविक स्वरूप है। गायत्री के हमारे ऊपर लिखे स्वरूप की आज के सब (Astrophysists) पुष्टि करते हैं।

वेदों में अनेक २४ अक्षरी गायत्री मंत्र होते हुऐ भी "भूभर्वः स्वः तत्स-वितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्। मंत्र को सब गायत्री मंत्रों का मुखिया क्यों स्वीकार किया। इसका कारण केवल यही है कि इस मंत्र का आधिदैविक तथा आध्यात्मिक स्वरूप गायत्री के वास्तविक उत्पादक तथा रक्षक स्वरूप को ठीक निरूपण करता है। इस मंत्र का आधिदैवत यही है कि भूः (पृथिवी) भूवः (अन्तरिक्ष) तथा स्वः द्यु लोक है। इनको परमात्मा की सावित्री (उत्पादक) शक्ति या संविधान जो विश्व में प्रकाशमान (Mani-fest) वा प्रकट हो रहा है और पवित्र वा कल्याणकारी है, (वरेण्यं) सब पदार्थों को अपनी ओर (Centrepetal force) द्वारा खींचकर सबको (धीमहि) धारण कर रहा है। वही प्रभु की सावित्री शक्ति (धियः) हम सब को धारण

करने वाले केन्द्र प्राणों को सदा (प्रचोदयात्, क्षोभयुक्त वा उत्तेजित करती रहे। जिससे हमारी रक्षा होती रहे।

अथर्ववेद के 'स्तुता मया वरदा वेद माता' मंत्र में इस भाव को और विस्तार तथा सुन्दर रूप में स्तुति की है। इस मंत्र में यह उपदेश है कि (वरदा) सब पार्थिव पदार्थों को प्राप्त कराने वाली (वेदमाता) विज्ञान और विधान तथा सत्ता (विद ज्ञाने, विद सत्तायाम्) की निर्मात्री तथा सावित्री शक्ति के गुणों को जानो और उनका स्तवन वा प्रसार करो। इस पवित्र उत्पादक शक्ति के मनन से विद्वानों के हृदय पवित्र होकर उनमें, संसार वा प्राणी-मात्र की सुख-संवृद्धि के लिऐ विचार और कर्मभावना उत्पन्न होती है। आजकल के विज्ञान-वेत्ताओं की बुद्धियों की जिससे संसार भर की आयु, प्राण, पशु, कीर्ति, प्रजा आदि की वृद्धि और रक्षा होती है। आजकल के विज्ञान-वेत्ताओं की बुद्धियों की अपवित्रता के कारणही, परमाणु-बम व उद्जन बम प्राणीमात्र का नाश करने वाले आसुरी अस्त्र बन रहे हैं। प्रभो ! अन्त में आप से यही प्रार्थना है कि आज के बड़े-बड़े राज्य मुखियों के हृदय भगवती गायत्री (पावमानी द्विजानाम्) पवित्र करे और आप (भर्गः वरेण्यः) जो स्वयं पवित्र और वरने वा प्रेम करने योग्य हैं, इन लोगों को और हम सब की बुद्धियों को पवित्र करें और परस्पर के प्रेम-भाव को (प्रचोदयात्) प्रेरणा करें। तब ही आपकी गायत्री शक्ति का संसार में गायन होगा और संसार की रक्षा होगी।

—'वेदवाणी' से साभार

आर्यसमाज की संस्कृत साहित्य को देन

प्रो॰ भवानीलाल भारतीय

भारत के नवजागरण के आन्दोलनों में आर्यसमाज की स्थिति अपने समान धर्मा अन्य आन्दोलनों से पर्याप्त भिन्न है। ब्रह्मसमाज, थियोसोफी तथा रामकृष्ण मिशन आदि ने जहां अपने वैचारिक चिन्तन, कार्यप्रणाली आदि के लिए पश्चिम से बहुत कुछ लिया वहां आर्यसमाज विशुद्ध रूप से भारतीय सभ्यता संस्कृति, भाषा तथा विचार धारा से जुड़ा रहा। यही कारण है कि आर्यसमाज ने प्राचीन संस्कृत साहित्य से प्रेरणा लेते हुए अपनी कार्य पद्धति का निर्धारण किया तथा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप में संस्कृत भाषा तथा उसके साहित्य को समुन्नत बनाने में योग दिया।

सर्व प्रथम यदि हम आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द के संस्कृत विषयक अवदान का ही विचार करें तो यह स्पष्ट होता है कि उनके द्वारा देववाणी का प्रचार प्रसार ही नहीं हुआ किन्तु इस भाषा के साहित्य के निर्माण में भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। स्वामी दयानन्द की मातृभाषा गुजराती थी। हिन्दी का अभ्यास उन्होंने बहुत बाद में किया, जब कि उन्हें यह बताया गया कि बिना लोक भाषा को अपनाये, वे अपनी विचारधारा को अधिकाधिक जनता तक पहुंचाने में नहीं समर्थ होंगे। स्वामी दयानन्द ने संस्कृत में जिस साहित्य का प्रणयन किया उसे निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है—(१) वेद भाष्य तथा वेद भाष्य भूमिका (२) खण्डन मण्डन के ग्रंथ (३) वेदाङ्ग प्रकाश आदि व्याकरण ग्रन्थ। सर्व प्रथम उन्होंने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका की रचना कर वेदार्थ के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया। इस भूमिका में लगभग ५० प्रकरण हैं जिनमें स्वामी जी ने वेद के स्वरूप उसकी इयत्ता, वेद संज्ञा, वेद के विवेचनीय विषय तथा वेदार्थ प्रणाली जैसे विषयों पर अपने विचार प्रमाण परस्पर प्रकट किये हैं। भूमिका की भाषा सरल, प्रांजल तथा प्रभाव पूर्ण है। स्वामी दयानन्द ने वेदों की चारों संहिताओं

पर भाष्य रचना नहीं की। उनके द्वारा ऋग्वेद के ५६४६ मंत्रों तथा सम्पूर्ण यजुर्वेद पर भाष्य लिखा गया। इस भाष्य का हिन्दी अनुवाद पं भीमसेन, पं० ज्वालादत्त तथा पं० दिनेशराम आदि साधारण कोटि के विद्वानों का किया हुआ है जो कहीं-कहीं मूल से विरुद्ध होने के कारण असंगत भी हो गया है। स्वामी दयानन्द ने सर्वप्रथम 'भागवत् खण्डनम्' नामक अपना प्रथम ग्रन्थ संस्कृत में ही लिखा था। कालान्तर में उन्होंने सहजानन्द प्रवर्तित स्वामी नारायण मत तथा वल्लभाचार्य प्रतिपादित वैष्णव मत के खण्डन में संस्कृत में ग्रन्थ लिखे। शाङ्करवेदान्त के खण्डन में लिखा गया उनका वेदान्तिध्वान्त-निवारण भी संस्कृत का एक सुन्दर प्रकरण ग्रन्थ है। काशी शास्त्रार्थ का विवरण भी मौलिक रूप से संस्कृत में ही लिखा गया था। वेदाङ्ग प्रकाश की रचना संस्कृत भाषा के ज्ञान की दृष्टि से की गई। 'संस्कृत-वाक्य प्रबोध' जहां संस्कृत भाषा में वार्तालाप का अभ्यास करने में सहायता देता है वहां उससे स्वामीजी की विचार धारा का भी ज्ञान अनायास ही हो जाता है।

स्वामी दयानन्द के दिवंगत होने के पश्चात् भी संस्कृत में साहित्य निर्माण की परम्परा आर्यसमाज में जारी रही। स्वामीजी द्वारा प्रवर्तित वेद भाष्य प्रणाली का ही अनुसरण करते हुए महा-महोपाध्याय पं० आर्यमुनि, पं० शिव-शंकर शर्मा, स्वामी ब्रह्ममुनि तथा पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार ने ऋग्वेद के भाष्य (अंशतः और पूर्णतः) लिखे वहां तुलसीराम स्वामी, पं० वीरेन्द्र शास्त्री, पं० वैद्यनाथ शास्त्री आदि विद्वानों ने सामवेद के भाष्यों की रचना की। यजुर्वेद पर तो अनेक विद्वानों ने भिन्न-भिन्न भाष्य लिखे। अथर्ववेद पर सर्वांगीण भाष्य त्रिवेदी उपाधिधारी पं० क्षेमकरण दास ने लिखा। वेदाङ्गों पर अनेक प्रकार के ग्रन्थ लिखे गये। मौलिक ग्रन्थों की टीकायें, व्याख्यायें तथा विवेचनाएं प्रस्तुत की गईं तथा स्वतंत्र ग्रन्थों का भी प्रणयन हुआ। निरुक्त पर पं० राजाराम, पं० भगवद्दत्त, पं० चन्द्रमणि विद्यालंकार तथा आचार्य विश्वेश्वर ने परिश्रम पूर्ण टीकायें लिखीं। कल्प सूत्रों पर अधिक कार्य नहीं हुआ। तथापि पं० भीमसेन शर्मा ने कुछ गृह्य सूत्रों का अनुवाद किया। इधर पं० युधिष्ठिर मीमांसक की देखरेख में कतिपय श्रौत सूत्रों का सम्पादन कार्य हुआ है। स्वामी सत्यप्रकाश ने शुल्ब सूत्रों का सम्पादन किया है। व्याकरण के अन्तर्गत अष्टाध्यायी एवं महा भाष्य की टीकायें लिखी गई तथा अन्य ग्रन्थों की व्याख्या एवं विवेचना को लेकर भी ग्रन्थ लिखे गये। संस्कृत भाषा के शिक्षण के लिये अनेक छोटे बड़े ग्रन्थों की रचना हुई। पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने अष्टाध्यायी पद्धति से संस्कृत सीखने की अनुभूत सरलतम विधि का आविष्कार किया तथा एतद्-विषयक ग्रन्थ भी लिखा।

संस्कृत साहित्य में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त तथा मीमांसा को वैदिक एवं आस्तिक दर्शनों की संज्ञा दी गई है। आर्यसमाज के विद्वानों ने इन दर्शनों पर अनेक मौलिक तथा टीका आदि ग्रंथ लिखकर संस्कृत के दार्शनिक साहित्य की अभिवृद्धि की है। पं० तुलसीराम स्वामी, स्वामी दर्शनानन्द, पं० आर्यमुनि, पं० राजाराम आदि ने षड्दर्शन के मूल सूत्रों पर अपनी टीकायें प्रस्तुत की हैं। दर्शनानन्द जी की उर्दू व्याख्याओं ने संस्कृत के दर्शन वाङ्मय को उर्दू भाषियों तक पहुंचाया। सांख्य-दर्शन के इतिहास को लिखकर पं० उदयवीर शास्त्री ने इस दर्शन के अध्ययन में एक नवीन आयाम उपस्थित किया। इसी प्रकार वेदान्त-दर्शन का इतिहास लिखकर उन्होंने वेदान्त दर्शन पर भाष्य लिखने वाले आद्य शंकराचार्य का काल निरुपण करने में कुछ महत्त्वपूर्ण स्रोतों का उपयोग किया। मीमांसा दर्शन पर आर्यसमाज के विद्वानों का लेखन मात्रा की दृष्टि से तो नहीं, किन्तु गुणवत्ता की दृष्टि से प्रशंसनीय है। पं० आर्यमुनि ने मीमांसा पर भाष्य लिखा, पं० भयाशंकर शर्मा का मीमांसा भाष्य गुजराती भाषा में है। पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने शाबर भाष्य सहित मीमांसक दर्शन की सुगम व्याख्या प्रस्तुत की है। दर्शनों पर मौलिक ग्रन्थ भी लिखे गये हैं। पं० जयदत्त शास्त्री ने सिद्धान्त-शतक लिखकर वैदिक दर्शन को श्लोक वद्ध किया है। पं० लक्ष्मीदत्त दीक्षित के 'अनादितत्त्वदर्शन तथा तत्त्वमसि' जैसे ग्रन्थों में सूत्र शैली का महत्त्वपूर्ण प्रयोग मिलता है। वे प्रथम अपने कथ्य को मौलिक सूत्र के रूप में उपस्थित करते हैं, तदन्तर उसकी विस्तृत व्याख्या स्वयं ही प्रस्तुत करते हैं।

रामायण महाभारतादि आर्ष काव्यों और प्रामणिक इतिहास ग्रन्थों की टीका, व्याख्या एवं विवेचना लिखने में भी आर्य विद्वानों ने प्रभूत परिश्रम किया है। पं० राजाराम 'पं० आर्य मुनि' पं० चन्द्रमणि आदि ने रामायण की व्याख्यायें लिखीं तथा उनके संक्षिप्त सम्पादित संस्करण प्रस्तुत किए। वाल्मीकीय रामायण के अनुपम विद्वान् अखिलानन्द ब्रह्मचारी ने युद्धकाण्ड को छोड़कर इस ग्रन्थ पर प्रामाणिक टीका लिखी जो रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित हुई है। स्वामी जगदीश्वरानन्द ने रामायण तथा महाभारत के सम्पादित संक्षिप्त संस्करण विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका के साथ प्रकाशित किए हैं। महाभारत के ही पृथक अंश रूप भगवद्गीता, विदुर नीति आदि भी आर्यसमाज में सम्मानित हैं। अनेक विद्वानों ने इनकी व्याख्या विवेचना की है। पं० भीमसेन शास्त्री ने संस्कृत में गीता का भाष्य लिखा। स्वामी आत्मानन्द की वैदिकगीता प्रक्षिप्त श्लोकों को छोड़कर संगृहीत की गई हैं। इन पंक्तियों के लेखक द्वारा सम्पादित आर्ष-गीता में गीता की ऐतिहासिकता, गीता की पृष्ठमूमि तथा गीता में प्रतिपादित विषयों की सम्यक् विवेचना की गई है। इसी प्रकार चाणक्य नीति, शुक्रनीति

पञ्चतंत्र, हितोपदेश, भर्तृहरि शतक आदि नीति ग्रन्थों की टीकायें व्याख्यायें तथा उनके आलोचनात्मक संस्करण प्रस्तुत करने में आर्यसमाजी विद्वानों ने पर्याप्त श्रम किया है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत के शास्त्रीय साहित्य की अभिवृद्धि संरक्षण, संवर्धन तथा प्रचार में आर्य विद्वानों का योगदान प्रशंसनीय रहा है।

अब तक हमने लौकिक साहित्य से भिन्न शास्त्रीय साहित्य का विचार किया था। साहित्य शास्त्र में काव्य तथा साहित्य को अनेकत्र पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त किया है। रसात्मक वाक्य को ही काव्य की संज्ञा दी गई है। सामान्य कथन से भिन्न व्यंजना एवं ध्वनि संयुक्त वाक्य ही काव्य के क्षेत्र में परिगणित होते हैं। आर्यसमाज में संस्कृत के ऐसे कवियों का बाहुल्य है जिन्होंने महाकाव्य, खण्डकाव्य तथा मुक्तक काव्य के क्षेत्रों में रस पूर्ण कृतियों की रचना की है। महाकवि अखिलानन्द शर्मा, पं० मेधाव्रताचार्य तथा पं० दिलीपदत्त शर्मा ने स्वामी दयानन्द के जीवन एवं व्यक्तित्व को आधार बना कर महाकाव्यों का प्रणयन किया। गंगाप्रसाद उपाध्याय का आर्योदय काव्य, पं० धर्मदेव विद्या-मार्तण्ड प्रणीत महापुरुष-कीर्तनम् तथा महिलामणिकीर्तनम् काव्य रसात्मकसाहित्य के सफल उदाहरण हैं। दयानन्द लहरी, यतीन्द्रशतकम् 'महात्ममणिमंजूषा, गुरु-कुलशतक, ब्रह्मचर्यशतक, अभिनव काव्यम् जगज्ज्योति, विरजानन्द चरितम् आदि संस्कृत काव्य आर्यसमाज के संस्कृत कवियों की काव्य सृष्टि को प्रमाणित करते हैं। पं० अखिलानन्द ने स्वामी दयानन्द रचित आर्योद्देश्य रत्नमाला तथा आर्य-समाज के नियमों का काव्यानुवाद किया है। स्वामी जी के आद्य शिष्य पं० ज्वालादत्त शर्मा कृत 'दशनियम शिखरिणी' एक उत्कृष्ट काव्य कृति है। जोधपुर निवासी पं० देवीचन्द्र शास्त्री रचित-अभिनव महिम्न पुष्पदन्ताचार्य कृत शिव महिम्न की शैली में लिखा गया है।

काव्य की ही भांति गद्य लेखन में भी आर्यसमाज के संस्कृत कवियों ने नूतन उपलब्धियां अर्जित की हैं। मेधाव्रताचार्य में 'कुमुदिनीचन्द्र' उपन्यास लिखकर संस्कृत में इस नवीन गद्य विधा का सूत्रपात किया। आनन्दवर्धन विद्यालंकार का उपन्यास 'कुसुम लक्ष्मी' आधुनिक सामाजिक परिवेश की पृष्ठभूमि को लेकर लिखा गया है। आचार्य विद्या निधि शास्त्री ने महर्षि दयानन्द चरितम्' लिखकर संस्कृत के समास प्रधान कादम्बरी शैली के गद्य का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है। संस्कृत में निबंध लिखने के प्रयोग तो अनेक प्रकार से हुए हैं। शास्त्रीय विषयों से सम्बन्धित निबंधों के अतिरिक्त लौकिक, सामायिक विषयों की विवे-चना से युक्त निबंधों की संख्या भी पर्याप्त है। पं० युधिष्ठिर मीमांसक के शास्त्रीय निबंध महत्त्वपूर्ण हैं। संस्कृत में शास्त्रार्थ करने की प्रणाली को पुन-रुज्जीवित कर आर्य समाज ने संस्कृत को व्यवहारोपयोगी भाषा बताया है।

कालान्तर में इन संस्कृत शास्त्रार्थों को पुस्तकाकार भी प्रकाशित किया गया है। इन ग्रन्थों में व्यंग्य, विनोद, कटूक्ति, दृष्टान्त, आभाणक आदि के प्रयोगों से इनकी रोचकता की वृद्धि हुई है। गद्य के प्रचार में पत्र-पत्रिकाओं का योगदान महत्त्वपूर्ण होता है। आर्यसमाज ने भारतोदय, गुरुकुल पत्रिका, आदि पत्रिकाओं का प्रकाशन कर संस्कृत पत्रकारिता को एक नवीन दिशा प्रदान की है। गुरुकुलों के मुख पत्रों के रूप में प्रकाशित इन पत्रिकाओं से संस्कृत भाषा का अपूर्व प्रचार हुआ है।

संस्कृत में सर्जनात्मक मौलिक साहित्य लिखने के साथ-साथ आर्यसमाज ने प्राचीन साहित्य के अनुसंधान, शोध तथा सम्पादन के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय कार्य किया है। डी० ए० वी० कालेज लाहौर का अनुसंधान विभाग तथा उसके संचालक पं० भगवद्दत्त ने इस क्षेत्र में प्रथम दिशा निर्देश किया। तत्पश्चात् विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान, विरजानन्द वैदिक संस्थान, रामलाल कपूर ट्रस्ट आदि संस्थाओं के माध्यम से भी संस्कृत के शोध कार्य को नवीन दिशा मिली। इधर पंजाब तथा कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालयों में दयानन्द शोध पीठों की स्थापना के द्वारा वैज्ञानिक अनुसंधान के नवीन क्षेत्र खुले हैं। कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय की दयानन्द शोध पीठ के भूतपूर्व अध्यक्ष डॉ० श्रीनिवास शास्त्री तथा पंजाब विश्वविद्यालय के दयानन्द अनुसंधान विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष प्रो० रामनाथ वेदालंकार ने स्वामी दयानन्द के वेदविषयक विचारों पर मौलिक ग्रन्थों का निर्माण किया है। इन पंक्तियों के लेखक ने दयानन्द साहित्य की सम्पूर्ण सूची प्रस्तुत करने के अतिरिक्त स्वामी दयानन्द कृत चतुर्वेद विषय सूची तथा स्वामी दयानन्द प्रणीत ऋग्वेद के कुछ प्रारम्भिक मंत्रों के विशद भाष्य का सम्पादन किया है। व्यक्तिगत रूप से शोध करने वालों में पं० युधिष्ठिर मीमांसक, स्वामी ब्रह्ममुनि आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रो० वी० राघवन ने साम्प्रतिक काल के संस्कृत साहित्य का अनुशीलन करते हुए ठीक ही लिखा था कि नये आन्दोलनों में आर्यसमाज का संस्कृत साहित्य के पुनरुत्थान से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

प्रकृति और सर्ग

आचार्य उदयवीर शास्त्री

दर्शनशास्त्र जगत् की व्याख्या करते हैं, यह एक सर्वमान्य विचार है। कोई दर्शन किसी काल या किसी देश में प्रादुर्भूत हुआ हो, उसका प्रतिपाद्य विषय जो कुछ हो, वह जगत् या जगत् के किसी अंश की व्याख्या करने की सीमा से बाहर नहीं जाता। फलतः पूरक रूप में 'दर्शन' उस शास्त्र का नाम है, जो जगत् के मूल तत्त्वों का विवेचन प्रस्तुत करता है। 'दर्शन' पद की उक्त व्याख्या स्वभावतः यह प्रश्न सामने ला खड़ा करती है, कि वे मूलतत्त्व क्या हैं, जिनके विवेचन के लिये दर्शन शास्त्र प्रवृत हुए हैं।

मूल तत्त्व विषयक आधारभूत तीन विचारधारायें

दर्शनशास्त्र द्वारा प्रतिपाद्य विषय के रूप में मूलतत्त्व विषयक जितनी विचारधारायें आज तक संसार में जानी गई हैं, संक्षेप से उनको तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. चेतन और जड़ दोनों प्रकार के मूलतत्त्वों का अस्तित्व वास्तविक है। दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्व होने पर भी इनके परस्पर सहयोग से ही सर्ग आदि जगत् कार्य निर्वाह संभव है।

२. केवल जड़ एक मात्र तत्त्व है, वह कभी अवस्था विशेष में आकर अपने वास्तविक मूलरूप से इतना भिन्न प्रतीत होने लगता है, कि उसे तब जड़ नहीं कहा जा सकता, ऐसी दशा में उसे चेतन कह दिया जाता है। चेतन नाम की पृथक् एवं स्वतन्त्र सत्ता रखने वाली कोई वस्तु नहीं है।

३. केवल चेतन एक मात्र तत्त्व है। चेतन से अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखता। यह जो जड़ जगत् दृष्टिगोचर हो रहा है, इसका अपना वास्तविक स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, मूल चेतन तत्त्व केवल लीला-वश इस रूप में भासता है।

पहली विचारधारा वैदिक है। इस प्रकार के मन्तव्यों का निर्देश एवं संकेत वेद के अनेक सूत्रों व मन्त्रों में उपलब्ध होता है। इन्हीं सूत्रों में से एक सूत्र 'नासदीय सूक्त' है। जगत् के मूल उपादान कारण प्रकृति तत्त्व के अर्थ में अपिति, पद के समान वेद में 'स्वधा' पद का भी प्रयोग देखा जाता है। नासदीय सूक्त में 'स्वधा' पद के द्वारा मूल कारण का निर्देश किया गया है।

इस सूत्र की प्रथम तीन ऋचाओं में प्रलयकाल की अवस्था का वर्णन है। वहाँ लिखा है कि सर्गकाल से पूर्व, प्रलय अवस्था में सब कुछ 'असत्' ही था, यह बात नहीं ; उस समय 'सत्' भी नहीं था, क्योंकि दृष्यमान पृथिव्यादि लोक-लोकान्तर, और व्यवहार्य आकाश भी न था, भोक्ता आत्मा भी नहीं था, उसके आवरण फिर कहां ? यह सब कहाँ किसके सुख (=भोग) के लिये ? क्योंकि तब कोई भोक्ता ही न था ; जब लोक-लोकान्तर, भोक्ता, भोक्ता के आवरक तत्त्व और पृथिव्यादि भूत न थे, तब गहरा गंभीर समुद्र भी कैसे हो सकता था ?

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो न व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥

इस पहिली ऋचा का शब्दार्थ ऊपर दे दिया गया है। प्रलय अवस्था में सब कुछ शश-शृंग के समान अत्यन्त अभावरूप हो जाता है, यह बात नहीं हैं। उसकी कुछ न कुछ सत्ता अवश्य रहती है, परन्तु वह ऐसी सत्ता नहीं रहती, जैसी सर्ग-काल में देखी जाती है। इसलिये सर्गकाल सदृश सत्ता का, उस समय न होना, स्पष्टरूप से वर्णन किया गया है। जब ऋचा में यह कहा है, कि उस समय 'सत्' नहीं था ; तब वह कैसा 'सत्' नहीं था ? इसी का वर्णन आगे के पदों से किया गया है, अर्थात् सर्गकाल के लोक-लोकान्तर, दूर तक फैला हुआ व्यवहार्य आकाश, भोक्ता आत्मा, उसके आवरक तथा सुख आदि उपयोग के साधन बुद्धि, देह आदि गंभीर समुद्र और पृथिव्यादि सब कुछ उस समय में न थे यह सब 'नो सत् आसीत्' का व्याख्यान है, अर्थात् प्रलय में पदार्थों की, सर्गकाल जैसी सत्ता न थी। अभिप्राय यह कि ऋचा में 'सत्' पद, व्यक्त जगत् के लिये प्रस्तुत हुआ है। चौथी ऋचा में भी 'सत्' पद का प्रयोग 'व्यक्त' के लिये हुआ है। इसलिये जो व्याख्याकार, यहाँ 'असत्' और 'सत्' का निषेध किये जाने से आपततः सदसद्-विलक्षण तत्त्व की खोज करना चाहते हैं, वह व्यर्थ है। क्योंकि ऐसी व्याख्या स्वतः ऋचाओं के पूर्वापर प्रसङ्ग से विरुद्ध है।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राज्या अह्न आसीत् प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥

यह सूक्त की द्वितीय ऋचा है। इस ऋचा में इसी प्रसंग को प्रवृत रखते हुए अन्त में बताया है कि उस समय किस प्रकार की सत्ता थी। वहाँ लिखा है, कि उस समय मृत्यु नहीं थी, अमृत नहीं था, रात्रि और दिन का चिह्न भी कोई न था, केवल स्वधा के साथ-साथ एक निर्दोष चेतन सत्ता अवस्थित थी, जिससे उत्कृष्ट और कोई नहीं अर्थात् जो सर्वोत्कृष्ट चेतन सत्ता है।

यह दूसरी ऋचा का शब्दार्थ है। इसको स्पष्ट करने के लिये जीव-चेतन की तत्कालीन स्थिति को स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा। प्रथम ऋचा की व्याख्या में कहा गया है, कि प्रलयकाल में 'भोक्ता आत्मा' भी न था। इस कथन का यह अभिप्राय कदापि न समझना चाहिये, कि ऋचा के द्वारा उस समय आत्मा के अस्तित्व का निषेध किया जा रहा है; क्योंकि आत्मा अर्तात् जीव-चेतन नित्य अविनाशी तत्त्व है। उसके अस्तित्व का निषेध किसी अवस्था में नही किया जा सकता। इसलिये प्रलयकाल में केवल उसकी भोक्तृत्व अवस्था का निषेध किया गया है। उस समय जीव-चेतन का अस्तित्व निर्बाध होते हुए भी, वह भोक्ता नहीं होता। उसकी ऐसी स्थिति को द्वितीय ऋचा में स्पष्ट किया है, कि प्रलयकाल में 'अमृत' अर्थात्'जीव-चेतन' भोक्ता रूप में न था। जब 'अमृत' भोक्ता न था, तब मृत्यु कैसी होगी? क्योंकि जन्म-मरण आदि का व्यवहार भोक्ता जीव-चेतन के साथ होता है। ऋचा में 'मृत्यु' पद जन्म आदि का उपलक्षण है।

आगे कहा गया है, कि उस समय रात्रि और दिन का चिह्न भी कोई न था। देखना चाहिए, दिन और रात का चिह्न क्या होता है? स्पष्ट हैं, कि दिन और रात के चिह्न सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि हैं। इसलिये ऋचा के उक्त पदों का केवल इतना अर्थ नहीं है, कि प्रलयकाल में दिन और रात न थे, प्रत्युत् इसका स्पष्ट अर्थ यह होता है कि सर्गकाल के जिन पदार्थों के कारण; काल के दिन और रात अस्तित्व में आते हैं, जब दिन-रात के कारण ही न थे, तब दिन और रात के होने की संभावना ही नहीं हो सकती। इस प्रकार सर्गकाल के विपरीत दशा का उस समय में वर्णन किया गया है।

प्रलयकाल की अवस्था का वर्णन करने के लिये, सर्गकाल के विपरीत, अर्थात् सर्गकाल की प्रत्येक वस्तु का उस समय अभाव वर्णन करके ही, उसके स्वरूप का आभास दिया गया है। मनुस्मृति के एक प्रारम्भिक श्लोक में प्रलयकालीन अवस्था का वर्णन इसी रूप में किया गया है, वहाँ लिखा है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥ [१/५]

तब क्या यही समझना चाहिये, कि प्रलयकाल में किसी वस्तु का अस्तित्व था ही नहीं ? ऋचा उत्तर देती है, कि ऐसा नहीं कि उस समय किसी वस्तु का अस्तित्व था ही नहीं। इसलिये इस सूक्त के सब से पहिले पद हैं—'न असत् आसीत्' अर्थात् प्रलयकाल में सब कुछ असत् न था। तब वहां किसका अस्तित्व था ? इसके लिये ऋचा में लिखा है—स्वधा के साथ एक निर्दोष चेतन तत्त्व अवस्थित था, जो सबसे उत्कृष्ट है, सबसे महान् है। उससे उत्कृष्ट अथवा महान् और कोई तत्त्व नहीं।

इस प्रसंग 'स्वधा' पद से प्रकृति का ग्रहण किया जा सकता है, जिसका अस्तित्व, उस सर्वोत्कृष्ट और महान् चेतन सत्ता से सर्वथा पृथक् है। ऋचा के पदों का सन्निवेश इसी भाव को स्पष्ट करता है। 'स्वधा' पद के साथ तृतीया विभक्ति का प्रयोग इस बात का साधक है, कि उस महान् चेतन सत्ता के साथ 'स्वधा' अपनी पृथक् अस्तित्व रखती है, और तुलना में अप्रधान है। इस प्रकार एक क्रिया के साथ दो पदार्थों का समान सम्बन्ध होने पर अप्रधान (पदार्थ) में धानतृतीया विभक्ति हो जाती है। इससे उन पदार्थों का समान सम्बन्ध होने पर अप्र- (पदार्थ) में तृतीया विभक्ति हो जाती है। इससे उन पदार्थों का दो होना निश्चित होता हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है, कि दोनों पदार्थों में से एक मुख्य (प्रधान) अथवा उत्कृष्ट है ; और दूसरा जिसके साथ तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है—अमुख्य (अप्रधान) अथवा अपकृष्ट है। यह स्पष्ट है, कि इन दोनों तत्त्वों में चेतन उत्कृष्ट तथा स्वधा=अचेतन 'प्रकृति' अपकृष्ट है। इसका कारण यही है कि चेतन अचेतन प्रकृति पर नियंत्रण करता है, और अचेतन प्रकृति उससे नियंत्रित होती है। इस ऋचा के चतुर्थ चरण में चेतन की सर्वोत्कृष्टता को बताकर इसी भाव का स्पष्टीकरण किया गया है।

सायण तथा उसके अनुयायी आधुनिक व्याख्याकारों ने 'स्वधा' पद का— माया अविद्या अथवा चेतन की शक्ति या सामर्थ्य अर्थ किया है। माया या अविद्या का जो स्वरूप, शांकर मतानुयायी वेदान्तियों ने प्रदर्शित किया है, सायण 'स्वधा' पद का अर्थ, वही माया समझता है। हम इस समय इसके सूक्ष्म विवेचन में जाना नहीं चाहते; इसका विशद विवेचन ही हमारी रचना 'सांख्य सिद्धांत' नामक ग्रंथ के 'प्रकृति' नामक प्रकरण में किया गया है। परंतु इतना लिख देना यहां आवश्यक होगा, कि उक्त विद्वानों ने माया का जो स्वरूप स्वीकार किया है, वह उस उत्कृष्ट चेतन सत्ता का अपना स्वरूप नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में उसके सम्बन्ध में निष्फल वाग्विजृम्भण भले ही किया जाता रहे, उससे वस्तु स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए 'माया' आदि पदों को इस प्रकार के प्रसंगों में 'प्रकृति' का पर्याय ही समझना चाहिए। उसी सत्त्व रजस्त-मोगुणात्मिका प्रकृति का 'स्वधा' पद से यहां निर्देश किया गया है।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने गीता रहस्य के 'अध्यात्म' प्रकरण में 'स्वधा' पद का 'शक्ति' अर्थ किया है। यदि वह शक्ति, चेतन का अपना स्वरूप है, और तिलक महोदय को यही अभिमत है ; तो अगली ऋचाओं में प्रतिपादित अर्थ के साथ इसका सामंजस्य नहीं हो पाता। पांचवीं ऋचा में 'स्वधा' पद का पुनः प्रयोग है। वहां के असामंजस्य को उस ऋचा के प्रसंग में दिखाया जाएगा। यदि 'शक्ति' चेतन का अपना स्वरूप नहीं है, तथा उससे भिन्न कोई सत्ता है ; तो हम उसी स्थान पर आ जाते हैं, जहां यह कहा जा सकता है कि 'प्रकृति' को उस चेतन सत्ता की शक्ति या सामर्थ्य के रूप में वर्णन किया गया है। अन्य आचार्यों ने भी जहां इस प्रकार के वर्णन किए हैं, उन सब को इसी भावना में अन्तर्निहित समझना चाहिए। एक सम्राट् की शक्ति अथवा सामर्थ्य; उसकी भूमि, उसकी सेना, उसका कोष और उसके जनपद सब ही कहे जा सकते हैं। वह उन पर नियंत्रण करता है और वे सब उससे नियंत्रित होते हैं। निःसंदेह वे सब उसकी शक्ति हैं। परंतु यह सर्वथा निश्चित है कि वह सब सम्राट् का स्वरूप नहीं है। उनकी सत्ता, अपनी स्वतंत्र सत्ता है और सम्राट् से भिन्न है। एक से दूसरे का नियंत्रण होने के कारण, उनमें उत्कर्ष और अपकर्ष का भाव हो सकता है। ठीक इसी प्रकार चेतन और अचेतन सत्ता के संबंध में समझना चाहिए।

लोकमान्य तिलक ने इस ऋचा में पदः'पद' का अर्थ 'इसके परे' किया है। अर्थात् चेतन के परे और कुछ भी न था। वस्तुतः चेतन के साथ 'परः' पद का यह अर्थ ठीक नहीं जंचता। क्योंकि वह चेतन सर्वत्र एक रस व्याप्त है, कोई भी देश, उसका भेदक या व्यवच्छेदक नहीं कहा जा सकता। तब उसमें परे और उरे का प्रश्न ही नहीं उठता। इसीलिए 'पर' पद का अर्थ यहां 'उत्कृष्ट' होना चाहिए। यदि तिलक महोदय का अभिप्राय यही हो, तो कोई दोष नहीं।

प्रस्तुत ऋचा के इस विवेचन से यह परिणाम निकलता है, कि प्रलय काल में दो सत्ता थी, एक सर्वोत्कृष्ट चेतन सत्ता और दूसरी स्वधा अर्थात् अचेतन प्रकृति। इस समय हमारे सम्मुख एक प्रश्न आता है कि यहां जीव-चेतन की सत्ता का प्रलय काल में उल्लेख नहीं किया गया। प्रलय काल की अवस्था के वर्णन में जहां सर्ग काल की प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व का निषेध किया है, वहां जीव-चेतन के भोक्तृत्व का भी उस समय में निषेध किया गया है। परंतु जहां प्रलय काल में अविनाशी तत्त्वों के अस्तित्व का उल्लेख है ; वहां जीव-चेतन के उल्लेख की उपेक्षा की गई है। इसका कोई कारण होना चाहिए। वस्तुतः इसका कारण इन अविनाशी तत्त्वों की अपनी स्थिति है।

जब हम इन तत्त्वों की स्थिति पर विचार करते हैं; तो एक विशेष बात हमारे सम्मुख आती है। हम देखते हैं कि सर्वोत्कृष्ट चेतन सत्ता का, जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय के लिए सदा उपयोग हो रहा है, अर्थात् कोई ऐसी

अवस्था नहीं कही जा सकती, जिसमें वह चेतन सत्ता अपने किसी न किसी कार्य में लगी हुई न हो। इसी प्रकार अचेतन सत्ता भी सर्ग काल में अपने शरीर से जगत् को उत्पन्न करती है और प्रलय काल में उसे अपने शरीर में लीन किये रहती है। इस प्रकार अचेतन सत्ता भी सदा अपने किसी न किसी कार्य में तत्पर रहती है। परंतु जीव-चेतनों के संबंध में हम यह बात नहीं देखते। जीव-चेतनों की कर्योपभुक्तता केवल सर्ग काल में देखी जाती है। प्रलय काल में यह सब प्रसुप्त के समान रहते हैं, यह एक सर्व संगत सिद्धांत है। प्रतीत होता है, इसी विशेषता के कारण प्रलय काल में सर्वोत्कृष्ट चेतन सत्ता और अचेतन सत्ता (स्वधा= प्रकृति) के अस्तित्व के साथ, जीव-चेतनों के अस्तित्व का वर्णन नहीं है, यद्यपि वह तत्त्व भी अविनाशी व नित्य है।

द्वितीय ऋचा के उत्तरार्ध में प्रतिपादित अर्थ को तृतीय ऋचा में और अधिक स्फुट करके प्रलय काल की अवस्था को स्पष्ट किया है। तथा अन्त में प्रलय काल के अनन्तर सर्ग की ओर निर्देश किया है।

तम आसीत्तमसा गूढमग्रे ऽप्रकेतं सलिलं सर्वथा इदम्।
तुच्छयेनाभ्वपिहितं यदासीतपस्तन्महिना जायतैकम् ॥

लिखा है— यह सब दृश्यमान जगत्, सृष्टि के पूर्व काल में प्रत्येक चिह्न से रहित कारण के साथ अविभागापन्न था। वह मूल कारण (तम) भी अन्धकार से आवृत था। दूसरे शब्दों में कारण ने कार्य को अपने अन्दर छिपाया हुआ था। कारण के साथ एकीभूत यह जगत सर्ग काल में तेजोमय चेतन की महिमा से प्रादुर्भूत हो जाता है।

तृतीय ऋचा का शब्दार्थ है। इस ऋचा में प्रथम 'तमस्' पद, जगत् के मूल उपादान कारण के लिए प्रयुक्त हुआ है। गुणत्रय की साम्यावस्था को 'तमस्' पद से कहा जाता है, यह बात सांख्य ग्रंथों से प्रकट होती है। जिसका मूल आधार, वेद का यह प्रयोग तथा इसके समान अन्य प्रयोग कहे जा सकते हैं। इस प्रकार ऋचा के पूर्व अर्ध में इस अर्थ को स्पष्ट किया है कि यह आज सर्ग काल में हमारे सन्मुख दृश्यमान सम्पूर्ण जगत् भिन्न रूपों में दृष्टिगोचर हो रहा है, पृथिवी, सूर्य, चंद्र आदि लोक-लोकांतरों को हम अनेक अपने एक विशेष रूप में बराबर देखते हैं। परंतु ये सब विशेषता (—प्रकेत), प्रलय काल में नहीं रहती तब यह दृश्यमान जगत् इन सम्पूर्ण विशेषताओं से रहित होकर, कारण के साथ संगत (=सलिल) होकर रहता है। उस कारण रूप स्थिति को 'तमस्' पद से कहा गया है। अभिप्राय यह है कि पूर्व ऋचा में जिस मूल उपादान तत्त्व के लिए 'स्वधा' पद का प्रयोग हुआ है; उसी को यहां 'तमस्' पद में कहा है। वह 'तमस्'

=जगत् का मूल उपादान, अपर नाम 'स्वधा') भी प्रलय काल में अन्धकार से आवृत था। उस समय मूल उपादान को अन्धकार से आवृत इसी लिए कहा गया है कि तब भौतिक प्रकाश का कोई साधन न था। सर्ग काल के सूर्य, अग्नि आदि प्रकाश-साधन सब अपने मूल कारणों में लीन थे। ऋचा में द्वितीय 'तमस' पद का अर्थ अन्धकार है। जगत् के कार्य-कारण भाव को ध्यान में रख कर इस बात का निर्देश किया गया है कि प्रलय काल में यह सम्पूर्ण दृश्यमान कार्य जगत् कारण रूप में विद्यमान था।

इस ऋचा में 'सलिल' पद का अर्थ विचारणीय है। क्योंकि ऋचा का उक्त अर्थ इसी पद के आधार पर किया गया है। यह पद गत्यर्थक 'सल' (भौवादिक) धातु से औणादिक (१/५४) इलच प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। जिसका अर्थ होता है—कारण के साथ संगत होना, अर्थात् कारण के रूप में पहुंच जाना। यह पद प्रस्तुत ऋचा में 'सर्वं इदम्' का विशेषण अथवा विधेय है। अभिप्राय यह है कि 'इदं सर्वम्' से उपलक्षित इस सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् को, उस अवस्था (प्रलयकाल)-में 'अप्रकेतं सलिलं' बताया जा रहा है अर्थात् दृश्यमान जगत् की वह अवस्था जहां सर्ग काल का कोई चिन्ह अवशिष्ट नहीं रहता। यह वही अवस्था है, जहां कार्य जगत् अपने कारण में लीन हो जाता है। कारण में लीन हो जाना या कारण रूप में कार्य का पहुंच जाना 'सलिल' पद का अर्थ है। सायण से अति प्राचीन आचार्य दुर्ग ने निरुक्त की वृत्ति (७।३) में इसी ऋचा की व्याख्या करते हुए 'सलिल' पद का अर्थ 'सद्भाव' लीनें (अर्थात् सद्रूप कारण में लीन) किया है। जो हमारे विचार को पुष्ट करता है।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने गीता रहस्य के 'अध्यात्म' प्रकरण में इस पद का अर्थ 'जल' किया है। यद्यपि अन्यत्र इस पद का अर्थ 'जल' है, परंतु प्रस्तुत प्रसंग में 'सलिल' पद का 'जल' अर्थ करना सर्वथा असंगत है, क्योंकि प्रलय काल में जल के अस्तित्त्व का पहली ऋचा से निषेध कर दिया गया है। वहां निषेध करके, इसी अवस्था में, यहां उसके अस्तित्व का कथन करना, उन्मुक्त प्रलाप के समान कहा जा सकता है। इस प्रकार की आपत्ति का समाधान करने के विचार से लोकमान्य तिलक ने इस ऋचा की व्याख्या पर टिप्पणी करते हुए लिखा हैं—"मूलारम्भ में पानी वगैरह पदार्थ थे" ऐसा कहने वालों को उत्तर देने के लिए इस सूक्त में यह ऋचा आई है; और इसमें ऋषि का उद्देश्य यह बतलाने का है, कि "तुम्हारे कथनानुसार मूल में तम, पानी इत्यादि पदार्थ न थे, किंतु एक ब्रह्म का ही आगे यह विस्तार हुआ है।"

इस अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिए, इन ऋचाओं का संपीण्डित अभिप्राय बतलाते समय लोकमान्य तिलक ने लिखा है—(पृ०२५५), "परंतु प्रश्न यह कि जब सृष्टि के मूलारम्भ में निर्गुण ब्रह्म के सिवा और कुछ भी न था, तो

फिर वेदों में जो ऐसे वर्णन पाए जाते हैं कि आरम्भ में पानी, अन्धकार या आभ्र और तुच्छ की जोड़ी थी, उनकी क्या व्यवस्था होगी ? अतएव तीसरी ऋचा में कवि ने कहा है कि इस प्रकार के जितने वर्णन हैं जैसे कि सृष्टि के आरम्भ में अन्धकार था या अन्धकार से आच्छादित-पानी था या आभ्र (ब्रह्म) और उसको आच्छादित करने वाली माया (तुच्छ) ये दोनों पहले से थे इत्यादि।

लोकमान्य तिलक के ये उल्लेख, युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होते। क्योंकि पहली बात तो यह है, कि वेद में ऐसे वर्णन कहीं नहीं पाये जाते, जहां यह लिखा हो, कि आरम्भ में पानी, अन्धकार या आभ्र और तुच्छ की जोड़ी थी; जिसके समाधान के लिये तिलक ने इस ऋचा का निर्देश किया जाना बताया है। यदि तिलक के कथनानुसार इस बात को मान लिया जाय, कि ऐसे वर्णन उस समय के हैं, जब कि एक ब्रह्म का विविध रूप से फैलाव हो गया था, तो यह मानना पड़ेगा कि वे वर्णन सर्ग काल के अनन्तर के हैं। ऐसी स्थिति में उक्त ऋचा का 'अप्रकेतं' पद सर्वथा निरर्थक होता है, जो 'सलिलं' का विशेषण है। सृष्टि काल में जल को 'अप्रकेतं' चिह्न रहित या अदृश्य कहा जाना, सर्वथा अयुक्त है; जब कि वह स्पष्ट ही दृष्टिगोचर होता है। तथा प्रलय काल में उसके अस्तित्व का निषेध, प्रथम ऋचा के द्वारा कर दिया गया है। वस्तुस्थिति यह है, कि लोकमान्य तिलक ने इस पद का अभिप्राय समझने में भूल की है, तथा उस भूल को सुधारने में और अनेक भूल हो गई हैं। इसी प्रकार 'तुच्छ्य' और आभ्र पदों के अर्थ में भी तिलक ने गोता खाया है, जो आगे स्पष्ट होगा।

इस प्रकार प्रस्तुत ऋचा के पूर्वार्ध में यह स्पष्ट किया गया, कि प्रलय काल में यह कार्य जगत् अपने कारण रूप में विद्यमान रहता है। इसी बात को प्रस्तुत ऋचा के तृतीय चरण में, कार्य-कारण भाव का ध्यान रखते हुए, दूसरे रूप में कहा गया। यहां शब्द हैं—'कारण ने कार्य को ढंका हुआ था' अथवा 'कारण से—या कारण के द्वारा—कार्य ढंका हुआ था— तुच्छ्येन आभ्र अपिहितं यदासीत्'। यहां 'तुच्छ्य' पद कारण, और 'आभ्र' पद कार्य के लिये प्रयुक्त है। 'तुच्छ्य' पद का अर्थ करते हुए प्राचीन व्याख्याकार वेंकट माधव ने अपने भाष्य में लिखा है, 'तुचिः क्षुदिना समान कर्मा' अर्थात् 'तुच्छ्य' पद की 'तुच्' धातु, 'क्षुद्र' के अर्थ में प्रयुक्त है। 'क्षुद्र' का अर्थ है—संपेषण—अर्थात् निरन्तर गति करना। इस प्रकार 'तुच्छ्य' पद का अर्थ होता है—'निरन्तर गतिशील'। जगत् का मूल उपादान कारण ऐसा तत्व है, जिसमें यह सब सम्भव है। इसका कुछ निर्देश हम 'अदिति' के प्रसंग में कर आये हैं। मूल प्रकृति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण, निरन्तर गतिशील हैं, प्रस्तुत प्रसंग में 'तुच्छ्य' पद का अर्थ 'निरन्तर

गतिशील' हैं, इसीलिये यहां उसका प्रयोग जगत् के मूल कारण के लिये हुआ है।

यहां दूसरा पद आभ्र है, जो कार्य के लिये प्रयुक्त किया गया है, इस पद में 'आ' उपसर्ग और 'भू' धातु है, जिसका अर्थ होता है—'होना अथवा उत्पन्न होना'। इसका मिलित अर्थ होता है—आ समन्तात् भवति उत्पद्यत इति आभ्र। अर्थात् जो वस्तु हर तरह से उत्पन्न होने वाली हो; जिसकी उत्पत्ति में किसी प्रकार का सन्देह न किया जा सके। इस प्रकार निश्चित रूप से 'आभ्र' पद का अर्थ 'कार्य' किया जा सकता है। 'उत्पन्न होना' अर्थ में, आङ् उपसर्ग पूर्वक 'भू' धातु का प्रयोग, इसी सूक्त की छठी-सातवीं ऋचा में भी हुआ है। इसीलिये ऋचा के तृतीय चरण का अर्थ स्पष्ट होता है, कि—जब (प्रलय काल में) कारण से कार्य ढका हुआ था।

प्रस्तुत ऋचा के पूर्वार्ध और तृतीय चरण के अर्थों में सिद्धान्त रूप से कोई भेद नहीं। वस्तुतः एक ही अर्थ को दो प्रकार से कहा गया है। पूर्वार्ध में कहा गया है, कि—'यह दृश्य कार्य जगत्, कारण में रहता है', तृतीय चरण में कहा गया है—कारण ने कार्य को ढंका हुआ है। इस प्रकार कार्य-कारण भाव की दृष्टि का ध्यान रखते हुए एक अर्थ को—'कार्य', कारण में चला जाता है', तथा 'कारण ने कार्य को ढंका हुआ है—इन दो रूपों में उपस्थित किया गया है।

सायण ने 'तुच्छ्य' पद का अर्थ—सदसद्विलक्षण भाव रूप अज्ञान—किया है। तथा 'आभ्र' पद का कोई अर्थ नहीं किया, केवल निर्वचन करके छोड़ दिया है। इसलिये उसके विचार से इन दोनों पदों का कोई मिलित अर्थ स्पष्ट नहीं होता। अर्थात् सदसद्विलक्षण भाव रूप अज्ञान ने जिस 'आभ्र' को प्रलय काल में ढका हुआ था, वह 'आभ्र' कौन है? इसका स्पष्टीकरण सायण के विचार से नहीं हो पाता।

लोकमान्य तिलक ने गीता रहस्य के अध्यात्मक प्रकरण में 'तुच्छ्य' पद का अर्थ 'झूठी माया' और आभ्र पद का अर्थ 'सर्वव्यापी ब्रह्म किया है। इसके अनुसार पदों का मिलित अर्थ यह होगा कि—प्रलय काल में झूठी माया ने सर्वव्यापी ब्रह्म को ढका हुआ था। इस अर्थ पर ध्यान देने से प्रतीत होता है, कि शांकर मतानुसारी वेदान्त विचारों से प्रभावित होकर लोकमान्य तिलक ने ऐसा लिखा है। जो कुछ भी हो, पर विचारणीय यह है, कि क्या झूठी माया प्रलय काल में ही सर्वव्यापी ब्रह्म को ढंकती है? क्या सर्ग काल में भी उन विचारों के अनुसार ऐसा नहीं माना जाता? अभिप्राय यह कि जिस किसी भावना को लेकर यह कहा जाता है, कि—झूठी माया ने सर्वव्यापी ब्रह्म को ढंका हुआ है—यह अवस्था तो ब्रह्म की, उन विचारकों के अनुसार सदा बनी रहती है, कोई ऐसा काल नहीं कहा जा सकता, जब कि माया से ब्रह्म ढका हुआ

न हो। छः पदार्थ अनादि मानकर उन विद्वानों ने इस विचार को स्पष्ट किया है। तब प्रलय काल में उसके वर्णन की कुछ भी विशेषता नहीं रह जाती। फिर सर्वव्यापी ब्रह्म कां जो वस्तु ढक सकती है, उसे झूठी कैसे कहा जा सकता है? यहां हम इसके विशेष विवेचन में नहीं जाना चाहते। इसका विस्तृत विवेचन 'सांख्य सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ के 'पुरुष' अथवा 'प्रकृति' नामक प्रकरणों में किया गया है। वस्तुस्थिति यह हैं, कि ब्रह्म कभी किसी से ढका नहीं जाता, वह स्वयं माया अथवा प्रकृति पर नियन्त्रण करता है। वह स्वयं कभी प्रकृति के अधीन अथवा उससे आवृत नहीं। जो चेतन, प्रकृति का भोक्ता है, प्रकृति के साथ विशेष सम्पर्क में आता है, उस जीव-चेतन की सत्ता, परमात्म-चेतन अथवा ब्रह्म-चेतन से सर्वथा भिन्न है। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत ऋचा के उक्त पदों का लोकमान्य तिलक द्वारा किया हुआ अर्थ, अप्रामाणिक तथा अवैज्ञानिक ही कहा जा सकता है।

तृतीय ऋचा के अन्तिम चरण में, प्रलय काल के अनन्तर आने वाले सर्ग का आभास दिया गया है, 'तपसस्तन्महिमा जायतैकम्' इन पदों का अन्वय होता है—'एकं तत् तपसः महिमा अजायत'। प्रलय अवस्था में मूल उपादान कारण के साथ एकीभूत हुआ वह कार्य (भाव जगत्) तेजोमय ब्रह्म की महिमा, अर्थात् संकल्पमय प्रेरणा के द्वारा (उस मूल कारण से पुनः) उत्पन्न हो जाता है। तात्पर्य यह है, कि प्रलय काल में, जिस दृश्यमान कार्य जगत् को, सतत गतिशील मूल उपादान कारण ने अपने अन्दर छिपाया हुआ था; अथवा यों कहिये, कि उस समय जो कार्य जगत् अपने मूल उपादान कारण रूप में प्राप्त हुआ था, वह पुनः सर्गकाल में, तेजोमय परमात्मा की प्रेरणा के द्वारा, अपने कारण रूप से कार्य रूप में आ जाता है। इस प्रकार नासदीय सूक्त की प्रथम तीन ऋचाओं के द्वारा, प्रलय काल की अवस्था का स्पष्ट वर्णन करने के अनन्तर अन्तिम पदों से आदि सर्ग का आभास दिया गया है।

कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविंदन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥

इस चतुर्थ ऋचा में उसी आदि सर्ग का, कुछ और अधिक स्पष्ट वर्णन है। वहां लिखा है—आदि सर्गकाल में (जगत् की रचना के लिए), परमात्मा का जो संकल्प होता है, वही जगत् का पहला कारण है। क्रान्तदर्शी ऋषि अपने अन्तः करण में विचार कर बुद्धि से इस बात को जान जाते हैं, कि अव्यक्त में व्यक्त का सम्बन्ध है। यह चतुर्थ ऋचा का शब्दार्थ है। पूर्व ऋचाओं में प्रलय काल का वर्णन करते हुए यह स्पष्ट निर्देश कर दिया गया है, कि उस समय

यह दृश्यमान कार्य व्यक्त जगत् अपने कारण अव्यक्त रूप में अवस्थित रहता है। उस अव्यक्त को व्यक्त रूप में आने के लिये, परमात्मा-संकल्प प्रथम कारण है। अभिप्राय यह, कि अव्यक्त मूल उपादान अचेतन होने के कारण स्वतः सर्गोन्मुख प्रकृति के लिये सर्वथा असमर्थ है। यद्यपि वह मूल उपादान परिणत होकर व्यक्त कार्य जगत् के रूप में उपस्थित होता हैं; परन्तु वह परिणाम उस समय तक असंभव है, जब तक कि नियन्ता चेतन उस प्रकृति के लिये उसे प्रेरित न करे। इसीलिए प्रस्तुत ऋचा में चेतन के संकल्प अथवा प्रेरणा को जगत्सर्ग का प्रथम अर्थात् मुख्य कारण कहा गया है। 'उस अव्यक्त मूल उपादान कारण से किस प्रकार व्यक्त जगत् बन जाता है, 'इस रहस्य को क्रान्तदर्शी विद्वान् जान पाते हैं' ऋचा का यह निर्देश पूर्वोक्त अर्थ की पुष्टि करता है। अर्थात् अव्यक्त मूल उपादान कारण से, व्यक्त जगत् उत्पन्न हो जाने में, परमात्मा-संकल्प (=चेतन प्रेरणा) मुख्य कारण है, इस रहस्य को गम्भीर विचार समझ पाया है। अभिप्राय यह, कि जगद्रचना में चेतन तथा अचेतन दोनों सत्ताओं की अपेक्षा होती है। केवल चेतन अथवा केवल अचेतन से जगद्रचना असंभव है। अचेतन व्यक्त कार्य जगत् के लिये जितनी अपेक्षा अचेतन अव्यक्त मूल उपादान को है; उसकी प्रेरणा के लिये उससे कहीं अधिक अपेक्षा, चेतन-संकल्प की है। इसलिये जगन्मूल में नियन्ता चेतन, और अव्यक्त अचेतन दोनों अपेक्षित हैं, इसी अर्थ को ऋचा के द्वारा स्पष्ट कर, आदि सृष्टि-रचना के रहस्य पर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार प्रस्तुत ऋचा के आधार पर चेतन और अचेतन की भिन्न सत्ता का स्वीकार किया जाना पुष्ट होता है। चेतन से अचेतन अथवा अचेतन से चेतन की सृष्टि होना, न वेद को अभिमत है, न किसी दर्शन को। यह क्रम वैज्ञानिक भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए जिन व्याख्याकारों ने इस ऋचा के आधार पर यह समझा है, कि परब्रह्म स्वयं परिणत होकर कार्य रूप जगत् बन जाता है, वे वस्तु स्थिति से बहुत दूर जा पड़े हैं।

पंचम ऋचा

> तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीऽदुपरि स्विदासीऽत्।
> रेतोधा आसन्महिमान् आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्॥

इस पंचम ऋचा के द्वारा आदि सर्ग के सम्बन्ध में और अधिक प्रकाश डाला गया है। वहां लिखा है—इनका जाल सहसा फैल गया, वह पहले, मध्य में स्थित था; अथवा नीचे; अथवा ऊपर; यह बात नहीं कही जा सकती। प्रेरणा के आधारभूत मूल तत्त्व थे, और ये महान् लोक-लोकान्तर थे। स्वधा अपकृष्ट, और नियन्ता उत्कृष्ट।

प्रस्तुत ऋचा का यह शब्दार्थ है। आदि काल में जब सर्ग बनने लगता है, तब उसमें कितना समय लग जाता है, अथवा उसका क्या क्रम होता है, इसी अर्थ को इस ऋचा से स्पष्ट किया है। सर्वोत्कृष्ट चेतन की प्रेरणा के अनन्तर सहसा सम्पूर्ण लोक-लोकान्तर अपनी स्थिति में आ जाते हैं। पहले मध्य लोक बने, अथवा अधोलोक, अथवा ऊर्ध्वलोक, इस बात को नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह इतना अल्पकाल होता है, कि उसमें—कौन-से लोक पहले बने, और कौन-से पीछे—यह वर्णन किया जाना सर्वथा अशक्य है। प्रकृति (=स्वधा) के अनन्तानन्त मूल तत्त्वों में चेतन की प्रेरणा से सर्गोन्मुख प्रवृत्ति होने पर अखिल लोक-लोकान्तर प्रकाश में आ जाते हैं। वस्तुस्थिति यही है, कि या तो वे मूल कारण होते हैं, या बस ये महान लोक-लोकान्तर। इनके बीच का कोई क्रमिक विकास व परिणाम अशक्य कथन है क्योंकि उसका अस्तित्व कल्पनातीत है। इसी बात को ऋचा के मूल पदों से यों कहा है—

'रेतोधा आसन् महिमान आसन्'।

यहाँ 'रेतः' पद का वही अर्थ है, जो चतुर्थ ऋचा में है। अर्थात् परमात्म-चेतन का (जगद्रचनार्थ) संकल्प रूप प्रथम कारण। इस चेतन-संकल्परूप प्रथम कारण का प्रभाव, मूल तत्त्वों पर पड़ता है; तभी उनकी सर्गोन्मुख प्रवृत्ति होती है। इसीलिये ऋचा में प्रकृति के उन मूल तत्त्वों को 'रेतोधा' पद से कहा गया है क्योंकि चेतन के उस संकल्प को वे धारण करते हैं, अर्थात् उस संकल्प से प्रभावित होते हैं। ऋचा में 'महिमानः' पद, कार्यरूप इन दृश्यमान महान् लोक लोकान्तरों के लिये प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार आदि सर्ग के रचना-काल को बताने के लिये यह बहुत सुन्दर और स्पष्ट शब्दों में वर्णन हुआ—या तो चेतन-प्रेरणा के आधारभूत सूक्ष्म मूल तत्व थे, या बस ये महान् लोक-लोकान्तर हो गये।

ऋचा के अन्तिम चरणों में, सर्ग काल के उपसंहार रूप से, चेतन और अचेतन की वास्तविक स्थिति को स्पष्ट कह दिया गया है, कि 'स्वधा' अचेतन प्रकृति अपकृष्ट है, नीची है तथा उसका नियन्ता चेतन उत्कृष्ट है, ऊंचा है। चेतन की प्रेरणा के बिना, क्योंकि अचेतन प्रकृति कुछ कर नहीं सकती, इसीलिए चेतन को उत्कृष्ट कहा गया है। यह ऊंच-नीच भाव, चेतन-अचेतन अथवा नियंता और नियम्य भाव पर अवलम्बित है। यद्यपि प्रकृति, जगत् का मूल उपादान होने से इसका मुख्य साधन है; फिर भी चेतन की इस उत्कृष्टता के कारण चतुर्थ ऋचा में चेतन-संकल्प को जगत् का मुख्य कारण कहा गया है। और इसी आधार पर अनेक स्थलों पर औपचारिक रूप से, चेतन को जगत् का मूल कारण

वता दिया गया है। ऐसे वर्णनों में इस मौलिक आधार पर ध्यान रखना अत्यावश्यक है। अन्यथा अनायास अर्थ का अनर्थ कर लिया जाता हैं।

द्वितीय ऋचा में तथा यहां भी लोकमान्य तिलक ने 'स्वधा' पद का अर्थ, 'शक्ति' किया है। यदि वह शक्ति, ब्रह्म का रूप है, तब ब्रह्म को उत्कृष्ट, और शक्ति को अपकृष्ट वताना सर्वथा असंगत है। क्योंकि वह एक ही वस्तु के दो नाम हैं। वही वस्तु स्वयं अपनी अपेक्षा से उत्कृष्ट और अपकृष्ट नहीं कही जा सकती। इसलिए स्पष्ट होता है, कि 'स्वधा' पद का प्रयोग, अचेतन-मूल उपादान कारण (=प्रकृति) के लिए हुआ है।

इस प्रकार प्रस्तुत सूक्त की पांच ऋचाओं के द्वारा प्रलय और आदि सर्ग के सम्वन्ध में कुछ निर्देश किए गए; जिनसे इस रहस्यमयी विश्व पहेली पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है फिर भी इसकी रहस्यमयी स्थिति को और अधिक स्पष्ट करने के लिए छठी ऋचा के द्वारा, उसी अर्थ को प्रथम रूप में उपस्थित किया गया है। वहां लिखा है—

को अद्धावेद क इह प्रवोचदुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आवभूव ॥

यह विविध सृष्टि, कहां-कहां से उत्पन्न हुई ? कौन इसको वास्तविक रूप में जानता है ? और कौन इस विषय में कथन करता है ? इस विषय में गंभीर विचार करने वाले विद्वान्, सर्ग-काल के अनन्तर होते हैं; इसलिये यह जहां से उत्पन्न हुई है, इसको कौन जानता है ?

प्रस्तुत ऋचा का यह शब्दार्थ है। चतुर्थ ऋचा में कहा गया है, कि क्रान्तदर्शी ऋषि इस व्यक्त और अव्यक्त के सम्बन्ध को समझते हैं। परन्तु ऋषियों के भी अल्पज्ञ होने के कारण, यह अधिक संभव है, कि उनका ज्ञान भ्रम प्रमादादि से अभिभूत हो, फिर उस अवस्था (प्रलय) में तो इनका इस प्रकार का अस्तित्व ही न था, जिससे वे तत्कालीन स्थितियों को साक्षात् जान पाते। इस प्रकार यह विश्व पहेली का रहस्य, रहस्य ही बना रह जाता है। और इसकी आश्चर्यपूर्ण स्थितियों को सम्मुख पाकर, सहसा यह प्रश्न उठ खड़ा होता है, क्या कोई इसके वास्तविक रहस्य को समझने वाला है ? इस प्रश्न का उत्तर अन्तिम ऋचा से दिया गया है।

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥

सूक्त की अन्तिम सातवीं ऋचा में लिखा है—यह विविध सृष्टि जहां से उत्पन्न होती है और जिसके द्वारा धारण की जाती है, और अन्त में जब यह नहीं रहती, अर्थात् अपने कारण में लीन हो जाती है। इस सबका जो अध्यक्ष—नियन्ता, सर्वव्यापक परमात्मा है वह इनकी उत्पत्ति को जानता है, और जब यह जगत् नहीं रहता, अर्थात् कारण में लीन होकर प्रलय अवस्था में रहता है, उसको भी जानता है।

सर्वव्यापक परमात्मा-चेतन इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तथा उसकी उत्पत्ति आदि अवस्थाओं का अध्यक्ष अर्थात् नियन्ता है। प्रकृति अचेतन, इस जगत् का मूल उपादान कारण, उस चेतन के द्वारा नियमित होती है। अचेतन तत्व की दो मुख्य अवस्था हैं, सर्ग और प्रलय इन दोनों के आरम्भ को दृश्यमान व्यक्त जगत की उत्पत्ति या विनाश भी कहा जा सकता है। प्रस्तुत ऋचा के पूर्वार्ध में अचेतन की इन सब अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है। ऋचा के तृतीय चरण में इन सबका अध्यक्ष, सर्वव्यापक परमात्मा बताया गया है। जो अचेतन की उक्त सब अवस्थाओं का नियामक है। इसलिए वह स्पष्ट है, कि जो उन स्थितियों का नियामक है; वह अवश्य उन स्थितियों को जान सकता है। सच्ची बात यह है कि जान ही वह सकता है, जो उनका नियन्ता है। अन्य किसी में, उन अवस्थाओं के जानने की सम्भावना नहीं हो सकती। इसी बात को ऋचा के अन्तिम पदों में स्पष्ट किया है, कि वह नियन्ता जगत् के सर्ग और प्रलय दोनों को जानता है।

कतिपय व्याख्याकारों ने प्रस्तुत ऋचा के द्वितीय चतुर्थ चरणों का सन्देह परक अर्थ किया है। वे लिखते हैं—'यह विसर्ग अर्थात् फैलाव जहां से हुआ अथवा निर्मित किया गया या नहीं किया गया—उसे परम आकाश में रहने वाला इस सृष्टि का जो अध्यक्ष है, वही जानता होगा, या न भी जानता हो ?' वस्तुतः ऐसा अर्थ करके उन व्याख्याकारों ने, सृष्टि के अध्यक्ष की स्थिति को सन्देहपूर्ण बना दिया है। क्या परमात्मा या ब्रह्म की स्थिति को उन विद्वानों ने एसा ही समझा है ? कि वह भी इस सर्ग—प्रलय के रहस्य को निश्चित रूप में नहीं जानता। यह बात अलग है, कि ब्रह्म की सत्ता से नकार कर दिया जाय, परन्तु उसके सर्वोत्कृष्ट अस्तित्व को स्वीकार करने वाले ऋषियों अथवा विद्वानों ने, उनकी इस प्रकार की सन्देहपूर्ण स्थिति को कभी नहीं माना। फिर वेद में ऐसी भावना को अवकाश देना तो, वेद की वास्तविकता के साथ उपहास करना है। वेद में कहीं भी, परमात्मा या ब्रह्म का इस प्रकार सन्देहपूर्ण वर्णन उपलब्ध नहीं होता। वस्तुतः वेद ने इस विश्व पहेली को बीच में ही अन-बूझा छोड़ दिया है; जैसा कि साधारण तथा व्याख्याकार इस वर्णन के ढंग से समझ जाते हैं। प्रत्युत यहां प्रत्येक कही गई बात को, निश्चित तथा बहुत परिमार्जित रूप में स्पष्ट कर दिया है।

नासदीय सूक्त के व्याख्यान से यह स्पष्ट होता है, कि वेद के इस प्रसंग में, मौलिकरूप से दो तत्त्वों को स्वीकार किया गया है, चेतन तथा अचेतन का यहां 'स्वधा' अथवा 'तमस' पद से निर्देश किया है। तथा उसको अव्यक्त बताया गया है। इसी को जगत् का मूल उपादान कहा है। चेतन सत्ता को इसका अध्यक्ष अर्थात् नियन्ता निर्देश किया गया है। जहां तक जगत् के सर्ग और प्रलय का सम्बन्ध है, इन्हीं दो सत्ताओं की मुख्य-स्थिति है। सर्गकाल में जीव-चेतन इस जगत् का भोक्ता होता है। यही जगत् का अनादि क्रम है।

'स्वधा' पद, प्रकृति का निर्देशक है, इसके लिये ऋग्वेद का एक और मन्त्र उपस्थित कर देना उपयुक्त होगा। ऋग्वेद प्रथम मण्डल (१/१६४/३८) की उस ऋचा का अर्थ इस प्रकार है—

> अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
> ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य १ न्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्।

वह अमर्त्य (जीव-चेतन), स्वधा से गृहीत, विनाशी तत्त्वों (बुद्धि, अहंकार, पञ्च तन्मात्र, एकादश इन्द्रिय घटित सूक्ष्म शरीर) के साथ-साथ ऊंच-नीच लोकों में जाता है। यद्यपि वे दोनों (जीव-चेतन, तथा स्वधा) निरन्तर रहने वाले हैं, एक दूसरे से सम्बद्ध, अनन्त काल तक इसी प्रकार चले जाने वाले। इनमें से एक को (दृश्यमान कार्य जगत् रूप में स्वधा को) अच्छी तरह देखा जाता है; अन्य (चेतन आत्मा) को नहीं देखा जाता।

प्रस्तुत ऋचा के अर्थों को स्पष्ट करने के लिये हमने कोष्ठकों में उन-उन पदों को रख दिया है। यह प्रथम कहा जा चुका है, कि जीव-चेतन, अपने भोगों के लिये प्रकृति में प्रविष्ट होता है। इस प्रकार वह स्वधा अर्थात् प्रकृति से गृहीत है, प्रकृति से सम्बद्ध है। इस सम्बन्ध की पुष्टि के लिये कुछ विनाशी तत्त्व, सर्गकाल में सदा जीव-चेतन के साथ रहते हैं। वह अठारह तत्त्वों से घटित सूक्ष्मशरीर है। इसी के साथ सदा सम्बद्ध जीव चेतन ऊंच-नीच योनियों में आता-जाता है। स्वधा और अमर्त्य दोनों अनादि-अनन्त हैं, इसलिये दोनों का सम्बन्ध भी अनादि-अनन्त है। ऐसे सम्बन्ध का यह अभिप्राय नहीं, कि ये सदा ऐसी सम्बद्ध स्थिति में रहते हैं। इस अनिश आवर्त्तमान चक्र में कभी ये परस्पर असम्बद्ध भी रहते हैं; परन्तु कालान्तर में फिर उसी स्थिति में आ जाते हैं। इनका सदा सम्बन्ध, इसीलिये कहा गया है, कि इनके इस क्रय का कभी अन्त नहीं होता। ये लगातार इसी क्रम में चलते चले जाते हैं (वियन्तो) कोई भी स्थिति, इनके इस सम्बन्ध को सदा के लिये तोड़ नहीं सकती। यह संभव है, कि इस लम्बे मार्ग के बीच ऐसे अवकाश (प्रलय, मुक्ति आदि) आवें, जब जीव-चेतन, प्रकृति के सम्पर्क में आकर भोगों को न भोगे; यह अवकाश पर्याप्त लम्बा भी हो सकता है, परन्तु इस अनादि अनन्त यात्रा की दृष्टि में यह नगण्य-सा है, तथा

कालान्तर में फिर उनको अपनी उसी स्थिति में आना होता है, इसीलिये इस प्रकृति-पुरुष सम्बन्ध को अनादि-अनन्त कहा गया है ।

इन दोनों तत्त्वों में से हम प्रकृति की इस दृश्यमान विभूति को अच्छी तरह देखते हैं, भोगते हैं, जानते हैं, परन्तु अपने-आपको अर्थात् चेतन तत्व को इतनी स्पष्टता से नहीं जान पाते । हमारे जो ज्ञान के बाह्य साधन हैं, वे वस्तुतः प्रकृति के कार्यों के जानने में पर्यवसित हो जाते हैं और साधारणतया संसार इसी के अनुसार चलता रहा है ।

विरले ही धीर पुरुष ऐसे पाये जाते हैं, जो प्रत्यगात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार करें । 'इसीलिए श्रुति में कहा गया है, कि इनमें से एक सरलता से जाना जाता है, दूसरा नहीं ।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मनमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् (कठा० २।१।२।१।२)

इसमें कोई सन्देह नहीं, कि सर्गकाल की यह साधारण सांसारिक स्थिति बतलाई गई है । वस्तुतः प्रकृति की कारण रूप अवस्था को जानना भी उतना ही कठिन है, जितना कि आत्मा को । प्रकृति के ये कार्य, हमारे सम्मुख हैं, प्राकृतिक साधनों के आधार पर हम उन्हीं को देखते, जानते, तथा उन्हीं में रमे रहते हैं । स्वयं अपने-आप (आत्म तत्त्व) की ओर हम नहीं मुड़ पाते । इसी भावना को ऋचा के चतुर्थ चरण में स्पष्ट किया गया है ।

इस वर्णन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि प्रस्तुत ऋचा में 'स्वधा' पद का प्रयोग उसी मूल तत्त्व के लिये हुआ है, जिसका यह सब जगत् विकार है । तथा जिससे बद्ध होकर पुरुष, विविध योनियों में संचरण करता है । उसी मूल उपादान तत्त्व को दर्शन में 'प्रकृति' कहा गया है । इस प्रकार वेद की 'अदिति' और 'स्वधा' को दर्शनशास्त्र की प्रकृति कहना, सर्वथा सामञ्जस्यपूर्ण है ।

वेद का 'त्रिधातु' सांख्य का सत्त्व-रजस्-तमस्

अभी तक इस बात को स्पष्ट करने का यत्न किया गया, कि वेद में 'अदिति' 'स्वधा' तथा 'तमस' पद, जिस मूल उपादान कारण का निर्देश करने के लिये प्रयुक्त हुए हैं, भारतीय दर्शन में उसी को 'प्रकृति' पद से कहा गया है । इनके अतिरिक्त वेद में 'त्रिधातु' पद का निर्देश उपलब्ध होता है । वह 'त्रिधातु' पद वेद में किस अर्थ का प्रतिपादक है, इस पर विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा ।

यह पद 'त्रि' और 'धातु' इन दो पदों के योग से बना है । 'त्रि' पद निश्चित रूप में 'तीन' संख्या का वाचक है; तथा 'धातु' पद का प्रयोग अनेक अर्थों में देखा जाता है । जैसे सुवर्ण, रजत आदि खनिज तत्त्व; आयुर्वेद में वात-पित्त-

श्लेष्म, तथा अस्थि, मज्जा, शुक्र आदि; पृथिवी आदि महाभूत : व्याकरण में 'भू' आदि। इन सब अर्थों में तथा अन्य संभावित अर्थों में भी एक ऐसी समान भावना देखी जाती है, जिससे इस पद के मौलिक अर्थ का अधिक स्पष्टीकरण हो जाता है। वह समान भावना यह है, कि जो अर्थ, 'धातु' पद से कहे जाते हैं, वे स्वयं मूल अथवा आधारभूत तत्त्व हैं। अर्थात् अनेक प्रकार के, आगे होने वाले विकारों का आधार या मूल होना, उन तत्त्वों में पाया जाता है। सुवर्ण रजत आदि, अनेक विकारों के मूल हैं, वात-पित्त आदि शरीर के आधार और अनेक शारीरिक विकारों के मूल हैं। पृथिवी आदि भूत सब प्राणियों तथा अन्य प्रत्येक प्रकार के व्यवहार के आधार हैं। व्याकरण में 'भू' आदि शब्द रचना के मूल आधार माने जाते हैं। इसका अभिप्राय यही निकलता है, कि 'धातु' पद का वास्तविक वाच्य यही तत्त्व हैं, जो मूल अथवा आधार हो। स्वयं 'धातु' पद के धात्वर्थ के आधार पर भी इसी अर्थ का स्पष्टीकरण होता है।

इस पद के साथ 'त्रि' पद का योग होने पर, इसका अर्थ हो जाता है—तीन धातु, अर्थात् तीन मूल या आधारभूत तत्त्वों का समाहार—मेल। हम देखते हैं, कि इस अर्थ की स्पष्ट व्याख्या, सामञ्जस्यपूर्ण रीति पर भारतीय दर्शन सांख्य के अनुसार हो सकती है। अखिल ब्रह्माण्ड के आधारभूत तत्त्वों, अर्थात् मूल उपादान कारण को सांख्य में सत्त्व-रजस्-तमस् इन तीन रूपों में वर्णन किया है। ये अपनी साम्य अवस्था में 'प्रकृति' पद से कहे गये हैं। इससे यह परिणाम निकलता है, कि वेद में 'त्रिधातु' पद का प्रयोग, जिस मूल उपादान के लिये किया गया है, वह सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्य अवस्था रूप त्रिगुणात्मक 'प्रकृति' है।

ऋग्वेद में इस पद का प्रयोग लगभग पच्चीस बार हुआ है। यजुर्वेद, सामवेद और अथर्व वेद में भी इसका प्रयोग हुआ है। सब स्थलों में व्याख्याकारों ने, जैसा जिसको सूझा, इसका अर्थ किया है। यह संभव है, वेद के बहुत-से स्थलों में 'त्रिधातु' पद का 'सत्त्व-रजस्-तमस्, के अतिरिक्त अन्य कुछ अर्थ हो, परन्तु अनेक स्थल ऐसे हैं जिनमें यह अर्थ अधिक स्पष्ट प्रतीत होता है। ऐसे कुछ स्थलों का यहां निर्देश कर देना अनावश्यक न होगा। एक मन्त्र ऋग्वेद (१/१५४/४) का है। वहां लिखा है—

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।
य उत्रिधातु पृथिवी द्यामेको दाधा भुवनानि विश्वा॥

जिसके तीन मधु से पूर्ण, अक्षीयमाण पद स्वधा के द्वारा प्रसन्न रहते हैं। और जिस अकेले ने ही, त्रिधातु से रचित-पृथिवी द्युलोक तथा सम्पूर्ण भुवनों-लोकों को धारण किया हुआ है।

यह प्रस्तुत ऋचा का शब्दार्थ है। इस सूक्त का देवता विष्णु है। अर्थात् इस सूक्त में विष्णु का वर्णन किया गया है। 'वेवेष्टि व्याप्नोति सर्वं जगदिति विष्णुः' इस निर्वचन के अनुसार यहां विष्णु परमात्मा का नाम हो सकता है। जिसने सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त किया हुआ है, जो प्रत्येक छोटे से छोटे कण में वर्तमान है, ऐसी सत्ता वैदिक परम्परा में परमात्मा की कही जा सकती है। परमात्मा के तीन पद, जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय है। सर्वव्यापक अकाय परमात्मा के, हमारी तरह के, पद नहीं कहे जा सकते। आलंकारिक रूप में प्रकृति को परमात्मा का 'कार्य' कहा जा सकता है। प्रकृति ही उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय इन तीन अवस्थाओं में परिणत होती रहती है। प्रकृति के ये परिणाम, परमात्मा की प्रेरणा के बिना हो नहीं सकते। इसलिये प्रकृति की इन तीन अवस्थाओं को—परमात्मा के मधुर पद के रूप में—वर्णन किया गया है। इनको मधुर इसलिए कहा गया प्रतीत होता है, कि ये पद, भोक्ताओं के लिए अनुकूल भोगों और अनुपम सुखों को उत्पन्न करने वाले होते हैं, प्रलय काल में कोई भोग न होने पर भी, उस समय प्रकृति की भोग्य-क्षमता को विश्वास के द्वारा पुनः सम्पादन किया जाता है। इसलिए इसकी प्रत्येक अवस्था, भोक्ताओं के अनुकूल भोगों के लिए उपयोगी कही जाती है। ऐसी स्थिति में इन 'पदों' का 'मधुर' विशेषण बहुत उपयुक्त दिया गया है। ये पद मधु से भी पूर्ण हैं, और वैसे भी 'पूर्ण' हैं।

परमात्मा के ये तीन ही पद हैं, और किसी पद की वह संभावना नहीं हो सकती। जगत् की इन तीन अवस्थाओं (उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय) में परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता और कर्त्तव्य-तत्परता का पूर्ण वर्णन हो जाता है। यही सब कुछ है, जिसके लिये परमात्मा के अस्तित्व को बलात् स्वीकार करना पड़ता है। इसी अर्थ को स्पष्ट करने के लिये ऋचा में 'पद' का एक विशेषण 'पूर्ण' दिया गया है। परमात्मा के उक्त तीन पद पूर्ण हैं। अर्थात् ये तीन ही पद हैं, न न्यून, न अधिक। यह केवल परमात्मा की शक्ति है यह उसी का कार्य है, और यह इतना ही कार्य है—जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय। इनसे अतिरिक्त परमात्मा का और कोई कार्य अवशिष्ट नहीं रह जाता। इसीलिए इस रूप में वर्णित उसके इन पदों को ऋचा में 'पूर्ण' कहा गया है।

ये 'पद' उस 'स्वधा' के द्वारा सदा प्रसन्न रहते हैं। यथासमय अथवा यथाक्रम अपनी स्थिति में वर्तमान रहना ही 'प्रसन्न रहना' कहा जाता है। यहां स्वधा के द्वारा उन पदों की स्थिति या प्रसन्नता का वर्णन है। हम यह कह आये हैं, कि वेद में 'स्वधा' पद का प्रयोग, जगत् के उस मूल उपादान के लिये हुआ है, जिसको दर्शन में 'प्रकृति' कहा गया है। वे सब परिणाम, जिनके लिये उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का निर्देश किया जाता है; प्रकृति अथवा स्वधा में होते

हैं। इसलिए विष्णु अर्थात् परमात्मा के उन पदों की स्थिति या प्रसन्नता, स्वधा के द्वारा बताई गई है। उस स्वधा अथवा उसके पदों को ऋचा में 'अक्षीयमाणा' कहा है। जगत् का मूल उपादान, कार्यरूप में परिणत हो जाने पर भी अपने स्वरूप से कभी क्षीण नहीं होता, उसका सत्त्वरजस्तमोमय रूप तथा यह क्रम सदा बना ही रहता है। वह कारण और कार्यरूप में सदा त्रिगुणात्मक है। तथा प्रकृति का यह परिणाम-क्रम भी कभी क्षीण नहीं होता। स्वधा के पदों के साथ इस 'अक्षीयमाणा' विशेषण से यह भी स्पष्ट हो जाता है, कि वेद, चेतन के अतिरिक्त 'प्रकृति' की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करता है और उसको और उसके क्रम को सदा रहने वाला बताता है।

जिस परमात्मा के तीन पदों का प्रस्तुत ऋचा के पूर्वार्ध में, साधारणतया उल्लेख किया गया है; ऋचा के उत्तरार्ध में उसी परमात्मा के एक पद (=स्थिति) का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। ऋचा बतलाती है कि पृथिवी, द्युलोक तथा सम्पूर्ण अनन्तानन्त इन लोक-लोकान्तरों को वह अकेला परमात्मा धारण करता है। पृथिवी आदि सम्पूर्ण लोक-लोकान्तरों को ऋचा में 'त्रिधातु' बताया गया है। इसका अभिप्राय यह होता है, कि यह अखिल दृश्यमान व्यक्त जगत् 'त्रिधातु' है, अर्थात् तीन धातुओं से बना हुआ है। यह कथन इस बात को अत्यन्त स्पष्ट करता है, कि इस प्रसङ्ग में 'त्रिधातु' 'पद' तीन मूल उपादानों के लिये प्रयुक्त हुआ है। प्रतीत होता है, वेद के ऐसे वर्णनों के आधार पर भारतीय दर्शनकारों ने इस विश्व पहेली के मूल की वास्तविकता को अपनी अनुपम प्रतिभा के बल पर समझकर, मूल प्रकृति को सत्त्व-रजस्तमोमय रूप में वर्णन किया है। सांख्य का यह परम सिद्धान्त है कि यह सम्पूर्ण जगत् त्रिगुणात्मक है; जिसको वेद में 'त्रिधातु' पद से कहा गया है।

(सायण ने इस ऋचा में 'त्रिधातु' पद का अर्थ पृथिवी-अप-तेज' किया है। और उसको 'दाधार' क्रिया का विशेषण माना है। सायण का यह अर्थ संगत नहीं कहा जा सकता। क्योंकि 'पृथिवी' का निर्देश ऋचा में पृथक् किया हुआ है, फिर 'त्रिधातु' पद से पृथिवी का निर्देश करने की क्या आवश्यकता? फिर पृथिवी तीन को ही क्यों कहा? वायु आदि को क्यों छोड़ दिया? इसको क्रिया विशेषण कहना भी असंगत है, क्योंकि परमात्मा के द्वारा लोक-लोकान्तरों के धारण किये जाने में इससे किसी विशेषता का निर्देश नहीं होता।)

वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी ऐसे प्रसंग आते हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है, कि यह सम्पूर्ण व्यक्त जगत् 'त्रिधातु' का परिणाम है। मैत्रायणी संहिता (२/४/३) में एक वाक्य इस प्रकार है—'यद्वा इदं किंच तत् त्रैधातव्या' अर्थात् जो कुछ भी यह है, वह 'त्रिधातु' का विकार या परिणाम है। 'त्रिधातु' पद का अर्थ 'सत्त्व-रजस्-तमस्' समझकर इन पदों की यथार्थ व्याख्या की जा

सकती है। इससे प्रतीत होता है, कि वेद के 'त्रिधातु' पद का अर्थ, अनन्तर के वैदिक साहित्य में, जगत् के त्रिरूप मूल उपादान को समझा जाता रहा है।

यास्कीय निरुक्त (१४१४) में ऋग्वेद के मन्त्र की भावरूप व्याख्या की गई है। इस मन्त्र में 'त्रिधातु' पद का प्रयोग है। यास्क के विचार से प्रस्तुत ऋचा के द्वारा अग्निरूप में महतत्त्व का वर्णन किया गया है। यास्क ने इस प्रसंग में 'त्रिधातु' पद का अर्थ, सत्त्व-रजस्-तमस् किया है।

सायण ने इस ऋचा के अर्थ में 'त्रिधातु' पद का अर्थ—'प्राण अपान-व्यान' यह अर्थ, यास्क के अर्थ से विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त इसमें यह असमञ्जस्य भी है, कि जब प्राण पांच कहे जाते हैं, तब तीन का ग्रहण क्यों किया गया, और दो को क्यों छोड़ा गया ?

इसके अतिरिक्त जाबाल उपनिषद् (४) में 'त्रिधातु' पद का अर्थ स्पष्ट सत्त्व-रजस्-तमस् लिखा हुआ है। वहां का लेख है—'त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति'। अर्थात् तीन धातु (त्रिधातु), सत्त्व-रजस्-तमस् हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है, कि सांख्य प्रतिपादित 'त्रिगुण' के लिए 'त्रिधातु' पद का प्रयोग बराबर होता रहा है। अथवा यों कहना अधिक स्पष्ट होगा, कि वेद के 'त्रिधातु' पद-प्रयोग के आधार पर, जगत् के मूल उपादान की, सत्त्व-रजस्-तमस् रूप में उदभावना की गई।

मांझी

हमने जो नाव बनाई थी, हमें बहुत देर में पता चला कि वह कागज की थी। हम यही समझते रहे कि वह टूटेगी नहीं; और यह गल भी गई! यात्रा तो हमें करनी ही पड़ेगी, अतः दूसरी नाव मंगानी होगी। तू दूर खड़े माँझी को उच्चस्वर से पुकारकर कह दे—हम चलने के लिये तैयार हैं।

हम तैयार हो चुके हैं, नहीं भी हुए तो भी चलना तो होगा ही। अतः अपनी फेंक दे, अपने चप्पू फेंक दे, अपना पाल उतार दे। हमने उसकी नौका पर बैठने का निर्णय कर लिया है। अतः उच्च स्वर से पुकार कर अपने माँझी को कह दे—हम चलने के लिये तैयार हैं, वह अपनी नाव ले आए।

अब लंगर उठने ही वाला है, थोड़ी देर में हमारी नाव चल पड़ेगी। मार्ग का पाथेय उसी को देना है। हमारा उससे यही सौदा तय हुआ है कि इस यात्रा में हम कुछ भी लेकर नहीं चलेंगे। सब कुछ वही देगा। फिर व्यर्थ का बोझा क्यों ढोयें? उसे उच्च स्वर से कह दो—हम चलने के लिए तैयार हैं।

सागर की तरंगों पर नाव चल चुकी है। यह नाव उसे ही खेती होगी। अतः हमारी नाव धीमे-धीमे ले चले, आंधियों में खेता ले चले, तूफानों में खेता हुआ ले चले, लहरों में खेता हुआ ले चले। अब हमें कोई चिन्ता नहीं। एक बार उच्च स्वर से पुकार कर कह दो—ओ मांझी रे!

योगेश्वर देव

—मधु मञ्जरी से

ऋग्० १०.१२९

सर्गकाल से पूर्व प्रत्यावस्था का,
वह रूप जबकि न सत् था,
और न असत्, न लोक लोकान्तर,
और नहीं सृष्टि के भव्य आवरण।

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्।
किमावरीवः कुहं कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥

वैदिक सामाजिक मान्यतायें

डा० कृष्ण लाल

वेद का परिवेश सीमित नहीं है। जिस प्रकार परमेश्वर की कोई इयत्ता नहीं है उसी प्रकार वेद-ज्ञान देश-काल की संकुचित सीमाओं से कहीं अधिक विस्तृत है। इसीलिए वेद में प्रतिविम्बित संस्कृति किसी एक स्थान अथवा काल कीपरिधि से ब्रंधी हुई नहीं है। वह शाश्वत है और सार्वभौम है। युगों तक मानवमात्र का मार्गदर्शन करने की उसमें क्षमता है। यह सुनिश्चित तथ्य है कि यदि मनुष्य आज वैदिक संस्कृति एवं समाज की उदार एवं सर्वजन-कल्याणकारी मान्यताओं का पालन करता है तो वह सभी संकटों और असंगतियों से मुक्त होकर पृथ्वी को स्वर्ग बना सकता है।

समाज शब्द सम्-उपसर्ग-पूर्वक अज् (चलना) धातु से बना है। दूसरे शब्दों में मनुष्यों का एक साथ रह कर, मिल कर एक दूसरे मे सहयोग करके जीवन-यापन का नाम ही समाज है। जहां यह सहयोग जितना अधिक होगा, सामञ्जस्य जितना सुदृढ़ होगा, उतना ही वह उन्नत समाज होगा, अथवा उतना ही वह अधिक 'समाज' होगा।

वेद की अधिकांश प्रार्थनाओं में प्रार्थी के लिये उत्तमपुरुष बहुवचन के प्रयोग से ही यह बात स्पष्ट है कि वेद समष्टिगत विचारधारा लेकर चलता है यथा प्रसिद्ध गायत्री मंत्र में हम सब की बुद्धियों को प्रेरित करने की प्रार्थना,[1] एक अन्य मन्त्र में 'हम सब के लिये अन्धकार से निकलकर उत्तम ज्योति सूर्य के समान ऊपर उठने की 'प्रार्थना'[2] 'हे सबका नेतृत्व करने वाले परमेश्वर (अग्नि) हम सबको उत्तम धन के लिये शोभन मार्ग से ले जाओ'[3] आदि प्रार्थनाओं में सबके लिये सामूहिक प्रार्थना है, व्यष्टि के लिये नहीं।

वेद की उक्तियों में सामञ्जस्य और तदनुरूप सामाजिक भाव स्पष्ट झलकता है। वेद सब प्राणियों को अपनी आत्मा में और अपनी आत्मा को सब प्राणियों में देखने की प्रेरणा देता है। यही वह स्थिति है जिसमें व्यक्ति समष्टि से एकरूप होकर घृणा से, ऊंचनीच की, अलगाव की भावना से मुक्त

हो सकता है। सबके प्रति उसकी सहानुभूति होती है—सब के सुख-दुःख की अनुभूति उसकी अपनी अनुभूति होती है।[४] इसीलिये वेद निर्देश देता है कि तुम समान मन वाले सखा होकर जागो।[५] परन्तु इस प्रकार की भावना मनुष्य सीखेगा कहां ? वास्तव में समाज की पहली इकाई परिवार है। परिवार ही आधार है।

परिवार ही वह स्थान है जहां मनुष्य बाल्यावस्था से विशेष सामाजिक गुणों को संजोता है। वह ऐसा शिक्षणस्थल है जहां से मनुष्य पूर्ण आयु के लिये संस्कार लेकर चलता है। इन अनेक परिवारों से ही समाज का निर्माण होता है। इसीलिये अथर्ववेद के प्रसिद्ध सांमनस्य सूक्त में माता-पिता तथा पुत्र, भाई-बहिन, पति-पत्नी में पूर्ण सांमनस्य की कामना व्यक्त की गई है।[६] जिस परिवार के सदस्यों में परस्पर ही झगड़े होंगे, वे समाज में कैसे शान्तिपूर्वक रह सकते हैं। यह तो प्रायः देखा ही जाता है कि जब मनुष्य के परिवार में कोई संकट होता है या कोई हर्ष का अवसर होता है तो उसकी छाया उसके कार्यक्षेत्र पर अथवा सम्बद्ध व्यक्तियों पर पड़ती है। पत्नी को पति के प्रति माधुर्ययुक्त शान्त सुखद वाणी बोलने का निर्देश है। इसी प्रकार भाई-बहिन आपस में भद्र वाणी का प्रयोग करें। वेद में ऐसे समभाव का, ऐसे परस्पर प्रेम का उपदेश है जैसा गाय का अपने नवजात बछड़े के प्रति होता है। वहां पूर्ण सहानुभूति होती है, पूर्ण एकात्मता होती है।[७] हम कल्पना कर सकते हैं कि पूर्ण समाज में यह प्रेम, यह एकात्मता हो तो समाज कितना सुखी होगा। वेद में प्रार्थना है कि हम माधुर्ययुक्त वाणी का ही प्रयोग करें।[८] मनुष्य का मनुष्य के प्रति बहुत व्यवहार वाणी के द्वारा होता है। वाणी आकृष्ट भी कर सकती है और वाणी विद्वेषकारिणी भी हो सकती है।

परिवार से आगे चलकर ही इस सांमनस्य-भावना की परिणति पूर्ण समाज में होती है। वेद में पूर्ण विश्व को एक समाज मानकर साथ चलने, एक साथ समान विचार करने की प्रेरणा दी गई है जिससे कि सब साथ मिलकर सुखपूर्वक रह सकें। पूर्ववर्ती देवों अर्थात् दिव्य प्राकृतिक शक्तियों अथवा विद्वानों, प्रबुद्ध व्यक्तियों ने भी इसी प्रकार समान भाव से अपना-अपना भाग प्राप्त किया है। वही उत्तम संगति का मार्ग हमें अपनाना है।[९]

इस संगति का यह अर्थ कदापि नहीं कि समाज से विविधता ही समाप्त हो जाये। यह असम्भव है क्योंकि मनुष्य जन्म से ही अपने कर्मों के अनुसार कुछ विशेषतायें या प्रवृत्तियां लेकर आता है। यह बात सम्पूर्ण प्रकृति में भी देखी जाती है। वेद में स्वीकार किया गया है कि मनुष्य के दोनों हाथ देखने में एकसमान होने पर भी एकसमान कार्य नहीं करते। सामान्यतया जो कार्य हम दायें हाथ से निपुणतापूर्वक सहज ही कर लेते हैं, वह उतनी सुविधापूर्वक बायें

हाथ से नहीं कर पाते। एक ही गाय की दो बछियायें जब दूध देने योग्य होती हैं तो वे भी एक सा एक जितना दूध नहीं देतीं। दोनों में अन्तर अवश्य होता है। यहां तक कि एक ही माता-पिता के यमज पुत्रों का सामर्थ्य ठीक एक सा नहीं होता—उनमें भी अन्तर अवश्य होता है। इसी प्रकार एक ही कुल के व्यक्ति अपने अपने स्वभाव के कारण एक सा दान नहीं दे पाते।[१०] हम यह भी जानते हैं कि मात्र सृष्टि के अस्तित्व में आने के लिये विषमता आवश्यक है। जब तक सत्त्व, रजस्, तमस्—ये तीनों गुण समावस्था में रहते हैं तब तक सृष्टि नहीं होती। परन्तु फिर भी सर्व-कल्याण का एक उद्देश्य लेकर भी अपने-अपने स्वभाव के अनुसार मनुष्य कार्यरत रह सकता है जिस प्रकार पृथ्वी विविधरूपों वाली होती हुई भी सब प्रकार के मनुष्यों की रक्षा करने में उसी प्रकार तत्पर रहती है जैसे एक घर की।[११]

इस प्रकार स्वाभाविक विषमताओं को स्वीकार करते हुए भी समान लक्ष्य का प्रतिपादन करने वाला वैदिक समाजवाद आधुनिक ध्वंसात्मक समाजवाद या साम्यवाद से नितान्त भिन्न है। यह शान्तिपूर्वक सोचने का अवसर है कि क्या आधुनिक समाजवाद से समस्या का समाधान सम्भव है? क्या पूंजी के बंटवारे और पुनः पुनः बंटवारे से मनुष्यों में स्थायी समता आ सकती है? 'नहीं' ही कहा जा सकता है। कल्पना करो कि किसी महान् शक्ति ने पृथिवी के समस्त धन को इकट्ठा करके, सारी आबादी में बराबर बराबर बांट दिया, तो प्रश्न यह है कि क्या फिर सब बराबर धन वाले लोग बने रहेंगे? कदापि नहीं, क्योंकि धन का बटवारा तो शक्तिमत्ता से किया जा सकता है परन्तु मनुष्य स्वभाव की विभिन्नता को कौन बदल सकता है? एक व्यक्ति धनसंग्रह का पक्षपाती है, दूसरा अधिक खर्च करने वाला। तीसरा धन को दोनों की रक्षारूप दान देने के हक में है, चौथा जुए, दुर्व्यसनों के पक्ष में होकर धन का अपव्यय करना चाहता है। तो बतलाओ तो सही कि इस स्वभाव की विभिन्नताओं को रखते हुए किस प्रकार के बराबर धन वाले रह सकते हैं?[१२] हम देखते हैं कि श्रमिक वर्ग आय का अधिकांश बीड़ी और शराब में व्यय कर के दयनीय, हीन और दरिद्र ही बना रहता है।

वैदिक समाजवाद हृदयपरिवर्तन में विश्वास करता है। कम से कम मान्य सर्व-कल्याण-रूप एक लक्ष्य की पूर्ति में विश्वास करता है। वह सामाजिक सांमनस्य के लिये आत्मसमर्पण की आवश्यकता पर बल देता है। आत्मसमर्पण ही त्याग का दूसरा नाम है। यह चिन्तनशील मनुष्य जाति में ही सम्भव है। यह आत्मसमर्पण ही समाज के अस्तित्व को बल और जीवन प्रदान करता है। यज्ञ-भावना, दानभावना इसका प्राण है। हमने देखा है कि संकट के समय क्रियान्वित की गई यह भावना ही लड़खड़ाते समाज को आश्रय प्रदान करती है। राष्ट्रों

में सहायता-कोष ऐसे अवसरों के लिये ही बनाये जाते हैं। परन्तु वेद के अनुसार सभी परिस्थितियों में मनुष्य को दान-त्याग पर आचरण करते ही रहना चाहिये। वेद के अनुसार विना बांटे अकेले भोग करने वाला व्यक्ति केवल पाप का भोग करता है।[१३] भाव यह है कि इस प्रकार केवल स्वयं भोग करने वाला व्यक्ति इस संसार में भी यश को प्राप्त नहीं करता और पुनर्जन्म में भी कर्मानुसार नीच योनि का भागी बनता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी अनेक प्रकार से दान की प्रेरणा दी गई है। मनुष्य को श्रद्धापूर्वक देना चाहिये, अपने सामर्थ्य के अनुसार देना चाहिये, समाज की लज्जा से देना चाहिये, भविष्य के भय से देना चाहिये और मित्रता के लिये देना चाहिये।[१४]

वेद कहता है कि यह सब चराचर जगत् ईश्वर के द्वारा आच्छादित है, मेरा तो कुछ है ही नहीं। ईश्वर ने सब पदार्थ बनाये ही सबके लिये हैं। यदि मैं किसी पदार्थ पर अपना एकाधिकार जमाता हूं अथवा किसी दूसरे के धन के प्रति लोभ करता हूं तो मैं ईश्वर के नियम का उल्लंघन करता हूं। हां, यदि मैं अपना भविष्य या परलोक सुधारना चाहता हूं तो मुझे दूसरों के लिये दान तथा त्याग करके ही उतना ही भोग करना चाहिये जितना मेरे लिये आवश्यक है।[१५] पिछले जन्म के कर्मों से जो कुछ पाया है उसे इस जन्म के नीच कर्मों से खो न दूं अपितु उसमें परिष्कार करूं जिससे आगे मेरा जन्म सुधरा रहे। क्या चोरी-डाके से मेरा पुनर्जन्म सुधरेगा ? उपर्युक्त मन्त्र सब मनुष्यों के लिये सहायता की, उत्सर्ग की प्रेरणा देता है। यदि मेरा कोई बन्धु (समाज का कोई व्यक्ति) भूखा है और मैं गुलछर्रे उड़ा रहा हूं, तो क्या सुन्दर समाज की कल्पना की जा सकती है ? इसी त्याग के अन्तर्गत इष्ट और पूर्त आते हैं जिनके लिये अग्नि के समाज तेजस्वी गृहस्थ और समाज के नेता को प्रेरणा दी गई है। यही जागृति है, यही उद्बोधन है।[१६] सब प्रकार के यज्ञों से वायुशुद्धि द्वारा सभी छोटे बड़े प्राणियों का उपकार होता है: ये इष्ट हैं। प्याओ खुलवाना, धर्मशाला बनवाना, कुएं बनवाना, अन्नदान, उद्यान आदि सुख सुविधायें प्रदान करना—ये सब पूर्त हैं। यह उदार-भावना उन्नत समाज का निर्माण करती है।

वेद के अनुसार वास्तविक भोक्ता वह है जो कृशकाय, अन्न की कामना से इधर उधर भटकने वाले तथा दिये हुए को ग्रहण करने वाले को दान देता है।[१७] समर्थ मनुष्य को जीवन का सुदीर्घ मार्ग देखते हुए अपेक्षी को दान देना ही चाहिये। उसे यह ध्यान रखना चाहिये कि समय कभी भी फिर सकता है। क्या पता कल वह स्वयं मांगने की स्थिति में आ जाये। धन तो रथ के पहिये के समान है। जैसे रथ के पहिये का कोई भाग चलते हुए ऊपर होता है, कोई नीचे— फिर नीचे वाला ऊपर और ऊपर वाला नीचे होता रहता है उसी प्रकार धन भी आज एक के पास है तो कल दूसरे के पास होगा।[१८] जो जितना अधिक

दान देता है वह उतना ही अधिक यशस्वी होता है। एक चौथाई अपने पास रखकर तीन चौथाई देने वाला उत्तम है। आधा दान देने वाला चौथाई दान देने वाले से अच्छा है। और जो व्यक्ति सारा ही अपने पास रख लेता है, वह पशु-तुल्य है। उसे तो आधा दान देने वाले से भी शिक्षा लेनी पड़ती है। वह बेचारा जीवन के अन्तिम क्षणों में उनके पदचिह्नों को देखता खड़ा रहता है कि कहीं कोई आकर उसे दान का मर्म समझाये।[१९] परन्तु इतना होने पर भी समाज में कुछ व्यक्ति इतने निर्लज्ज, ढीठ होते हैं कि कोई अन्न का अपेक्षी उनके निकट आकर पुकार पुकार कर याचना कर रहा है और वे हैं कि अन्न होते हुए भी उसको देते नहीं, अपितु उसके सामने ही मन को पत्थर बना कर उपभोग करते रहते हैं। वेद मन्त्र के अनुसार ऐसा व्यक्ति समय आने पर किसी को अपना सहायक नहीं पाता है।[२०] दूसरी ओर दान देने वाले तथा दूसरों की सहायता करने वाले व्यक्ति के पास उसके यश का विस्तार करती हुई घृत जैसे उत्तम पदार्थ की धारायें सब ओर से पहुंचती हैं अर्थात् दान देने वाले का यश तो बढ़ता ही है, उसकी समृद्धि में भी कमी नहीं आती।[२१] इसीलिये वेद में कामना व्यक्त की गई है कि दानी व्यक्ति न तो दुर्गति को प्राप्त हों, न कष्ट को अथवा दुख को प्राप्त हों। अच्छे नियमों वाले बुद्धिमान् व्यक्ति जीर्ण न हों—विपत्ति में न पड़ें। ऐसे व्यक्तियों की परिधि अर्थात् यश की तथा सुख की सीमा कोई और हो, अति विस्तृत हो और जो दान नहीं देता उसके पास ही सब शोक या दुःख जायें।[२२] इस प्रकार यह दान भावना, यह आत्मसमर्पण ही आरोहण है, प्रगति है—यही आरोहण प्रत्येक जीवित मनुष्य का लक्ष्य है।[२३]

दान और त्याग-भावना का ही दूसरा नाम यज्ञ है। यज्ञ वैदिक सामाजिक विचारधारा का महत्त्वपूर्ण अंग है। एक मन्त्र में यह कामना व्यक्त की गई है कि 'मेरा प्राण, मेरा अपान, व्यान, प्रत्येक सांस, मन, ध्यान, वाणी, निपुणता और बल—सब यज्ञ भावना से युक्त हों। यह सब कुछ यज्ञ में समर्पित कर देने की उदात्त भावना है। इसकी पराकाष्ठा इस बात में है कि स्वयं यज्ञ के भी यज्ञभावना से युक्त होने की कामना है।[२४] भाव यह है कि यज्ञ भी क्षुद्र स्वार्थ को छोड़कर निस्वार्थ भाव से व्यापक जनकल्याण के उद्देश्य से किया जाये। इससे यह पता चलता है कि केवल अग्नि में आहुतियां अर्पित करने का नाम यज्ञ नहीं, अपितु यज्ञ एक व्यापक त्याग की भावना है। यज्ञ अध्वर अर्थात् हिंसारहित है। इसीलिए यह अहिंसा और सौहार्द का प्रतीक है। देना, सहायता करना, दुःख दूर करना और मन से भी किसी का अशुभ न सोचना—यह यज्ञ है। इसी प्रकार सत्पुरुषों की संगति द्वारा सबके कल्याणार्थ सत् ज्ञान प्राप्त करना, सद्व्यवहार सीखना भी यज्ञ है। उन्नत शिल्प, उन्नत उद्योग, उन्नत विज्ञान में प्रवृत्त होना भी यज्ञ है यदि उसमें क्षुद्र स्वार्थ का त्याग किया जाये। इसीलिये

प्रार्थना है कि हमारी सरस्वती, हमारी विद्या पवित्र हो।[२५] उसकी पवित्रता यज्ञमय होने में ही है। सवप्रेरक परमेश्वर से सभी मनुष्यों को सर्वोत्तम कर्म की प्रेरणा देने की प्रार्थना की गई है।[२६] शतपथ ब्राह्मण में बताया गया है कि यज्ञ ही सर्वोत्तम कर्म है।[२७]

यज्ञ इतनी पवित्र भावना का नाम है कि उससे पूर्व अनुष्ठाता सत्याचरण की प्रतिज्ञा करता है—इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि—वा० सं० १/५ (यह मैं यज्ञ के लिये) झूठ से सत्य को प्राप्त होता हूं। यज्ञ प्रारम्भ करने से पूर्व इस प्रतिज्ञा द्वारा यज्ञ की केवल भौतिक ही नहीं अपितु भावात्मक अथवा मानसिक पवित्रता का भी बोध होता है। यज्ञ केवल साधन ही नहीं, परन्तु सद्‌गुणरूपी साध्य भी है। जब तक यज्ञ से मन की भावनाओं का उदात्तीकरण नहीं होता तब तक यज्ञ का वास्तविक उद्देश्य पूर्ण नहीं होता। यज्ञ सत्य है। यज्ञ सर्वकल्याणरूप है।

समस्त समाज में बन्धुत्व, मित्रता की भावना वैदिक सामाजिकता का आदर्श है। इसीलिये यह निश्चय व्यक्त किया गया है कि हम एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखते हैं।[२८] तभी यह सदिच्छा प्रकट होती है कि सब दिशायें अर्थात् सब दिशाओं के प्राणी मेरे मित्र हो जायें।[२९] सब मनुष्यों में परस्पर स्नेह-सम्बन्ध हो। और यह स्थिति स्वयं अपने आप से आरम्भ होगी। हमारा आचरण इतना स्नेहपूर्ण और सहानुभूति पूर्ण हो कि कोई भी हमारे प्रति द्वेष न करे।[३०] हम एक दूसरे की सहायता करें। मनुष्यमात्र, की सब ओर से रक्षा करे।[३१] इस विचारधारा में आकर जाति, वर्ण, ऊंच, नीच, देश आदि के सब भेद समाप्त हो जाते हैं। मनुष्य की रक्षा केवल इसलिये की जानी चाहिये क्योंकि वह मनुष्य है। यही व्यापक विश्व-परिवार की भावना है। वैदिक परिवार-रचना न तो जातिभेद के आधार पर है और न वंश परंपरा की सीमित परिधि के भीतर। कुछ विद्वानों ने अन्य सभ्यताओं के समान वेद में भी दास-प्रथा को बताया है। परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये तो दास दो प्रकार के हैं और दोनों में से कोई भी क्रीत दास नहीं। दास शब्द के मूल में उपक्षीण होना अर्थ वाली दस् धातु है। तदनुसार वह व्यक्ति या श्रमिक दास कहा जाता है जो कर्म करता उपक्षीण होता है, थकता है।[३२] इसके अतिरिक्त दास वह व्यक्ति, वह दुष्ट दस्यु है जो दूसरों के कर्मों में बाधा पहुंचाता है, उन्हें नष्ट करता है, क्षीण करता है।[३३] और तदनुसार दास अथवा दस्यु उसी प्रकार कोई जाति नहीं है जिस प्रकार आर्य कोई जाति नहीं जिसने बाहर से आकर भारत के मूल निवासियों पर आक्रमण किये और उन्हें दास बना लिया। वेद के अनुसार दस्यु उस व्यक्ति की संज्ञा है जो कर्महीन, आलसी और मानवीय गुणों से रहित हो।[३४] इसी प्रकार राक्षस भी कोई अलग जाति न होकर हमारे समाज के ही वे लोग हैं जो श्रद्धाहीन हैं, जिनकी न ईश्वर में श्रद्धा है और न किसी सत्कर्म में तथा जो

केवल धन के पीछे लगे हुए हैं जो धन के लिये किसी के प्राण लेने में भी संकोच नहीं करते। ये कच्चा मांस खाने वाले 'क्रव्याद्' हैं।[३५]

वेद में समाज की कल्पना एक सुगठित शरीरधारी पुरुष के रूप में की गई है। वह अलग अलग विखरा हुआ नहीं माना गया, वह एक भेद रहित संगठन है। समाज में चार वर्ण परस्पर सहयोग करने वाले पूर्ण शरीर अपरिहार्य अंगों के समान बताये गये हैं—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥[३६]

इस मन्त्र के अनुसार पूर्ण शरीर के अंगों के समान इन वर्णों में न कोई ऊंचा है, न कोई नीचा। शरीर के किसी अंग को निकृष्ट नहीं कहा जा सकता। हां, भिन्न-भिन्न अंगों के अपने-अपने कार्य हैं और उनके द्वारा वे सब मिलकर शरीर का रक्षण-पोषण करते हैं। जिस प्रकार मुख-मण्डल में मस्तिष्क है और सभी ज्ञानेन्द्रियां हैं और वे शरीर को मार्ग दिखाने का तथा विभिन्न पदार्थों और परिस्थितियों के प्रति सचेत करने का कार्य करती हैं उसी प्रकार ब्राह्मण वर्ण समस्त समाज की उन्नति के लिये, कल्याण के लिये सोचता है तथा समस्त समाज को शिक्षित करता है। इसको इस रूप में भी कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति उपर्युक्त कार्य करता है उसे ब्राह्मण नाम दिया गया है। भुजायें जिस प्रकार आपत्ति आते ही, आक्रमण होते ही प्रतिकार के लिये उठ जाती हैं, उसी प्रकार क्षत्रिय का धर्म विपत्तियों तथा बाह्य आक्रमणों से समाज की रक्षा करता है। शरीर में जांघें मनुष्य को आवश्यक पदार्थ जुटाने कृषि आदि करने में तथा उसके द्वारा उदरपोषण में सहायता करती हैं उसी प्रकार वैश्य का कार्य इधर-उधर, देश-विदेश में घूम कर समाज के लिये सभी प्रकार की आवश्यक सामग्री जुटाना, कृषि-व्यवस्था करना, पशुपालन करना आदि है। इसी क्रम में पांवों के आधार पर सारा शरीर खड़ा होता है, इधर-उधर चलने में समर्थ होता है अथवा गति करने में समर्थ होता है। उसी प्रकार शूद्र वर्ण सम्पूर्ण समाज का आधार है। वह अपने शिल्प द्वारा, श्रम के द्वारा आवश्यक साधनों, उपकरणों को समाज के सभी वर्गों के लिये उपलब्ध कराता है। वही शुद्धि के द्वारा रोगरहित स्वस्थ जीवन को सम्भव बनाता है, जिससे समाज के सभी वर्ग गति करने में, प्रगति करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार वैदिक वर्णव्यवस्था का अर्थ गुण-कर्म है, जाति नहीं। उनके अनुसार सबकी समान आवश्यकता है, सबका महत्त्व है, ऊंच-नीच का भेदभाव नहीं। कोई गर्हित नहीं है, कोई अस्पृश्य नहीं।

वेद स्पष्ट उद्घोष करता है कि न तो कोई बड़ा है, न कोई छोटा है— ये

सभी परस्पर भ्राता हैं और सौभाग्य अथवा उन्नति के लिए साथ-साथ बढ़ते हैं।[३७] इसी आधार पर सब मनुष्यों के प्रति वेद का निर्देश है कि शूद्र और आर्य सबका प्रिय (कल्याण) देखें।[३८] परमेश्वर से ब्राह्मण, छत्रिय, वैश्य, शूद्र—सबमें समान रूप से शोभा या दीप्ति का आधान करने की प्रार्थना की गई हैं, जिससे सबका समान कल्याण हो और कोई भी अपमानित न हो।[३९] समाज में सभी कार्य करने वालों का समान महत्त्व् है, सबका एक जैसा सम्मान है। इसीलिए एक मन्त्र में बढ़ई, रथनिर्माता, कुम्हार, लोहार, निषाद (मछुआरे) पुञ्जिष्ठ, शिकारी आदि सबको नमस्कार किया गया है।[४०] एक अन्य मन्त्र में संकल्प व्यक्त किया गया है कि मैं ऐसा रहूं कि जिससे मैं ब्राह्मण, छत्रिय, वैश्य और शूद्र—अपने-पराये—सारी जनता के लिए कल्याणकर ज्ञान का प्रचार और प्रसार करूं।[४१] वस्तुतः सबकी समान समृद्धि से ही पूर्ण समाज, राष्ट्र तथा मानवमात्र की समृद्धि सम्भव है। समाज के सभी अंगों के स्वस्थ रहने पर समाज उचित दिशा में वांञ्छित प्रगति कर सकता है।

वैदिक सामाजिक मान्यताओं के अनुसार उपर्युक्त सामूहिक समन्वयात्मक दृष्टिकोण के साथ-साथ व्यक्तिगत जीवन में भी पूर्णता लाने के लिए समन्वय पर बल दिया गया है। ब्रह्मचर्य अथवा शिक्षा का महत्त्व अथर्ववेद के एक सम्पूर्ण सूक्त (११।५) में प्रतिपादित किया गया है। समाज में ब्रह्मचारी का अत्यन्त सम्मानजनक स्थान है। ब्रह्मचारी में ही देवता समानरूप से शुभेच्छु होते हैं, ब्रह्मचारी का ही अनुसरण छोटे, बड़े, देवता सब करते हैं। वह अपनी विद्या और तदनुरूप उत्तम कर्मों के द्वारा पृथ्वी और आकाश को पूर्ण करता है अर्थात् सारी प्रकृति की वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर उनका सदुपयोग करता है। वही आचार्य को भी पूर्ण करता है अर्थात् उसका यश फैलाता है।[४२] ब्रह्मचारी ब्रह्म अर्थात् ज्ञान को उत्पन्न करता हुआ तथा व्यापक जल, लोक, सर्वोच्च विराट् प्रजापति को (भी उनके ज्ञान द्वारा मानो) उत्पन्न करता हुआ, अमृतत्व के उत्पत्तिस्थान पर गर्भरूप होकर तथा इन्द्र अथवा सर्वाधिष्ठाता होकर असुरों, दुष्टों को नष्ट करता है।[४३] ब्रह्मचारी ही आचार्य है क्योंकि ब्रह्मचारी द्वारा ज्ञान प्राप्त करके आगे चलकर वही आचार्य-पद ग्रहण करता है। वह आचार्य ही प्रजापति है क्योंकि सबके पोषण का ज्ञान देकर वही आगे चलकर सबका पालनकर्त्ता होता है।[४४] ब्रह्मचर्य का इतना महत्त्व है कि राजा के लिये भी यह आवश्यक है। राजा भी ब्रह्मचर्य और तपस्या के द्वारा राष्ट्र की रक्षा करता है।[४५] वस्तुतः ब्रह्मचर्य के माध्यम से ब्रह्मचर्याश्रम या शिक्षा का महत्त्व बताया गया है। जीवन को पूर्ण, संयत और सभ्य बनाने के लिए शिक्षा के महत्त्व पर बल देना उदात्त सामाजिक मान्यताओं के अन्तर्गत ही सम्भव है क्योंकि शिक्षा ही मनुष्य पशु में से भिन्न मनुष्यता के गुणों को उभारती तथा सींचती है। विद्या के अभाव में

मनुष्य पशु ही रह जाता है जैसा प्रायः अनपढ़ गंवार लोगों में देखा जाता है। वास्तव में ब्रह्मचर्याश्रम सभ्य जीवन का मूलाधार है। यदि इसकी व्यवस्था बिगड़ जायेगी तो सम्पूर्ण समाज बिगड़ जायेगा। यही हम आज देख रहे हैं। चरित्र-निर्माण को छोड़कर आज शिक्षित व्यक्ति भी किसी प्रकार धन बटोरने को अपना लक्ष्य मानते हैं। यहां तक कि अध्यापन के क्षेत्र में भी यह प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। शिक्षा में विसंगतियां और अंग्रेजी तथा अंग्रेजियत का स्व-तन्त्र भारत में अनावश्यक प्रचार सारे वातावरण को दूषित किये हुए है। अपनी भाषा का प्रयोग तथा सम्मान न होने से हम वास्तविक समतामूलक समाज के आदर्श से दूर हो गए हैं। वेदानुसार ब्रह्मचर्य ऐश्वर्य और वैभव नहीं, तपस्या और परिश्रम सिखाता है, उससे मनुष्य धनसंग्रह नहीं, सेवाभाव सीखता है। ब्रह्मचारी लोकों को अपने तपोमय आचरण से पूर्ण करता है।[४६] वैदिक शिक्षा के आदर्शों के अनुसार केवल ज्ञान और बुद्धि की ही आवश्यक्ता नहीं अपितु शारीरिक शक्ति भी आवश्यक है। इसीलिए शरीर पाषाणसदृश सुदृढ़ बनाने की प्रार्थना की गई है।[४७]

ब्रह्मचर्य में प्रवेशार्थ वेद में न शूद्र, न स्त्री—किसी का निषेध नहीं है। कन्या के लिये ब्रह्मचर्य उतना ही आवश्यक है जितना पुत्र के लिये क्योंकि बताया गया है कि वह ब्रह्मचर्य के द्वारा ही युवक पति को प्राप्त करती है।[४८] स्त्री होने मात्र से किसी को शिक्षा अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा से वंचित नहीं किया जा सकता। वेद के अनुसार इन दोनों को प्राप्त करने के लिये लिंग या जाति अपेक्षित नहीं इसके लिए तो परिश्रम आवश्यक है। यदि स्त्री भी परिश्रम करती है तो वह शिक्षा और प्रतिष्ठा की अधिकारिणी है। एक मन्त्र के अनु-सार तपस्या में प्रवृत सप्त ऋषियों और प्राचीन देवों, अर्थात् विद्वानों ने ब्रह्म-जाया स्त्री के विषय में कहा है कि ब्राह्मण द्वारा ब्रह्मचर्य के लिये उपनीत यह वलिष्ठ परिश्रमी पत्नी अधृष्ट होकर परम व्योम अर्थात सर्वोच्च प्रतिष्ठा में अपने आपको स्थापित करती है।[४९]

स्त्री को वेद में सामान्य सम्मान ही नहीं दिया गया अपितु उसे पराशक्ति बताया गया है। वह अधिष्ठात्री है। वह अदिति है, अखण्ड शक्ति है। एक सूक्त में वाक् के रूप में वह कहती है कि, "मैं स्वयं राष्ट्र शक्ति हूं। मैं ही स्वयं यह कहती हूं कि जिसको मैं चाहती हूं उसे उग्र अर्थात् प्रतिष्ठित कर देती हूं।[५०] वेद नारी में अतुल शक्ति को स्वीकार करता है। अवसर मिलने पर उसमें अपनी क्षमताओं को विस्तार करने का पूर्ण सामर्थ्य होता है। वेद में नारी को कहीं भी गर्हित नहीं लताया गया। विधवा को पुनर्विवाह का अधिकार वैदिक सिद्धा-न्तों की उदारता दिखाता है। एक मन्त्र में मृत पति के पास शोकमग्न बैठी हुई स्त्री को सम्बोधित करके कहा गया है कि "हे नारी, तू इस प्राणहीन (पति)

के पास बैठी हुई है, तू उठ और जीवित व्यक्तियों के मध्य आ। तेरे पाणिग्रहण को तैयार यह तेरा (दूसरा) पति है। तुम दोनों विवाह में संयुक्त हो जाओ।[५१]

वेद की सामाजिक मान्यता समन्वयमूलक है। ब्रह्मचर्य और उसमें की गई तपस्या के पश्चात् जीवन की पूर्णता और समाज की आवश्यकता तथा उसके पोषण के लिये ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति पर मनुष्य के लिए विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना आवश्यक है। महर्षि मनु का कथन है कि जिस प्रकार सब नदी और नद समुद्र में ही स्थिर होते हैं—आश्रित होते हैं, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम पर सब आश्रम आश्रित होते हैं।[५२] वेद में आदेश दिया गया है कि कि विवाह करके पति-पत्नी को यहां, इस घर में रहना चाहिये, अलग नहीं होना चाहिये। पुत्रों और नाती-पोतों से खेलते हुए तथा अपने घर में आनन्दित होते हुए पूर्ण आयु को प्राप्त करना चाहिये अर्थात् पूर्ण रूप से गृहस्थाश्रम का पालन करना चाहिये।[५३] इसके अनुसार पति-पत्नी का अलग न होना, मिलकर रहना गार्हस्थ्य का प्राथमिक आदर्श है। गार्हस्थ्य की अन्य सुविधायें, प्रसन्नता, आमोद-प्रमोद इस पर ही आधारित हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद में भी निर्देश हैं कि पत्नी पति के प्रति शान्त मधुर वाणी बोले।[५४] पति और पत्नी या माता और पिता गार्हस्थ्य के मूलाधार हैं। उन दोनों का स्वस्थ और कष्टरहित रहना पूर्ण और सुखी परिवार के लिये आवश्यक है। वेद के अनुसार परमेश्वर से प्रार्थना की जाती है कि हमारे माता और पिता, दोनों का कल्याण हो।[५५] सन्तान द्वारा माता-पिता के कल्याण की इस प्रार्थना में संयुक्त परिवार की भावना भी अन्तर्निहित है। यह एक ऐसी सामाजिक मान्यता है जिसके अनुसार माता-पिता और सब सन्तान तथा उनकी सन्तानें एक दूसरे का पूर्ण ध्यान रखते हुए सबके परस्पर-कल्याण की कामना करते हुए आजीवन साथ-साथ रहते हैं और एक दूसरे के सुख-दुःख के साथी होते हैं। इसमें ऐसी भी समस्या नहीं कि अस्वस्थ अथवा वृद्ध होने पर माता-पिता को कहीं और शरण ढूंढ़नी पड़े। वैदिक विचारधारा के अनुसार केवल सांस लेना नहीं अपितु स्नेह-पूर्वक जीना, परिवार के साथ मिलकर रहना वास्तविक सामाजिकता है।

इसके साथ ही वेद ने घर में नवविवाहिता को पूर्ण अधिकार देकर अद्भुत संतुलन स्थापित किया है। नव वधु को कहा गया है कि, तू अपने श्वसुर, सास, देवर, ननद अर्थात् पूर्ण परिवार की सम्राज्ञी हो जा।[५६] इस प्रकार उसे परिवार में सर्वोच्च शासक के पद पर पहुंचा दिया गया है। इस आदर्श स्थिति में कौन बहू अलग होकर रहना चाहेगी ? यह अधिकार ही वास्तव में उसे कर्त्तव्य बोध कराता है और यह भी स्मरण कराता है कि आगे चलकर बड़े होकर उसे भी परिवार में उदार माता-पिता की भूमिका निभानी है। वह जानती है कि इस सर्वोच्च पद की प्रतिष्ठा वह कटुता से नहीं, मधुरता से ही बना सकती है।

इसी कारण वेद में यहां तक कह दिया गया है कि पत्नी ही घर है।[५७]

गार्हस्थ्य का केन्द्र सन्तान होती है। पति-पत्नी के अधिकांश प्रयत्न सन्तान की सुख-सुविधा के लिये होते हैं। सम्भवतया इसीलिये पत्नी को जाया कहा गया है। वह सन्तान को जन्म देती है, उसका निर्माण करती है। वह पति की पूर्णता है। पति उसके बिना अधूरा है। कहा गया है कि पुरुष पत्नी को प्राप्त करके अपने आपको अधिक पूर्ण समझता है।[५८] पति और पत्नी का संयोग केवल शरीरिक संयोग नहीं, हार्दिक संयोग है। इसीलिये विवाह सूक्त में प्रार्थना है—"सब देव और व्यापक जल (रूप परमेश्वर) हम दोनों के हृदयों को संयुक्त करें।[५९] यह हार्दिक संयोग ही वैदिक विवाह का आदर्श है। हार्दिक संयोग की यह भावना ही पति-पत्नी और परिवार में पूर्ण सामंजस्य स्थापित करती है। पति-पत्नी के इस संयोग को चकवा-चकवी के संयोग की उपमा दी गई है।[६०]

सन्तान के लिये पूर्ण सुख-सुविधा, शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था करना प्रत्येक गृहस्थ का कर्त्तव्य है। यद्यपि वेद में अनेक स्थलों पर 'दशवीराजयेम' जैसे वाक्यों में दस पुत्रों की कामना अभिव्यक्त होती है तथापि दूसरी ओर यह भी कहा गया है कि बहुत सन्तान वाले कष्ट में प्रवेश करते हैं।[६१] उसके मूल में यह भावना प्रतीत होती है कि जिस में सन्तान के सुचारु पालन-पोषण की क्षमता हो, केवल वही व्यक्ति अधिक सन्तान प्राप्त करे अन्यथा कष्ट में पड़ जायेगा और समाज को भी जैसे व्यक्ति अपेक्षित हैं वैसे नहीं बन पायेंगे। समाज के लिए एक और जहां विद्या में पारंगत विद्वान् चाहियें वहीं दूसरी ओर शत्रु का नाश करने वाले बलिष्ठ पुरुष भी आवश्यक हैं।[६२]

घर परिवार का और समाज का आवश्यक अंग हैं। घर केवल दीवारें ही नहीं, अपितु एक वातावरण है वह वातावरण जितना सुदृढ़ होगा उतनी ही समाज में उच्छृंखलता कम होगी। इसीलिये वेद में प्रार्थना है कि पृथ्वी पर मनुष्यों के घर दृढ़ रहें।[६३] घरों में पूर्ण समृद्धि और वैभव होना चाहिये। वेद का कथन है कि हमारे घर मधुर वाणी से युक्त हों, वे भाग्यशाली हों, अन्न से युक्त हों, हास्य-प्रमोद से परिपूर्ण हों, तृषारहित और क्षुधारहित हों।[६४] ऐसे ही घर उन्नत समाज के दर्पण होते हैं। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि ऐसे घरों का निर्माण अनुचित ढंग से बटोरे गये धन से किया जाये। ऊर्ध्वगामी चरणशील अर्थात् गतिशील जीवन काम्य है।[६५] ऊर्ध्व गति या उन्नति वह है जो सूर्य के समान हो। जैसे सूर्य सबका उपकार करता हुआ अपरिमित तेज वितरित करता है, अनेक प्रकार से सबको जीवन दान करता है, उसी प्रकार कल्याण के मार्ग पर चलकर हिंसारहित होकर हम उन्नति कर सकते हैं, ऊंचा लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं।[६६] किसी के प्रति हमारे मन में दुर्भावना न हो, हमारा मन कल्याण-पूर्ण भावनाओं वाला हो।[६७]

धन परिश्रम से प्राप्त किया जाना चाहिये। जुए आदि अनुचित कार्यों से प्राप्त धन की निन्दा की गई है, उसका निषेध है—"हे मनुष्य, जुआ मत खेल, कृषिकर्म (जैसा शुद्ध कर्म) कर, और उस परिश्रम से जो धन उपलब्ध हो, उसमें प्रसन्न रह।[६८] यदि फिर भी अधिक धन की आवश्यकता है तो और अधिक परिश्रम कर और कमा परन्तु दूसरों की जेब काटकर, चोरी डकैती द्वारा धन न बटोर। वेद का उद्घोष है कि 'मेरे दायें हाथ में मेरा कर्म है और बायें हाथ में विजय।[६९] परन्तु हाथ चलाये बिना, अहिंसक शुभसंकल्पयुक्त परिश्रम के बिना विजय अथवा सफलता असम्भव है। कुकर्म करने वाले कभी सत्य उन्नति के मार्ग पर नहीं पहुंच सकते।[७०] देवता, विद्वान् या दिव्य प्राकृतिक शक्तियां उसके साथ मित्रता नहीं करतीं या उसकी सहायता नहीं करतीं जो कार्य करता-करता थक न जाये।[७१] भाव यह है कि परमेश्वर भी तभी सहायता करता है जब मनुष्य स्वयं भी उद्यम करे। वस्तुतः परमेश्वर तो मनुष्य के उद्यम का समुचित फल देता है, ऊपर से अपनी सहायता टपकाता नहीं। वेद सन्देश देता है कर्म करते रहने का।[७२] जागने वाला, कर्म करने वाला मनुष्य ही ऐश्वर्य-सुख प्राप्त कर सकता है, सोने वाला अकर्मण्य आलसी तो उसे भी गंवा देता है जो उसे पूर्वजों से प्राप्त होता है।[७३] वेद का आदर्श सशक्त, बलिष्ठ, शत्रुविदारक समाज है, ऐसा समाज जिसका लोहा सभी दिशायें मानती हों—चारों दिशायें जिसके आगे झुक जायें।[७४]

इस आदर्श समाज के जिये न तो उल्लू के समान चरित्र वाले व्यक्ति चाहियें जो कार्य करने के समय सोते रहें और विश्राम के समय जागें और दूसरों की निद्रा में बाधा डालें और न ही भेड़िये के समान दूसरों की हिंसा करके अपनी उदरपूर्ति करने वाले चरित्रहीन चोर। आदर्श समाज कुत्ते के समान स्वामी के आगे दुम हिलाकर चाटुकारिता करने वाले विवेकहीन व्यक्तियों से भी नहीं बनता और न ही कामुक व्यक्तियों से बनता है। अपने रूप और विशालता तथा गति के मद में डूबे हुए सुपर्ण अर्थात् गरुड़ के समान मदान्ध व्यक्ति आदर्श समाज का निर्माण नहीं करते। उसी प्रकार गिद्ध के समान लोभी व्यक्तियों से भी समाज का मुक्त रहना आवश्यक है।[७५]

वैदिक सामाजिक मान्यतायें उदात्ततम भावनाओं की प्रेरणा देने वाली हैं। इनमें सर्वत्र सद्गुणों एवं सत्कर्मों का अद्भूत समन्वय दिखाई देता है। आज पाश्चात्य देश अत्यधिक भौतिक उन्नति करके भी अशांति और असुरक्षा का अनुभव कर रहे हैं। वे निरन्तर युद्ध की विभीषिका से ग्रस्त हैं। भारत को भी यदि अपने स्वरूप को बनाये रखना है और स्वयं इस अशान्ति से बचकर विश्व को बचाना है तो वैदिक समाज के आदर्शों का अनुसरण करके सामाजिक सन्तुलन स्थापित करना होगा। यज्ञ, दान, तपस्या, परिश्रम की प्रतिष्ठा करनी

होगी। नारी को केवल उपभोग की वस्तु न मानकर उसका यथेष्ट सम्मान करना होगा। जातिवाद और अन्य कुरीतियां छोड़कर शोषित वर्ग के साथ समानता का व्यवहार करना होगा। निम्नलिखित मन्त्र में वैदिक समाज की पूर्णता की भावना अभिव्यक्त होती है :—

आब्रह्मन् ब्राह्मणों ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रेराजन्यः शुर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् ॥

(वा० सं० २२/२२)

सब ओर है ब्रह्म। ब्राह्मण ब्रह्मतेज से युक्त जन्म ले,
सब ओर राष्ट्र में क्षत्रिय, वीर बाण में कुशल,
(शत्रु को) अत्यधिक विद्ध करने वाला महारथी जन्म ले,
दुधारू गाय सवत्सा, वाहक बैल, द्रुतगामी घोड़ा (हो),
समृद्धियुक्त नारी, विजयी (जन) रथ पर सुस्थित,
सभ्य युवा इस यजमान का वीर (पुत्र) ले जन्म…॥

पाद टिप्पणियां

१. धियो यो नः प्रचोदयात्।
२. उद्वयंतमसस्परि ··सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्।
३. अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्।
४. यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ (वा० सं० ४०/४)
५. उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः। (ऋ० १०/१०/१/१)
३. अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥ (अथर्व० ३/३०/२,३)
७. सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ (अथर्व० ३/३०/१)
८. मधुमतीं वाचमुद्येम। (अथर्व० ७/५२/८)

९. सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वा मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।।
...समानामस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।। (ऋ० १०/१९१/२,४)

१०. समां चिद्धस्तां न समं विविष्टः संमातरा चिन्न समं दुह्यते ।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तां न समं पृणीतः ।।
(१०/११७/९)

११. जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।
(अथर्व० १२/१/४५)

१२. महात्मा नारायणस्वामी, नवीन और प्राचीन समाजवाद, पृ० १५३

१३. केवलाघो भवति केवलादी । (ऋ० १०/११७/६)

१४. श्रद्धया देयमश्रद्धयाऽदेयम् श्रिया देयं, ह्रिया देयं, भिया देयं, संविदा देयम् ।
(तै० उ० १/११)

१५. ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ।। (वा० सं० ४०/१)

१६. उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते संसृजेथामयंच ।
(वा० सं० १५/५४)

१७. स इद् भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय ।(ऋ० १०/११७/३)

१८. पृणीयादिनाधमानायतव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम् ।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा न्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ।। (ऋ० १०/११७/५)

१९. एकपाद् भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यन् पंक्तीरुपतिष्ठमानः ।।
(ऋ० १०/११७/८)

२०. य आध्राय चकमानाय पित्वोऽनवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे ।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितारं न विन्दते ।।
(ऋ० १०/११७/२)

२१. पृणन्तं च पपुरिं च श्रवस्यवो धृतस्य धाराउप यन्ति विश्वतः ।
(ऋ० १/१२५/५)

२२. मा पृणन्तो दुरितमेन आरन् मा जारिषुः सूरयः सुव्रतासः ।
अन्यस्तेषां परिधिरस्तु कश्चिदपृणन्तमभि संयन्तु शोकाः ।।
(ऋ० १/१२५/७)

२३. आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोऽयनम् ।(अथर्व० ५/३०/७)

२४. प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मेऽसुश्च मे । चित्तं च म आधीतं च मे वाक्च मे मनश्च मे दक्षश्च मे बलं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।। (वा० सं० १८/२) यज्ञो यज्ञेन कल्पताम् । (वा० सं० १८/२९) इस भावना के विस्तार के

लिये शुक्ल यजुर्वेद का सम्पूर्ण अठारहवां अध्याय देखिये।

२५. पावका नः सरस्वती ३ ··· यज्ञं वष्टु धियावसुः ॥ (ऋ० १/३/१०)
चोदयित्रीसूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती।
(ऋ० १/३/११)

२६. देवो वः सविता प्रार्थयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे (वा० सं० १/१)

२७. यज्ञो वे श्रेष्ठतमं कर्म (श० ब्रा० १/७/१/५)

२८. मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। (वा० सं० ३६/१८)

२९. सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु। (अथर्व० १९/१५/६)

३०. मा नो द्विक्षत कश्चन। (अथर्व० १२/१/२४)

३१. पुमान् पुमांसं परियातु विश्वतः। (ऋ० ६/७५/१४)

३२. दासपत्नीः दासाधिपत्यः नि० २/१७, इस पर दुर्ग-दासः कर्मकरस्तं हि ता अधिष्ठाय पान्ति। स हि दासः कर्मणा श्रान्तः तासु पीतासु विश्रान्तः भवति।

३३. दासो दस्यतेः। उपदासयिति कर्माणि। नि० २/१७, स हि उपदासयिति उपक्षाययति, कर्माणि कृष्यादीनि समापयतीत्यर्थः। (दुर्ग)

३४. अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः।
त्वं तस्यामित्रहन् वधर्दासस्य दम्भय॥ (ऋ० १०/२२/८)

३५. येऽश्रद्धा धनकाम्या क्रव्यादा समासते।
ते अन्येषां कुम्भीं पर्यादधति सर्वदा॥ (अथर्व० १२/२/५१)

३६. ऋ० १०/९०/१२; वा० सं० ३१/११, (अथर्व० १९/६/६)

३७. अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सोमगाय।
(ऋ० ५/६०/५)

३८. प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये। (अथर्व० १९/६२/१)

३९. रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥ (वा० सं० १८/४८)

४०. नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमः।
नमो निषादेभ्यः पुंजिष्ठेभ्यश्च वो नमो नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमः॥
(वा० सं० १६/२७)
ये सभी रुद्र अर्थात् परमेश्वर के ही रूप बताये गये हैं।
विस्तृत सूची के लिये देखिये वा० सं० १६/१७-४६

४१. यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च॥ (वा० सं० २६/२)

४२. ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति।
सदाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति॥

ब्रह्मचारिणं पितरौ देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे ।
(अथर्व० ११/५/१,२)

४३. ब्रह्मचारी जनयन्ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् ।
गर्भो भूत्वामृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्ह ॥ (अथर्व० ११/५/७)

४४. आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः (अथर्व० ११/५/१६)

४५. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति । (अथर्व० ११/५/१७)

४६. ब्रह्मचारी···लोकांस्तपसा पिपर्ति । (अथर्व० ११/५/४)

४७. अश्मा भवत नस्तनूः ॥ (वा० सं० २६/४६)

४८. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् । (अथर्व० ११/५/१८)

४६. देवा एतस्याभवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसे ये निषेदुः ।
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीतादुर्धां दधाति परमे व्योमन् ॥
(ऋ० १०/१०६/४)

५०. अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ॥
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधम् ॥
(ऋ० १०/१२५/५)

५१. उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमपि सं बभूथ ॥ (ऋ० १०/१८/८)

५२. यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ (मनु० ६/६०)

५३. इहैव स्तं मा वि यौष्टं पूर्णमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे दमे ॥ (ऋ० १०/८५/४२)

५४. जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ (अथर्व० ३/३०/२)

५५. स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु ॥ (अथर्व० १/३१/४)

५६. सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव ।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु ॥ (अथर्व० १४/१/२२)

५७. जायेदस्तम् । (ऋ० ३/५३/४)

५८. तस्मात् पुरुषोजायां वित्त्वा कृत्स्नतरमिवात्मानं मन्यते ॥
(ऐतेरेय ब्रा० १/२/५)

५६. समंजन्तु वैश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ ॥ (ऋ० १०/८५/४७)

६०. चक्रवाकेव दम्पती । (अथर्व० १४/२/६४)

६१. बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश (ऋ० १/१६४/३२)

६२. मम पुत्राः शत्रुहणः (ऋ० १०/१५६/३)

६३. दृंहन्ता दुर्याः पृथिव्याम् (वा० सं० १/११)

६४. सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः ।

अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहास्त भास्मद् विभीतन ।। (अथर्व० ७/६०/६)
६५. कृधी न ऊर्ध्वां चरथाय जीवसे । (ऋ० ३६/२४)
६६. स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ।
पुनर्ददताऽघ्नता जानता संगमेमहि ।। (ऋ० ५/५१/१५)
६७. तन्मै मन: शिव संकल्पमस्तु (वा० सं० ३४/६)
६८. अक्षेर्मा दीव्य: कृषिमितकृषस्व वित्रे रमस्व वहु मन्यमान:
(ऋ० १०/३४/१३)
६९. कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहित: ।(अथर्व० (७/५२/८)
७०. ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृत: । (ऋ० ९/७३/६)
७१. न ऋतै श्रान्तस्य सख्याय देवा: ।(ऋ० ४/३३/११)
७२. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषैच्छतं समा: । (वा० सं० ४०/२)
७३. भूत्यै जागरणम् अभूत्यै स्वपनम् । (वा० सं० ३०/१७)
७४. मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्र: । (ऋ० १०/१२८/१)
७५. उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ।। (ऋ० ७/१०४/२२)

गृहस्थ का वैदिक आदर्श

प्रोफेसर विश्वनाथ विद्यालंकार,

वैदिक दृष्टि में कम-से-कम २४ वर्षों की आयु तक वर, तथा १६ वर्षों की आयु तक वधू, ब्रह्मचर्य पूर्वक जीवन व्यतीत करके, पारस्परिक इच्छा से प्रेरित होकर, विधि के अनुसार विवाह-बन्धन में बंध कर गृहजीवन व्यतीत करना— गृहस्थ जीवन कहलाता है। गृहस्थजीवन ऐन्द्रियिक भोग के लिये नहीं, अपितु गृह्य सत्कर्मों को करते हुए श्रेष्ठ सन्तानों के उत्पादन के लिये है। गृहस्थ-जीवन का यह वैदिक आदर्श है। विवाह काल तक वर अविप्लुत ब्रह्मचारी होना चाहिये, और कन्या अर्थात् वधू अक्षत योनि।

(१)
आदर्श वधू-वर तथा स्वर्ग लोक

आदर्श वधू का दहेज

वैदिक दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ विवाह आदित्य ब्रह्मचारी वर का, तथा सूर्या ब्रह्मचारिणी वधू को माना है। आदर्श वधू विवाहानन्तर कौन-सा दहेज लेकर पति के घर जाती है,—इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मन्त्र विशेष प्रकाश डालते हैं :—

चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम्।
द्यौर्भूमिः कोश आसीद् यदयात्सूर्यापतिम् ॥
(अथर्व० १४/१/६)

चित्ति अर्थात् सम्यक् ज्ञान तकिया था, ज्ञानसम्पन्न चक्षु सुरमा था, द्युलोक और भूलोक का ज्ञान खज़ाना था, जबकि सूर्या ब्रह्मचारिणी पति को चली।

सम्यक् ज्ञान मस्तिष्क के लिये सुखदायी होता है, इसलिये इसे तकिया कहा है। तकिया सिर को सुख देता है। ज्ञानसम्पन्न चक्षु अर्थात् दृष्टिशक्ति को सुरमा कहा है। तथा द्युलोक और भूलोक के विस्तृत ज्ञान को खज़ाना कहा है। दहेज में तकिया आदि पदार्थ, तथा धन देना होता है, परन्तु सूर्या ब्रह्मचारिणी का दहेज उसका गृह्य कर्तव्यों, सदाचार आदि का सम्यक् ज्ञान, विचार करने की सधी हुई दृष्टि, तथा संसार का विस्तृत ज्ञान ही खज़ाना होता है।

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी।
सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृता॥
(अथर्व १४/१/७)

रैभी अर्थात् रयि (धन) सम्बन्धी अर्थात् अर्थशास्त्र सम्बन्धी वैदिक ऋचाएँ अनुदेयी अर्थात् साथ दी गई सम्पत्ति थीं, नाराशंसी अर्थात् नर-नारी के कर्तव्यों का वर्णन करने वाली वैदिक ऋचाएँ न्योचनी अर्थात् इसके साथ सदा सहचारिणी सम्पत्ति थी। सूर्या ब्रह्मचारिणी, जो कि आदित्य ब्रह्मचारी के लिये सौर प्रभा सदृश थी, उसके वस्त्र भद्रोचित वस्त्र थे, और वह गाथा अर्थात् गान विद्या से सजी हुई पति के घर आई।

स्तोमा आसन् प्रतिधयः कुरीरं छन्दः ओपशः॥ (अथर्व १४/१/८)

स्तोम अर्थात् सामगान के मन्त्र प्रतिधयः अर्थात् शरीर पर धारण करने के आभूषण थे, और छन्दः अर्थात् वैदिक छन्द कुरीर और ओपश नामक शिरोभूषण थे।

इस प्रकार के आदर्श दहेज का वर्णन, Dowry प्रथा का प्रतिषेध करता है। इस आदर्श दहेज से सम्पन्न पत्नी वस्तुतः गृहलक्ष्मी है। साथ ही यह भी जानना चाहिये कि आदर्श वधू, आत्मज्ञान से भी सम्पन्न होनी चाहिये। इसलिये इसे "आत्मवन्ती" कहा है। यथा "आत्मन्वत्युर्वरा नारीययागन्" (अथर्व १४/१/७८) पति कहता है, आत्मज्ञान वाली तथा उर्वरा अर्थात् सन्तानों को उत्पन्न करने में समर्थ यह नारी मेरे घर आई है। वेद गृहस्थिन-नारी को वृद्धावस्था में अन्यों को उपदेश देने का भी अधिकार देता है। यथा "एना पत्या तन्वं संस्पृशाथ जिर्विर्विदथ मावदासि" (अथर्व १४/१/२१), वेद नारी को कहता है कि "इस पति के साथ निज तनू का स्पर्श कर, और जिर्वि, अर्थात् जीर्णावस्था में वृद्धावस्था में ज्ञानोपदेश किया कर।

आदर्शवर

निम्नलिखित मन्त्र आदर्श वरों के सम्बन्ध में प्रकाश डालता है। यथा—

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्तिलोकम्।
नैषां शिश्नं प्रदहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम्॥
(अथर्व ४/३४/२)

(अनस्थां) अर्थात् ब्रह्मचर्य के कारण जिनके शरीरों में अस्थियां नज़र नहीं आतीं, जो कि मांसल तथा शरीरों से परिपुष्ट हैं, (पूताः) जो कि आचार-विचार से पवित्र हैं, (पवनेन) अर्थात् प्राणायाम की वायु द्वारा जो अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शुद्ध हैं, (शुचयः) प्रतिदिन स्नान द्वारा जो बाह्यशुद्धि सम्पन्न हैं, वे [शुचिम् लोकम् (अपि)] शुद्ध-पवित्र गृहस्थ लोक में भी (यन्ति) जाते हैं, प्रवेश करते हैं, (स्वर्गे लोके) गृहस्थ रूपी स्वर्ग लोक में (बहुस्त्रैणम्) बहुत स्त्री वर्ग के होते भी, (जातवेदाः) ब्रह्मचर्य में उत्पन्न वेद की ज्ञानाग्नि (एषाम्) इनके (शिश्नम्) भोगेन्द्रिय को (न प्रदहति) प्रदग्ध नहीं करती, कामातुर नहीं करती। अभिप्राय यह कि ऐसे परिपुष्ट, आचार-विचार से पवित्र योगाङ्ग प्राणायाम के अभ्यासी, प्रतिदिन स्नानी व्यक्ति—यह नहीं कि वे गृहस्थ से विमुख होकर संन्यास ही धारण करते हैं, अपितु वे पवित्र गृहस्थाश्रम में भी प्रवेश करते हैं। इस गृहस्थाश्रम में पत्नी, भरजाई, चाची, ताई, बहिनें, पुत्र बधुएँ, पुत्रियां आदि चाहे बहु स्त्रीवर्ग रहता है, तो भी वे धर्मपूर्वक गृहस्थ का निर्वाह करते हैं, कभी कामातुर नहीं होते। जिस गृहस्थ में आदर्श पत्नी तथा आदर्श पति होगा वह गृहस्थ स्वर्ग लोक ही तो होगा, स्वर्गधाम ही तो होगा।

ऐसे गृहस्थ के सम्बन्ध में सूक्त १४/३४ में निम्न सामग्री की सत्ता होने का भी प्रतिपादन किया है। यथा, ऐसा व्यक्ति या गृहस्थी "विष्टारी ओदन का परिपाक करता है, अल्पान्न का परिपाक नहीं करता, बहुत अन्न का परिपाक करता है ताकि वह पितृसेवा और अतिथि सेवा कर सके। मन्त्र (३) ऐसे सद्गृहस्थी के घर में "घृतह्रदाः" घी के मानो तालाब होने चाहिये, "मधुकूलाः" शहद होना चाहियें, "सुरोदकाः" शुद्ध तथा वाष्पी भवन द्वारा साफ़-सुथरे जल के घड़े होने चाहिये, "क्षीरेण पूर्णाः दध्ना" दूध तथा दही से भरे घड़े होने चाहियें, "पुष्कारिणी समन्ताः" तथा घर के प्रान्त भागों में कमल भरे ह्रद होने चाहियें (मन्त्र ६, ७)। पके अन्न द्वारा ब्राह्मण वर्ग की सेवा होनी चाहिये, तथा घर में कामदुघा धेनु होनी चाहिये (मन्त्र ८)। मन्त्र (२) में "स्वर्गलोक" पद देखकर

पौराणिक स्वर्गलोक के भ्रम में न पड़ना चाहिये। वेद में इसी प्रकार अन्य स्वर्गों का भी वर्णन मिलता है, जिनका सम्बन्ध जीवित व्यक्तियों के साथ है। पौराणिक स्वर्ग का सम्बन्ध तो मृत्यु के पश्चात् होता है। अन्य स्वर्ग यथा,—

(२)
अन्य स्वर्ग

ततं तन्तुमन्वेके तरन्ति येषां दत्तं पित्र्यमायनेन।
अबन्ध्वेके ददतः प्रयच्छन्तो दातुं चेच्छिक्षसान्त्स स्वर्ग एव॥
(अथर्व ६/१२२/२)

कई तो सन्तान का ताँता तानने के पश्चात् तर जाते हैं जिन्होंने कि पितृ प्राप्त धन को विधिपूर्वक सन्तानों को दे दिया है। और कई जो कि बन्धुओं से रहित हैं वे तर जाते हैं धन देते हुए तथा समग्रभावेन प्रदान करते हुए, यदि दान देने और प्रदान करने में वे सशक्त हों, अथवा शक्ति वाले हों तो यह स्वर्ग ही है।

अभिप्राय यह कि सन्तानोत्पन्न करके माता-पिता से प्राप्त सम्पत्ति को स्वेच्छया, विधिपूर्वक सन्तानों में बांट देना—यह भी स्वर्ग ही है। तथा सतानादि के अभाव में पित्र्य तथा निज सम्पति का पूर्णत्याग कर देना (और उसे सत्कर्मों के निमित्त दान कर देना)—यह भी स्वर्ग ही है। इन दोनों प्रकारों से व्यक्ति स्वकर्तव्य का पालन कर बन्धन से मुक्त हो जाता है। और यदि कुछ देने की शक्ति नहीं, तो धन से विरक्त हुआ वह व्यक्ति सुतरां विमुक्त हुआ-हुआ है, यह अवस्था भी स्वर्गरूप ही है। कहा भी है कि "हिरण्ययेन पात्रेण सत्यस्यापि-हितं मुखम्" अर्थात् सुवर्ण आदि को निज रक्षा तथा त्राण का साधन समझने पर सत्यब्रह्म का चेहरा ढका रहता है, उसका दर्शन नहीं होने पाता, और ऐसा वह व्यक्ति तर नहीं सकता। तथा,—

अष्ट चक्रा नवद्वारा देवानां पूर योध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥
(अथर्व १०/२/३१)

देवों की नगरी अयोध्या है जो कि आठ चक्रों वाली और नौ द्वारों वाली है। उस नगरी में सुवर्णमय कोश है जो कि स्वर्ग है, जो ज्योति से आवृत है।

मन्त्र में वर्णित नगरी है शरीर। इस नगरी की सुषुम्ना नाड़ी में आठ चक्र हैं, और नगरी में ९ दरवाजे हैं, सात सिर में और दो नीचे। इस नगरी में

सुवर्णमय कोश है हृदय, यह स्वर्ग है' और ब्राह्मी ज्योति से आवृत है, ढका हुआ है। मन्त्र में हृदय को स्वर्ग कहा है। इसलिये यह आवश्यक नहीं कि वेदों में जहां-जहां स्वर्गपद पठित हो वहां-वहां पौराणिक अर्थ ही स्वर्गपद का किया जाय। इसी भावना से प्रेरित होकर अथर्व० ४/३४/२ में स्वर्गपद का 'गृहस्थ-स्वर्ग" अर्थ किया है।

(३)
संयुक्त पारिवारिक जीवन

संयुक्त पारिवारिक जीवन एक 'प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी' रूप है, जिसमें कि पठित-अपठित, स्वस्थ-रोगी, कमाऊ-वेकमाऊ, वृद्धों और वच्चों —इन सबकी देख-भाल, सेवाशुश्रूषा, पालन-पोषण आदि की व्यवस्था हो सकती है। वर्तमान युग में संयुक्त पारिवारिक जीवन छिन्न-भिन्न हो गया है। इसलिये एक ही परिवार के वृद्धों, वच्चों तथा अनाथों की अवस्था कई परिवारों में शोचनीय हो गई है। वैदिक सभ्यता संयुक्त पारिवारिक जीवन की है। इस सामूहिक जीवन की कुछ झलक अधोलिखित मन्त्रों से प्रकट होती है। यथा :

हृदयं सांमनस्य मविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यंत वत्सं जातमिवाघ्न्या ।। (अथर्व ३/३०/१)

हे गृहस्थ के निवासियो ! मैं परमेश्वर तुम्हारे लिये पारस्परिक हृदयों का मेल तथा परस्पर मनों का मेल नियत करता हूँ, ताकि तुममें पारस्परिक द्वेष-भावना न रहे। तुम सव परस्पर मिला करो और एक दूसरे की कामना किया करो, जैसे कि गौ निज नवोत्पन्न बछड़े की कामना करती है।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो माता भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम ।। २ ।।

पुत्र पिता की इच्छानुसार काम करने वाला हो, और माता के साथ एक मन वाला हो, अर्थात् माता के साथ प्रेम करने वाला हो माता के मन को प्रसन्न करने वाला हो। जाया पति के प्रति माधुर्य भीनी तथा शान्तिदायक वाणी बोला करे।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षतन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ।। ३ ।।

भाई-भाई के साथ तथा बहिन के साथ द्वेष न करे, तथा बहिन भी भाई तथा बहिन के साथ द्वेष न करे। सम्यक् आचार वाले और समानव्रती होकर तुम सब भद्र ढंग से परस्पर बोला करो।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

जिससे घर के पढ़े-लिखे सदस्य परस्पर विरुद्ध नहीं होते, और न परस्पर विद्वेष करते हैं, उस वेद को तुम्हारे लिये मैं निश्चित करता हूँ जो कि पुरुषों के लिये सम्यक् ज्ञान देता है।

उपर्युक्त तीन मन्त्र उन उपायों का वर्णन करते हैं जिनसे कि परिवार में प्रेम बना रहे, और परिवार का विघटन न होने पाए। एतदर्थ वेद का प्रतिदिन स्वाध्याय परिवार के पुरुषों को करना चाहिये, जिससे परस्पर मिल-जुलकर रहने की भावनाएँ उनमें सुदृढ़ होती रहें। परिवार के पुरुष यदि परस्पर मिल-जुलकर रहने के संकल्पों वाले हो जायं तो पारिवारिक संगठन बना रह सकता है।

इस सूक्त में संयुक्त परिवार में परस्पर प्रेम और समझौता बने रहने के लिये अन्य ४ क्रियात्मक उपाय भी कहे हैं, (१) "ज्यायस्वन्तः" (५) अर्थात् संयुक्त परिवार में कोई न कोई बुजुर्ग होना चाहिये जो कि शासक रूप में होता हुआ गृह जीवन का व्यवस्थापक हो। वैदिक सभ्यतानुसार वर्ण और आश्रम-व्यवस्था का स्थापक राजा माना है। राजनियम के अनुसार प्रत्येक संयुक्त परिवार में कोई एक बुजुर्ग एक समय में परिवार में शासक रूप में निश्चित होना चाहिये, जो कि प्रेम-स्नेहपूर्वक परिवार का शासन करे, और जिसके शासन में शेष परिवार रहे। (२) "समानी प्रपा सह वोऽन्न भागः" (६) अर्थात् संयुक्त परिवार के व्यक्तियों का,—जो कि संयुक्त परिवार में विद्यमान हों,—खान-पान इकट्ठा हुआ करे। (३) "सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु" (७), पारिवारिक व्यक्ति सायं प्रातः परस्पर मिला करें ताकि उनमें पारस्परिक-मानसिक प्रसन्नता तथा सौहार्द बना रहे (४)। "सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः" (६), अर्थात् सायं प्रातः के अग्निहोत्र में, अग्नि कुण्ड के चारों ओर बैठकर अग्नि की परिचर्या किया करो, और इस प्रकार बैठा करो जैसे कि चक्र के आरे चक्र की नाभि के चारों ओर रहते हैं।

अग्नि की परिचर्या या पूजा का वैदिक अभिप्राय है अग्निष्ठ परमेश्वर की पूजा, उसकी स्तुति। यथा "अग्नावग्निश्चरतिप्रविष्टः" (अथर्व ४/३९/९)

(४)
पति-पत्नी का पारस्परिक व्यवहार

पति की भावनाएं पत्नी के प्रति

कतिपय मन्त्र इस सम्बन्ध में उपस्थित करता हूं जिनके द्वारा प्रकट हो सके कि पति की भावनाएं पत्नी के प्रति कैसी होनी चाहिये । यथाः—

अहं विष्यामि मयि रूपमस्याः, वेददित् पश्यन् मनसः कुलायम् ।
न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान् ।।

(अथर्व०१४/१/५७), अर्थात् "मैं विशेषतया बाँधता हूँ, मुझमें, इसके रूप को, जानता हुआ और देखता हुआ इसे अपने मनोरूपी-पक्षी का घोंसला । मैं चोरी-छिपी खाना तक नहीं, इसे मैं स्वेच्छया छोड़ देता हूँ, इस प्रकार मैं स्वयं श्रेष्ठप्रभु के प्रेमपाशों को सुदृढ़ ग्रथित करता हूं । (विष्यामि=वि+षिञ् (बन्धने) श्रान्थनः =श्रन्थसंदर्भ)

इदंतद्रूपं यदवस्त योषा जायां जिज्ञासे मनसा चरन्तीम् ।
नामन्र्वातिष्ये सखिभिर्नवग्वैः क इमान् विद्वान् विचचर्त पाशान् ।।
(अथर्व०१४/१/५६)

यह वह रूप है जिसे कि पत्नी ने धारण किया हुआ है, मनः द्वारा अर्थात् मनन द्वारा विचरती हुई पत्नी का मैं जिज्ञासु हूँ । उस पत्नी को अनुकूल वर्तने वाला मैं हूंगा, निज स्तुत्य गतियों वाले मित्रों के साथ । किस विज्ञ ने इन प्रेमपाशों को ग्रथित किया है । (प्रश्न का उत्तर भी 'कः' द्वारा सूचित कर दिया गया है, कः=प्रजापतिः, अर्थात् जगत् के कर्ता, (करोतीति कः), प्रजाओं की परम्परा के रक्षक परमेश्वर ने ही इन प्रेमपाशों को ग्रथित किया है, विशेष प्रकार से ग्रथित किया है । विचचर्त=वि+चृती ग्रन्थने । नवग्वै=नव (नूस्तुतौ)+गु (गति) स्तुत्यमतिवाले, सदाचारी ।

ममत्वा दोषणि श्रिषं कृणोमिहृदय श्रिषम् ।
यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ।। (अथर्व ६/९/२)

हे पत्नी ! तुझे मैं अपनी बाहुओं में आलिङ्गित करता हूं, अपने हृदय में

आलिङ्गित करता हूं, ताकि तू मेरे कर्मों में सहयोग देने वाली हो सके, तथा मेरे चित्त के समीप तू सदा वर्तमान रहे। अभिप्राय यह कि अपने कर्मों में सहयोगिनी बनाने के लिये पत्नी के साथ प्यार चाहिए, न कि अनुशासन। ऋतु =कर्म तथा प्रज्ञा (निघं०२/१; ३/६)।

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः।
मया पत्या प्रजावति संजीव शरदः शतम्॥ (अथर्व १४/१/५२)

यह पत्नी मुझ द्वारा पालित-पोषित हो, मेरे प्रति हे पत्नी, तुझे बृहस्पति ने सौंपा है। हे सन्तानों वाली! तू मुझ पति के साथ सम्यक्-जीवन व्यतीत कर, और सौ वर्षों तक जीवित रह। कहां यह उत्तम आदर्श और कहां, स्वार्थ, पत्नियों से धन मांगना, और धन न मिलने पर उन्हें जीवित ही अग्नि के भेंट कर देना। ऐसे नर-पशुओं को अग्नि का ग्रास बनाना ही न्यायसंगत प्रतीत होना चाहिये।

(५)
पत्नी के व्यवहार पति के प्रति

नीललोहितं भवति कृत्यासक्तिर्व्यज्यते।
एधन्तेऽस्या ज्ञातयः पतिर्बन्धेषु बध्यते॥ (अथर्व १४/१/२६)

(पति का मुख) नीला भी लाल हो जाता है जबकि कृतिशक्तिरूपा पत्नी की प्रेमासक्ति अभिव्यक्त होती है। इसके पितृकुल के सम्बन्धी बढ़ते हैं, और पति प्रेम बन्धनों में बन्ध जाता है।

अभिप्राय यह कि पत्नी को कर्मशील होना चाहिये, निरुद्यमी और आलसी नहीं। पत्नी के व्यवहारों के स्नेह संसिक्त होने पर पति का स्वास्थ्य बढ़ता और पतिपत्नी के प्रेमबन्धनों में बंध जाता, तथा यह जानकर कि बेटी पतिकुल में बस गयी है, प्रसन्नता के कारण पितृकुल के सम्बन्धी बढ़ते हैं।

पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम्॥ (अथर्व १४/१/४२)

तथा पति के, अनुकुल काम करने वाली होकर, मोक्ष प्राप्ति के लिये भी तैयारी करते रहना पत्नी को पति की अनुकूलता में रहना चाहिये, और गृहस्थधर्म का पालन करते हुए भी मोक्ष प्राप्ति के लिये मोक्ष साधनों यमनियमों का पालन और योगाभ्यास करते रहना चाहिये।

---(अनुव्रता; व्रतम कर्मनाम (निघ०२/१)

(६)
पति कुल में पत्नी के अधिकार तथा कर्तव्य

सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु ।
ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः ।। (अथर्व १४/१/४४)
यथासिन्धुर्नदीना साम्राज्यं सुषुवे वृषा ।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य ।। (अथर्व १४/१/४३)

हे नववधू, तू श्वशुरों पर सम्यक् राज्य करने वाली वन, और देवरों पर सम्यक् राज्य करने वाली बन। नदों पर सम्यक् राज्य करने वाली बन, और सास पर सम्यक् राज्य करने वाली वन (४४) ।

जैसे समुद्र नदियों पर राज्य करता है और पुनः उन कर वर्षा कर देता है, इसी प्रकार तू सम्यक् राज्य करने वाली वन पति के घर पहुंचकर।(४३)

अभिप्राय यह कि नववधू को घर की व्यवस्था का सर्वाधिकार दे देना चाहिये। श्वशुर, देवर, नदें और सास उसकी व्यवस्थानुसार चलें। तथा जैसे समुद्र का राज्य नदियों पर है, इसलिये नदियों के जल का संग्रह कर समुद्र वर्षारूप में उसे पुनः नदियों को दे देता है वैसे नववधू भी सब गृहवासियों के धन को संग्रहीत[१] कर पुनः गृहवासियों के सुख-समृद्धि और सुरक्षा के लिये मुक्त हस्त होकर उन पर धन की वर्षा करती रहे। गृह व्यवस्था का यह कितना उत्तम आदर्श है। परन्तु श्वशुर, सास[२] पति आदि नवबधू को परमेश्वर प्रदत्त इस अधिकार से वञ्चित रखना चाहते हैं।

नववधू, प्राप्त अधिकार का दुरुपयोग न करे, इस के लिये वेद ने पत्नी के कतिपय कर्तव्यों का भी निर्देश किया है। यथाः—

बन्धुओं के प्रति वधू का सुखदायी होना

स्योना भवश्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः ।। (अथर्व १४।२।२७)
अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमाः गृहेभ्यः ।
वीरसूर्देवृकामा सं त्वयैधिषीमहि सुमनस्यमाना। (१४।२।१७)
सुमङ्गली प्रतरणी गृहानां सुशेवापत्ये श्वशुराय शम्भूः
स्योना श्वश्र्वै प्रगृहान् विशेमान् ।। (१४।२।२६)

हे वधू, तू श्वशुरों में सुखदायिनी वन, पति के लिये तथ गृहवासियों के लिये सुखकारिणी बन। (२७)प्रेम-भरी आंखों वाली वन, पति को कष्ट देकर उसे

आत्मघाती न कर अपितु सब गृहवासियों के लिये शान्ति पहुंचाने वाली, उत्तम सेवा करने वाली, तथा अपने-आप को यम-नियमों में बन्धने वाली बन, या उत्तम नियन्त्रण करने वाली बन, वीर सन्तान पैदा करने वाली, देवरों की कामना वाली, तथा सुप्रसन्न मन वाली बन, ताकि तुझ द्वारा हम बढ़ते रहें। (१७)

उत्तम मङ्गलमयी, गृहवासियों को दुःख सागर से तारने वाली, उत्तम सेवा करने वाली, पति और श्वशुर के लिये शान्ति पैदा करने वाली, सास के लिये सुख स्वरूपा हुई तू, इन घरों में प्रवेश कर (२६)

(सुशेवा=सु+शेवृ (सेवने)। जिस वधू में मन्त्रोक्त सद्गुण हों वह घर की सम्राज्ञी बनकर सम्यक् राज्य ही करेगी)

वधू द्वारा अग्नि कर्म तथा पितरों को नमः

स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य (अथर्व, १४।२।१८)
यदा गार्हपत्यमसपर्यैत् पूर्वमग्निवधूरियम्।
अधा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु॥ (अथर्व, १४।२।२०)

हे वधू! सुखकारिणी तू गार्हपत्य-अग्नि की पूजा किया कर, इसमें अग्निहोत्र किया कर (१८)। जब वधू पहले इस गार्हपत्य-अग्नि की पूजा करले, इस में अग्निहोत्र करले, तदनन्तर हे नारि, हे वधू, तू सरस्वती रूपा सास को, तथा पितृरूप श्वशुरादि को नमस्कार किया कर (२०)।(१४/२/१५) में पठिता वधू को सरस्वती कहा है। यथा "प्रतितिष्ठ विराऽसि विष्णुरिवेह सरस्वति। सिनीवालि प्रजायतां भगस्य सुभतावसत्॥ अर्थात् हे सरस्वति, तू प्रतिष्ठा को प्राप्त हो, तु प्रकृति के सदृश जन्मदात्री है। इस घर में हे सरस्वती! तू विष्णु रूपा है। हे अन्नवति! अर्थात् घर के अन्नों की स्वामिनी, तथा सुन्दर केशों वाली, तुझ से संतानें पैदा हों, जोकि भाग्यवान् पिता की सुमति में रहें।

(७)
गृहस्थ में संतान संख्या

संतान संख्या के सम्बन्ध में वेदों में दो मंत्र बहुत महत्त्व के हैं। आर्थिक दशा और पत्नी के स्वास्थ्य की अनुकूलता में वेद में "दशास्यां पुत्रानाधेहि" (ऋ०१०/८५/४५) द्वारा १० पुत्रों तक की आज्ञा प्रदान की है और "पतिमेकादशं कृधि" (ऋ०१०/८५/४५) द्वारा १० से अधिक पुत्रों के उत्पादन का

निषेध किया है। तभी कहा है कि "पति को ११ वां पुत्र मान" (इस प्रकार वक्रोक्ति द्वारा १० से अधिक पुत्रों का सर्वथा निषेध ही ज्ञात होता है। पुत्र शब्द पुत्रों और पुत्रियों दोनों[3] का वाचक है।

परन्तु इस पुत्र संख्या के सम्वन्ध में पति की शारीरिक शक्ति का माप भी वेद ने निश्चित कर दिया है।

यथा

"यद् धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजनमाश्विनम्।
ततस्त्वं पुनरायसि पुत्राणां नो असः पिता ।। (अथर्व, ६।१३१।३)

हे गृहस्थिन्! यदि तू अश्वारोही[4] के एक दिन में, तीन योजन, या पांच योजन तक दौड़ता है, और वहां से उसी दिन पुनः लौट आता है, तब तू हमारे पुत्रों का पिता बन।

[मंत्र में 'पुत्राणाम्' पद वहुवचन है, जो दो से अधिक संख्या को सूचित करता है। दो से अधिक का अभिप्राय है, तीन से १० तक, शक्त्यनुसार। १० से अधिक की आज्ञा वेद ने नहीं दी। त्रियोजन = ३ × ८ (लगभग) = २४ मील। उसी दिन लौट, आने पर, २४ + २४ = ४८ मील हो जाते हैं। इसी प्रकार पञ्चयोजन = ५×८ (लगभग) = ४० मील। उसी दिन लौट आने पर ४० + ४० = ८० मील हो जाते हैं। योजन = A measure of distance equal to fourक्रोश or eight or nine miles (आप्टेकोश)। प्रतीत होता है कि वेद का भाव यह है कि पुरुष एक दिन में ४८ मील दौड़ सके, तो वह तीन पुत्र पैदा करे, और एक दिन में ८० मील दौड़ सकता है, तो वह तीन से अधिक १० तक पुत्र पैदा करे]

पाद टिप्पणियां

१. वधू के सम्बन्ध में मनु ने कहा है कि "अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यर्थ चैव नियोजयेत्"
२. समुद्र के दृष्टान्त द्वारा यह भी सूचित किया है कि नदियों से प्राप्त जल को पुनः वर्षा रूप में देते हुए भी जैसे शनैः-शनैः समुद्र ने प्रभूत जल राशि को संगृहीत कर लिया है, वैसे वधू भीशनैः-शनै धनराशि का संग्रह भी करती रहे।

३. यथा,पुत्रश्च दुहिता च=पुत्रौ (भ्रातृ पुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्, अष्टा० १/२/१८)। तथा पुत्रश्च पुत्रीश्च=पुत्रौ (पुमान् स्त्रियां, अष्टा१०/२/६७)। यथा हंसश्च हंसी च हंसौ (भट्टोजि दीक्षित अष्टा१०/२/६७)।

४. अथवा अश्वारोही अश्व को दौड़ाता हुआ जैसे एक दिन में त्रियोजन, पञ्च योजन तक जा-आ सकता है, वैसे तू भी अश्वारोही हो कर यदि यह कार्य कर सके तब तू "पुत्राणां पिता असः।"

वैदिक युग में स्त्रियों की स्थिति

प्रो० हरिदत्त वेदालंकार

आजकल किसी समाज और सभ्यता की प्रगति का एक बड़ा मानदण्ड यह समझा जाता है कि उसमें स्त्रियों की स्थिति कैसी है। जिस समाज में नारियों की दशा उन्नत होती है, उसे उत्कृष्ट माना जाता है। विभिन्न देशों के इतिहास में प्रायः यह देखा जाता है कि हम जितना अधिक अतीत काल में जाते हैं, स्त्रियों की स्थिति उतनी ही हीन एवं निकृष्ट दिखाई देती है। किंतु भारत इसका बहुत बड़ा अपवाद है। यहां इतिहास को प्राचीनतम युग वैदिक काल है और उस समय के समाज में स्त्रियों को पुरुषों के बराबर दर्जा प्राप्त था। शिक्षा, दाम्पत्य अधिकारों और साम्पत्तिक स्वत्वों की दृष्टि से उनकी स्थिति बहुत उन्नत थी। यहां इसका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा।

वैदिक युग में कन्याओं की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। ब्रह्मचर्यव्रत धारण करते हुए वेद का स्वाध्याय बालक-बालिकाओं के लिए समान रूप से आवश्यक समझा जाता या। अथर्व वेद १११।६ में कहा गया है कि कन्या ब्रह्मचर्य द्वारा युवा पति को प्राप्त करती है। उस समय नर नारियों के अधिकारों में समानता थी। वैदिक समाज में स्त्रियों की स्थिति मध्य युग की तुलना में बहुत ऊंची थी। इसका एक बड़ा कारण यह है कि वैदिक युग में स्त्रियां पुरुषों के तरह ही वैदिक साहित्य की ऊंची शिक्षा प्राप्त करती थीं। कुछ नारियों ने साहित्य और ज्ञान के क्षेत्र में अत्यधिक प्रतिष्ठा प्राप्त की थी।

वैदिक युग में घोषा, विश्ववारा, लोपामुद्रा को ऋग्वेद के अनेक सूक्तों का ऋषि होने का गौरव प्राप्त हुआ। ऋग्वेद तथा सामवेद में २३ ऋषिकाओं का उल्लेख है। निरुक्तकार यास्क के मतानुसार वैदिक मंत्रों का तत्त्वचिंतन करके उनके यथार्थ स्वरूप का दर्शन करने वाले व्यक्ति ऋषि होते थे। ऋषयो मन्त्र-द्रष्टारः ऐसी महिलाओं को ऋषिका कहा जाता था। ये वैदिक साहित्य का अगाध ज्ञान रखने वाली होती थीं।

ऋग्वेद में निम्नलिखित ऋषिकाओं का उल्लेख है—रोमशा (१/१२६/८), लोपामुद्रा (१/१७९/१-६), अपाला (८/९१/१-७), कद्रू (२/६/८), विश्ववारा (५/२८/३) ऋग्वेद के दशम मंडल में वर्णित ऋषिकाएं हैं—घोषा, जुहू, वागाम्भ्रयी, पौलोमी, जरिता, श्रद्धा, कामायनी, उर्वशी, सारंगयमी, इन्द्राणी, सावित्री, देवजामी। सामवेद में उल्लिखित ऋषिकाऐं हैं—नौधा (पूर्वाधक १३/१) उत्कृष्ट भाषा सिकतानिवावरी (उत्तरार्धक १/४) (और गौपायना ३० २/४)

परिवार में स्त्रियों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। विवाह के समय वधू को आशीर्वाद दिया जाता था कि तुम नये घर की सम्राज्ञी बनो। घरेलू तथा धार्मिक कार्यों में पति और पत्नी का दर्जा बराबर का था। स्त्रियां सामाजिक जीवन में पूरा भाग लेती थीं। यज्ञादि के धार्मिक और घरेलू कार्य पति और पत्नी मिलकर ही पूरा करते थे। यह बात पत्नी की स्थिति से स्पष्ट हो जाएगी।

पत्नी की स्थिति-वैदिक युग में हिन्दू परिवार में पति और पत्नी की स्थिति समान होने के कारण इसे सखायुग कहा जा सकता है। क्योंकि इसमें पत्नी पति की अर्धांगिनी और उसके समान अधिकार रखने वाली मानी जाती थी।

वैदिक युग में पति पत्नी की समानता का सूचक दोनों का सामूहिक नाम दम्पती है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में इस शब्द का काफी प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ है दम अर्थात् घर का स्वामी। इससे सूचित होता है कि दोनों का घर पर समान रूप से स्वत्व था मैकडानल और कीथ ने लिखा है—यह शब्द ऋग्वेद के समय में स्त्रियों की उच्च स्थिति का बोधक है (वैदिक इन्डेक्स १/३४०। ऋग्वेद में दम्पती द्वारा एक साथ मिलकर अनेक कार्य करने का उल्लेख है। वे दोनों एक मन होकर सोमरस निकालते थे, उसे शुद्ध करते थे, यज्ञ दान, देवताओं को हवि देने, उनकी स्तुति तथा कामसुखोपयोग की क्रियायें करते थे (८/३१/५-९)। इससे यह स्पष्ट है कि उस समय पति-पत्नी यज्ञादि धार्मिक कार्य तथा अन्य सांसारिक कार्य संयुक्त रूप से करते थे।

अर्धांगिनी की कल्पना—वैदिक युग में पति पत्नी की समानता की पुष्टि इन दोनों का अभेद प्रतिपादन करने वाले तथा पत्नी को पति का आधा हिस्सा मानने वाले अनेक संदर्भों से होती है। ऋग्वेद (५/६१/८) में भार्या को पति का आधा अंग (नेम) होने का संकेत है। तै० सं० (६/१/८/५) के अनुसार पत्नी निश्चय से अपने शरीर का अर्ध भाग है। (अर्धो वा एष आत्मनों यत्पत्नी मिलाइये तै० ब्रा० ३/३/३/५)। शतपथ ब्रा० (१४/४/२/४-५) ने इसकी पूरी व्याख्या करते हुए यह बताया है—प्रजापति ने अपने को द्विधा विभक्त कर पति-पत्नी बनाये, अतः यह दाल के दाने का आधे हिस्से (अर्ध-वृगल) की भांति है। इस प्रकार पति पत्नी केवल समान ही नहीं, किंतु एक ही वस्तु के दो भाग और एक ही शरीर के दो अंग थे। अतएव प्रत्येक यज्ञ कार्य में दोनों का सहयोग आवश्यक

था। वाजपेय यज्ञ में स्वर्गारोहण के प्रतीक यूप की सीढ़ी पर चढ़ता हुआ यजमान अपनी पत्नी का आरोहण करने के लिए बुलाता है क्योंकि पत्नी "निश्चय से शरीर का आधा भाग है, अतः जब तक वह अपनी पत्नी को (स्वर्गलोक) में प्राप्त नहीं कर लेता, और सन्तान पैदा नहीं करता, उस समय तक वह अधूरा है।" इससे स्पष्ट है कि शतपथकार के मत में यजमान पत्नी के बिना स्वर्गलोक में भी नहीं जाना चाहता, एकाकी रूप से वह द्युलोक के फल को अपने लिए वांछनीय नहीं समझता है। पति पत्नी के अभेद और समानता का यह बहुत उच्च आदर्श है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि अर्धांगिनी के उपर्युक्त वैदिक आदर्श को हिन्दू समाज के परवर्ती युगों में भी माना जाता रहा। मनु के अनुसार जो पति है वह पत्नी है (९/४५)। महाभारत में यद्यपि अनेक स्थानों पर पति के देवता होने का वर्णन है, किन्तु इसमें पुराने वैदिक आदर्श को स्मरण करते हुए भार्या को पति का आधा अंग, श्रेष्ठतम सखा (१/७४/४०) तथा मित्रों में उत्तम कहा गया है। मध्ययुग में देवल और बृहस्पति ने भार्या के पति से अभेद को स्वीकार किया और इसी आधार पर अर्धांगिनी होने के कारण विधवा को पति की सम्पत्ति में स्वत्व प्रदान किया।

ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर पति-पत्नी द्वारा संयुक्त रूप से यज्ञ करने का उल्लेख है। न केवल संयुक्त, अपितु पृथक रूप से भी स्त्रियों द्वारा यज्ञ करने का वर्णन है। शतपथ ब्रा० (२।५।१/११) में विदुषी स्त्री को यज्ञ में निमंत्रित करने तथा यजुर्वेद में पत्नियों के साथ यज्ञ में निमंत्रित करने तथा यजुर्वेद में पत्नियों के साथ यज्ञ करने का प्रतिपादन है। अथर्व वेद (११/१/१५-२७) में स्त्रियों को स्पष्ट रूप से यज्ञ की अधिकारिणी (योषितो यज्ञिया इमाः) कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में पत्नी से यज्ञ की अनेक क्रियायें करवाने का वर्णन है (१/९/२/१,१, ६/२/५/२१-२५)। आश्वलायन श्रौत-सूत्र (१/११/१), ऋग्विधान (३/११६-१७) कात्यायन श्रौत-सूत्र (५/१०/७), पारस्कर गृह्य सूत्र (१/६) आश्वलायन गृह्य सूत्र (१/५/८) में विवाहित स्त्रियों द्वारा पढ़े जाने वाले वैदिक मन्त्रों का प्रतिपादन है। पूर्वमीमांसा (६/१/१७-२१) का मत है कि पति-पत्नी दोनों सम्पत्ति के स्वामी होते हैं, अतः उन्हें संयुक्त रूप से यज्ञ करने चाहिए। पहले यह बताया जा चुका है कि पत्नी के विना यज्ञ अधूरा समझा जाता था। अपत्नीक व्यक्ति को यज्ञ का अधिकार नहीं था। श्रीराम अपना अश्वमेघ यज्ञ सीता के अभाव में उनकी सोने की प्रतिमा बनाकर ही पूरा कर सके थे। पाणिनि (४/१/३३) के अनुसार पति को यज्ञ कार्यों में सहयोग देने वाली स्त्री ही पत्नी होती थी। वैदिक काल में वह यज्ञ में न केवल मन्त्रोच्चारण करती थीं किन्तु यज्ञ की वेदी के निर्माण में शतपथ ब्राह्मण (१०/२/३/१, १०/२/३/३), स्थालोपाक

में दानों के छिल्के अलग करने में (हिरण्यकेशी गृह्य सूत्र १/२३/३) तथा अन्य अनेक यज्ञीय कार्यों में (श० ब्र० ३/८/२/१-६) पति को सहयोग देती थी तथा शस्य वृद्धि के लिए स्वतंत्र रस से भी सीता यज्ञ करती थी (पारस्कर गृह्य सूत्र २/१७)।

अधः पतन का आरंभ—वैदिक युग के आरंभ में, यज्ञादि कार्यों में पति के साथ तुल्य अधिकार रखने वाली पत्नी की यह ऊंची स्थिति देर तक नहीं रह सकी। नारी को शनैः-शनैः यज्ञ के अधिकार से वंचित किया जाने लगा और प्राचीन काल में पत्नी द्वारा किए जाने वाले कई कार्य पुरोहितों द्वारा सम्पन्न होने लगे। शतपथ ब्राह्मण (1/1/4/13) से ज्ञात होता है कि पहले पत्नी द्वारा किया जाने वाला हवि बनाने का कार्य, बाद में अग्नि प्रज्ज्वलित करने वाला पुरोहित (अग्नीध) करने लगा। सोमयाग की एक प्रारम्भिक विधि प्रवर्ग्य (महावीर या धर्म नामक गर्म वर्तन में दूध डालना) पहले पत्नीकर्म था, बाद में इसे उद्गाता करने लगा। याज्ञिकों को एक सम्प्रदाय ने प्रतिपादन किया कि स्त्रियां यज्ञ कार्य की अधिकारिणी नहीं है, उनका स्थान यज्ञवेदी से बाहर होना चाहिए। यद्यपि शतपथ ब्राह्मण ने इस मत का विरोध किया, तथापि यह स्पष्ट कि १५०० ई० पूर्व से स्त्रियों को यज्ञों से बाहर निकालने की प्रवृति से हिन्दू परिवार में स्त्रियों का अधःपतन प्रारम्भ हुआ, अगले हजार वर्षों में स्त्रियों को यज्ञाधिकार से वञ्चित कर शूद्रों के समकक्ष बना दिया गया।

स्त्रियों को यज्ञाधिकार से वंचित करने के प्रधान कारण संभवतः निम्नलिखित थे। (१) स्त्रियों का मासिक धर्म (२) कर्मकाण्ड की जटिलता एवं पवित्रता में वृद्धि (३) अन्तर्जातीय विवाह (४) स्त्रियों का उपनयन के अभाव में शूद्र समझा जाना।

(१) मासिक धर्म—सर्व प्रथम तैत्तिरीय संहिता (२/५/१) और तैत्तिरीय ब्रा० (३/७/१) में इसका संकेत है। तैत्तिरीय संहिता में दी गयी एक प्राचीन कथा के अनुसार इन्द्र ने देवों के पुरोहित विश्वरूप की ब्रह्महत्या इस कारण की कि उसने गुप्तरूप से असुरों को यज्ञ में भाग देना स्वीकार किया था। इस ब्रह्महत्या का एक तिहाई पाप स्त्रियों ने यह वर लेकर स्वीकार किया कि वे ऋतुकाल में सन्तान प्राप्त करें। अतः यह पाप लेने से "उस समय स्त्री मलिन वस्त्रों वाली होती है। ऐसी स्त्री के साथ किसी को बोलना और बैठना नहीं चाहिए और न ही ऐसी स्त्री का अन्न खाना चाहिए।" यह स्वाभाविक था कि पत्नी इस अपवित्र दशा में यज्ञवेदी में न जाय। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३/७/१) उस पुरुष को बड़ा अभागा समझा जाता है, जिसकी पत्नी रजस्वला होने से, उसे यज्ञ के दिन नहीं प्राप्त होती, क्योंकि पत्नी के न होने से आधा यज्ञ नष्ट हो जाता है। प्रारम्भ में स्त्रियां केवल रजस्वला दशा में ही अमेध्य समझी जाती होंगी। बाद में प्रतिमास इस प्रकार दूषित होने के कारण वे स्थायी रूप से अमेध्य समझी जाने लगीं।

शतपथ ब्राह्मण इसीलिए पत्नी के नाभि से नीचे के भाग को अमेध्य बताता है (१/३/१/१३, ५/२/१/१८) और इसे दूर करने के लिए पत्नी के लिए वस्त्रों के ऊपर पवित्र कुशाघास के चण्डातक (जांघिया) की व्यवस्था करता है। इससे यह स्पष्ट है कि स्त्री को मासिक धर्म से भिन्न दिनों में भी अशुचि माना जाने लगा, इसीलिए शांख्यायन ने पत्नी को अमेध्य ठहराया। परवर्ती साहित्य में रजस्वला की अमेध्यता का बहुत वर्णन है।

(२) **कर्मकाण्ड की जटिलता**—उत्तर वैदिक युग में यज्ञों का आडम्बर बहुत बढ़ गया, यज्ञ की छोटी क्रियाओं के लिए विस्तृत विधियां बनी। पहले पति तथा पत्नी द्वारा पूर्ण होने वाले सरल यज्ञ अब होता, उद्गाता, अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि अनेक पुरोहित मिलकर सम्पन्न करने लगे। जटिलता की वृद्धि के साथ इनमें विशेषीकरण (Specialisation) का प्रारम्भ हुआ। पत्नी के पास इसके लिए समय नहीं था। इसलिए पत्नी द्वारा हवि तैयार करने का काम अग्नीध्र ने तथा प्रवर्ग्य का कार्य उद्गाता ने लिया। धर्मशास्त्रकारों ने यह व्यवस्था वैदिक विधियों को सुचारु रूप से पूरा करने की दृष्टि से ही की, याज्ञिक विधियों में अपना सम्पूर्ण जीवन लगाने वाले पुरोहित वर्ग तक ही यज्ञ कराना सीमित कर दिया गया। इसका एक प्रधान कारण उनका यह विश्वास था कि वेदमन्त्रों के उच्चारण में तनिक भूल से महान् अनिष्ट का कारण होता है। इससे न केवल स्त्रियां अपितु ब्राह्मणेतर वर्ग भी यज्ञ के अधिकार से बंचित हो गया।

(३) **अन्तर्जातीय विवाह**—आर्यों के अनार्या स्त्रियों के साथ विवाह भी पत्नी को यज्ञाधिकार से बहिष्कृत करने का एक मुख्य कारण थे। वसिष्ठ धर्म सूत्र (१/८/१७) ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की है कि कृष्णवर्णा स्त्री धर्म के लिए नहीं, किन्तु रमण के लिए होती है। ये अनार्या पत्नियां वैदिक कर्मकाण्ड तथा विधि विधानों से अपरिचित होने से बड़ी भूलें कर सकती थीं। पवित्रता की सुरक्षा के लिए ऐसी स्त्रियों से यज्ञकार्य का अधिकार छीनना समझा गया।

(४) **स्त्रियों का उपनयन संस्कार के अभाव में शूद्र समझा जाना**—छठी शती ई० पू० में हिन्दू ससाज में बाल विवाह का प्रचार होने से स्त्रियों के उपनयन की प्रथा अप्रचलित होने लगी थी। नियत अवधि तक उपनयन संस्कार न होने से गृह्य सूत्रों के समय से व्यक्ति शूद्र समझा जाता था। किन्तु यदि इस कारण स्त्रीमात्र को शूद्र माना जाय तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कहां से उत्पन्न होंगे? हारीत ने यह तर्क उपस्थित करते हुए स्त्रियों के उपनयन का प्रबल समर्थन किया। किन्तु बाल विवाह के प्रसार के कारण इसका अधिक देर तक टिका रहना संभव न था। मनु ने स्त्रियों के लिए विवाह को ही उपनयन संस्कार स्वीकार किया (२/६७)।

स्त्रियों के उपनयन की प्रथा न रहने के कारण उनसे यज्ञ का और

मन्त्रोच्चारण का अधिकार छिनना स्वाभाविक था। मनु इसका कारण स्पष्ट करते हुए कहता है कि "यज्ञ करने वाला वेद का पारंगत विद्वान् तथा यज्ञ क्रिया में निष्णात (वैतानकुशल) होना चाहिए।" उपनयन न होने से स्त्रियां वेद की विद्वान् नहीं होती थीं। अतः उन्हें यज्ञ करने का अधिकार नहीं दिया गया। गृह्य सूत्रों के समय में स्त्रियां गार्हपत्य अग्नि में मन्त्रों के साथ बलि देती थी (आश्व० गृ० सू० १/६/१-६), सीतायज्ञ (पार० गृ० २/१७) और रुद्रयज्ञ स्वतंत्र रूप से कर सकती थीं। किन्तु २०० ई० पू० में मनु ने उपर्युक्त कारण से पत्नी द्वारा मन्त्रों के विना बलि देने (३/१२१) तथा कन्या और युवती द्वारा होता बनने का निषेध किया और यह कहा कि होम करने पर ये नरकगामी होते हैं (११/३७)। महाभारत का भी ऐसा ही विचार है (१३/१६५/२१-२२) मनु ने विवाह के अतिरिक्त स्त्रियों के सब संस्कार मन्त्रों के विना करने का विधान किया।

२०० ई० पू० के बाद उपनयन के अभाव एवं यज्ञाधिकार न रहने से स्त्रियों की गणना शूद्रों की कोटि में होने लगी और इन दोनों के साथ समान व्यवहार वाली व्यवस्थाओं का प्रायः उल्लेख होने लगा। भगवद्गीता (६/३२) में दोनों पापयोनि कहे गये हैं। मनु (५/१३६)और याज्ञ० (१/२१) दोनो के एक जैसी आचमन की व्यवस्था करता है। बौधा० (२/१/११/१२) ने दोनों के मारने का एक ही प्रायश्चित बताया है। भागवत पुराण के अनुसार स्त्री, शूद्र और द्विजबन्धु (ब्राह्मण होने का ढोंग करने वाले) को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है, देवी भागवत के मत में इसी कारण इनके लिए पुराण बनाये गये हैं। मध्यकाल में यह व्यवस्था सर्वमान्य थी कि स्त्रियों और शूद्रों का दर्जा एक है। उस समय न केवल भारत में, अपितु इंग्लैड में आदि पश्चिमी देशों में भी स्त्रियां अध्ययन के अधिकार से वंचित थीं, आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय १६२० ई० तक स्त्रियों को उपाधि नहीं देता था।

अद्वैतवाद

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती

भारत की वैचारिक परम्परा में दर्शन व धर्म एक-दूसरे के पूरक हैं। दर्शन की नींव पर ही धर्म का भवन खड़ा किया जाता है। 'दृष्टि' (दर्शन) धातु से दर्शन शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है—'दृश्यते ज्ञायते सत्यमनेनेति दर्शनम्' अर्थात् जिससे सत्य को जाना जा सके उस ऊहापोहरूपी सन्नियत विचार शृंखला को 'दर्शन' कहते हैं। इस दार्शनिक सत्य का धारण करना—उसका जीवन में कार्यान्वित होना 'धर्म' है। दर्शन का सम्बन्ध विचार से है, धर्म का आचार से। इस प्रकार दर्शन का प्रायोगिक अथवा व्यावहारिक रूप धर्म है। दर्शन व धर्म के इस घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण ही हमारे यहां वेद, उपनिषद्, गीता आदि दार्शनिक ग्रन्थ भी हैं और धार्मिक भी।

महर्षि कणाद ने धर्म का लक्षण इस प्रकार किया है—'जिससे अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की सिद्धि हो वह धर्म है।'[1] हमारी संहिताएं, उपनिषदें तथा दर्शनशास्त्र जगत् को व्यवहार-जगत् और परमार्थ-जगत् के रूप में विभक्त करना स्वीकार नहीं करते। दोनों में यथार्थ एवं समन्वय बुद्धि होना सम्यक् दर्शन है। अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की सिद्धि के लिए तत्त्वज्ञान आवश्यक है।[2] 'अभ्युदय' का प्रसिद्ध अर्थ ऐहिक सुख अर्थात् वर्तमान जीवन में भौतिक साधनों द्वारा प्राप्त ऐश्वर्य है। भविष्यत् का आधार वर्तमान है। मरने के बाद क्या होगा? इसके जानने से पहले यह जानना आवश्यक है कि हम जीवित कैसे रह सकते हैं। स्थूल को जानने पर ही सूक्ष्म के प्रति जिज्ञासा एवं प्रवृत्ति जागृत होती है और जानने की क्षमता प्राप्त होती है, अतः जन्मान्तर की चिंता करने से पहले वर्तमान जीवन की आवश्यकताओं को जुटाना आवश्यक है। मोक्षप्राप्ति में साधन-रूप शरीर तथा 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' की उपेक्षा नहीं की जा सकती। तत्त्वज्ञान अर्थात् विज्ञान की सहायता से भौतिक तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को जान कर ही ऐहिक

जीवन की सुख-सुविधा के उपकरणों की उपलब्धि एवं उनका समुचित उपयोग सम्भव है। द्रव्यादि पदार्थों के साधर्म्य तथा वैधर्म्य ज्ञान से अभ्युदय की सिद्धि का यही अर्थ है।

अभ्युदय के साथ-साथ द्रव्यादि पदार्थों का ज्ञान निःश्रेयस् की सिद्धि में भी उपयोगी है। यह ठीक है कि द्रव्यादि पदार्थ हमारी सुख-सुविधाओं के जनक हैं। परन्तु अपने स्वरूप में वे 'श्वोभावा:' क्षणभंगुर अर्थात् नश्वर हैं। पदार्थों की इस वास्तविकता को समझ लेने के पश्चात् विवेकी पुरुष आत्मवित् हो जाता है, अर्थात् अपने शाश्वत स्वरूप को पहचानने लगता है। द्रव्यादि जड़ पदार्थ परिणामी एवं नश्वर हैं; एक आत्मतत्त्व ही इनसे भिन्न अविनाशी तत्त्व है—ऐसा जानकर वह देह और उसकी वासनाओं में लिप्त न होकर जन्म-जन्मान्तर के आवर्तमान चक्र से निकलने की सोचने लगता है। यही ज्ञान आत्मा को निःश्रेयस् के मार्ग में प्रवृत्त करता है। अभ्युदय और निःश्रेयस् में टकराव होने पर वह 'परोक्षप्रिया हि देवा:' के अनुसार निःश्रेयस् को चुन लेता है। इसी रूप में तत्त्व ज्ञान निःश्रेयस् की सिद्धि में साधक है।

इन्द्रियां वाह्य जगत् का ज्ञान कराने वाले अधिकरण हैं, किंतु उनकी सीमा गुणों तक है। द्रव्यों की यथार्थता का दर्शन कराने में वे अंशतः सफल होती हैं। किंतु सधी हुई योग बुद्धि पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को जानने में समर्थ हो जाती है। साधारण बुद्धि के सामने आने वाला ज्ञान वाहरी आवरण-मात्र होता है जिसे भेद कर सूक्ष्मैक्षिका दार्शनिक बुद्धि तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का दर्शन कर पाती है। इसलिए परमाणु से परमेश्वर पर्यन्त समस्त पदार्थों के यथार्थज्ञान साधन में प्रवृत्त रहना उसका परम पुरुषार्थ है।

चमत्कारों में विश्वास रखने वाला अथवा ऐन्द्रजालिक प्रदर्शनों में रुचि लेने वाला व्यक्ति ही संसार को किसी मायावी की लीला मान सकता है। सृष्टि के रंगमंच पर किसी के हाथ की कठपुतली बनकर नाचने वाले हम नहीं हैं। हमारे जीवन का कोई लक्ष्य है, किसी अदृष्ट शक्ति से प्रेरणा पाकर हमें कुछ बनना है। संसार को स्वप्न या मिथ्या समझने वाले व्यक्ति के लिए तत्त्वज्ञान का कोई अर्थ नहीं। किंतु मनुष्य सृष्टि के प्रारम्भ से ही तत्त्वदर्शी रहा है। यदि वह संसार को मिथ्या, स्वप्न या अध्यास मानता रहता तो वह अपने सर्वतोन्मुखी ज्ञान की अभिवृद्धि न कर पाता। सृष्टि में अभिव्यक्त ऋत और सत्य को जानकर मनुष्य अभ्युदय तथा निःश्रेयस को प्राप्त करता है। साधारणतः धर्मविषयक जिज्ञासा चित्त को ब्रह्म के प्रति जिज्ञासा के लिए तैयार करती है। ऐसे व्यक्ति जो सीधे ब्रह्म जिज्ञासा में तत्पर हो जाते हैं, वे हैं जिन्होंने पूर्वजन्म में अपेक्षित कर्त्तव्यों का पालन किया होता है।

कार्योत्पत्ति के लिए कारण सामग्री का नियतपूर्ववर्त्ती होना आवश्यक है

दृश्य जगत् कार्यरूप है। अतः जगत् के मूल कारण अथवा तत्त्व की खोज में दार्शनिकों की रुचि सदा से रही है। वह मूलतत्त्व क्या है जिसका यह सारा जगत् रूपांतरमात्र है? दृश्यमान जगत् में हम चेतन तथा अचेतन दोनों प्रकार की सत्ताओं का अनुभव करते हैं। एक विचारधारा के अनुसार जगत् का एक-मात्र मूल तत्त्व अचेतन है। अवस्था विशेष में आकर वही विकसित होकर चैतन्य में परिवर्तित हो जाता है। चेतन नाम की पृथक् तथा स्वतंत्र सत्ता रखने वाली कोई वस्तु नहीं है। भारतीय दर्शन में यह विचारधारा उसके संस्थापक वृहस्पति तथा उसके महान् प्रचारक चार्वाक के नाम से प्रसिद्ध है। भारतीय विचार धारा से प्रभावित प्राचीन यूनानी दर्शन को छोड़कर, पश्चिम का संपूर्ण दर्शन, जो हेगेल तथा कार्लमार्क्स जैसे भौतिक तत्त्वज्ञों के सहारे आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के रूप में विकसित हुआ है, इसी विचार धारा का पोषक है। सर्वथा समान न होते हुए भी चार्वाक तथा वर्तमान पाश्चात्य दर्शन मूलतः एक हैं।

दूसरी विचारधारा के अनुसार एक मात्र यथार्थ सत्ता चेतनब्रह्म है। उससे भिन्न अन्य कोई तत्त्व अपना अस्तित्व नहीं रखता। जड़ व चेतन जगत् दृष्टि गोचर हो रहा है, उसकी अपनी वास्तविक व स्वतंत्र सत्ता नहीं है। एक मात्र ब्रह्म-तत्त्व ही विभिन्न रूप में भासता है। इस विचार धारा को पल्लवित व पुष्पित करने का श्रेय आचार्य शंकर को है। उन्होंने कुछ प्राचीन ग्रंथों को इसका आधार वनाया और इसी के अनुकूल उनकी व्याख्या की। इनमें वेदांत दर्शन (ब्रह्मसूत्र), ११ उपनिषद् और गीता विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

तीसरी विचारधारा के अनुसार चेतन व अचेतन दोनों प्रकार के तत्त्वों की वास्तविक सत्ता है और दोनों के सहयोग से ही सृष्टि रचना का कार्य सम्भव है। चेतन तत्त्व दो हैं—जीवात्मा और परमात्मा। अचेतन तत्त्व प्रकृति अथवा प्रधान के नाम से जाना जाता है। यह वैदिक विचारधारा है जिसका निर्देश एवं संकेत वेद के अनेक सूक्तों व मन्त्रों में उपलब्ध होता है। इन विचारों को दर्शन के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय प्राचीन काल में महर्षि कपिल को और चिरकाल से तिरोहित इस विचार धारा को वर्तमान में प्रवहमान करने का श्रेय महर्षि दयानन्द को है।

सांख्याचार्य वार्षगण्य ने सृष्टि रचना में ईश्वर को अनावश्यक मान कर उसे निकाल फेंका। बुद्ध ने वैदिक परम्परा के नाम पर होने वाले भ्रष्टाचार के विरुद्ध विद्रोह किया। उनके उपदेशों में ईश्वर के निषेधपरक कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलते, परंतु कालान्तर में उनके शिष्यों ने वार्षगण्य तथा चार्वाक के विचारों से प्रभावित होकर बौद्ध मंतव्यों में से उसे निकाल दिया। जब यह

नास्तिक विचारधारा अति को पार कर गई तो इसकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। फलतः जब जगन्नियन्ता परमात्मा से विमुख होकर जनता के भ्रष्ट होने का भय उपस्थित हुआ तो कुछ विद्वानों ने घोषणा कर दी कि न केवल चेतन सत्ता अथवा परमात्मा का निषेध करना सम्भव नहीं, अपितु यथार्थ सत्ता एक मात्र ब्रह्म ही है। शेष सब अज्ञान या भ्रम है। इन विद्वानों ने बौद्धधर्म की वाह्य प्रक्रिया को तो ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया, परंतु 'शून्य' के आसन पर ब्रह्म को विठा दिया। इसी विचारधारा को आगे चल कर गौड़पाद और शंकराचार्य ने पुष्ट किया।

बौद्धमत में विज्ञानवादी एवं शून्यवादी अद्वैतमत के प्रतिपादक थे। जैनमत में भी समंतभद्र ने अद्वैतमत का उल्लेख किया है।[३] परंतु इन सभी अद्वैतमतों में कुछ न कुछ भेद है। भेद होना स्वाभाविक है, क्योंकि सब आचार्यों का एक ही दृष्टिकोण नहीं हो सकता। शंकर के दादागुरु गौड़पाद थे। अपनी माण्डूक्य-कारिकाओं में उन्होंने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया। लोक विश्रुत अद्वैतमत का प्रवर्त्तक उन्हीं को माना जाता है। अद्वैतवाद के बौद्धरूप का प्रभाव गौडपाद की कारिकाओं में स्पष्ट है। शंकराचार्य भी उस प्रभाव से अछूते नहीं रहे। गौडपाद के मत में आत्मा न सत् है, न असत् है, न सत्-असत् उभयात्मक है और न सत्-असत् से विलक्षण है। इस प्रकार की आत्मा का जिन्होंने दर्शन किया है वे ही सर्वदृक् अर्थात् सर्वदर्शी हैं।[४] यही बात वहुत पहले बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने माध्यमिक कारिका में कही थी।[५] इसके अतिरिक्त वहुत-से दार्शनिक तथा पारिभाषिक शब्द हैं जिनका बौद्धदर्शन तथा शांकरमत दोनों में एक ही अर्थ में प्रयोग हुआ है। दोनों मतों ने व्यावहारिक सत्ता से भिन्न पारमार्थिक सत्ता को स्वीकार किया है, अतएव पारमार्थिक दृष्टि से जब ये दोनों परमतत्त्व का विचार करते हैं तो उसमें अनेक प्रकार की समानताओं का पाया जाना स्वाभाविक है। इन भावनाओं से प्रभावित होकर कुछ विद्वानों ने शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध तक कह डाला।[६]

इसके विपरीत दूसरे विद्वानों का कहना है कि शंकर उपनिषदों के पूर्ण ज्ञाता थे। दार्शनिक तत्त्वों की अनुभूति उन्हें अवश्य रही होगी। ब्रह्मसूत्र में उपनिषदों की ही शिक्षा का प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया गया है। उपनिषदों में अद्वैत-मत की प्रतीति कराने वाली अनेक श्रुतियां थीं और उनके विशेष अध्ययन से उपनिषदों में अद्वैतवाद की ही मुख्य विचार धारा प्रवाहित होती दिखाई पड़ती है। उसी के आधार पर या उसी से प्रभावित होकर शंकर ने अद्वैतमत का प्रति-पादन किया है।

शंकर ब्रह्म से अतिरिक्त किसी अन्य यथार्थ सत्ता को नहीं मानते। विज्ञान भिक्षु एवं भास्कराचार्य के भेदाभेद में हमें एक दूसरे ही प्रकार के अद्वैतवाद का

दर्शन होता है । वल्लभाचार्य जीव को अनादि कहते हैं, किंतु ब्रह्म से पृथक् नहीं मानते । उनके मत में जीवावस्था में ब्रह्म का सत् एवं चित् रहता है, केवल आनंद की शक्ति तिरोहित रहती है । निम्बार्क कहते हैं कि जीव ब्रह्म का अंश है और अज्ञान जीव का धर्म हैं ।[७] रामानुजाचार्य जीव को नित्य, किंतु ब्रह्म का विशेषण एवं दोनों में देहात्म संबंध मानते हैं । उनके मत में जीव ब्रह्म से पृथक् नहीं है, क्योंकि उनमें स्वगत भेद है । जीव ब्रह्म का अंश है, किंतु इस रूप में नहीं कि वह ब्रह्म का अवयव है, क्योंकि ब्रह्म निरवयव है । जीवात्मा ब्रह्म का कार्य है, क्योंकि उससे पृथक् उसका कोई अस्तित्व नहीं है । किंतु वे आकाश आदि के समान उत्पन्न कार्यरूप सत्ताएं भी नहीं हैं । जीव और ईश्वर एक नहीं हैं, क्योंकि जीव तात्त्विक गुणों में ईश्वर से भिन्न है ।[८] रामानुज के दर्शन में अस्पष्टता है, क्योंकि रामानुज शंकर के समान भ्रमवादी नहीं बनना चाहते थे, किंतु साथ ही अद्वैतसमर्थक प्रतीत होने वाली श्रुतियों का अर्थ अद्वैत में करना चाहते थे । रामानुज न तो भास्कर की तरह जीव को ब्रह्म का अंश मानने को तैयार थे और न दयानन्द की तरह त्रैतवाद को अपनाने का साहस कर सकते थे ।

जब ये विचार इतने स्पष्ट विभेदों के साथ हमारे सामने आते हैं तो उनमें कौन सच्चा और कौन झूठा है—यह जानना अत्यन्त कठिन हो जाता है । इतना निश्चित है कि वे सभी सत्य नहीं हो सकते, क्योंकि सत्य का स्वरूप सदा एक ही हो सकता है। तत्त्व की वास्तविकता के स्वरूप का विस्तार अनन्त है, अतः उसका निर्धारण करना सरल कार्य नहीं है । समय-समय पर पारदर्शी विद्वान् उसे जानने का प्रयास करते रहे हैं । विचार विभिन्नता मानवीय मस्तिष्क के विकास की द्योतक है । परन्तु विचारमन्थन तब तक अनपेक्षित है जब तक उन तत्त्वों की यथार्थता और उपयोगिता को नहीं जान लिया जाता जिन पर हमारा अस्तित्व निर्भर है ।

अद्वैत वेदान्त पर कितने ही ग्रन्थ लिखे गए हैं । सुरेश्वर, वाचस्पति मिश्र, पद्मपाद, विद्यारण्य, चित्सुख, सर्वज्ञात्ममुनि, मधुसूदन सरस्वती, अप्पय दीक्षित, सदानन्द आदि सभी एक विचार प्रणाली में आते हैं । फिर भी वे सभी किसी-न-किसी अंश में नवीन विषय का प्रतिपादन करते हैं, और किसी विशेष पक्ष को उभारकर उसका विवेचन करते हैं । इस प्रकार एक ही सामान्य विधि का प्रयोग करते हुए तथा एक ही सामान्य मत की व्याख्या करते हुए भी अपने व्यक्तित्व अथवा वैशिष्ट्य की छाप छोड़ देते हैं ।

वैदिक दर्शन के महान् आचार्य शंकर, रामानुज, मध्व आदि सभी ने उपनिषदों को अपनी विचारधारा का आधार बनाया । जिन आचार्यों ने उपनिषदों पर अपने भाष्य नहीं लिखे उन्होंने भी अपने दर्शनशास्त्र का आधार इन्हीं ग्रन्थों

को बनाया। यद्यपि इन सभी आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्तों में भारी मतभेद है, तथापि उनमें से हरेक अपने सिद्धांत को उपनिषद्मूलक बताता है। शंकर के अनुसार उपनिषद् अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हैं तो रामानुज के अनुसार ये विशिष्टाद्वैत के प्रेरणास्रोत हैं। मध्व इन्हीं में द्वैतवाद का दर्शन करते हैं। सम्भवतः इसी कारण मैक्समूलर ने उपनिषदों के सम्बन्ध में यह धारणा बनाली कि इनमें नियमित व सुस्पष्ट रूप से कोई एक विचारधारा नहीं मिलती।[१]

उपनिषदों में वर्णित परमतत्त्व के ज्ञान का आधार विचार की साधारण प्रणाली न होकर ध्यान की अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था समाधि है। समाधि की अवस्था में ध्याता का ध्येय से सीधा सम्बन्ध होता है, अतएव समाधि अवस्था में प्राप्त ज्ञान बहुत कुछ निर्भ्रान्त होता है। दर्शन में बुद्धितत्त्व प्रधान होता है और काव्य में रागतत्त्व। उपनिषदों में रागतत्त्व की प्रधानता होने से उनकी शैली में आलंकारिता होने के कारण लक्षणा तथा व्यञ्जना का प्राचुर्य है। परिणामतः दर्शन और उपनिषद् में वस्तु का प्रस्तुतीकरण एक-दूसरे से भिन्न होता है। जब विशुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों को काव्य का रूप दिया जाता है तो अभिव्यक्ति भाव प्रधान हो जाती है। उपनिषदों में जीवात्मा तथा परमात्मा में आपाततः तादात्म्य का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का यही रहस्य है। ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो जाने पर तल्लीन जीवात्मा के भावोद्रेक की व्याख्या अभिधा द्वारा करना उपनिषदों की वर्णन शैली के सम्बन्ध में अपनी अनभिज्ञता का विज्ञापन करना है।

शंकर का अभिमत अद्वैतवाद या मायावाद उपनिषदों अथवा षड्दर्शनों में कहीं नहीं दिखाई देता। रामानुज ने अपने ग्रंथों में मायावाद की तर्कपूर्ण आलोचना की है। इस विषय में रामानुज से सहमत होते हुए मध्व द्वैतवाद का प्रतिपादन करने वाले सन्दर्भों को प्रचुर मात्रा में उपलब्ध मानते हैं। अद्वैतवादी आचार्य ऐसी श्रुतियों को व्यवहार की श्रुतियां मानते हैं, परमार्थ की नहीं, क्योंकि उनके मत में परमार्थ में तो केवल अद्वैत है। परन्तु उपनिषदों में पारमार्थिक तथा व्यावहारिक सत्ताओं के तात्त्विक भेद की बात कहीं भी नहीं मिलती। षड्दर्शन की भांति उपनिषदों में भी सृष्टि रचना का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। स्वप्नवत् अथवा रज्जु-सर्पवत् मिथ्या जगत् की रचना के विषय में इतनी गहराई में जाने की क्या आवश्यकता थी—इसका तर्क प्रतिष्ठित समाधान आज तक कोई नहीं कर पाया।

जीव, जगत् और ब्रह्म का पारस्पारिक सम्बन्ध नितान्त एकत्व अथवा प्रभेद परक नहीं है। इस प्रकार के मत को मानने से उपनिषदों के उन असंख्य वाक्यों से विरोध होगा जिनमें इनके पारस्पारिक भेद पर बल देते हुए जीव के द्वारा ब्रह्म को प्राप्त किये जाने की प्रेरणा एवं उद्बोधन के साथ-साथ तदर्थं उसका मार्गदर्शन किया गया है। इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न तत्त्वों के स्वरूप तथा

गुणों में भी बहुत-सा असामंजस्य उत्पन्न होगा। किन्तु यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये तीनों तत्त्व एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं। यदि जीवात्मा और जगत् से परमात्मा सर्वथा पृथक् होता तो सर्वव्यापक न हो सकता और वह वैसे ही परिमित परिमाण का होता जैसे जीवात्मा और जगत् हैं। यह कथन, कि अभेद यथार्थ है तथा भेद उपाधि अथवा अवच्छेद के कारण, स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने का अर्थ होगा कि ब्रह्म अवस्थाओं के अधीन है। इस प्रकार के मत में ब्रह्म न निर्मल रहेगा, न निर्भ्रान्त। इतना ही नहीं, वह सुख-दुःख का अनुभव करने वाला भी ठहरेगा। जीवात्मा तथा जगत् ब्रह्म से भिन्न हैं, क्योंकि उनके स्वरूप तथा गुण ब्रह्म के स्वरूप तथा गुणों से भिन्न हैं। किन्तु अपने कार्य तथा व्यवहार के लिए ब्रह्म के अधीन तथा उस पर आश्रित हैं, और इस कारण वे ब्रह्म से सर्वथा स्वतन्त्र तथा भिन्न नहीं हैं।

ईश्वर, जीव तथा प्रकृति ये तीन पदार्थ अनादि काल से अनन्त काल तक रहने वाले हैं। यद्यपि ये मौलिक रूप से एक-दूसरे से भिन्न, यथार्थ तथा नित्य हैं, तथापि पूर्ण स्वतन्त्र सत्ता एक मात्र ब्रह्म है जो सम्पूर्ण चराचर जगत् का स्रष्टा तथा नियन्ता है। यद्यपि उसके विषय में सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना कठिन है, तथापि उसका स्वरूप ऐसा नहीं है जिसका वर्णन न हो सके। शब्द ब्रह्म = वेद के द्वारा हम उसके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। ब्रह्म का जगत् के साथ जो सम्बन्ध है, उसे प्रकट करने के लिये वृक्ष का उसकी शाखाओं के साथ, समुद्र का उसकी लहरों के साथ अथवा मिट्टी का उससे बने बर्तनों के साथ जैसे दृष्टान्त उपयोगी नहीं हो सकते, क्योंकि उक्त सबमें पूर्ण इकाई का सम्बन्ध जो उसके भाग के साथ है एवं द्रव्य के साथ गुण का जो सम्बन्ध है उस प्रकार का सम्बन्ध ब्रह्म तथा जीव का उत्पन्न नहीं होता। दोनों के निरवयव होने के कारण, ब्रह्म तथा जीवात्माओं का न तो बाह्य अर्थात् संयोग सम्बन्ध हो सकता है, और न आन्तरिक अर्थात् समवाय सम्बन्ध हो सकता है।

विश्व के कर्त्ता-धर्त्ता-संहर्त्ता के रूप में परमेश्वर की सत्ता को प्रत्येक शास्त्र स्वीकार करता है। वेदान्त ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध कर उसके स्वरूप की जानकारी दे सकता है, किन्तु उसके स्वरूप का साक्षात्कार नहीं करा सकता। उसके लिये औपनिषद् तथा यौगिक प्रक्रियाओं का आश्रय लेना आवश्यक है।

वेदान्त दर्शन में बादरायण का मुख्य तात्पर्य ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध करना है, अन्य तत्त्वों का प्रतिषेध करना नहीं। यही कारण है कि आचार्य शंकर जैसे प्रकाण्ड विद्वान भी ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य तत्त्वों का प्रतिषेध करने के प्रयास में सफल नहीं हो सके। शांकर भाष्य में अनेकत्र उपलब्ध परस्पर विरोधी वचनों से हमारे कथन की सत्यता प्रमाणित होती है। वेदान्त दर्शन पर शांकर का भाष्य वास्तव में बादरायण के दर्शन के स्थान पर गौडपाद के

दर्शन का प्रतिपादन करता प्रतीत होता है। भारतीय दर्शन के प्रसिद्ध व्याख्याता सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता के अनुसार अद्वैतमत का प्रतिपादन अथवा ब्रह्म सूत्र का अद्वैतपरक भाष्य गौडपाद और शंकर से पूर्व किसी ने नहीं किया था।[१०]

शंकर के जगत् के मिथ्यापरक दर्शन में सामाजिक जीवन अथवा नागरिक कर्तव्य का कुछ भी अर्थ नहीं है। यदि यह संसार और इसके रिश्ते-नाते सब मिथ्या हैं तो हमें इसमें रुचि लेने की क्या आवश्यकता है! यदि हमें जीवन के क्रीडाक्षेत्र में खेलना है तो हम अपने भीतर यह भावना रखकर, कि यह सब छलावा मात्र है, और इसमें प्राप्त होने वाले पुरस्कार शून्य हैं, खेल में भाग नहीं ले सकते। कोई भी दर्शन इस प्रकार के मत को युक्तियुक्त मानकर शान्ति प्राप्त नहीं करा सकता। इस प्रकार की प्रकल्पना में सबसे बड़ा दोष यह है कि हम ऐसे प्रमेय पदार्थों में लगे रहने को बाध्य होते हैं जिनके अस्तित्व का हम बराबर निषेध कर रहे होते हैं। यदि बन्धन और मोक्ष, जीवात्मा और जगत् सब मिथ्या है तो वस्तुतः एक मिथ्या आत्मा, इस मिथ्या जगत् में, मिथ्या बन्धनों से मुक्त होने का व्यर्थ प्रयास कर रहा है।

कुछ लोगों का कहना है कि मनुष्य की दार्शनिक सन्तुष्टि इसी में होती है कि सम्पूर्ण जगत् का पर्यवसान एकत्व में हो। परन्तु दर्शन का लक्ष्य सत्य की खोज करना है, न कि अपनी भावनाओं की सन्तुष्टि के लिए सत्य का गला घोटना। कुछ लोगों के लिए अद्वैतवाद आकर्षण का विषय हो सकता है। परन्तु जो आकर्षक है, यह आवश्यक नहीं कि वह सत्य भी हो और शिव भी। हमें अच्छा लगे या न लगे, हमारे, अहं को ठेस ही क्यों न लगे, किन्तु वस्तुस्थिति यही है कि न हम ब्रह्म थे, न हैं, और न कभी हो सकेंगे। वस्तु स्थिति को समझ लेना ही तत्त्व ज्ञान है, यथार्थज्ञान है। ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर उसका साहचर्य हमें मिलेगा, किन्तु उस अवस्था में भी हम ज्ञान, कर्म सामर्थ्य और आनन्द तीनों की दृष्टि से अणु-परिच्छिन्न ही रहेंगे। इसी प्रकार जगत् के विलय होने पर भी उसके मूल उपादान प्रकृति की सत्ता बनी रहेगी। जिस प्रकार ब्रह्म सर्वज्ञ है, उसी प्रकार जीव, अल्पज्ञ है, और प्रकृति प्रज्ञ है। तीनों स्वभाव से ऐसे हैं और सदा ऐसे ही रहेंगे। यही वैदिक दर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है। अद्वैतवाद की घोषणा करने वाले भी इस तथ्य को नहीं झुठला सके। शुद्ध चेतन ब्रह्म के साथ अनादि तथा माया की कल्पना करके उन्हें प्रकारान्तर से स्वीकार करना पड़ा कि केवल ब्रह्मतत्त्व समस्त चेतनाचेतन जगत् का मूल नहीं हो सकता।

१. यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः । वै० १/१
२. तत्त्वज्ञानादभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः । अ० त० द० १/१
३. अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुद्ध्यते । आप्तमीमांसा २४
४. नास्ति नास्त्यस्ति नास्ति नास्तीति वा पुनः ।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येष बालिशः ।।
कोट्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः ।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक् ।।
—कारिका, अलातशान्ति प्रकरण, ८३-८४
५. न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम् ।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः ।।
६. विगीतं विच्छिन्नमूलं महायानिक बौद्धगाथितं मायावादं व्यावर्णयन्तो लोकान् व्यामोहयन्ति । भास्करभाष्य १/४/२५; ये तु बौद्धमतावलम्बिनो मायावादिनस्तेऽप्यनेन न्यायेन सूत्रकारेणैव निरस्तावेदितव्याः ।
भास्करभाष्य २/२/२९
७. दास गुप्ता-भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग ३, पृष्ठ ४१३
8. The Souls are regarded as the effects of Brahman, since they cannot exist apart from him, and yet they are not produced effects as other and the like. The Jiva is not one with God since it differs in essential character from him.
9. Maxmuller : Vedanta Philosophy., P. 20
10. I do not know of any writer previous to Gaudapada who attempted to give an exposition of the mouistic doctrine either by writing a commentary as did Shankara or by writing an independent work as did Gaudapada.—S. N. Dass gupta : History of Indian Philosophy, Vol. I. P. 422

उपनिषदों में सृष्ट्युत्पत्ति विचार

डा० निरूपण विद्यालंकार

उपनिषदों में सृष्ट्युत्पत्ति तथा उसके विकास क्रम का पर्याप्त वर्णन उपलब्ध होता है। ब्रह्मसूत्रों पर शंकराचार्य भाष्य औपनिषदिक वचनों द्वारा पुष्पित एवं पल्लवित हुआ है। आचार्य के अद्वैतवाद का सम्पूर्ण प्रासाद उपनिषदों के महावाक्यों पर ही आधारित है। यह आश्चर्य का ही विषय है कि शंकराचार्य ने अपने अद्वैतवाद की सिद्धि करने के लिये वेद के किसी भी मन्त्र को उद्धृत नहीं किया है। उपनिषदों में हमें दो प्रकार के वाक्य मिलते हैं। एक प्रकार के तो वे वाक्य हैं जिन्हें आधार बनाकर शंकराचार्य ने अपने अद्वैतवाद की पुष्टि की है और द्वैतवादी वाक्यों को भी अद्वैतपक्ष में समन्वित करने का प्रयत्न किया है। इसके विपरीत दूसरे प्रकार के वे वाक्य हैं जिनको द्वैतवादी विद्वानों ने द्वैतवाद का स्पष्ट रूप से वर्णन करने वाले वाक्यों को द्वैतवाद की पुष्टि में आधार बनाया है और अद्वैतवाद की ओर संकेत करने वाले वाक्यों को द्वैतपक्ष में समन्वित किया है। द्वैतवादियों का यह कहना है कि उपनिषदों में पठित कतिपय वाक्यों के आधार पर ब्रह्म के अद्वैतवाद का प्रतिपादन सम्भव नहीं है क्योंकि इन अद्वैतवाद को प्रकट करने वाले औपनिषदिक वाक्यों का तात्पर्य ब्रह्मातिरिक्त अन्य सत्ता के निषेध में नहीं है अपितु ब्रह्म में सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद शून्य होने का वर्णन केवल ब्रह्मविषयक ही है। कहने का आशय यह है कि ब्रह्म ही एकमात्र ऐसा तत्व है, जिसका न कोई सजातीय है न कोई विजातीय और न ही उसके कोई टुकड़े हो सकते हैं। इस ब्रह्म में ही यह सम्पूर्ण जगत है। इस सम्बन्ध में यहां कुछ वाक्यों को उद्धृत किया जा रहा है। तद्यथा—

"इदं सर्वं यदयमात्मा।"[1]
"आत्मैवेदं सर्वम्।"[2]
"ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्।"[3]

"ब्रह्मैवेदं सर्वम् ।"[४]
"सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।"[५]
"नेह नानास्ति किञ्चन ।"[६]
"अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः।"[७]
"आत्मा वा इदमेक एवाग्रासीत् ।"[८]
इसी प्रकार निम्न चार महावाक्य हैं:—
"अहं ब्रह्मास्मि ।"[९]
"अयमात्मा ब्रह्म ।"[१०]
"तत्त्वमसि ।"[११]
"प्रज्ञानं ब्रह्म ।"[१२]

इन सभी उपनिषद् वाक्यों का वेदान्ती अद्वैतपरक अर्थ करते हैं। द्वैतवादी विद्वान् इनके पूर्वापर प्रसङ्गों को साथ लेकर द्वैतवाद में इन्ही वाक्यों को चरितार्थ करते हैं। यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि शंकराचार्य के वेदान्त-भाष्य पूर्णरूप से उपनिषद् के वाक्यों पर ही आधारित है।

उपनिषदों में वर्णित सृष्ट्युत्पत्ति को हमें तत्तत् उपनिषद् के प्रकरण से पृथक् करके नहीं देखना चाहिये। सृष्टि का क्रमिक विकास दिखाना उपनिषदों का न तो प्रयोजन ही है और न ही उनका यह प्रतिपाद्य विषय है। उपनिषदों का एक-मात्र प्रयोजन मनुष्य को ब्रह्म तक ले जाना है। ब्रह्मयात्रा के लिये यदि कहीं सृष्ट्युत्पत्ति को दिखाना आवश्यक अथवा अभीष्ट हुआ तो उसको उतना ही दिखाया गया है, उससे अधिक नहीं। इस सृष्ट्युत्पत्ति के कुछ स्थल हम यहां उपनिषदों से उद्धृत कर प्रस्तुत कर रहे हैं।

छान्दोग्योपनिषद्[१३] में आता है कि उस देवता ने संकल्प किया कि मैं सर्ग का नाम और रूप से विस्तार करूं। उसने सृष्टि को नाम और रूप इन दो प्रकार से रचा। जो कुछ भी जगत् है वह रूपात्मक है और उसके व्यवहार के लिये नाम अर्थात् वाणी का उपयोग किया। इन दो प्रकारों में सम्पूर्ण सृष्टि का समावेश हो जाता है। मुण्डोपनिषद्[१४] का एक सन्दर्भ है जिसमें अद्वैतवादियों द्वारा ब्रह्म से सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन माना जाता है। द्वैतवादियों की व्याख्या इनसे भिन्न है। वह सन्दर्भ इस प्रकार है:—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ।। मुण्डक १/१/७

अर्थात् जिस प्रकार मकड़ी जाले उत्पन्न करती है और समेट लेती है, जैसे पृथिवी में ओषधियां उत्पन्न होती हैं, जिस प्रकार जीवित पुरुष से केशलोभ प्रादुर्भूत होते हैं उसी प्रकार अक्षर से यहां विश्व उत्पन्न होता है।

द्वैतवादी विद्वान् यहां मकड़ी के भौतिक शरीर से तन्तुजाल का निर्माण मानते हैं, चेतन आत्मा से नहीं। इसी प्रकार "अक्षर" से प्रकृतिमय परब्रह्म का ग्रहण करते हैं। ओषधियों की उत्पत्ति में तो पृथिवी निमित्त का कारण ही है, उपादान कारण उसके वीज होते हैं। इसी प्रकार पुरुष के शरीर से केशलोम उत्पन्न होते हैं, चेतन आत्मा से नहीं। यहां पर तीन दृष्टान्त दिये गये हैं। तद्यथा—(१) मकड़ी का दृष्टान्त (२) पृथिवी का दृष्टान्त और (३) पुरुष का दृष्टान्त। इन तीनों प्रकार के दृष्टान्तों से यही प्रतीति होती है कि सृष्टि की उत्पत्ति निमित्त कारण से होती है। कहने का आशय यह है कि प्रकृति जगत का उपादान कारण है और परमेश्वर निमित्त कारण है। अद्वैतवादी इसी दृष्टान्त को देते हैं और वे ब्रह्म को इस जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानते हैं। ये उपादानकारण और निमित्त कारण को एक मानकर सृष्ट्युत्पत्ति की प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं।

अक्षर से प्रकृति का भी ग्रहण किया जा सकता है। इस तथ्य की पुष्टि निम्न संदर्भ से होती है :—

> यथा सुदीप्तात्पावकाद् विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
> तथाऽक्षराद्विविधाः सौम्यभावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥[१५]

जिस प्रकार प्रदीप्त अग्नि से सहस्रों चिनगारियां उसके समान रूपवाली उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार हे सौम्य, अक्षर से विविध भाव उत्पन्न होते हैं और उसी में विलीन हो जाते हैं। कहने का आशय यह है कि जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से चारों ओर चिनगारियां उत्पन्न होकर फैल जाती हैं उसी प्रकार उपादान कारण भूत प्रकृति से प्रत्येक शरीर और अन्य वस्तुओं की सत्ता प्रकाशित होती है और विनष्ट होकर उसी में लीन हो जाती है।

यहां "अक्षर" से प्रकृति का अर्थग्रहण करना चाहिए क्योंकि जो उत्पन्न होते हैं वे जड़ हैं और प्रकृति भी जड़ है। इसी दृष्टि से इस उपर्युक्त मन्त्र में "सरूपाः"=(सामान रूपवाली) शब्द चरितार्थ हो सकता है।

इस उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् सम्प्रति उपनिषदों में सृष्ट्युत्पत्ति के विषय में प्राप्त होने वाले भिन्न-भिन्न मतों का उल्लेख किया जाता है।

(१) "असदेववेदमग्र आसीत्। तत्सदासीत् तदाण्डं निरवर्तत।"[१६]

वह पहले असत् ही था, वह सत् हुआ फिर वह अण्डाकार बन गया।

(२) "असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वैसदजायत।"[१७]

पहले वह असत् था, फिर सत् उत्पन्न हुआ।

(३) आनन्दो ब्रह्मेतिव्यजानात आनन्दाद्धयेव वा खल्विमानि भूतानि जायन्ते"[१८]

यहां ब्रह्म को "आनन्दमय" बताया गया है। इसी से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलय होने का उल्लेख किया है।

(४) "नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्मृत्युनैवेदमावृतमासीत"[१९]

यहां कुछ भी नहीं था, सर्वप्रथम यह मृत्यु से ही आवृत था। इस प्रकार यहां पर मृत्यु को जगत् का कारण बताया गया है।

(५) "ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्यगोप्ता।[२०]

देवों में से सर्वप्रथम ब्रह्मा पैदा हुआ जो कि विश्व का कर्ता तथा भुवन का रक्षक है। यहां विश्व का रचयिता ब्रह्मा को बताया गया है।

(६) "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति"।[२१]

ये सब भूत आकाश से उत्पन्न होते हैं और आकाश में ही लीन हो जाते हैं। यहाँ सब भूतों का उत्पादक आकाश को बताया गया है।

(७) "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्"[२२]

हे सौम्य, पहले यह सत् ही था। ऐसा उपदेश आचार्य आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को दे रहे हैं "तदैक्षत् बहु स्यां प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजत।" उसने ईक्षण किया कि मैं बहुत हो जाऊं, प्रजाओं को उत्पन्न करूं, तब उसने तेज का सर्जन किया। यहां जगत् का कारण सत् माना गया है।

(८) "अप एवे दमग्र आसी: । ता आपः सत्यमसृजन्त ।
सत्यं ब्रह्म ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापति र्देवान् ।।"[२३]

पहले यहां आपः ही थे। उन्होंने सत्य को उत्पन्न किया, सत्य ने ब्रह्म को, ब्रह्म ने प्रजापति को और प्रजापति ने देवों का सर्जन किया। इस प्रकार यहां "आप:" को कारण माना गया है।

(९) 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति ।
यत्प्रयत्यभिसं विशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति :"[२४]

वरुण का पुत्र भृगु अपने पिता वरुण के पास ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिये गया। तब वरुण ने कहा कि जिससे ये सब भूत पैदा होते हैं और जिससे वे जीवित रहते हैं और अन्त में मृत्यु के मुख में जा समाते हैं। हे पुत्र, तू उसे जान, वह ब्रह्म है। यहां "ब्रह्म" को सृष्ट्युत्पत्ति का कारण बताया गया है। ऋषि दयानन्द इस मन्त्र को सत्यार्थ प्रकाश के अष्टम समुल्लास के प्रारम्भ में उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि हे मनुष्य, तू उस परमात्मा को जान और किसी दूसरे को सृष्टिकर्ता मत मान।

(१०) "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । नान्यत् किञ्चन मिषत् ।
स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति । स इमांल्लोकानसृजत् ।"[२५]

सबसे पूर्व आत्मा ही था। और कोई भी निमेषोन्मेष अथवा चलायमान नहीं था। उसने ईक्षण किया कि मैं लोकों का सर्जन करूं। तब उसने इन लोकों का सर्जन किया। यहां पर जगत् का कारण "आत्मा" को बताया गया है।

इस प्रकार विभिन्न उपनिषदों के ऊपर उद्धृत वाक्य अलंकारपूर्ण भाषा में प्रस्तुत किये गये हैं। इन वाक्यों के आधार पर जगत् का मूल उपादान अद्वैत पक्ष में परमात्मा को माना गया है। अन्य विद्वानों का कहना है कि "उसने देखा तथा कामना की कि मैं बहुत हो जाऊं। मैं उत्पन्न होऊं। यदि इन पदों का ठीक इसी रूप में अर्थ किया जाये तो निश्चित रूप से यह मानना होगा कि ईक्षण और कामना करने वाला परमात्मा स्वयं उत्पन्न हो गया है। इस प्रकार का अर्थ करने पर चेतन परमात्मा को विकारी मानना पड़ेगा। ऊपर उद्धृत उपनिषद् के वाक्यों में अनिर्वचनीय माया का कोई भी संकेत नहीं आया है। माया को प्रकृति मान लेने पर फिर यही स्वीकार करना पड़ेगा कि परमात्मा नियामक है और माया अर्थात् प्रकृति संसार का उपादान कारण है।

श्वेताश्वतरोपनिषद्[२६] में आता है कि—

"अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानाः स्वरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

यहां "अजा" प्रकृति है, यह अनुत्पन्न है—"न जायत इत्यजा"। जगत् को यही "अजा" उपादान कारण है। वह लोहित, शुक्ल और कृष्ण है। लोहित=रजस्, शुक्ल=सत्त्व, कृष्ण=तमस्। परमात्मा तथा जीवात्मा—ये दोनों भी अज हैं। इस उपनिषद् मन्त्र की व्याख्या करते हुए ऋषि दयानन्द[२७] लिखते हैं कि प्रकृति, जीव और परमात्मा—ये तीनों अज अर्थात् जिनका जन्म कभी नहीं होता और न कभी जन्म लेते अर्थात् ये तीन सब जगत् के कारण हैं। इनका कारण कोई नहीं है। इस अनादि प्रकृति का भोग अनादि जीव करता हुआ फंसता है और उसमें परमात्मा न फँसता और न उसका भोग करता है। यहां पर जगत् का कारण परमात्मा, जीव और प्रकृति तीनों को माना गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदों में सृष्टयुत्पत्ति के मूल कारण के विषय में प्राप्त होने वाले भिन्न-भिन्न वचनों के आधार पर विद्वानों ने भिन्न-भिन्न विचारों को प्रकट किया है।

पाद टिप्पणियां

१. बृहदारण्यकोपनिषद् २.४.६,
२. छान्दोग्योपनिषद् ७.२५.२
३. मुण्डकोपनिषद् २.२.११
४. वही
५. छान्दोग्योपनिषद् ३.१४.१
६. बृहदारण्यकोपनिषद् ४.४.१९
७. वही
८. ऐतरेयोपनिषद् २.१.११
९. बृहदारण्यकोपनिषद् १.४.१०
१०. वही
११. छान्दोग्योपनिषद् ६.८.७
१२. ऐतरेयोपनिषद्
१३. छान्दोग्योपनिषद् ६.३.२-३
१४. मुण्डकोपनिषद् १.८.७

१५. वही
१६. छान्दोग्योपनिषद् ३.१९.१
१७. तैत्तिरीयोपनिषद् २.७
१८. वही, ३.१
१९. बृहदारण्यकोपनिषद्
२०. मुण्डकोपनिषद् १.१.१
२१. छान्दोग्योपनिषद् १.९.१
२२. वही ६.२.१
२३. बृहदारण्यकोपनिषद् ५.५.१
२४. तैत्तिरीयोपनिषद् ३.१
२५. ऐतरेयोपनिषद् १.१.१
२६. श्वेताश्वतरोपनिषद् ४.५
२७. सत्यार्थ प्रकाश, अष्टमसमुल्लासः

ऋ० १.५०.१

विश्व को देखने के लिए,
प्रभातकालीन ये किरणें,
ज्योतिर्मय सूर्य को,
ऊपर उठाकर ला रही हैं।

उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥

क्या यास्क के निर्वचन पागल के गीत हैं ?

डॉ० युधिष्ठिर मीमांसक

भगवान् यास्क द्वारा लिखित निरुक्त शास्त्र छः वेदांगों (शिक्षा,कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष्) में चतुर्थ स्थान पर है। छः अंगों की गणना करते समय निरुक्त तथा व्याकरण शास्त्रों को स्वतंत्र विद्या के रूप में स्पष्ट रूप से वर्णित किया गया है। श्लोकों में रचित ऋक्शाखीय पाणिनीय शिक्षा में छः वेदांगों की शरीर के छः अंगों से तुलना की गयी है। समता इस प्रकार दिखाई गई है—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयने चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥ ॥४१॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्
तस्मात्सांगमधीत्यैवय ब्रह्म लोके महीयते ॥ ॥१२॥

अर्थात् वेद के चरण छन्द शास्त्र हैं और हाथ कल्प। ज्यतिष नेत्र हैं और निरुक्त कान। एवमेव शिक्षा वेद की नासिका है तथा मुख व्याकरण है। अतः वेदों का सांग अध्ययन करके ही मानव ब्रह्म लोक को प्राप्त कर सकता है।

जिस प्रकार भिन्न-भिन्न कार्य करने वाले शरीर के अंग परस्पर भिन्न होते हैं, उसी तरह शिक्षा इत्यादि छः अंगों की भी पृथक्-पृथक् कार्य भिन्नता दोनों श्लोकों से स्पष्ट की गयी है। इससे वेद के मुख और कान रूपी व्याकरण और निरुक्त को पृथक्-पृथक् विद्या के रूप में प्रदर्शित किया गया है।

संस्कृत साहित्य में चौदह या अठारह विद्याएं मानी गयी हैं। वहां चौदह विद्याओं का वर्णन इस प्रकार है:—

वायु पुराण में लिखा है वेदांग छः, वेद चार, मीमांसा, न्याय, धर्म शास्त्र और पुराण ये चौदह विद्याएं हैं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने चौदह विद्याएं निम्न प्रकार से मानी हैं:—चार वेद, चार उपवेद और छः वेदांग ।

वायु पुराण के अनुसार वर्णित चौदह विद्याओं में चार उपवेदों को गिनकर अठारह विद्याओं का वर्णन वायुपुराण में अगले श्लोक में किया गया है। इन विद्याओं की गणना में भी निरुक्त और व्याकरण का स्थान भिन्न-भिन्न विद्या के रूप में वर्णित है। निरुक्तकार यास्क भी निरुक्त और व्याकरण को स्वतंत्र विद्याओं के रूप में स्वीकार करते हैं—

अथापीदमन्तरेणार्थप्रत्ययो न विद्यते तदिदं विद्यास्थानम्

अर्थात् इस निरुक्त शास्त्र के बिना मंत्रों में अर्थ का परिज्ञान नहीं होता । अतः यह शास्त्र व्याकरण शास्त्र की पूर्णता करने वाला और मंत्रार्थ बोध का साधक है।

दूसरे स्थान पर भी निर्वचन शास्त्र (निरुक्त के अनधिकारियों के विषय में यास्क कहते हैं कि यह निर्वचन शास्त्र जो व्याकरण को नहीं जानता उसे नहीं पढ़ाना चाहिये। इससे उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि निरुक्त शास्त्र व्याकरण के बाद पढ़ने योग्य स्वतंत्र विद्या है।

निरुक्त और व्याकरण को स्वतंत्र पृथक्-पृथक् विद्या सिद्ध हो जाने पर इन दोनों के कार्य क्षेत्र पर विचार किया जाता है।

व्याकरण का प्रयोजन धातु, प्रत्यय आदि से शब्द निर्माण करना और शुद्ध रूप बनाना है। तथा निरुक्त शास्त्र का कार्य शब्द रूपी शरीर के साथ जुड़ी हुई अर्थ रूपी आत्मा का निःसंदिग्ध वर्णन करना है। यद्यपि शब्द के शुद्ध रूप को बताने पर भी 'हरतेदृतिनाथयोः पशौ (अष्टा० ३।२/२५) इस सूत्र में तथा नौवृ धान्ये (अष्टः३/३/४०)इस सूत्र में अर्थ का निर्देश हुआ है फिर भी इसका आभास गौण रूप में है मुख्य रूप में नहीं हैं। शब्द के रूप वर्णन की ही प्रधानता है। एवमेव निरुक्त में अर्थ निर्वचन में भी शब्द के रूप की उपेक्षा नहीं हो सकती क्योंकि उस में अर्थ ओत प्रोत है। परन्तु निर्वचन में शब्द का स्वरूप दिखाना अभिप्रेत नहीं है। इसलिए (अथ निर्वचनम्) निर्वचन आरम्भ किया जाता है यहां से आरम्भ करके। अर्थनित्य' परीक्षेत'' अर्थ के नित्यत्व की परीक्षा करनी चाहिए, ऐसा कहा है। इसका यह अभिप्राय है कि संसार में इस शब्द का क्या अर्थ लिया जाता है, तथा उस को अच्छी तरह जानकर ही उसका निर्वचन करना चाहिए।

इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ में क्यों प्रयोग किया गया है इस के कारण को बताना चाहिए।

इस प्रकार निरुक्त और व्याकरण के भिन्न-भिन्न विषय होने पर भी आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् और उनके अनुगामी भारतीय विद्वान् निरुक्त और व्याकरण के विषयों की भिन्नता को न जानते हुए निरुक्त शास्त्र में बताए निर्वचनों में भी यही मानते हैं कि यास्क ने शब्द के मूल धातु रूप का ही वर्णन किया है।

ऐसा होने पर उन्होंने अपने ही अज्ञान से निरुक्त के निर्वचनों को न समझ कर उनकी बहुत निन्दा की है।

इसको प्रदर्शित करने के लिए यहां अत्यन्त प्रसिद्ध तीन विद्वानों के लेख जो उन्होंने यास्क (निरुक्तकार) के निर्वचनों के विषय में लिखे हैं, संक्षेप में उनका वर्णन किया जाता है।

१. प्रथम पाश्चात्य विद्वान् मैकडानल कहते हैं कि यास्क के समय में वेदों के शब्दों के वास्तविक अर्थ लुप्त हो गये थे। यास्क तो (शब्दों के अर्थ बताते हुए) इस तरह प्रयत्नशील हैं जैसे कोई व्यक्ति अन्धेरी कोठरी में अभीष्ट वस्तु को खोजने के लिए इधर-उधर हाथ मारता है। उसमें प्रयत्न करते हुए भी उस अर्थ को न जानकर शब्द की व्युत्पत्ति अनेकों धातुओं से दिखाकर उसके विषय में संदेह प्रकट करने के लिए 'वा' शब्द का प्रयोग करता है। 'यथा विराट् विराजनाद् वा विराधनाद् वा विप्रापणाद् वा' (नि० ७/१३)

२. दूसरे हैं पाश्चात्य अनुयायी डॉ० राजवाड़े। वे अपने द्वारा सम्पादित निरुक्त शास्त्र के उपोद्घात में फर्माते हैं।

क. यह निरुक्त शास्त्र विज्ञान शून्य है। इसमें विज्ञान का उपहास किया जाता है,

ख. मैं यह कहने का साहस करता हूं कि निरुक्त की निर्वचन विधि मूर्खतापूर्ण है।

ग. निरुक्त में बहुत से निर्वचन भावरहित कल्पनामय है अतः बहुत से निर्वचन अशुद्ध हैं। शुद्ध निर्वचनों की संख्या बहुत कम हैं।

३. इसी प्रकार अनेक भाषाओं के वेत्ता डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा कहते हैं कि यास्क के निर्वचन करने का उत्साह पागलपन की सीमा तक पहुंच गया था। उन के निर्वचन सम्बन्धी पागलपन ने उनकी बुद्धि को नष्ट कर दिया, उनकी निर्वचन कल्पना शून्य और विचित्र है। इस गम्भीर दोष के कारण यास्क के निर्वचन व्यर्थ अनावश्यक, सारहीन और सत्य से अत्यन्त दूर हैं। यास्क तो इतना भी नहीं जानता था कि किस शब्द का लक्षणा द्वारा संसार में क्या अर्थ प्रसिद्ध है। वह लाक्षणिक अर्थ का निर्वचन भी पृथक् रूप से करता है।

ग. हमारी गणना के अनुशार यास्क ने १२९८ संख्या में निर्वचन किए हैं। उन में से केवल २२४ निर्वचन ही आधुनिक भाषाविज्ञान के आधार पर ठीक

हैं। २२५ निर्वचन ऐसे हैं जिनको समझना बहुत कठिन है। ७६२ निर्वचन प्रारम्भिक अवस्था के हैं जिन्हें अविकसित कहा जा सकता है।

निरुक्त विषयक ये सभी दोष जो पहले बताए गए हैं वे सब व्युत्पत्ति और निर्वचन के भेद को न जानने के कारण तथा व्याकरण और निरुक्त शास्त्रों के कार्य क्षेत्र के भेद की अपरिचिति के कारण ही दिखाई देते हैं। ये तीन महानुभाव निरुक्त शास्त्र को व्युत्पत्ति शास्त्र (शब्दों को निर्मित करने वाला) अर्थात् व्याकरण की तरह प्रकृति निर्धारक शास्त्र मानते हैं। वास्तव में व्युत्पत्ति शास्त्र तो व्याकरण ही है। निरुक्त तो निर्वचन शास्त्र है, और वह प्रत्येक शब्द के एक या अनेक यथासम्भव अर्थों को प्रकट करता है। इसमें शब्दों के निर्माण करने वाले धातुओं को नहीं दिखाया गया है। बल्कि किस शब्द का किस अर्थ में किस कारण से प्रयोग किया गया है इस पर विचार किया है। अतः निरुक्त के वृत्तिकर्ता भगवान् दुर्गाचार्य ने कहा है—

"इस लिए निरुक्त शास्त्र अर्थ निर्वाचक स्वतंत्र विद्यास्थान है। व्याकरण लक्षणप्रधान है। (नि० वृ० १/१५)

सायणाचार्य भी ऋग्वेद के भाष्य के उपोद्घात में निरुक्त शास्त्र को अर्थ निर्वाचक ही मानते हैं—उनका कथन हैकि एक-एक पद के सम्भावित अवयव अर्थ का वर्णन पूर्णतया जिस में किया जाता है उसे निरुक्त कहते हैं।

एकैकस्य पदस्य सम्भाविता अवयवार्थास्तत्र विश्लेषेण उच्यन्ते इति।

(निरुक्तशब्दस्य व्युत्पत्तौ)

वास्तव में निर्वचन शब्द का अर्थ, अर्थ की व्याख्या करना ही है। श्री अनन्त भट्ट भाषिक सूत्र व्याख्यान में इस प्रकार कहते हैं कि 'निर्वचन का अभिप्राय अर्थ की व्याख्या करना है।' निर्वचनन नामार्थस्यान्वाख्यानम् (३/६) निरुक्तकार (यास्कमुनि) ने भी निर्वचन शब्द का प्रयोग अर्थ की व्याख्या के लिए ही किया है। वे स्थान-स्थान पर उस शब्द के अर्थ को दिखाने के लिए किसी ऋचा (वेदमन्त्र) का उदाहरण देकर जहां अन्य ऋचा का उदाहरण देते हैं वहां सभी स्थानों पर अन्य ऋचा का उदाहरणदेने से पूर्व उन्होंने संकेत दिया है कि पूर्व अर्थनिर्वचन की और अधिक स्पष्टता के लिए हैं। ऐसे स्थलों में निर्वचन शब्द का प्रयोग अर्थ व्याख्या के अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नहीं रखता। क्योंकि उस तरह के स्थानों में शब्द की कथन रूपसिद्धि नहीं दिखाई देती।

इसी प्रकार **अनिर्वचनं कपालानि भवन्ति** (७/२४] उपरोक्त यास्क वचन का यही अभिप्राय है कि बारह कपालआदि में जो कपाल संख्या बताई गई है वह वैश्वानर शब्द के अर्थ के निश्चय में सहायता नहीं करती।

मैक्डानल महोदय ने जो कुछ कहा है वह निश्चय से विचार शून्यता ही है। क्योंकि यास्क के काल में वैदिक परम्परा का लोप नहीं हुआ था। यह सब भार-

तीय परम्परा एवं इतिहास से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है। अतः "एक शब्द की व्युत्पत्ति अनेक धातुओं से दिखाकर संदेह प्रकट करने के लिए यास्क ने 'वा' शब्द का प्रयोग किया है' यह उपरोक्त महोदय का कथन भी विचारणीय है।"

अव इस वात को स्पष्ट करने के लिए कि निरुक्त में निर्वचन अर्थ प्रदर्शन के लिए ही प्रयुक्त किए गए हैं न कि उस शब्द के प्रकृति (धातु आदि) बताने के लिए इस वात को स्पष्ट करने के लिये दो शब्दों के यास्क के निर्वचनों के उदाहरणों द्वारा शास्त्रानुसार व्याख्या की जाती है।

विराट्—'विराट्' शब्द के निर्वचन यास्क ने इस प्रकार किये हैं :—

विराट् विराजनाद् वा विराधनाद् वा विप्रापणाद् वा (७/१३)

विराट् शब्द के ये निर्वचन जिस सन्दर्भ में पढ़े जाते हैं वहां पहले और पीछे छन्दों का प्रकरण है। इस लिए जिस विराट् शब्द का यहां निर्वचन किया गया है वह स्पष्ट रूप से छन्द का नाम है। छन्द शास्त्र में विराट् शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त है जैसेः—

यथा—विराजो दिश: (पिङ्गल सूत्र ३/५)

१०. दस संख्या अर्थ में। यहां विराज से अभिप्राय दिशाओं से हैं, दिशाएं दस पूर्वादि-चार, आग्नेय, वायव्यादि चार ऊर्ध्व और अधः। इसी संख्या वाला छन्द का होना एक पाद। जहां कहीं भी वैराज पाद कहा जाता है वहां दश अक्षर समझने चाहिए। ऐसा हलायुध वृत्ति में कहा है। दस की संख्या संसार में पूर्ण संख्या समझी जाती है।

२०. जिस छन्द में दो अक्षर कम हों। जैसा कि पिंगलाचार्य ने कहा है—

"द्वाभ्यांविराट् स्वराजौ" (३/६०)

इसका वर्णन करते हुए हलायुध कहते हैं। कम या अधिक का पूर्व सूक्त्र से ग्रहण किया जाता है। दो अक्षरों से कम या अधिक अक्षरों से गायत्री की क्रमशः विराट् और स्वराट् संज्ञा हो जाती है। इसी प्रकार उष्णिक् आदि में भी समझना चाहिए।

३. ग्यारह अक्षर वाले तीन पादों से युक्तअनुष्टुप छन्द में। जैसे ऋक्सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन कहते हैं:—

दशकास्त्रयो विराट् एकादशका वा। (परि० ६/७-८)

इसका अर्थ यह है कि इस अनुष्टुप् में दश अक्षरों वाले तीन पाद या ग्यारह अक्षरों वाले तीन पाद होते हैं। उसी को अनुष्टूप् विराट् छन्द कहा जाता है।

इस प्रकार छन्द शास्त्रों में तीन अर्थों में प्रयुक्त होने वाले विराट् शब्द का अर्थ भगयान् यास्क ने उपरोक्त तीनों निर्वचनों द्वारा प्रदर्शित किया है।

उक्त निर्वचनों की व्याख्या स्वयं यास्क मुनि ने की है। विराजनात् से अभिप्राय सम्पूर्ण अक्षर युक्त; विराधनात्, कम अक्षर युक्त; विप्रापणात् अधिक अक्षरयुक्त।

इस से आसानी से यह स्पष्ट हो जाता है कि विराट् शब्द की प्रकृति वि+राजृ धातु है। वि+ राध धातु, वि+आप्लृ धातु है।

इसमें आचार्य यास्क का अभिप्राय नहीं है। उनका अभिप्राय राजृ धातु से पूर्व 'वि' लगाने से जो विराट् शब्द बनता है, उस से अभि-प्राय है (पूर्ण अक्षरों के होने से जो विशेष रूप प्रकाशित होता है) दूसरे में वि+राध धातु का जो अर्थ है (विगतं राधनं संसिद्धिर्यस्मात्) अक्षरों की कमी से अभिप्राय है। तीसरे में वि+आप्लृ धातु का जो अर्थ है (विशेषेण प्रापणम् अर्थात् आधिक्यं यस्मिन्) जिसमें अक्षरों की अधिकता है। इन अर्थों को प्रकट किया गया है।

इसी अभिप्राय को सायणाचार्य ने भी बताया है :—

'धातुत्रयार्थस्य तत्रसंभवात्, (द्र० दैवत ब्राह्मण—खं० ३, विराटशब्द व्याख्यानम्)

तीन धातुओं के अर्थों का अस्तित्व होने के कारण।

उक्त अर्थ को और दृढ़तापूर्वक बताने के लिए यास्क द्वारा प्रयुक्त 'द्वार' शब्द के निर्वचनों को आपके समक्ष रक्खा जाता है।

'द्वारो जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वा' (निरुक्त ८/६ ॥)

भगवान् यास्क द्वारा निर्वाचित 'द्वार' शब्द लोक में तीन अर्थों में प्रयुक्त होता हैं। 'द्वारं पिधेहि, इस शब्द में द्वार शब्द किवाड़ (दरवाज़ा) अर्थ में है। 'स्रौघ्नं द्वारम्', माथुरं द्वारं' का प्रयोग—लोक में जैसे अजमेरी दरवाज़ा, आगरा दरवाज़ा का प्रयोग किया जाता है उसी तरह उपरोक्त प्रयोग है। शहरों की दीवारों में जो जो द्वार बने हुए हैं वे द्वार जिस-जिस नगर के सामने होते हैं या जिस द्वार से जिस नगर को रास्ता जाता है उस-उस नगर के नाम से उनके नाम प्रसिद्ध हो जाते हैं।

जैसे महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी में कहा है, 'अभिनिष्क्रामति द्वारम्।

(४/३/८६ अष्टा०)। ऐसे दरवाजों में यद्यपि किवाड़ होते हैं फिर भी वे दिन रात खुले रहते हैं (केवल युद्ध के समय में ही बन्द किए जाते हैं) अतः ऐसे द्वार से आना जाना रुकता नहीं। इसी प्रकार जल रोकने वाले (अवरोधों) स्थानों में जब जल बहने के लिए सूक्ष्म मार्ग बना लेता है तब 'जल ने बहने के लिए द्वार बना लिया' ऐसा संसार में प्रयोग होता है। इसी अर्थ में लोक भाषा में भी 'पानी ने रास्ता बना लिया' ऐसा व्यवहार में लाया जाता है।

इस प्रकार द्वार शब्द संसार में जिन तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है उनको ध्यान में रखते हुए ही यास्क मुनि ने द्वार शब्द का निर्वचन 'जवतेर्वा द्रवतेर्वा वारयतेर्वा,' तीन अर्थों में किया है। यहां 'जवतेर्वा, यह निर्वचन बिना रूकावट के जिससे गमन-आगमन होता है ऐसे दरवाजे की ओर संकेत करता है। यथा स्रौघ्नं द्वारम्, माथुरं द्वारम्। 'द्रवतेर्वा,' यह निर्वचन तरल पदार्थों के निकलने के लिए जो सूक्ष्म छिद्र हो जाता है उसे बताता है। 'वारयतेर्वा,' यह निर्वचन द्वार शब्द के कपाट 'किवाड़' को बताता है।

मैकडानल महोदय ने यास्क द्वारा निर्वचन में प्रयुक्त 'वा, शब्द को संदेह का द्योतक बताया है, सो यह कथन भी विचार शून्य है। 'वा,' शब्द का प्रयोग केवल संदेह प्रकट करने में ही प्रयुक्त नहीं होता बल्कि कोषकार इसके अर्थ विकल्प और समुच्चय भी ग्रहण करते हैं। इसलिए एक शब्द के जहां अनेक अर्थ हों वहां हर एक अर्थ का ज्ञान कराने के लिए यास्क अनेक निर्वचनों को दिखाते हुए 'वा,' शब्द का प्रयोग करते हैं।

इस प्रकार जब विराट् शब्द दश अक्षर वाले छन्द के लिए प्रयुक्त होता है तब उसके पूर्ण अक्षर होने के कारण (विशेषेण राजनम् प्रकाशनम् अर्थः) विशेष रूप से सुन्दर लगना इसका अर्थ है। जब दो अक्षर कम वाले छन्द के लिए प्रयुक्त होता है इसका निर्वचन होता है तो 'विगत-राधनम्, इसका अर्थ है। अधिक अक्षर वाले छन्द में सामान्य प्राप्ति सविशेष से अधिक अक्षरों की प्राप्ति इसका अर्थ है। इस प्रकार तीन अर्थों के बताने के उद्देश्य से किए गए तीन निर्वचनों में 'वा, शब्द का प्रयोग विकल्पार्थ या समुच्चयार्थ हो सकता है, इसका अर्थ संदेह प्रकट करना नहीं हो सकता। और भी 'निर्वचन' शब्द का अर्थ ही (निश्चयेन वचन) निश्चय से कहना है। संदेह के लिए वहां कोई स्थान नहीं है। इसलिए आशंका प्रकट करने की बात कैसे हो सकती है ?

मैक्डानल इत्यादि महानुभावों द्वारा यास्क मुनि के निर्वचनों में निकाले गए दोष उनके अज्ञान को ही प्रकट करते हैं। सबसे पहले पाश्चात्य विद्वानों ने यास्क के निर्वचनों को उस उस शब्द की मूल प्रकृति (धातु आदि) दिखाने वाले माना है। यह ही मत पाश्चात्य शिक्षा में दीक्षित भारतीय विद्वानों ने अन्ध-परम्परा न्याय से प्रदर्शित किया है। यदि निरुक्त के निर्वचनों का प्रयोजन मूल

प्रकृति' (धातु आदि से व्युत्पत्ति) को ही दिखाना होता तो इसे व्याकरण से पृथक् शास्त्र न कहा गया होता। ऐसा होने पर निरुक्त और व्याकरण को पृथक्-पृथक् वेदों के अंगों के रूप में गणना नहीं हो सकती थी। पाश्चात्य तथा उनके अनुयायी विद्वान् निरुक्त और व्याकरण दोनों वेदांगों का एक ही प्रयोजन मानते हुए स्वयं भ्रान्त हो गए और पारदर्शी एवं ज्ञानालोक से आलोकित यास्क के निर्वचनों को दूषित कहने लगे। जैसे हमने भारतीय विद्वानों के मत से यास्क मुनि के निर्वचनों का अभिप्राय अर्थ बताना ही प्रयोजन माना है। इस प्रकार मान लेने पर सभी दोष निरस्त हो जाते हैं। जैसे—पादः पद्यतेः। तन्निधानात् पदम्। पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः। प्रभागपादसामान्याद् इतराणि पदानि। नि० २/६॥

इसमें पहले दोपाए और चौपाए जीवधारियों के शरीर का अंग जो पैर है उसके लिए 'पद्यते' निर्वचन किया गया है। क्योंकि दोपाया दो पांवों से तथा चौपाया चार पांवों से दूसरे स्थान पर जाता है। इसलिए वहां इसका अर्थ गमन करना (जाना है, परन्तु "सोमक्रयण्याः सप्तमे पदे जुहोति।' यहां 'पदक्, शब्द का अर्थ लाक्षणिक है। जिस स्थान पर सोमक्रयणी गौ सातवां पद रखती है, उस स्थान पर हवन करता है, यह उक्त वाक्य का अर्थ है। इसलिए उस अर्थ को प्रकट करने के लिए उसके पांव रखने के कारण 'पदम्' ऐसा कहा है। इसका यह अर्थ है कि सोमक्रयणी गौ के पैर रखने से वह स्थान भी पद शब्द से पुकारा गया। लोक में सेर के चौथे भाग "पाव, को भी 'पाद' कहा जाता है। इसीलिए यास्क ने 'पशुपाद-प्रकृति : प्रभाग-पादः, अर्थ में उपरोक्त निर्वचन किया है। चौपायों का एक अंग जैसे पाद कहा जाता हैं उसी प्रकार 'सेर, इत्यादि के चौथे भाग को भी सामान्य रूप से पाद कहा जाता है। इससे ग्रन्थों में अध्यामों को बांटने वाले चार भाग भी पाद कहे जाते हैं। परन्तु कहीं अध्यायों में आठ पाद भी होते हैं जैसे मीमांसा के तीसरे, छठे और दशम अध्यायों में। ऐसे स्थलों के लिए पाद शब्द की व्याख्या करने के लिए यास्क ने 'प्रभागपाद-सामान्या-दितराणि पदानि' कहा है। जैसे सेर और अध्याय का पाद उसका एक अंग होता है उसी प्रकार अंग सामान्य होने के कारण आठ भागों में भी 'पाद' शब्द का प्रयोग होता है। इससे पंचपाद्य, दशपाद्य तथा उणादि पाठ के पादों की भी व्याख्या कर दी गई है

प्रसंग-वश साहित्य-शास्त्र सम्राट् आचार्य मम्मट इत्यादि के लक्षणा प्रसंग में उदाहृत किए दो उदाहरणों पर विचार किया जाता है। 'कुशलः, इसमें शाब्दिक अर्थ कुशा को लाने वाला है परन्तु लाक्षणिक अर्थ कर्म में कुशल या प्रवीण है। साहित्य-दर्पणकार आचार्य विश्वनाथ आ० मम्मट के वचन का खण्डन करते

हुए कहते हैं कि वहुत से विद्वान् कुशल शब्द की व्युत्पति वाला अर्थ नहीं मानते इसमें दक्ष ही इसका मुख्य अर्थ है। क्योंकि एक व्युत्पत्ति निमित्त है तथा दूसरा प्रवृति निमित्त हैं। वास्तव में कुशल शब्द की व्युत्पत्ति '(कर्मणि कुशलः) कर्म में कुशल, कोई वैयाकरण नहीं करता। इसी प्रकार प्रवीण शब्द की व्युत्पत्ति (प्रकृष्टः वीणायाम्) वीणा में उत्कृष्ट, इत्यादि में भी समझ लेना चाहिये। जव इस प्रकार की व्युत्पत्ति वैयाकरणों द्वारा नहीं की जाती तो व्युत्पत्ति और प्रवृत्ति की भिन्नता को ध्यान में रखकर विचार करना चाहिये। और भी 'अपि कुशलं भवतः, कुशलान्न प्रमदितव्यम्' वहां आरोग्य अर्थ में किसी भी प्रकार लक्षणा नहीं हो सकती। वैयाकरण तो कुश, जो सौत्र धातु है उस धातु से वैदुष्य और आरोग्य' अर्थ में 'कल' प्रत्यय लगाकर कुशल शब्द की रचना करते हैं। इसी प्रकार प्रवीण शब्द में भी वैयाकरणों के मत में प्र पूर्वक 'वी' गत्यर्थक धातु को औणादिनक् प्रत्यय किया गया है। गति के तीन अर्थ होते हैं ज्ञान, गमन और प्राप्ति। इन तीनों अर्थों को जो अच्छी तरह जानता है उसे प्रवीण दक्ष या निष्णात कहते हैं।

अतः कुशल, प्रवीण शब्दों के मुख्यार्थ के सम्भव होने पर लक्षणावृत्ति द्वारा बोधित अर्थ मानने योग्य नहीं है। और 'प्रवृत्तिनिमित्त (निमितार्थ) तथा व्युत्पत्ति निमित्त भिन्न-भिन्न हैं। यह भी न्याय युक्त नहीं है।

इस निवन्ध में इस वात को सिद्ध किया गया है कि निरुक्त शास्त्र का प्रयोजन शब्दों के अर्थों की व्याख्या करना है न कि मूलप्रकृति (धातु प्रत्यय आदि) को बताना। परम्परा से प्राप्त निरुक्त सम्वन्धी व्याख्या द्वारा संक्षेप में उदाहरण देकर निरुक्त को व्युत्पत्ति शास्त्र मानने वाले लोगों ने निरुक्त के निर्वचनों में जो दोष दिखाए हैं, उनका समाधान यहां किया गया है। 'इस प्रकार निरुक्त सम्बन्धी व्याख्यान में सभी उत्पन्न दोषों का निराकरण किया जा सकता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में भी जो निर्वचन उपलब्ध होते हैं उनके व्याख्यान का भी यही मार्ग (ढंग) है।

यथा 'तमिन्धं सन्तमिन्द्रमित्यचाक्षेत परोक्षेण.

यहां इसका अर्थ यह नहीं है कि पहले इन्द्र शब्द के स्थान पर इन्ध शब्द का प्रयोग होता था। कालान्तर में वह इन्ध शब्द ही इन्द्र रूप में परिवर्तित हो गया, अपितु इन्ध धातु दीप्ति-अर्थक है, वह ही 'इदि परमैश्वर्ये' धातु में गृहीत किया गया है ऐसा समझना चाहिये। इससे इन्द्र शब्द की व्याख्या दीप्ति

रूप में की गई है, इसी में इसका तात्पर्य है। धातुओं के अर्थ अनेक होते हैं। धातु-पाठ में निर्दिष्ट अर्थ उपलक्षकमात्र है ऐसा समस्त वैयाकरणों का सिद्धान्त है। इसीलिए सायण ने 'विपूर्व राजृदीप्तौ, (वि+राजृ) इस धातु के तीन अर्थ स्वीकार किए हैं, (तीन अर्थों के वहां होने के कारण)—(धातुत्रयस्यार्थस्यतत्र-सम्भवात्) (दैवत ब्रा० ३/१२ भाष्यम्)

विद्वानों के लिए विस्तार की आवश्यकता नहीं, अतः संक्षेप में ही वर्णन किया गया है।

—पंचम विश्व संस्कृत-सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण से पठित लेख से अनूदित

आख्यान और इतिहास में भेद

आचार्य विश्वश्रवा व्यास

निरुक्त में आख्यान और इतिहास दोनों शब्दों का प्रयोग है। एक लम्बे समय से हम और हमारे साथी इन दोनों शब्दों को पर्यायवाचक समझते रहे। इस प्रश्न पर देश और विदेश के विद्वानों ने अनेकों बार जिज्ञासा प्रकट की है।

मैं निरुक्त महाभाष्यम् लिख रहा हूं। निरुक्त पर लिखे दुर्ग स्कन्द के भाष्य अत्यन्त भ्रान्तियुक्त है। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने निरुक्त के जिन सन्दर्भों पर भाष्य किया स्वयं अपनी आर्ष बुद्धि से समझा था।

आख्यान और इतिहास में जो भेद मुझे प्रतीत हुआ वह मैं विद्वज्जन विचारार्थ उपस्थित करता हूं। विद्वान् अपनी संमति दें जो मुझे निरुक्तमहाभाष्यम् लिखने में सहायता प्राप्त हो।

आपरितोषाद् विदूषां न मन्ये साधु प्रयोगविज्ञानम् देव विषयक चर्चा आख्यान हैं और मनुष्य विषयक चर्चा इतिहास कहाते हैं।

अब मैं आख्यान और इतिहास का चार्ट प्रस्तुत करता हूं जहां-जहां निरुक्त में इनका प्रयोग है।

(आख्यान इतिहास विवेक) मनुस्मृति में एक श्लोक है—

स्वाध्यायं श्रावयेत पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैवहि।
आख्यानानीति हासांश्च पुराणि खिलानि च ॥
(मनु० ३/२३२ ॥)

मेधतीथि और कुल्लूक ने आख्यान का अर्थ किया है—

सौपर्णं मैत्रावरुणादीनि

भीमसेन शर्मा अर्थ करते हैं—

ब्राह्मण ग्रन्थ वृत्तम्

मनुस्मृति के श्लोक का अर्थ निम्न है—

अर्थ—जो ब्राह्मण श्राद्ध कर्म में निमन्त्रित होकर आवे वह वेद को सुनावे, धर्मशास्त्र को सुनावे तथा आख्यानों, इतिहासों, पुराण, और खिल को सुनावे। यहाँ भी आख्यान और इतिहास को पृथक् लिखा है—

आख्यान सन्दर्भाः

निरुक्त में जहां-जहां आख्यान शब्द का प्रयोग है उसका चार्ट इस प्रकार है—

१. आह्वयवुषा अश्विनावादित्येनाभिग्रस्ता तामश्विनौ प्रमुमुचतुरित्याख्यानम्।

(निरुक्त ५/२१ ॥)

२. माध्यमिका देवगणा इति नैरुक्ताः पितर इत्याख्यानम्।

(निरुक्त ११/१६॥)

३. देवशुतीन्द्रेण प्रहिता पाणिभिरसुरैः समूरे इत्याख्यानम्।

(निरुक्त ११/२५ ॥)

४. यमीयमं चकमे तां प्रत्याचक्षे इत्याख्यानम्।

(निरुक्त ११/३४)

५. पूर्वं देवयुगम्। इत्याख्यानम् (निरुक्त १२/४१ ॥)

६. स जनास इन्द्रः—

ऋषे दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यान संयुक्ता

(निरुक्त १०/१० ॥)

७. ऋषे दृंष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यान संयुक्ता। माता रेहि। वागेषा माध्यामिका।

(निरुक्त १०/४६ ॥)

८. अपि वा पुरुषविधानामेव सतां कर्मात्मान एतेस्युः। यथा यज्ञो यजमानस्य एष चाख्यान समयः।

(निरुक्त ७/७ ॥)

इन आठ स्थानों में निरुक्त में आख्यान शब्द का प्रयोग है किसी में भी मनुष्य देहधारी का वर्णन नहीं है। यहां एक बात यह भी स्पष्ट हो जाती है कि ऋषेर्दृंग्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यान संयुक्ता न तु इतिहास संयुक्ता। यह भी पता चला है कि वेदों में आख्यान हैं इतिहास नहीं। आख्यान एक वर्णन शैली वेद की है जैसे "त्वं मातारेढि स उरेढि मातरम्।

"इतिहास सन्दर्भः"

इतिहास शब्द भी निरुक्त में ९ स्थानों से आता है—

१. तत्रेतिहासमाचक्षते—दिवापिरार्ष्टिषेणाः शान्तनुश्च भ्रातरौ बभूवतुः।
(निरुक्त २/१० ॥)

२. तत्रेतिहासमाचक्षते—विश्वामित्र ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव। (निरुक्त २/२४ ॥)

३. तत्रेतिहासमाचक्षते—मुद्गलो भार्म्यश्वः ऋषि वृषभं च द्रुघणं च युक्त्वा संग्रामे व्यवहृत्याजिं जिगाय। (निरुक्त ९/२३ ॥)

४. तत्रेतिहासमाचक्षते—विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहुवाञ्चकार। (निरुक्त १०/२६ ॥)

५. तत्रेतिहासमाचक्षते—त्वाष्ट्री सरण्यूं विवस्वत आदित्यात् यमौमिथुनौ जनयाञ्चकार। स सवर्णामन्या प्रतिविधाय आश्वं रूपंकृत्वा प्रदुद्राव। स विवस्वानादित्यः आश्वमेव रूपं कृत्वा तामनु सृत्य सबभूव ततोऽश्विनौ जज्ञाते सवर्णायां मनुः। तदभिवादिन्येषर्क भवति त्वष्टा दुहिते बहुतुं कृणोति। (निरुक्त १२/१०)

६. त्रितं कूपे ऽवहितमेतत् सूक्तं प्रतिबभौ । तत्र ब्रह्मेतिमिश्रम् ऋङ्मिश्रम गाथामिश्रं भवति । (निरुक्त ४/६ ।।)

७. तत्कोवृत्र मेघ इति नैरुक्ताः । त्वाष्ट्रो ऽसुर इत्यैतिहासिका । (निरुक्त २/१६ ।।)

८. तत् कावश्विनौ—राजानौ पुण्यकृतौ इत्यैतिहासिकाः (निरुक्त १२/१ ।।)

९. यमं च यमीं चेत्यैतिहासिकाः । (निरुक्त १२/१० ।।)

नोट :— तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्रम् । ऋङ्मिश्रम् गाथामिश्रम् । यहां पर इतिहास शब्द विचारणीय हैं । निरुक्त के इस सन्दर्भ का स्पष्टीकरण सब का भिन्न ही है । अभी हम इतना ही समझते हैं कि—

(तत्र) उस सूक्त (ऋ० १/१०५) में (ब्रह्म) वेदवाक्य या मन्त्र (इतिहासमिश्रम्) इतिहास के प्रकार में लिखे हैं । ऋचा की शैली पर और गाथा की शैली पर । पद्य बद्ध मन्त्रों का एक प्रकार गाथा है।

इस सन्दर्भ में भी इतिहास शब्द का प्रयोग भौतिक पदार्थ के लिए नहीं है । त्रित का वर्णन पुरुष रूप से है ।

अतः हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि—

देव विषयक वर्णन—**आख्यान** ।

पुरुष विषयक वर्णन—**इतिहास** ।

वेदो में जड़देव विषयक वर्णना इस प्रकार लिखी है जैसे पुरुषों के व्यवहार है । "**तं माता रेढि स उरेढि मातरम्**" । इस प्रकार के वर्णन को साक्षात्कार करने वाले ऋषि को प्रसन्नता होती । उस वर्णन को पढ़ कर सबको ही प्रसन्नता होती है । यही भाव है—"**ऋषेदृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यान संयुक्ता**" यह **आख्यानों की स्थिति है ।**"

इससे अतिरिक्त इतिहास की स्थिति यह है कि वेदों से भूतकाल के लकार लुङ् लङ् लिट काल सामान्य से होते हैं । अतः मन्त्र में भूतकाल देखकर भी लौकिक इतिहास का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है ।

मन्त्रों में वर्णित नित्य घटनाएं यदि कहीं घटित दिखाई दी तो उनको मन्त्र के आख्यान में भाष्यकार जोड़ देते हैं। जैसे देवापि शन्तनु की घटना। या जैसे —

"कुरूङ्गो राजा वभूव"

अर्थात् कुरूङ्ग नाम का एक राजा हो भी चुका है जिस ने प्रस्तुत मन्त्र विषयक बात करके दिखा भी दी।

यह सब पश्चात् जोड़े हुए इतिहास है या इतिहास की शैली पर वर्णन करना इतिहास है। यह सब मनुष्य विषयक है जड़ देव विषयक नहीं। यह हम ने अभी तक आख्यान और इतिहास में भेद समझा है।

अग्रे सुधियः प्रमाणम्

भारत की सांस्कृतिक अस्मिता के संरक्षक महर्षि दयानन्द सरस्वती

प्रो० विजयेन्द्र नातक

भारत के इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी का समय कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इस शताब्दी में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक दृष्टियों से अनेक उल्लेखनीय कार्य हुए। ब्रिटिश शासन की जड़ पूरी तरह इसी शताब्दी में जमी और सन् १९५७ का स्वतंत्रता संघर्ष भी इसी शताब्दी में हुआ। ईस्ट-इण्डिया कम्पनी का कारोबार पूरी तरह भारत में सफलतापूर्वक फैला और कम्पनी का शासन समाप्त होकर ब्रिटिश सरकार की शासन व्यवस्था इसी शताब्दी में प्रारंभ हुई। मुगल साम्राज्य का क्षय तो अठारहवीं शताब्दी से ही प्रारंभ हो गया था किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में वह पूरी तरह समाप्त हो गया। ब्रिटिश शासन के स्थापित होने पर पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति की छाप भारतीयों पर पड़ने लगी। ईसाई मिशनरी अपना प्रचार-जाल फैलाकर भारतीयों को ईसाई धर्म में दीक्षित करने में पूरी तरह जुट गये थे। एक प्रकार का सांस्कृतिक आक्रमण इस शताब्दी में हुआ जिसे भारतीय जनता न तो पूरी तरह समझ सकी थी और न उसका प्रतिरोध करने की शक्ति जुटा सकी थी। जन-जागरण के कुछ प्रयास अवश्य हुए थे जिन्हें पुनर्जागरण—(रेंनेसा)— नाम से इतिहास में अंकित किया गया है।

इस पुनर्जागरण में बंगाल के समाज सुधारकों का योगदान इतिहास लेखकों ने रेखांकित किया है। बंगाल के सुप्रसिद्ध समाज सुधारक नेता श्री राजा राममोहन राय तो अपने सामाजिक कार्यों के लिए विश्व विश्रुत है। उनके साथ ही महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि का नाम आता है। इसी शताब्दी में स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द और अरविन्द का नाम अपने धार्मिक चिन्तन के लिए अविस्मरणीय है। ये सभी महापुरुष बंगाल में उत्पन्न हुए और उनका कार्य क्षेत्र सम्पूर्ण भारत न होकर बंगाल

प्रान्त तक ही सीमित रहा फिर भी भारतीय पुनर्जागरण का श्रेय इन महानुभावों को दिया जाता रहा है।

बंगाल के इन समाज सुधारक नेताओं ने भारत में जनजागरण के लिए जो कार्य किये मुख्यत: उनका सम्बन्ध अंधविश्वासों, रूढ़ियों और मिथ्या पाखंडों के उन्मूलन का था। अंधविश्वासों के उन्मूलन में भारतीय जीवन-दर्शन और भारतीय संस्कृति की पुन: स्थापना का प्रयास इन महानुभावों ने नहीं किया। चूंकि इनमें अधिकांश की शिक्षा-दीक्षा पाश्चात्य प्रभाव में हुई थी अत: भारतीय संस्कृति के प्रति मोह न रहने से ईसाइयत की ओर इनका रुझान हो गया था। ईसाई धर्म की दीक्षा न लेने पर भी ईसा मसीह के उपदेशों के प्रति झुकाव होने से ये लोग भारतीय परम्पराओं से कुछ दूर चले गये थे। केशवचन्द्र सेन जैसे प्रबुद्ध व्यक्ति ईसा के उपदेशों को प्रचार के स्तर पर भी स्वीकार करने लगे थे। ब्रह्म समाज की स्थापना के बाद देवेन्द्रनाथ ठाकुर और उनके अनुयायी क्रिस्तान धर्म ओर वाइबिल की मंच पर उपदेशात्मक ढंग से चर्चा करने में संकोच नहीं करते थे। ब्रह्म समाज का उद्देश्य तो भारतीय विचार-दर्शन का प्रचार था किन्तु क्रियान्वयन में इस समाज के सदस्य पाश्चात्य सभ्यता के अनुगामी थे। ईसाइयत के प्रचार-प्रसार का सक्रियतापूर्वक इनके द्वारा कोई विरोध नहीं हुआ था। ब्रह्म समाज नयी दृष्टि रखने वाला समाज सुधारक आन्दोलन था। किन्तु वह भारतीय परम्पराओं और जीवन मूल्यों के प्रति आग्रह नहीं रखता था। अत: ब्रह्म समाज का कार्यक्षेत्र भी वंगाल तक ही सीमित वना रहा, सम्पूर्ण भारत उसका कार्यक्षेत्र नहीं वन सका।

इसी उन्नीसवीं शताब्दी में सन् १८२५ ई० में गुजरात प्रदेश में स्वामी दयानन्द का जन्म हुआ। स्वामी दयानन्द ने अपने वंश-परिवार की प्रचलित रूढ़ परम्पराओं को स्वीकार नहीं किया। साहस पूर्वक उनके प्रति अनास्था व्यक्त की और युवावस्था में ही गृह त्याग दिया। गृह त्याग के बाद सत्य की खोज में एकाकी भ्रमण-पर्यटन करना प्रारंभ कर दिया। तीस वर्ष की आयु तक स्वामी दयानन्द इसी प्रकार एक नगर से दूसरे नगर में, एक पर्वत से दूसरे पर्वत तक, सत्य की खोज में भटकते रहे। मथुरा में गुरु विरजानन्द से उनकी भेंट हुई और शास्त्रों के अध्ययन का सुअवसर मिला। स्वामीजी ने अपने गुरु से केवल शास्त्र-शिक्षा ही नहीं ली वरन् कर्त्तव्य-दीक्षा भी ग्रहण की जो उनके भावी जीवन का लक्ष्य सिद्ध हुई। अंग्रेजों के शासनकाल में भारतीय अपनी अस्मिता को जिस क्षिप्रता के साथ विस्मत करते जा रहे थे वह स्वामी जी के लिए एक कष्टप्रद वात थी। गुरु विरजानन्द ने तो सत्य के प्रकाश का उपदेश दिया, अंधविश्वासों को छोड़ने का आग्रह व्यक्त किया था; स्वामी दयानन्द ने अपने देश की अस्मिता की रक्षा को उसके साथ जोड़ लिए।

प्रत्येक स्वतंत्र और स्वाभिमानी राष्ट्र की अपनी अस्मिता, अपनी स्वतंत्र सत्ता और पहचान होती है। जिस समय स्वामी दयानन्द भारत के क्षितिज पर उदित हुए, अंग्रेजों का शासन उस समय बद्धमूल हो चुका था। भारतीय जनता अंग्रेजों से आतंकित थी। सन् १८५७ के स्वतंत्रता संघर्ष के बाद अंग्रेज निर्दयता-पूर्वक भारतीयों की भावनाओं को कुचलने में संलग्न थे। ऐसी विषम परिस्थिति में स्वामी दयानन्द भारत की जनता को जगाने आये थे। उनके सामने अंध-विश्वासों और पाखंडों से जूझने की प्रमुख समस्या थी। लेकिन राजनीतिक दृष्टि से परतंत्र भारत को विदेशी शासन के सांस्कृतिक आक्रमण से बचाने का भी प्रश्न था। इस सांस्कृतिक आक्रमण को स्वामी जी ने पूरी तरह समझ लिया था और वे समझ गये थे कि सामाजिक सुधार कार्यों के साथ देश की जनता को सांस्कृतिक स्तर पर भी जगाना और चेताना होगा अन्यथा यह देश अपनी सांस्कृतिक विरासत से विमुख हो जाएगा और अस्मिताविहीन होकर अपनी परम्पराओं को विस्मृत कर बैठेगा। यह कार्य पुनर्जागरण के प्रवर्तन का श्रेय लेने वाले बंगाली सुधारकों के मस्तिष्क में नहीं आया था। स्वामी दयानन्द जी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इस सांस्कृतिक चिन्तन को अपने सामाजिक सुधार कार्यों के साथ गहरे स्तर पर जोड़ा। स्वामी जी ने जन-जागरण के लिए जो सुधार कार्य किये उनकी चर्चा मैं यहां नहीं करना चाहता क्योंकि उन कार्यों से आज सारा देश परिचित है, अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अपने स्थापना काल से उन कार्यों को अपने कार्यक्रम में स्थान देती रही है। किन्तु सांस्कृतिक स्तर पर स्वामी जी की भूमिका अन्य नेताओं से भिन्न प्रकार की रही है। उसी भूमिका पर मैं इस लेख में प्रकाश डालना चाहता हूं।

मेरी मान्यता है कि महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भारतवर्ष को संसार का सबसे प्राचीन, सबसे अधिक सुसंस्कृत, सभ्य और सब प्रकार से सुसम्पन्न देश मानकर इसके उत्थान का स्वप्न देखा था। उन्नीसवीं शताब्दी का भारत उनकी दृष्टि में पराधीन, स्वसंस्कृति विहीन, विवश और विकृत भारत था, उसे पुनः अपने अतीत गौरव में ले जाना और सभ्य-सुसंस्कृत बनाना उनका लक्ष्य था। "केवल समाज सुधार पर उनकी दृष्टि केन्द्रित नहीं थी। इस सांस्कृतिक अस्मिता के लिए स्वामी जी ने पंच स्वकार अर्थात् अपने लिए पांच "स्व" का चयन किया था।

स्व-अस्मिता के पंच-स्वकार

किसी राष्ट्र को यदि अपनी अस्मिता की रक्षा करनी है तो उसका ध्यान पांच 'स्वकार' की ओर अनिवार्य रूप से रहना चाहिए। स्वधर्म, स्वदेश, स्व-साहित्य, स्वसंस्कृति और स्वभाषा—ये पंच स्वकार जिस राष्ट्र की धमनियों में

प्रवाहित रहते हैं वह पराधीन होने पर भी अपनी अस्मिता को जीवित रख सकता है। और जिस देश की अस्मिता अक्षुण्ण है वह अनन्तकाल तक पराधीन नहीं रह सकता।

महर्षि दयानन्द ने सबसे पहला उद्घोष अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए स्वधर्म में अटूट आस्था और श्रद्धाभाव का किया। उन्होंने कहा कि भारतवर्ष का प्राचीनतम धर्म, वैदिक धर्म है। यह वैदिक धर्म पूर्ण रूप से आस्तिक भाव से एकेश्वरवादी है, इस धर्म में विश्वास रखने वाला व्यक्ति ईश्वर को सर्व-व्यापक, सर्वशक्तिमान, अजर, अमर, नित्य, पवित्र और उपास्य देव के रूप में स्वीकार करता है। किसी मठ, मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर, गुरुद्वारे में ईश्वर को बन्द करके देखना वैदिक धर्मावलम्वी के लिए आवश्यक नहीं है। किसी राज-नीतिक या आर्थिक प्रलोभन से ऐसा सुदृढ़ धर्मावलम्बी अपने धर्म को कभी छोड़ता नहीं। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः' ही उसके लिए मान्य सिद्धान्त है। उन्नीसवीं शताब्दी में बढ़ते हुए ईसाइयत के प्रचार को इस 'स्वधर्म' की भावना ने उत्तर भारत में रोक दिया था। महर्षि दयानन्द ने विश्व के सभी धर्मों के सिद्धान्तों को जानने और पूरी तरह समझ कर ही कहा था कि वैदिक धर्म के सिद्धान्त समस्त मानव जाति के लिए श्रेयस्कर हैं। वैदिक धर्म को महर्षि ने मानवतावाद की आधारभूमि पर स्थित माना था। इसलिए भारतीयों को किसी विदेशी धर्म को ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है।

दूसरा स्वकार **स्वदेश** का है। स्वदेशाभिमान और स्वदेश प्रेम के बिना कोई भी नागरिक अपनी अस्मिता नहीं बना सकता। स्वदेश प्रेम के भीतर ही स्वतन्त्रता की भावना छिपी है। जो अपने देश से प्रेम नहीं करता वह स्वतन्त्र रहने की इच्छा भी नहीं करेगा। स्वामी जी के सामने स्वदेश प्रेम की परीक्षा के अनेक प्रसंग आये थे। उन्होंने अंग्रेजों के क्रूर शासन को अपनी आंखों से देखा था। कुछ शोधार्थियों ने स्वामीजी का सन् १८५७ की क्रान्ति में सहयोग भी बताया है किन्तु अभी तक इस प्रकार का कोई प्रामाणिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं हुआ है। किन्तु उनके विचारों की अभिव्यक्ति हम उनके सुप्रसिद्ध ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश में देख सकते हैं। स्वामी जी ने बड़े स्पष्ट शब्दों में कहा है—"विदेशी राज्य चाहे कितना ही अच्छा हो, स्वदेशी राज्य से किसी प्रकार उत्तम नहीं हो सकता।" स्वदेश-प्रेम की यह स्पष्टोक्ति उन्होंने उस समय की थी जब अंग्रेजों का शासन दमन और शोषण के चरम बिन्दु पर था। भारतीय जनता स्वदेश प्रेम की बात करने में भी भयभीत होती थी। इससे भी बड़ा प्रमाण उनके दूसरे संदर्भ में मिलता है। स्वामी दयानन्द समस्त भूमंडल में आर्य—साम्राज्य का स्वप्न देखते थे। स्वामी जी ने सन् १८५७ में बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना के समय वेद मंत्र का पाठ करते हुए कहा था कि—"हम आर्य लोग अदीन होकर

सौ वर्ष तक जीवित रहें और विदेशी राज्य हमारे देश में न रहे।" स्वामी जी के समाज सुधार के कार्यों की धूम इंग्लैंड तक पहुंची थी। लंदन के लार्ड विशप जब भारत आये थे तो उन्होंने स्वामी दयानन्द से मिलना चाहा था। स्वामी जी बड़े स्नेहभाव से लार्ड विशप से मिलने गये। लार्ड विशप ने स्वामी जी को तत्कालीन गवर्नर जनरल नार्थब्रुक से मिलाया था और स्वामी जी के कार्यों से उन्हें परिचित कराया था। वार्तालाप के प्रसंग में लार्ड नार्थब्रुक ने स्वामी जी के समक्ष एक प्रस्ताव रखा कि वे अपने भाषणों में महारानी विक्टोरिया के शासन की प्रशंसा कर दिया करें ताकि श्रोतागण ब्रिटिश शासन के विपक्ष में कुछ न करें। लार्ड नार्थब्रुक का निवेदन सुनकर स्वामी जी ने विनम्र भाव से जो उत्तर दिया वह स्वदेश प्रेम से परिपूर्ण है—स्वामी जी ने कहा, "वाइसराय महोदय, मुझे खेद है कि मैं आपकी आज्ञा का पालन नहीं कर सकूंगा क्योंकि मैं नित्य प्रातः सायं परमेश्वर से प्रार्थना करता हूं कि मेरा भारत देश पराई दासता से शीघ्रातिशीघ्र मुक्त हो, तभी यह देश संसार के अन्य देशों के सामने सिर ऊंचा कर सकेगा और तभी इसे अपना प्राचीन गौरव प्राप्त होगा।" यह उत्तर स्वामी जी के स्वदेश का उद्घोष है। ऐसा निर्भीक उत्तर उस काल में केवल स्वदेशाभिमानी संन्यासी के मुख से ही निकल सकता था। रोम्यां रोला ने स्वामी दयानन्द की उत्कट स्वदेश भावना को इंग्लैंड में बैठे हुए ही पहचाना था और लिखा है कि परवर्ती काल में राष्ट्रीय आन्दोलन जो भारत की स्वतंत्रता के लिए सन् १९०५ से प्रारंभ हुए उनके मूल में स्वामी जी द्वारा स्थापित आर्यसमाज ही रहा है। वंगाल में बंगभंग के रूप में जो आन्दोलन हुआ उसका बीजारोपण स्वामी जी के विचारों में हो चुका था। स्वामी जी का यह स्वदेश प्रेम ही महात्मा गांधी लोकमान्य तिलक जैसे राष्ट्रीय नेताओं को बल प्रदान करने वाला सिद्ध हुआ।

तीसरा स्वकार है स्वसाहित्य में अटूट आस्था, श्रद्धा और भक्ति। स्वामी जी को अपने जीवन में कार्य करने का समय केवल पच्चीस वर्ष का मिला। इन पच्चीस वर्षों में स्वामी जी ने जितना व्यापक देशाटन किया वह विस्मयजनक है। उस समय रेल, बस, मोटर आदि यातायात साधनों जैसी सुविधा नहीं थी। स्वामी जी को अपने विचारों के प्रचारार्थ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना पड़ता था अतः उनके स्वाध्याय और लेखन कार्य में व्यवधान होना स्वाभाविक था। इस विषम बाधामयी स्थिति में भी स्वामीजी अपने साहित्य का सतत अध्ययन करते रहते थे। स्वामी जी स्वसाहित्य के पक्षधर थे। उनकी दृष्टि में वैदिक वाङ्मय के अंगभूत ग्रन्थ ही भारतीय साहित्य के मूलाधार हैं। उन्हें स्वामी जी आर्ष ग्रंथ कहते थे। वेद, वेदांग, स्मृति, दर्शन आदि के साथ प्रक्षिप्तांश रहित वाल्मीकि रामायण और व्यास रचित महाभारत भी स्वसाहित्य के अनमोल रत्न हैं। इन ग्रंथों में कुछ लिखा है वह नैतिक दृष्टि से, धार्मिक

दृष्टि से, सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से ग्राह्य है। स्वामी जी ने वेद को ज्ञान का आदि मूल कहा है। एक प्रकार से उन्नीसवीं शताब्दी में वेदों का पुनरुद्धारक यदि कोई है तो वह महर्षि दयानन्द सरस्वती ही हैं। महर्षि ने पुराण साहित्य को वैदिक साहित्य नहीं माना अतः उसके पठन-पाठन का निषेध किया है। पुराणों में जो कपोल-कल्पित बातें लिखीं हैं उनका भी महर्षि ने खंडन किया है। उनकी दृष्टि में स्वसाहित्य वह है जो शाश्वत मूल्यों की स्थापना करता है, नैतिक और सामाजिक दृष्टि सें मनुष्य को सबल बनाने में सहायक होता है। अतः ऐसे साहित्य की समाज को आवश्यकता है जो महापुरुषों की जीवन गाथाओं द्वारा हमारा पथ-प्रदर्शन कर सके। रामायण और महाभारत की कथा और उसके जननायक मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र और योगिराज परम राजनीतिज्ञ श्रीकृष्ण को महर्षि ने ईश्वर का अवतार न मानकर महापुरुष के रूप आदर्श एवं अनुकरणीय माना है। संसार की किसी भाषा में ऐसे उच्चकोटि के महापुरुष जननायक के रूप में नहीं मिलते जैसे रामचन्द्र और श्रीकृष्ण हैं अतः इनकी कथा हमारे देश के साहित्य में सभी भाषाओं में मिलती है।

साहित्य समाज का दर्पण होता है। समाज की सच्ची प्रतिकृति किसी भी देश के साहित्य में देखी जा सकती है। हमारे देश का वैदिक वाङ्मय, संस्कृत, प्राकृत और प्रादेशिक भाषाओं का विपुल साहित्य इस बात का प्रमाण है कि भारत किसी समय समस्त विश्व का पथ-प्रदर्शक रहा होगा। ऐसा विशाल और वैविध्य पूर्ण साहित्य किसी अन्य देश में नहीं है। स्वामी जी को इसीलिए अपने देश के साहित्य पर गर्व था और वे चाहते थे कि भारतवासी विदेशी भाषाओं के साहित्य के जाल में न फंसकर अपने गौरवपूर्ण महान् एवं महत्त्वपूर्ण साहित्य का अध्ययन-अनुशीलन करें। उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के शिक्षित वर्ग में अंग्रेजी साहित्य के प्रति मोह उत्पन्न हो गया था और उच्च वर्ग के भारतीय मिल्टन, शेक्सपीयर वर्डस्वर्थ, शैली आदि योरोपीय कवियों की ओर आकृष्ट होकर अपने साहित्य से विमुख होते जा रहे थे। स्वामी जी ने ऐसे भूले-भटके भारतीयों का ध्यान अपने भारतीय साहित्य की ओर आकृष्ट किया।

चौथा स्वकार जिसे महर्षि दयानन्द ने राष्ट्रहित में स्वीकार किया वह था स्वभाषा का प्रेम। महर्षि की मातृभाषा गुजराती थी। अपने शैशव और यौवन में वे गुजराती ही बोलते थे। संस्कृत उनकी अध्ययन से अर्जित भाषा थी। अपने गुरु विरजानन्द के पास रहकर उन्होंने संस्कृत में बोलने का अभ्यास किया था। जब अपने प्रचार कार्य के लिए समाज के मंच पर आये तब गुजराती और संस्कृत से ही उनका परिचय था। व्यावहारिक हिन्दी का ज्ञान तो उन्हें हो गया था किन्तु प्रचार के लिये भाषण में हिन्दी का प्रयोग उनके लिये कठिन था अतः स्वामी जी ने संस्कृत में वार्तालाप और भाषण करना प्रारंभ किया। स्वामी जी

संस्कृत को भारत की परम्परागत भाषा मानते थे और संस्कृत का व्यापक रूप से देश में प्रचार करना चाहते थे किन्तु संस्कृत न तो व्यवहार की भाषा थी और न राजकीय शासन में स्वीकृत थी। ऐसी स्थिति में स्वभाषा की समस्या स्वामी जी के सामने थी। स्वामी जी ने देशाटन के समय अनुभव किया कि जन सम्पर्क साधनों के लिए भारत के मध्य भाग में प्रचलित हिन्दी भाषा को स्वीकार करना होगा। स्वामी जी ने हिन्दी सीखना शुरू किया। पहले भाषणों में हिन्दी को स्थान दिया फिर ग्रंथ लिखने में हिन्दी का व्यापक स्तर पर प्रयोग किया। हिन्दी का प्रयोग करते समय स्वामी जी इसे 'आर्यभाषा' नाम से पुकारते थे। उन्होंने हिन्दी के स्थान पर आर्यभाषा शब्द को स्वीकार करते हुए इस भाषा को वैदिक तथा संस्कृत भाषा के साथ जोड़ दिया। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की परम्परा में ही आर्यभाषा हिन्दी को स्वभाषा माना। इस मान्यता के पीछे जो तर्क स्वामीजी ने दिये वही तर्क आज हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने में सहायक सिद्ध हो रहे हैं। स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में अपनी भाषा को परिमार्जित भाषा नहीं माना है। विद्वानों के समक्ष अपनी भाषा को रखने से पहले उन्होंने विद्वान् पंडितों से उसके परिष्कार की आवश्यकता अनुभव की थी। बाद में आर्यभाषा का उनका अभ्यास इतना अच्छा हो गया कि एक दर्जन ग्रंथ उन्होंने आर्यभाषा (हिन्दी) में बिना किसी व्यक्ति की सहायता के लिखे। स्वामी जी ने स्वयं यह अनुभव किया था कि इस देश में यदि कोई एक भाषा सार्वजनिक सम्प्रेषण की क्षमता रखती है तो वह आर्यभाषा (हिन्दी) ही हैं। हिन्दी-माध्यम से सार्वदेशिक विचार-प्रसार का कार्य सम्पन्न हो सकता है। बंगाल की यात्रा के समय ऐसा ही सुझाव स्वामी जी को ब्राह्म समाज के नेता केशवचन्द्र सेन ने दिया था। स्वामी जी की उदारभाषा नीति पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रीय एकता की भावना से ही उन्होंने हिन्दी को अपने भाषण और लेखन में स्वीकार किया था। ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में पहले उन्होंने संस्कृत भाषा का प्रयोग किया था किन्तु भाषा विषयक समस्या को समझने के बाद उस संस्कृत भाष्य का हिन्दी अनुवाद भी प्रस्तुत किया।

स्वभाषा के प्रश्न पर यदि और अधिक गंभीरता पूर्वक विचार किया जाय तो यह तथ्य स्पष्ट होगा कि उस शताब्दी के भारतीय नेता और समाज सुधारक हिन्दी के महत्त्व से परिचित थे। राजा राममोहन राय ने भी एक समाचार में हिन्दी को स्थान देना शुरू किया था। केशवचन्द्रसेन हिन्दी के पक्षधर थे। बंकिमचन्द्र ने हिन्दी को भारतबंधु बनने के लिए अनिवार्य ठहराया था। महर्षि दयानन्द ने इस तथ्य को भलीभांति हृदयंगम करके ही स्वभाषा के रूप में आर्यभाषा (हिन्दी) को राष्ट्रीय हित में स्वीकार किया था। आज हमारे देश के नेताओं के पास यह उर दृष्टि नहीं है। संकीर्णता और प्रादेशिकता से भाषा के

प्रश्न पर विचार करने वाले नेता राष्ट्रहित और राष्ट्रीयता से दूर जा पड़े हैं। महात्मा गांधी के पास यह स्वस्थ दृष्टि थी इसीलिए उन्होंने मद्रास में आज से पैंसठ वर्ष पूर्व दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा की स्थापना द्वारा हिन्दी प्रचार का काम बड़े उत्साह के साथ शुरू किया था। उस समय दक्षिण के चारों प्रान्तों तथा बंगाल, असम और उड़ीसा में हिन्दी के प्रचार केन्द्र खोले गये थे। ये प्रचार केन्द्र सरकारी तंत्र से जुड़े नहीं थे। स्वतंत्र रूप से स्वभाषा की अस्मिता से खोले गये थे। आज हमारी यह अस्मिता नष्ट हो गयी है। हमारा स्वभाषाभिमान लुप्त होगया है। हम स्वाधीन भारत में अंग्रेज़ी की दासता का बोझ अकारण ढो रहे हैं। स्वामी दयानन्द ने सवा सौ वर्ष पहले स्वभाषा का गौरव स्थापित कर हमारा पथ-प्रदर्शन कर दिया था, हम उसे भूल गये। यह देश का दुर्भाग्य है।

पांचवा स्वकार जो पूर्ववर्णित चारों स्वकारों का प्रतिफलन कहा जा सकता है स्वसंस्कृति है। संस्कृति शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है वह बहुत व्यापक है। संस्कृति मानव के संपूर्ण व्यवहार का ढांचा है जो अंशतः भौतिक परिवेश से प्रतिबिंबित होता है। संस्कृति हमारी जीवन चर्या तथा विचार पद्धति में, प्रतिदिन के पारस्परिक आदान-प्रदान में, कला, साहित्य, धर्म, भाषा, विश्वास, मनोरंजन में प्रतिबिम्बित होती रहती है। अतः संस्कृति के सम्बन्ध में मनुष्य को बहुत सतर्क और सावधान होना चाहिए। यदि अपनी संस्कृति के विषय में जरा सी भी असावधानी हुई तो विदेशी संस्कृति अपना प्रभाव जमा कर समस्त राष्ट्र को स्वदेशाभिमान और स्वदेश गौरव से, विमुख कर देगी। उन्नीसवीं शताब्दी में भारत पर इंगलैंड की पाश्चात्य संस्कृति का आक्रमण पूरे वेग के साथ हुआ था। उन प्रान्तों में जहां अंग्रेज बहुसंख्यक थे और व्यापार तथा शासन दोनों स्तरों पर प्रभावशाली थे, पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव पड़ा था। कुछ भारतीय तो ईसाई धर्म में दीक्षित होकर अपनी संस्कृति को बिल्कुल भूल गये थे। ईसाइयत का यह प्रभाव उत्तर भारत में उतनी तीव्रता के साथ नहीं पड़ सका क्योंकि महर्षि दयानन्द भारतीय धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए पूरी तरह सन्नद्ध थे। उन्होंने ईसाई और मुसलमान दोनों को भारतीय संस्कृति का विरोधी माना था। जिसे बाद में संश्लिष्ट संस्कृति (कम्पोजिट कलचर) कहा गया, वह स्वामी जी के विचार में नहीं थी। भारतीय संस्कृति को वैदिक साहित्य और आर्ष परम्परा में ही स्वीकार करते थे। ईसाई और मुसलमान उनकी दृष्टि में विदेशी आक्रान्ता थे, जिन्होंने भारत पर राजनीतिक और सांस्कृतिक दोनों प्रकार का अक्रमण किया था। मुगलों के अत्याचार केवल अमानुषिक ही नहीं वरन् भौतिक भी थे। जिन्होंने भारत मठ-मन्दिरों को ध्वस्त किया था और असंख्य ग्रन्थों को नष्ट करके इस्लाम का प्रचार करना चाहा था।

इस्लाम के प्रचार में उन्हें तलवार के प्रयोग से आँशिक सफलता प्राप्त हुई थी। अंग्रेजों ने भारत का पूरी तरह आर्थिक शोषण कर अपना शासन तंत्र स्थापित करके भारतीयों को ईसाई धर्म फैलाने का जाल फैलाया था। उन्नीसवीं शती में योरोप से सैकड़ों की संख्या में ईसाई मिशनरी धर्म प्रचार के लिए भारत आये और उन्होंने बंगाल, मद्रास, उत्तर प्रदेश आदि स्थानों में अपना प्रचार किया। यह सारा अभियान सांस्कृतिक आक्रमण ही था। इस आक्रमण का उत्तर देने में उस युग में यदि कोई एक व्यक्ति सक्रिय और उसे एक सीमा तक सफलता भी मिली तो वह स्वामी दयानन्द ही था। यदि उस समय स्वामी दयानन्द जैसा तेजस्वी महापुरुष भारत में न होता तो निश्चय ही ईसाई अपने सांस्कृतिक कार्यक्रम में सफल हो जाते और भारतीय संस्कृति पर ईसाइयत पूरी तरह छा गई होती।

भारतीय संस्कृति के कुछ मानदंड हैं जो युगानुरूप थोड़े-वहुत परिवर्तन के साथ वदलते रहे हैं। स्वामी जी प्राचीन आदर्शों के उपासक थे किन्तु वे अंधविश्वासों, रूढ़ियों और पाखंडों को भारतीय संस्कृति का अंग नहीं मानते थे। इसी विन्दु पर उनका कट्टर पौराणिक बंधुओं से मतभेद होता था। स्वामी जी का भारतीय संस्कृति के पुरातन मानदंड, वर्णव्यवस्था (गुण कर्म स्वाभावानुसार) आश्रम व्यवस्था, अध्यात्मवाद (एकेश्वरवाद) मोक्ष, अपरिगृह, त्याग, अहिंसा, यज्ञ, वैदिक साहित्य में पूर्ण आस्था थी। स्वामी जी पूर्ण आस्तिक, अध्यात्मवादी चिन्तक थे किन्तु उन्होंने अवतारवाद को भारतीय अध्यात्म चिन्ता में स्थान नहीं दिया। जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध में स्वामी जी की धारणा पुनर्जन्म और मोक्ष से जुड़ी हुई है। गीता में वर्णित कर्मयोग में भी उनका विश्वास था। फलासक्ति रहित कर्म को स्वामी जी ने श्रेष्ठ ठहराया है। कर्म प्रेरणा के साथ ईश्वर को साथ रखना उनको अभीष्ट था। ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान है अतः उसकी इच्छा के बिना कुछ नहीं हो सकता। ईशावास्योपनिषद् का पहला मन्त्र सदैव उनके हृदय में गूंजता रहता था। पाप-पुण्य को कर्मफल के साथ जोड़कर देखने के कारण पाप से बचना और पुण्य कार्य करना ही मनुष्य जीवन का ध्येय है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों के साथ स्वामी जी का गहरा सम्बन्ध था। अपने पंच स्वकारों की स्वीकृति में चरम परिणति के रूप में उन्होंने स्वसंस्कृति को स्थान दिया है। स्वसंस्कृति में पूर्ण आस्था रखे विना कोई राष्ट्र अपनी अस्मिता को बचा नहीं सकता। राष्ट्र के सांस्कृतिक जीवन की आधार शिला उस राष्ट्र की परम्परागत स्वस्थ संस्कृति ही है। जिस राष्ट्र की अपनी विशिष्ट संस्कृति नहीं वह बिना रीढ़ का राष्ट्र है। वह कभी स्वतंत्र नहीं रह सकता। स्वामी जी राजनैतिक स्वाधीनता से भी अधिक महत्त्वं स्वसंस्कृति की रक्षा को देते थे। इसलिए स्वसंस्कृति

उनके पंच स्वकारों का प्राण है। इस स्वसंस्कृति के वलय में धर्म, स्वदेश, साहित्य और स्वभाषा स्वतः समाविष्ट रहते हैं।

मानव के सांस्कृतिक विकास के लिए स्वामी जी धर्म, साहित्य, दर्शन, विज्ञान, कला, भाषा, शिल्प आदि की उपयोगिता स्वीकार करते हैं। उनके मत में किसी जड़ परम्परा का नाम संस्कृति नहीं है। संस्कृति वह है जो 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' का संदेश देती है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का पाठ पढ़ाकर किसी को पीड़ा नहीं पहुंचाती। भारतीय संस्कृति में मृत्यु की पूजा नहीं है, आत्मा की अमरता में इस संस्कृति का विश्वास हैं। एक बार जन्म लेकर अपने कर्मानुसार हम पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। 'कामये दुखतप्तानां प्राणिनामार्तनाशनम्' के सर्वभूत हित की चिन्ता भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र है। किसी का धन छीनने का, लूट-पाट करने का उपदेश या प्रबोध भारतीय संस्कृति में नहीं मिलेगा। मनीषी महाजनों का आदर सम्मान करना इस संस्कृति में ओतप्रोत रहा है, इसलिए माता-पिता, गुरुजन आचार्य आदि पूज्य हैं, सम्मान भाजन हैं। हम परिवार के वृद्धजनों को ओल्डहोम्स में भरती नहीं करते। घर में रखकर उनकी सेवा-सुश्रुषा करते हैं। वानप्रस्थी और संन्यासी हमारे यहां गृहस्थी रहकर जीवन यापन नहीं करते वरन् विश्व के प्रशस्त प्रांगण में विचरण करते हुए उपदेश के द्वारा ज्ञान का प्रचार-प्रसार करते हैं। अतः भारतीय संस्कृति किसी पाश्चात्य संस्कृति के अंधानुकरण पर आश्रित नहीं हो सकती। इसीलिए महर्षि दयानन्द ने स्वसंस्कृति को जीवित रखने का आजीवन प्रयास किया। कहना न होगा कि उन्हीं के प्रयत्नों से उन्नीसवीं शताब्दी में हमारी संस्कृति किसी प्रलोभन, दबाव या आतंक से विलीन नहीं हुई। यह स्वसंस्कृति का आग्रह महर्षि दयानन्द की भारतीय जीवन-दर्शन के प्रति प्रेम, आस्था, श्रद्धा और मुक्ति का प्रमाण है।

संक्षेप में, महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भारत की सांस्कृतिक अस्मिता को अपने पंच स्वकारों द्वारा जीवित रखा है और भारतीयों के मन में स्वदेशप्रेम एवं सवदेशाभिमान के साथ स्वातंत्र्य भावना का संचार किया। अपने स्वधर्म की प्राणपण से रक्षा करते हुए आर्य लोग इस्लाम और ईसाइयत से बचे रहे। भाषा की दृष्टि से हिन्दी और संस्कृत को उन्होंने स्वीकार किया। अपने साहित्य के प्रति सद्भाव और आस्था भी स्वामी जी ने बनाए रखी। उन्नीसवीं शताब्दी का समय संक्रान्ति का समय था। एक ओर ब्रिटिश शासन की जड़ें मजबूती से जम रही थीं तो दूसरी ओर पुनर्जागरण का स्वर भी गूंजने लगा था। भारत अस्मिता पर करारी चोट पड़ रही थी। भय, प्रलोभन, आतंक, दमन, दबाव सब एक साथ हमारे धर्म, संस्कृति, भाषा और साहित्य को समाप्त करने में तत्पर थे। उस समय स्वदेशाभिमान पूर्वक जीना दुष्कर था लेकिन महर्षि दयानन्द ने इस समस्त प्रभावों के बीच अपने राष्ट्र की सांस्कृतिक अस्मिता की बड़े साहस

और जीवट के साथ रक्षा की। महर्षि का यह महान् अवदान कभी भुलाया नहीं जा सकता। इन समस्त प्रयत्नों को मैंने पंच स्वकार के बीच देखने-परखने का प्रयास किया है। स्वामी जी से पूर्व मध्य काल में वाममार्गी नास्तिकों ने पंचमकार का प्रचलन कर समाज को पथभ्रष्ट किया था। यह वाममार्गी साधना भोग और वासना की निकृष्ट पराकाष्ठा थी, समाज उसमें फंसकर भी बचा रहा यह आर्ष परम्पराओं का प्रभाव है। उसके बाद स्थूल उपकरणों के रूप में पंच-ककार का प्रचार हुआ। इस पंचककार में कोई तत्त्व चिन्तन नहीं है। बाह्य चिह्न के रूप में इन्हें पंथ की पहचान बनाकर धारण किया जाता है। इनका कोई सूक्ष्म आध्यात्मिक या जीवन-दर्शनपरक अर्थ नहीं है। स्वामी जी के पंच-स्वकार में भारतीय जीवन-दर्शन की पुनःस्थापना का प्रयास है, भारत की सांस्कृतिक अस्मिता की रक्षा का भाव है। ऐसा सत्प्रयास उस युग में अन्य कोई समाज सुधारक या नेता नहीं कर सका था। स्वामी जी ने उसे स्वीकार कर राष्ट्र का पथ प्रदर्शन किया है। यदि आज भारतवासी एक बार फिर इस पंच स्वकार को स्वीकार कर सकें तो राष्ट्र में नैतिकता सच्चरित्रता, सच्ची स्वाधीनता और देश गौरव की भावना उत्पन्न हो सकती है।

आर्य समाज और हिन्दी-पत्रकारिता

क्षेमचन्द्र 'सुमन'

आर्य समाज हमारे देश की उन क्रांतिकारी संस्थाओं में है, जिसने पराधीनता के दिनों में यहां की जनता को सांस्कृतिक और धार्मिक जागृति का पावन सन्देश देने के साथ-साथ उसे साहित्यिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में आगेबढ़ाने के लिए भी ऐसे अनेक कार्यकर्ता प्रदान किये, जिन्होंने अपने उज्ज्वल अतीत के स्वर्णिम सपनों को संजोकर हमारे वर्तमान को संभाला और इस देश को सुखद भविष्य के आलोक-मय पथ पर अग्रसर किया। हमें यह लिखने में तनिक भी संकोच नहीं है कि भारतीय स्वतन्त्रता के जनक राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी ने हमारे देश की परा-धीनता के पाशविक पाश से मुक्ति दिलाने के लिए जो-जो कार्यक्रम निर्धारित किये और जो साधन उन्होंने इसकी सम्पूर्ति के लिये अपनाए वे सव महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रणीत 'सत्यार्थ प्रकाश' और उनके द्वारा संस्थापित 'आर्य समाज' के युगान्तरकारी आन्दोलन के ही मूल प्रेरणा-विन्दु थे। हमारी तो ऐसी भी मान्यता है कि यदि इस पुण्य भूमि पर महर्षि दयानन्द जैसा दूरदर्शी युग-पुरुष अवतरित न हुआ होता और उनके द्वारा संस्थापित 'आर्यसमाज' ने विभिन्न क्षेत्रों में अपने कर्मठ कार्यकर्ता न झोंकें होते तो कदाचित् आज भारत की स्थिति कुछ और ही होती।

देश और समाज में प्रचलित अनेक रूढ़ियों और कुरीतियों को देख कर महर्षि दयानन्द ने अपने क्रान्तिकारी विचारों के द्वारा जो प्रबल एवं अभूतपूर्व नवजागरण किया उसी का मूल रूप 'आर्यसमाज' है। आर्यसमाज ने न केवल धार्मिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में अनेक कार्यकर्ता उत्पन्न किये, प्रत्युत साहित्यिक तथा राजनीतिक आन्दोलनों में भी उसने बढ़-चढ़ कर भाग लिया। अतीत काल के भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलनों के इतिहास पर यदि हम दृष्टि डालें तो ऐसी अनेक विभूतियों के नाम हमारे समक्ष उभर कर आयेंगे जिन्होंने न केवल इस देश के सांस्कृतिक उन्नयन में उल्लेखनीय योगदान दिया अपितु राष्ट्रीय स्वाधीनता

संग्राम के इतिहास में भी उनका नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है। ऐसे महापुरुषों में स्वामी श्रद्धानन्द और लाला लाजपतराय आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऐसे भी अनेक क्रान्तिकारी विचारक और कार्यकर्ता आर्यसमाज ने देश को दिये जिन्होंने भारतीय स्वतन्त्रता के लिए विदेशों में जाकर उल्लेखनीय कार्य किया। उन महानुभावों में सर्वश्री भाई परमानन्द, लाला हरदयाल, श्यामजी कृष्ण वर्मा, राजा महेन्द्र प्रताप, भवानी दयाल संन्यासी और तोताराम सनाढ्य आदि के नाम हमारे सामने एक उदात्त आदर्श प्रस्तुत करते हैं। सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा जिन आर्य-तरुणों ने स्वाधीनता के पावन यज्ञ में अपने प्राणों की अमर आहुति दी उनमें भी अधिकांशतः आर्यसमाज के सुधारवादी आन्दोलन से ही प्रेरित थे। ऐसे बलि-पंथियों में अमर शहीद सरदार भगत सिंह के अतिरिक्त रामप्रसाद बिस्मिल, चन्द्रशेखर आजाद और रोशन लाल जैसे क्रान्तिकारियों के नाम वरेण्य हैं।

आर्यसमाज एक ऐसी सर्वतोमुखी विकासशील संस्था है, जिसके द्वारा राष्ट्र में न केवल धार्मिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में अभूतपूर्व जागरण हुआ, प्रत्युत शिक्षा तथा समाज सुधार के क्षेत्र में भी इसकी देन अनन्य है। इसके द्वारा जहां विधवा विवाह, बाल विवाह-निषेध, हरिजनोद्धार तथा स्वदेशी प्रचार के अनेक क्रान्तिकारी कार्यक्रम संचालित हुए वहां इसके गुरुकुलों और डी० ए० वी० कालेजों ने भी शिक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया। यहां तक कि इन शिक्षा संस्थाओं में प्रशिक्षित और दीक्षित स्नातकों ने न केवल भारत के विभिन्न प्रदेशों में जाकर सांस्कृतिक, शैक्षणिक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी उल्लेखनीय कार्य किया, प्रत्युत विदेशों में भी भारत और भारतीयता के गौरव की अभिवृद्धि की। राष्ट्रभाषा हिन्दी के सर्वांगीण विकास में योगदान देने के साथ-साथ उन्होंने साहित्यिक क्षेत्र में भी अपनी ज्वलन्त प्रतिभा का परिचय दिया। यह निर्विवाद सत्य है कि यदि आर्य समाज के द्वारा वैचारिक क्षेत्र में ऐसे क्रान्तिकारी परिवर्तन न हुए होते तो हिन्दी साहित्य को सर्वश्री प्रेमचन्द, सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री, यशपाल और राहुल सांकृत्यायन जैसे प्रखर और मेधावी कथाकार कैसे उपलब्ध होते? पत्रकारिता के क्षेत्र में अतीत काल में जिन्होंने राष्ट्र का सही मार्ग प्रदर्शन किया उसमें भी ऐसे ही महानुभाव अग्रगण्य रहे जो आर्यसमाज तथा महर्षि स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों के कट्टर अनुयायी थे। ऐसे पत्रकारों में स्वामी दयानन्द के अतिरिक्त सर्वश्री रुद्रदत्त शर्मा सम्पादकाचार्य, पद्म सिंह शर्मा, राधामोहन गोकुल जी, गणेश शंकर विद्यार्थी, विजय सिंह पथिक, इन्द्र विद्यावाचस्पति, सत्यदेव विद्यालंकार, सत्यकाम विद्यालंकार और हरिशंकर शर्मा आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

आर्यसमाज की स्थापना से पूर्व जब महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती देश में अपने

विचारों का प्रचार करने के अभूतपूर्व अभियान पर निकले थे तब उनके समक्ष भाषा की जो कठिनाई आई थी उसीने उन्हें 'हिन्दी' की ओर अभिप्रेरित किया। उधर बंगाल में राजा राममोहन राय और इधर पंजाब में श्री नवीनचन्द्र राय निरन्तर 'हिन्दी' 'हिन्दू और हिन्दुस्तान' की आवाज ऊंची कर रहे थे। किन्तु दुर्भाग्यवश इन दोनों महानुभावों को संस्कृत तथा हिन्दी भाषा का ज्ञान बिलकुल भी न था। इसलिए उन्होंने अपने धार्मिक आन्दोलनों की नींव पाश्चात्य जीवन-प्रणाली के आधार पर अंग्रेजी भाषा के माध्यम से डाली थी। आर्यभावना-मूलक संस्कृति का प्रचार करने की दिशा में महर्षि दयानन्द ने उनका मार्ग-प्रदर्शन किया और स्वयं की मातृभाषा गुजराती होते हुए भी उन्होंने सन् १८६५ में हरिद्वार के कुम्भ मेले में 'पाखण्ड-खंडिनी पताका' फहरा कर सर्व प्रथम अपने सिद्धान्तों का प्रचार हिन्दी में ही प्रारम्भ किया। राजा राममोहन राय के 'ब्रह्म समाज' और कानपुर के सत्यानन्द अग्निहोत्री के पंजाब में स्थापित 'देव समाज' आदि आन्दोलनों की अपूर्णता को देखकर उन्होंने 'आर्य समाज' की स्थापना करने का पुनीत संकल्प कर लिया। सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द ने ७ अप्रैल १८७५ को आर्य समाज की स्थापना करते हुए जो उप नियम बनाये उनमें ३५वां उपनियम इस प्रकार था—'सब आर्यों और आर्यसमाजियों को संस्कृत व आर्यभाषा (हिन्दी) जाननी चाहिए।'

महर्षि दयानन्द ने जिन दिनों आर्य समाज की स्थापना की थी, तब देश में उर्दू का बोल-बाला था और पत्र-पत्रिकाएं भी प्रायः उर्दू में ही प्रकाशित होती थीं। सर्व प्रथम आर्य समाज की पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ही देश में हिन्दी के प्रचार और प्रसार को विशेष सहयोग मिला था। इसका सुपुष्ट प्रमाण डा० रामरतन भटनागर के शोध प्रबन्ध के इस उद्धरण से मिलता है—' उर्दू के मध्य हिन्दी की नींव दृढ़ करने वाली संस्था थी, आर्य समाज। अपने मासिक पत्रों तथा समाचार पत्रों के प्रकाशन के द्वारा उसने हिन्दी के प्रभावशाली पृष्ठपोषण का कार्य किया। सर्व प्रथम सन् १८७० में शाहजहांपुर (उत्तर प्रदेश) से मुन्शी बख्तावर सिंह ने 'आर्य दर्पण' नामक साप्ताहिक पत्र प्रारम्भ किया और उसके बाद से अनेकों पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आर्यसमाज की ओर से होता चला आ रहा है। 'इस उद्धरण से यह सिद्ध होता है कि आर्यसमाज की संस्थापना से लगभग ५ वर्ष पूर्व ही महर्षि दयानन्द के विचारों से प्रेरित होकर मुन्शी बख्तावर सिंह ने इस साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया था। इन्हीं बख्तावर सिंह ने सन् १८७७ में 'आर्य भूषण' नामक मासिक पत्र भी निकाला था। 'वैदिक यंत्रालय' अजमेर के व्यवस्थापक और महर्षि दयानन्द के अनन्य शिष्य श्री मनीषी समर्थदान ने अजमेर से सन् १८८९ में 'राजस्थान समाचार' नामक पत्र का सम्पादन और प्रकाशन भी किया था। महर्षि दयानन्द ने हिन्दी को 'आर्यभाषा'

के गौरवपूर्ण अभिधान से अभिषिक्त करके उसे सर्वथा नई विचार-भूमि प्रदान की। वे अपनी भाषा को साहित्यिक दृष्टि से अलंकृत नहीं करते थे, प्रत्युत एक समाज-सुधारक का दृष्टिकोण ही उनकी समस्त कृतियों में परिलक्षित होता है। एक बार जब पंजाब के किसी सज्जन ने उनके समस्त ग्रन्थों का उर्दू में अनुवाद करने की उनसे अनुज्ञा मांगी तो उन्होंने बड़े प्रेम से जो उत्तर उसे दिया था, वह आज भी हिन्दी की स्थिति को अत्यन्त दृढ़तापूर्वक प्रस्तुत करता है। उन्होंने लिखा था—'भाई' मेरी आंखें तो उस दिन को देखने के लिए तरस रही हैं जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक सब भारतीय एक भाषा को समझने और बोलने लगेंगे। जिन्हें सचमुच मेरे भावों को जानने की इच्छा होगी वे इस आर्य भाषा का सीखना अपना कर्तव्य समझेंगे। अनुवाद तो विदेशियों के लिए हुआ करते हैं।'

वास्तव में महर्षि दयानन्द की यह भावना अक्षरशः चरितार्थ हुई और देश के कोने-कोने में उनके क्रान्तिकारी विचारों को जानने और समझने के लिए ही उनके अनेकों भक्तों ने आर्य भाषा पढ़ी। अपने ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' की भाषा के सम्बन्ध में उन्होंने उसके द्वितीय संस्करण की भूमिका में इस प्रकार लिखा है—"जिस समय मैंने यह ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' बनाया था उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने, पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान नहीं था, इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है इसलिए इस ग्रन्थ की भाषा व्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है।" हिन्दी के व्यवहार, प्रसार तथा प्रचार के प्रति, कितने जागरूक रहते थे इसका ज्वलन्त प्रमाण उनका वह पत्र है जो उन्होंने ७ अक्तूबर १८७८ को दिल्ली से श्री श्यामजीकृष्ण वर्मा को लिखा था—'अब की बार भी वेदभाष्य के लिफाफे पर देवनागरी नहीं लिखी गई, इसलिए तुम बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि से कहो कि अभी इस पत्र के देखते ही देवनागरी जानने वाला एक मुन्शी रख लें, जिससे कि काम ठीक-ठीक से हो, नहीं तो वेदभाष्य के लिफाफे पर रजिस्टर के अनुसार ग्राहकों का पता किसी देवनागरी जानने वाले से लिखवा लिया करें।'

महर्षि के उक्त शब्द लगभग एक शती पूर्व के हैं। यह सही है कि देश की जनता ने महर्षि दयानन्द की इस भावना का सच्चे हृदय से आदर किया, किन्तु राजनीति से आक्रांत वातावरण में आज भी जहां-तहां हिन्दी-विरोध का स्वर उभरता रहता है। जो लोग अहिन्दीभाषियों की असुविधा की दुहाई देकर हिन्दी के विकास का मार्ग अवरुद्ध करते हैं वे वह यह कैसे भूल जाते हैं कि १८६९ के काशी शास्त्रार्थ के अनन्तर आर्य समाज की स्थापना से तीन वर्ष पूर्व सन् १८७२ में महर्षि दयानन्द जब कलकत्ता गए थे तब राजा राम मोहन राय, केशव चन्द्र

सेन, जस्टिस शारदा चरण मिश्र और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर प्रभृति सज्जनों ने उनसे संस्कृत में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के वजाय हिन्दी को अपने प्रचार का माध्यम बनाने का अनुरोध किया था। महर्षि दयानन्द उस समय विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के विशेष अनुरोध पर कलकत्ता गए थे। ५ फरवरी सन् १८७० को प्रयाग के कुम्भ मेले में उनसे महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर की भेंट हुई थी। अपने कलकत्ता प्रवास में महर्षि दयानन्द ने अन्य सभी सज्जनों के समक्ष वहां पर एक 'वेद विद्यालय' की संस्थापना का प्रस्ताव भी रखा था, जो सन् १८८३ में स्थापित हो सका था। किन्तु कुछ दिन वाद ही वह बन्द हो गया। यह भी एक विचित्र संयोग की बात है कि महर्षि दयानन्द ने इन सज्जनों के अनुरोध पर अपनी योग-साधना का जो विशद वर्णन प्रस्तुत किया था, उसे हम उनकी प्रथम जीवनी कह सकते हैं। यह कहानी महर्षि ने उस समय कलकत्ता में सुनाई थी जब वे सन् १८७२ में कलकत्ता गए थे। उस समय तक आर्य समाज की स्थापना के पश्चात सन् १८७५ में पूना के कुछ सज्जनों के आग्रह पर भी स्वामी जी ने अपना परिचय संक्षेप में प्रस्तुत किया था। इसे हम स्वामी जी की द्वितीय जीवनी कह सकते हैं। महर्षि की तृतीय जीवनी बंकिमचन्द्र चटर्जी के 'बंग दर्शन' नामक पत्र में सन् १८७८ में प्रकाशित हुई थी। इसके अनन्तर हिन्दी भाषा में लिखित स्वामी जी की 'आत्म कथा' अंग्रेजी में अनुदित होकर १८७६-८० में 'थियोसोफिस्ट' नामक पत्र में प्रकाशित हुई थी। स्वामी जी के निधन के उपरान्त सन् १८८४ में प्रोफेसर मैक्समूलर के 'वायग्राफिकल एस्सेज' नामक निवन्ध-संग्रह में भी उनकी यह जीवनी समाविष्ट की गई थी। उसी वर्ष इंग्लैंड के 'पाल-माल गजट' में भी उनकी एक जीवनी छपी थी। यह सब स्वामी जी के विचारों से अवगत होने के लिए उन महानुभावों के प्रयत्नों से ही सम्भव हो सका था, जिनकी मातृभाषा हिन्दी नहीं थी।

महर्षि दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट विचारों को साकार रूप देने के लिए जहां अनेक डी०ए०वी०कालेजों और गुरुकुलों की संस्थापना हुई, सैद्धान्तिक भावनाओं के प्रचार के लिए अनेक ऐसे विद्यालयों की स्थापना भी हुई, जहां प्रखर तार्किक वक्ता तैयार किए जा सके। ऐसे विद्यालयों में गुरुकुल कांगड़ी और डी० ए० वी० कालिज लाहौर के अतिरिक्त 'आर्य मुसाफिर विद्यालय आगरा', 'दयानन्द उपदेशक विद्यालय', तथा 'दयानन्द ब्राह्म महाविद्यलय' लाहौर के नाम उल्लेखनीय हैं। इसके वाद तो देश में गुरुकुलों का जाल ही फैल गया और कई स्थानों पर ऐसी संस्थाओं का सूत्रपात हुआ। इन संस्थाओं में स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती द्वारा संस्थापित गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर और गुरुकुल वृन्दावन के नाम विशेष महत्त्व रखते हैं। इन सभी संस्थाओं ने जहां आर्य समाज को अनेक उच्च कोटि के विद्वान्, वक्ता, प्रचारक और उपदेशक प्रदान किये वहां भारत तथा

विदेशों में प्रचलित विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों और मतों के सिद्धान्तों की जानकारी रखने वाले अनेक शास्त्रार्थ महारथी भी तैयार किये। शिक्षा के क्षेत्र में यह नया प्रयोग करने के साथ-साथ अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए आर्य समाज के माध्यम से पत्रों के प्रकाशन की दिशा में जो क्रान्तिकारी कार्य हुआ, उससे जहां हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के प्रचलन का कार्य देश में प्रचुरता से आगे बढ़ा वहां उससे अनेक सुलेखक और पत्रकार भी उत्पन्न हुए। पहले तो आर्य पत्र-पत्रिकाएं उर्दू में ही प्रकाशित होती थीं, परन्तु धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों उक्त संस्थाओ और क्रियात्मक व्यवहार के कारण हिन्दी का प्रचलन हुआ त्यों-त्यों इस दिशा में भी प्रगति होती गई।

आर्य समाज के आन्दोलन के प्रारम्भिक वर्षों में मेरठ का वही महत्व था, जो किसी समय पंजाब में लाहौर का था। फलतः सबसे पहले यहां से ही सन् १८७८ में (आर्य समाज की स्थापना के पश्चात्) 'आर्य समाचार' नामक साप्ताहिक पत्र श्री कल्याण राय के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष स्वयं महर्षि दयानन्द जी ने २९ सितम्बर १८७८ को मेरठ में पधार कर आर्य समाज की स्थापना भी की थी। स्वामी जी ने मेरठ में ही १६ अगस्त सन् १८८० को 'परोपकारिणी सभा' की स्थापना की थी और उसकी रजिस्ट्री विधिवत १८ अगस्त को हुई थी। मेरठ को इस बात का सौभाग्य प्राप्त है कि स्वामी जी सर्वप्रथम मार्च सन् १८६६ में उस समय यहां पधारे थे जबकि वे हरिद्वार के कुम्भ के मेले में सम्मिलित होने के लिए जा रहे थे। दूसरी बार वे जनवरी १८७७ में और तीसरी बार २६ अगस्त १८७८ को पधारे थे। उन दिनों एक मास से अधिक अवधि तक उन्होंने यहां निवास किया था। अपने इसी निवास-काल में उन्होंने यहां आर्य समाज भी स्थापित किया था। चौथी बार वे २५ जनवरी १८७९ को दिल्ली से मेरठ पधारे और २८ दिन तक यहां निवास किया। यहां पर ही उन्होंने कुम्भ मेले में वितरित करने के लिए विज्ञापन आदि छपवाए थे। पांचवीं बार ३ मई १८७९ को हरिद्वार कुम्भ से लौटते हुए कर्नल अल्काट और मैडम ब्वैलैट्स्की को सहारनपुर से अपने साथ लेकर पधारे थे। यहीं सार्वजनिक सभा में इन दोनों ने ईसाई धर्म के महत्व पर अपने विचार प्रकट किये थे और स्वामी जी ने वैदिक धर्म की महत्ता प्रतिष्ठित की थी। छटी बार स्वामी जी ४ जुलाई १८८० को पधारे थे और १५ सितम्बर तक ठहरे थे। इसी समय स्वामी जी ने पंडिता रमाबाई को (जो उनसे वैशेषिक दर्शन पढ़ना चाहती थीं) कलकत्ता से यहां बुलवाया था। स्वामी जी चाहते थे कि रमाबाई आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर स्त्री जाति में शिक्षा और वैदिक धर्म का प्रचार करें। परन्तु स्वामी जी की यह इच्छा पूर्ण न हो सकी और कलकत्ता वापिस लौटने के कुछ दिन बाद ही वे ईसाई धर्म में दीक्षित हो गई। मेरठ से विदाई

के समय रमाबाई को १२५ रुपये और कपड़े का एक थान आर्य समाज की ओर से भेंट किया गया था। स्वामी जी के मेरठ में निरन्तर पधारने के कारण वहां की जनता में आर्य समाज और उसके सिद्धान्तों के प्रति जो अनन्य अनुराग जगा था उसी का सुपरिणाम यह हुआ कि सन् १८७८ में यहां से 'आर्य समाचार' नामक साप्ताहिक निकला और १८९७ में श्री तुलसी राम स्वामी ने 'वेद प्रकाश' नामक मासिक पत्र वहां से प्रारम्भ किया और इसमें धारावाहिक रूप से उन्होंने 'साम वेद' का भाष्य प्रकाशित किया। बाद में उन्होंने सन् १९०७ में 'दयानन्द पत्रिका' नामक एक और मासिक पत्रिका भी निकाली। श्री रघुवीर शरण दुबलिश के भास्कर प्रेस से सन् १९१२ में 'भास्कर' तथा १९१३ में 'भारत-महिला' नामक मासिक पत्र प्रकाशित हुए। बा० घासीराम एम० ए० ने सन् १९१७ में 'आर्य समाचार' को फिर से मासिक रूप में निकाला। इस पत्र के प्रत्येक अंक के प्रथम पृष्ठ पर वेद मंत्रों की व्याख्या दी जाती थी। इन पत्रों के अतिरिक्त श्री विश्वम्भर सहाय 'प्रेमी' द्वारा सम्पादित मासिक 'तपोभूमि और 'मातृभूमि' साप्ताहिक तथा श्रीमती उर्मिला शास्त्री द्वारा सम्पादित 'जन्मभूमि' साप्ताहिक और सत्यवती स्नातिका का 'किसान सेवक' साप्ताहिक भी अपनी उल्लेखनीय विशेषता रखते थे। 'तपोभूमि' का भारतीय सभ्यता अंक उल्लेखनीय सामग्री से परिपूर्ण था। आजकल श्री विश्वम्भर सहाय 'विनोद' भी अपने 'दैनिक प्रभात' के माध्यम से आर्य समाज के सिद्धान्तों के प्रचार में अग्रणी कार्य कर रहे हैं।

आर्य समाज की स्थापना के बाद सन् १८७८ में स्वामी दयानन्द जी के सम्पादकत्व में फ़र्रुखाबाद (उत्तर प्रदेश) से 'भारत सुदशा प्रवर्तक' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसका नाम पहले 'भारत कुदशा प्रवर्तक' था। इन्हीं दिनों स्वामी श्रद्धानन्द जी ने (जब वे महात्मा मुंशी राम थे) कन्या महाविद्यालय जालन्धर के संस्थापक लाला देवराज के सहयोग से 'सद्धर्म प्रचारक' (साप्ताहिक) सबसे पहले उर्दू में निकाला। इसका पहला अंक १९ फरवरी १८८९ को प्रकाशित हुआ था। एक दिन एक व्यक्ति ने महात्मा मुंशी राम से ताना मारते हुए कहा—"दयानन्द के इतने कट्टर शिष्य बनते हो पर महर्षि ने तो सारा साहित्य हिन्दी में लिखा है। आपका 'सद्धर्म प्रचारक' उर्दू में क्यों निकलता है!" महात्मा मुंशी राम के पास इसका कोई उत्तर नहीं था। पर 'कार्यं वा साधयेयम्, शरीरं वा पातयेयम्' के दृढ़ विश्वासी मुंशी राम जी ने अगले ही दिन पत्र में यह घोषणा कर दी—'सद्धर्म प्रचारक अब हिन्दी में ही प्रकाशित होगा। 'मित्रों, हितैषियों, आत्मीयों सभी ने समझाया कि 'हिन्दी में कौन पढ़ेगा ? पंजाब में तो हिन्दी केवल स्त्रियां ही पढ़ती हैं।' पत्र घाटे में पहले ही चल रहा है अब यह और घाटा कैसे पूरा करोगे ?' 'मुंशी राम जी का उन सबको एक ही उत्तर

था'—देश की राष्ट्रभाषा हिन्दी है। आर्य समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए हिन्दी का ज्ञान और व्यवहार अनिवार्य बताया गया है। अगर गुजराती होते हुए महर्षि दयानन्द हिन्दी में ग्रन्थ लिख सकते थे और भाषण दे सकते थे, तो हम उनके अनुयायी क्या तनिक भी त्याग नहीं कर सकते ? फलतः 'सद्धर्म प्रचारक' की सामग्री रातों-रात उर्दू से हिन्दी में कर दी गई। अब 'प्रचारक' नियमित रूप से हिन्दी में निकलने लगा। वस्तुतः पंजाब में उस समय हिन्दी का यह सबसे पहला और एकमात्र 'हिन्दी साप्ताहिक' पत्र था। इसके बाद तो महात्मा मुंशी राम में हिन्दी के प्रति इतनी अनन्य निष्ठा जगी कि उन्होंने 'गुरुकुल कांगड़ी' की स्थापना करके उसके माध्यम से राष्ट्रीयता, राष्ट्रभाषा और वैदिक साहित्य के उन्नयन में उल्लेखनीय कार्य किया और एक दिन वह भी आया जब वे अपनी इस हिन्दी-सेवा के कारण 'अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के भागलपुर अधिवेशन के अध्यक्ष मनोनीत हुए। उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी के द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से उच्च से उच्च वैज्ञानिक शिक्षा देने का संकल्प भी पूर्ण किया। मेरी तो ऐसी मान्यता है कि यदि महात्मा मुंशी राम गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना न करते तो 'हिन्दी पत्रकारिता' का जो रूप हम आज देख रहे हैं, वैसा कदापि न होता ! गुरुकुल कांगड़ी से शिक्षा ग्रहण करके निकले हुए अनेक स्नातकों ने हिन्दी पत्रकारिता को विकसित करके उसका पथ प्रशस्त करने में प्रशंसनीय एवं अभिनन्दनीय योगदान दिया है। महात्मा मुंशी राम जी ने न केवल स्वयं आदर्श पत्रकार के रूप में अपने गौरव को प्रतिष्ठित किया प्रत्युत अपने दोनों पुत्रों (हरिश्चन्द्र वेदालंकार और इन्द्र विद्यावाचस्पति) को भी इस कंटकाकीर्ण पथ का पथिक बनने की प्रेरणा दी और जब वे 'महात्मा मुंशी राम' से 'स्वामी श्रद्धानन्द' बन गए और पूर्णतः गुरुकुल के कार्यों में ही व्यस्त हो गए तो 'सद्धर्म प्रचारक' का सम्पादन अनेक वर्षों तक इन्द्र जी ने ही किया था।' 'सद्धर्म प्रचारक' के सम्पादक का भार अपने पुत्र को सौंप कर उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी से 'श्रद्धा' नाम से एक साप्ताहिक भी प्रकाशित करना प्रारम्भ किया था। हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठित देखने की भावना उनमें इतनी प्रबल हो गई थी कि उन्होंने अपनी आत्म-कथा भी 'कल्याण मार्ग का पथिक' नाम से हिन्दी में ही लिखी। सन् १९१२ के दिल्ली दरबार के समय स्वामी श्रद्धानन्द ने 'सद्धर्म प्रचारक' को लगभग एक मास तक 'गुरुकुल कांगड़ी' से ही दैनिक रूप में निकाला था। साप्ताहिक की पत्रकारिता से दैनिक की पत्रकारिता की जो शीक्षा उन्होंने अपने पुत्र प्रो० इन्द्र जी को दी थी, वह इस प्रकार फलवती हुई कि उनकी प्रेरणा पर न केवल उन्होंने दिल्ली से दैनिक 'विजय' प्रकाशित किया, बल्कि कालान्तर में 'अर्जुन', 'वीर अर्जुन' और 'जनसत्ता' दैनिक के सम्पादक के रूप में 'हिन्दी पत्रकारिता' की जो नींव डाली

उसी पर आज उसका यह भव्य भवन खड़ा है। स्वामी जी के द्वारा संस्थापित 'गुरुकुल कांगड़ी के स्नातकों ने इन पत्रों से पत्रकारिता की विधिवत् दीक्षा लेकर देश के विभिन्न क्षेत्रों में फैल कर जो हिन्दी पत्र निकाले बाद में वे ही राष्ट्रभाषा के प्रचार और प्रसार का सशक्त माध्यम बने। यहां तक कि सन् १९१९ में अमृतसर में हुए कांग्रेस के अधिवेशन का जब स्वामी जी को स्वागताध्यक्ष बनाया गया तब कांग्रेस के मंच से कदाचित् सबसे पहले हिन्दी में भाषण देने वाले वे ही अकेले व्यक्ति थे। उससे पूर्व कांग्रेस की सारी कार्यवाही अंग्रेजी में ही हुआ करती थी। उनका स्वागत भाषण भी बिलकुल निराला था। उसमें उन्होंने देश के भविष्य की कल्पना इस प्रकार की थी—'यदि जाति को स्वतन्त्र देखना चाहते हो तो स्वयं सदाचार की मूर्ति बनकर अपनी सन्तान के सदाचार की बुनियाद रख दो। जब सदाचारी ब्रह्मचारी शिक्षक हों और शिक्षा-पद्धति राष्ट्रीय हो तो तभी जाति की आवश्यकताओं को पूरा करने वाले नौजवान मिलेंगे। नहीं तो इसी तरह आप की सन्तान विदेशी विचारों और विदेशी सभ्यता की गुलाम बनी रहेगी।—मैं अपने सब भाई-बहनों से एक याचना करूंगा कि इस पवित्र जातीय मन्दिर में बैठे हुए अपने हृदयों को मातृभूमि के प्रेम-जल से शुद्ध करके प्रतिज्ञा करो और मुझे आर्शीवाद दो कि परमेश्वर की कृपा से मेरा यह स्वप्न पूरा हो।'

बम्बई में सन् १८७५ में आर्य समाज की स्थापना के बाद वहां की आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से 'आर्य प्रकाश' नाम से एक मासिक का प्रकाशन सन् १८८६ में प्रारम्भ हुआ था। उन्हीं दिनों लाहौर से गुरुदत्त विद्यार्थी और आर्य पथिक लेखराम के सम्पादन में 'वैदिक मैगजीन' (१८८१) और 'धर्मो-पदेश, (१८८२) नामक मासिक प्रकाशित हुए थे। इनमें से पहला पत्र अंग्रेजी में निकलता था। यह समय ऐसा था जब सब ओर से हिन्दी पत्रों के प्रकाशन में प्रगति होने लगी थी। सन् १८८८ में जहां अजमेर से 'परोपकारिणी' सभा ने 'परोपकारी (१९०१) तथा 'अनाथ रक्षक' : (१९१२) : का प्रकाशन प्रारम्भ किया वहां राजस्थान और मालवा की 'आर्य प्रतिनिधि सभा' की ओर से 'आर्य मार्तण्ड' नामक मासिक १८९५ में अजमेर से प्रकाशित हुआ। इनमें से पहले दोनों पत्रों के सम्पादक पं० पदमसिंह शर्मा थे और दूसरे श्री रामसहाय आर्यो-पदेशक (बाद में ओमभक्त वानप्रस्थी) के सम्पादकत्व में निकला था। आज-कल आर्य मार्तण्ड डा० सूर्यदेव शर्मा साहित्यलंकार के सम्पादकत्व में अत्यन्त क्षीण रूप में प्रकाशित हो रहा है और 'परोपकारी' का सम्पादन डा० भवानी लाल भारतीय बड़ी ही दक्षता से कर रहे हैं। १८९० में ही इटावा से महर्षि दयानन्द के अनन्य अनुयायी पं० भीमसेन शर्मा के सम्पादकत्व में आर्य सिद्धान्त का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था। यही भीमसेन शर्मा बाद में सनातन धर्मी हो गए और

'वाह्मण सर्वस्व' नामक मासिक निकालने लगे थे। सन् १८८७ में कलकत्ता से 'आर्यावर्त' नामक जो साप्ताहिक पत्र प्रकाशित हुआ था वह १८९७ में रांची चला गया था और बाद में १८९८ में वह दानापुर (पटना) से प्रकाशित होने लगा था। उन दिनों इसके सम्पादक रुद्रदत्त सम्पादकाचार्य थे। कुछ दिन तक यह पत्र भागलपुर से भी निकला था। सन् १८९१ में इसके सम्पादक श्री क्षेत्रपाल शर्मा थे, जो बाद में 'सुख संचारक कम्पनी मथुरा' के अधिपति वने थे।

आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश का साप्ताहिक पत्र 'आर्य मित्र' सन् १८८८ में सबसे पहले मुरादाबाद से निकला था। बाद में अनेक वर्षों तक यह आगरा से प्रकाशित होता रहा और आज कल लखनऊ से निकल रहा है। इसके आदि सम्पादक सम्पादकाचार्य पं० रुद्रदत्त शर्मा थे। 'आर्य मित्र' में आने से पूर्व उन्होंने 'आर्य विनय' (१८८४) नामक पाक्षिक पत्र का सम्पादन भी किया था। इस पत्र का सम्पादन कुछ समय तक पं० बदरी दत्त जोशी ने भी किया था। यह पत्र पहले आर्य समाज मुरादाबाद की ओर से प्रकाशित होता था और बाद में यही 'आर्य मित्र' के रूप में बदलकर आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश का साप्ताहिक मुखपत्र हो गया। इसका नामकरण पं० बदरी दत्त जोशी ने किया था। यह सौभाग्य की बात है कि 'आर्य मित्र' को ऐसे कितने ही कुशल सम्पादक मिले जिनकी सम्पादन पटुता और लेखन-शैली आज भी हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखती है। प्रख्यात वैदिक विद्वान् श्री रामदत्त शुक्ल के पिता श्री नन्द कुमार देव शर्मा सन् १९०८ में इसके सम्पादक थे। इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि जिन दिनों पं० हरि शंकर शर्मा इसका सम्पादन करते थे उन दिनों 'आर्य मित्र' की गणना उच्च कोटि के साप्ताहिक पत्रों में की जाती थी। 'आर्य मित्र' ही आर्य जगत् का ऐसा अकेला पत्र है जिसके सम्पादन में अनेक ऐसे सज्जनों ने सहयोग दिया है जो हिन्दी साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। प्रख्यात लेखक श्री लक्ष्मीधर वाजपेयी ने कई वर्ष तक 'सर्वानन्द' नाम से इसका सम्पादन किया था। 'विशाल भारत' और 'मधुकर' के भूतपूर्व ख्याति-प्राप्त सम्पादक श्री बनारसी दास चतुर्वेदी ने भी कलकत्ता जाने से पूर्व उसे कृतार्थ किया था। सुप्रसिद्ध आलोचक डा० सत्येन्द्र और कहानीकार श्री रामचन्द्र श्रीवास्तव 'चक्र' ने जहां इसके सम्पादन में सहयोग दिया वहीं इन पंक्तियों का लेखक भी १९३९ में इसका सहकारी सम्पादक रहा था। उन दिनों श्री बाबूराम एम० ए० इसके सम्पादक थे और हैदराबाद में छिड़े 'आर्य सत्या-ग्रह' के कारण यह अर्ध साप्ताहिक हो गया था। 'कल्पना' (हैदराबाद) के सम्पादक मंडल के एक सदस्य और हैदराबाद से प्रकाशित होने वाले 'संकल्प' नामक मासिक पत्र के वर्तमान सम्पादक श्री मधुसूदन चतुर्वेदी ने भी काफी समय

तक इसका सम्पादन किया था। संस्कृत के विद्वान् डा० धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री तर्क शिरोमणि भी अपने जीवन के कैशोर काल में कुछ दिन तक इसके सम्पादक रहे थे। चतुर्वेद भाष्यकार श्री जयदेव शर्मा विद्यालंकार ने 'आर्य मित्र' का सम्पादन उन दिनों किया था जब इसका प्रकाशन 'आर्य साहित्य मंडल लिमिटेड अजमेर' के श्री मथुरा प्रसाद शिवहरे के निदेशन में आगरा से होता था। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् द्वारा पुरस्कृत श्री ऋषि देव विद्यालंकार उन दिनों इसके सम्पादक थे, जब वह आगरा की बजाय लखनऊ से प्रकाशित होने लगा था। गुरुकुल कांगड़ी के प्राचीन स्नातक श्री धर्मपाल विद्यालंकार भी कुछ दिन तक इसके सम्पादक रहे थे। महाविद्यालय ज्वालापुर के स्नातक श्री गोपाल दत्त जोशी ने भी उन दिनों लगभग पांच वर्ष तक इसका सम्पादन किया था, जबकि वे लखनऊ में ही रहते थे। गुरुकुल ज्वालापुर के दूसरे स्नातक श्री सच्चिदानन्द शास्त्री ने भी थोड़े दिन इसके सम्पादन में सहयोग दिया था। आजकल गुरुकुल वृन्दावन के स्नातक श्री उमेशचन्द्र आयुर्वेद शिरोमणि इसका सम्पादन कर रहे हैं। श्री हरि शंकर शर्मा के सम्पादन के दिनों में इसकी साज-सज्जा तथा सामग्री की प्रशंसा उपन्यास सम्राट् मुंशी प्रेमचन्द ने भी की थी।

'वैंकटेश्वर समाचार' के अतिरिक्त 'आर्य मित्र' ही हिन्दी में अकेला ऐसा पत्र है जो अपने जीवन के प्रारम्भ से आज तक प्रकाशित होता रहा है। दो बार यह बीच में दैनिक रूप में भी प्रकाशित हुआ था। एक बार श्री हरि शंकर शर्मा करते और दूसरी बार लगभग आठ मास तक श्री भारतेन्दुनाथ साहित्यालंकार ने भी इसके सम्पादन में अपना सहयोग दिया ता। 'आर्य मित्र' ने अपनी शक्ति, सामर्थ्य और सीमाओं के अनुरूप आर्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं प्रचार करने के अतिरिक्त आर्य जगत् में साहित्यिक जागरण लाने की दिशा में भी पर्याप्त सहयोग दिया था। हिन्दीं के लेखकों में बहुत से ऐसे हैं जो अपने साहित्यिक विकास के प्रारम्भिक काल में 'आर्य मित्र' में ही लिखा करते थे। हिन्दी की सुप्रसिद्ध कहानी लेखिका श्रीमती चन्द्र किरण सोनरैक्सा की पहली कहानी भी उस समय 'आर्य मित्र' में प्रकाशित हुई थी, जब कि मैं सन् १९३९ में उसमें कार्य करता था। श्रीमती सोनरैक्सा को उनकी 'आदम खोर' नामक कृति पर अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का 'सैक्सरिया पुरस्कार' प्राप्त हो चुका है। इसके अतिरिक्त गुरुकुल कांगड़ी, महाविद्यालय ज्वालापुर और गुरुकुल वृन्दावन के अनेक स्नात कभी 'आर्यमित्र' के माध्यम से आगे बढ़े थे। डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम' और डा० सूर्यदेव शर्मा किसी समय 'आर्य मित्र' के विशिष्ट कवियों में थे।

'आर्य मित्र' के आदि सम्पादक पं० रुद्रदत्त शर्मा सम्पादकाचार्य हिन्दी के उन स्वनामधंन्य पत्रकारों में थे कि हिन्दी का कोई ऐसा नामी पत्र नहीं, जिसका

सम्पादन उन्होंने न किया हो। 'आर्य मित्र' के अतिरिक्त उन्होंने 'आर्यावर्त' और 'भारतमित्र' का भी सम्पादन किया था। अपने पत्रकार जीवन का प्रारम्भ उन्होंने आगरा के 'प्रेमपत्र' नामक पाक्षिक के सम्पादन से किया था और जिन दिनों वे 'भारतमित्र' (कलकत्ता) में थे उन दिनों उसके २२ जून सन् १८७९ के अंक में एक चिट्ठी इस आशय की भी छपी थी कि स्वामी दयानन्द से वेद पढ़ने के लिए कई-एक अमरीकन पादरी बम्बई आए हुए हैं, स्वामी जी के लेख भी यदा-कदा 'भारतमित्र' में प्रकाशित हुआ करते थे और ३० अक्तूबर सन् १८८३ को जब स्वामी जी का देहावसान हुआ तब उसके २ नवम्बर के अंक में यह समाचार भी प्रकाशित हुआ था। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती के देहावसान के उपरान्त सन् १८९५ में बरेली से 'आर्यपत्र' मासिक और सन् १८९६ में खीरी (उत्तर-प्रदेश) से 'आर्य भास्कर' नामक पत्र भी प्रकाशित हुए थे। इनमें से पहले पत्र के सम्पादक श्री पूरणमल थे।

जिन दिनों महर्षि स्वामी दयानन्द देश में सामाजिक जागरण का अपना अभूतपूर्व अभियान चला रहे थे उन दिनों जिन अनेक राज-परिवारों में उनके क्रान्तिकारी विचारों का अमर आलोक पहुंचाया था, उनमें कालाकांकर (उत्तर प्रदेश) का परिवार अन्यतम था। वहां के राजा रामपाल सिंह ने लन्दन से सन् १८८३ में जो हिन्दी पत्र 'हिन्दोस्तान' नाम से निकाला था उसे उन्होंने भारत में आकर सन् १८८५ में दैनिक रूप दे दिया और उसके प्रथम सम्पादक का दायित्व महामना पं० मदन मोहन मालवीय को सौंपा। जब उन्होंने कलकत्ता कांग्रेस में मालवीय जी का धारावाहिक भाषण सुना तो वे उन पर मुग्ध हो गए और उन्होंने मालवीय जी को वहां पर ही 'हिन्दोस्तान' का सम्पादन भार संभालने को सहमत कर लिया था। बाद में 'हिन्दोस्तान' के सम्पादन में श्री बालमुकुन्द गुप्त और पं० प्रताप नारायण मिश्र ने भी सहयोग दिया था। राजा रामपाल सिंह के पौत्र कुंवर सुरेश सिंह ने भी १९३८-३९ में कालाकांकर से 'कुमार' नामक युवकोपयोगी मासिक पत्र प्रकाशित किया था। उनकी प्रेरणा से ही उन्हीं दिनों श्री सुमित्रानन्दन पन्त के सम्पादन में 'रूपाभ' नामक एक साहित्यिक मासिक पत्र भी प्रकाशित हुआ था। अमेठी राज्य (उत्तर प्रदेश) में भी आर्य समाज का काफी प्रचार था। वहां के राजकुमार रणंजय सिंह द्वारा संचालित 'मनस्वी' नामक मासिक पत्र का मैंने ३९-४० में आठ मास तक सम्पादन किया था। काशी के 'आज' और ज्ञान मण्डल लिमिटेड के संचालक श्री शिव प्रसाद गुप्त भी आर्य समाज के सुधारवादी आन्दोलन से पर्याप्त प्रभावित थे और कदाचित् उससे प्रेरित होकर ही उन्होंने बाद में 'आज' दैनिक का प्रकाशन किया था। इसका ज्वलन्त प्रमाण हमें इस बात से मिलता है कि जब वे विदेश यात्रा पर जा रहे थे तब अपने निजी सचिव के रूप में श्री

हरि शंकर शर्मा (सुपुत्र कविवर नाथू राम शंकर शर्मा) को साथ ले जाना चाहते थे।

इस शताब्दी के प्रारम्भ में एक ओर जहां सन् १६०० में आर्य प्रतिनिधि सभा मध्य प्रदेश की ओर से 'आर्य सेवक' नामक पाक्षिक श्री गणेश प्रसाद शर्मा के सम्पादन में प्रकाशित हुआ, वहां आर्य समाज कलकत्ता की ओर से आर्यावर्त' (१६२२) का प्रकाशन हुआ। इस शती के तीसरे दशक में जहां सन् १६२३ में आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान-मालवा की ओर से 'आर्य मार्तण्ड' नामक साप्ताहिक का प्रकाशन अजमेर से प्रारम्भ हुआ वहीं बंगाल-विहार की आर्य प्रतिनिधि सभा ने सन् १६२४ में श्री जयदेव शर्मा के सम्पादकत्व में आर्य 'आर्य जीवन' नामक पत्र का प्रकाशन किया। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की ओर से भी सन् १६१४ में 'आर्य' नामक मासिक पत्र प्रकाशित हुआ था, जिसके आदि सम्पादक श्री चमूपति एम० ए० थे। बाद में लगभग ६ वर्ष तक श्री अवनीन्द्र कुमार विद्यालंकार ने इसका सम्पादन किया और श्री प्रियव्रत वेदवाचस्पति भी इसके सम्पादक रहे। बहुत दिनों बाद न जाने किस कारण से प्रतिनिधि सभा की ओर से 'आर्य' की बजाय 'आर्योदय' प्रकाशित होने लगा और इसके सम्पादक कई वर्ष तक श्री भारतेन्दु नाथ साहित्यालंकार रहे। खेद का विषय है कि जब प्रतिनिधि सभा दो दलों में विभक्त हो गई तब एक की ओर से 'आर्य मर्यादा' प्रकाशित होने लगी और दूसरे ने 'आर्य ज्योति' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। आजकल 'आर्य मर्यादा' बन्द है और 'आर्यधन' नाम से एक और साप्ताहिक का प्रकाशन होने लगा है। 'आर्य मर्यादा' का सम्पादन श्रीजगदेव सिंह 'सिद्धांती' किया करते थे और 'आर्य ज्योति' के सम्पादक श्री हरि प्रकाश आर्यु वेदालंकार थे। श्री सिद्धांती जी के सम्पादनकाल में 'आर्य मर्यादा' में पर्याप्त सुपुष्ट सामग्री समाविष्ट रहती थी। यहां यह भी स्मरणीय है कि श्री सिद्धांती जी ने श्री रघुवीर सिंह शास्त्री के सहयोग से 'सम्राट' नामक एक साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित किया था, जो कई वर्ष तक आर्य जगत की प्रशंसनीय सेवा करता रहा। श्री भारतेन्दु नाथ ने 'आर्योदय, से पृथक् होकर स्वतंत्र रूप से 'दयानन्द संस्थान' नामक संस्था की स्थापना करके उसकी ओर से 'जन ज्ञान' नामक मासिक प्रारम्भ किया। इसका सम्पादन श्री भारतेन्दु नाथ जी की जीवन-संगिनी श्रीमती राकेश रानी करती हैं। हर्ष का विषय है कि अब 'जनज्ञान' का साप्ताहिक संस्करण भी प्रकाशित होने लगा है। यदि यहां पर 'आर्य सभा' के साप्ताहिक पत्र 'राजधर्म' का उल्लेख न किया जाए तो यह विवरण अधूरा ही रह जाएगा। श्री अग्निवेश द्वारा सम्पादित इस पत्र में जहां सांस्कृतिक सामग्री प्रचुर परिमाण में रहती थी वहां राजनीतिक चेतना जाग्रत करने की दिशा में भी इस पत्र ने प्रशंसनीय भूमिका निबाही है।

गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के मासिक मुखपत्र 'भारतोदय' (१९०६) का नाम हिन्दी की साहित्यिक पत्रकारिता के इतिहास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके सम्पादन के दिनों में 'समालोचक-मूर्धन्य' पंडितपद्मसिंह शर्मा ने अनेक साहित्यिक संस्थाओं और आन्दोलनों पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला था। उन दिनों का हिन्दी का ऐसा कोई प्रमुख साहित्यकार या कवि नहीं था, जो इसमें न लिखता हो। यहां पर यह उल्लेख कर देना भी अप्रासंगिक न होगा कि भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद का 'समाज-संशोधन' शीर्षक बिलकुल पहला लेख 'भारतोदय' के सितम्बर १९२० के अंक में 'राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय' के नाम से प्रकाशित हुआ था। उस अवसर पर उन्होंने पं० पद्म सिंह शर्मा को जो पत्र लिखा था उससे उनकी शालीनता और विनम्रता का परिचय मिलता है। उन्होंने लिखा था—'सरस्वती' में जो लेख देने की आज्ञा की गई है सो अनुल्लंघनीय न होने पर भी लेखक के असामर्थ्योपहत होने से विलम्बसाध्य होगी। प्रथम तो ऐसा विषय नहीं सूझता जिस पर हिन्दी रसिकों का अनुराग हो। द्वितीयतः हिन्दी लेख में भी सामर्थ्य नहीं। आप कुछ विषय-निर्देश करें तो कुछ यत्न हो। समाज-संशोधन वाला लेख आपको इतना पसन्द होगा यह मुझे कभी धारणा नहीं थी यदि उधर 'भारतोदय' कृतार्थ हुआ तो इधर मैं भी कृतार्थ हुआ। राजेन्द्र बाबू का यह लेख स्त्रियों की शिक्षा और सामाजिक स्थिति के सम्बन्ध में था। पं० पद्म सिंह शर्मा ने जहां पत्रकारिता के क्षेत्र में नये मानदण्ड स्थापित किये वहां 'भारतोदय' के माध्यम से उन्होंने जो अनेक लेखक बनाए थे राजेन्द्र बाबू भी उन्ही में से एक थे। शर्मा जी द्वारा किये गये प्रोत्साहन का उल्लेख उन्होंने सार्वजनिक रूप से सन् १९५९ में उस समय किया जब वे गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के 'स्वर्ण जयन्ती समारोह' में सम्मिलित होने वहां गए थे। उन्होंने वहां न केवल पं० पद्म सिंह शर्मा के प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित किया, अपितु 'गुरुकुल' को भी अपनी 'मातृसंस्था' मानते हुए यह उदगार प्रकट किए 'इस संस्था के अनन्य सूत्रधार पं० पद्म सिंह शर्मा ने ही मेरा हिन्दी का सबसे पहला लेख यहीं के मासिक मुखपत्र 'भारतोदय' में प्रकाशित किया था, अतः इस नाते यह शिक्षण संस्था मेरी भी है और मैं इस भूमि में आकर अपने को धन्य अनुभव कर रहा हूं।' कविता-कामिनी-कान्त नाथूराम शंकर जैसे उत्कृष्ट कवि को हिन्दी जगत् के समक्ष प्रस्तुत करना पं० पद्म सिंह शर्मा जैसे गुणाग्राहक सम्पादक का ही काम था। आचार्य पद्म सिंह शर्मा के सम्पादन में 'भारतोदय' इतना सुंदर निकलता था कि सम्पादकाचार्य अम्बिका प्रसाद वाजपेयी को अपने 'समाचार पत्रों का इतिहास' नामक ग्रन्थ में यह लिखना पड़ा —'मासिक पत्रों में भाषा और विचारों की दृष्टि से ज्वालापुर के गुरुकुल महाविद्यालय का 'भारतोदय' सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है।' पं० पद्म सिंह शर्मा के बाद आचार्य नरदेव

शास्त्री वेदतीर्थ ने भी इसका सम्पादन किया था। उनके समय में भी वे इसके संयुक्त सम्पादक रहे थे। यहां यह विशेष उल्लेखनीय है कि सुप्रसिद्ध आर्य कवि श्री नाथूराम शर्मा के सुपुत्र श्री हरिशंकर शर्मा ने भी 'भारतोदय' का कुछ दिन तक सम्पादन किया था। महाविद्यालय के स्नातक श्री प्रेमचन्द्र शास्त्री काव्य-तीर्थ ने उन दिनों इसका सम्पादन किया था जबकि वह मुरादाबाद के शर्मा प्रिंटिंग प्रेस में मुद्रित होता था। आजकल 'भारतोदय' सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् श्री भीमसेन शर्मा (आगरा वाले) के सुपुत्र डा० हरिदत्त शास्त्री के सम्पादन में 'संस्कृत और हिन्दी' में प्रकाशित हो रहा है।

इस प्रकार जहां आर्य समाज के लिए कार्य-क्षेत्र तैयार करने का पुनीत कार्य यह सभी पत्र कर रहे थे वहां गम्भीर सैद्धांतिक लेखों के द्वारा वैदिक धर्म के महत्त्व बढ़ाने और वेदों के अनुशीलन को निरन्तर गतिशील बनाने के लिए मेरठ के सामवेद भाष्यकार श्री तुलसी राम स्वामी का पत्र 'वेद प्रकाश' (मासिक) अत्यंत प्रशंसनीय कार्य कर रहा था। पहले यह साप्ताहिक रूप में कानपुर से सन् १८८४ में श्री राधाकृष्ण गुप्त के सम्पादन में प्रकाशित होता था। मेरठ के 'वेद प्रकाश' के कुल १८० अंक प्रकाशित हुए थे, जिनकी पृष्ठ संख्या ३८७७। 'वेद प्रकाश' में यज्ञ, शास्त्रार्थ, मृतक दाह, मृतक श्राद्ध, वेदार्थ विधवा-विवाह, क्षमा, दया, प्रायश्चित, खान-पान, छुआ-छूत, कर्मकाण्ड, उपासना, भूत-प्रेत, पुराण, तन्त्र तथा भागवत्-खंडन आदि लगभग २०० विषयों पर शोध-सामग्री से परिपूर्ण अत्यन्त प्रामाणिक और गंभीर लेख प्रकाशित हुए थे। ये लेख आर्य-सिद्धांत सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के लिए बड़े ही उपयोगी हैं। विरोधियों के प्रश्नों के उत्तर देने तथा सम्पादकीय टिप्पणियों द्वारा आर्य समाज के उपयोगी दिशा-निर्देश देने आदि में इसके सम्पादक श्री तुलसी राम स्वामी बड़ी रुचि लेते थे। आर्य समाज में साहित्यिक चेतना उत्पन्न करना जहां 'भारतोदय' का लक्ष्य था वहां 'वेद प्रकाश' का उद्देश्य उसमें बौद्धिक तथा वैदिक भावना बढ़ाना था।। हर्ष का विषय है कि आजकल भी 'वैदिक प्रकाश' प्रख्यात आर्य प्रकाशक 'गोविन्दराम हासानन्द' की ओर से दिल्ली से प्रकाशित हो रहा है और इसके आदर्श सम्पादक श्री जगदीशचन्द्र विद्यार्थी : स्वामी जगदीश्वरानन्द हैं। प्रख्यात आर्य पत्रकार श्री विश्वम्भर प्रसाद शर्मा के सम्पादकत्व में 'विकास' नामक जो साप्ताहिक पत्र सहारनपुर से प्रकाशित हुआ था उससे भी विशेतः पश्चिमोत्तर भारत और सामान्यतः समस्त देश में 'आर्य विचार धारा' के प्रचार एवं प्रसार में उल्लेखनीय सहयोग मिला था। अजमेर से सन् १९३३ में सम्पन्न हुई दयानन्द निर्वाण अर्ध शताब्दी के अवसर पर प्रकाशित उसका 'आर्य समाज अंक' आज भी अपनी विशिष्टता के लिए याद किया जाता है। इस विशेषांक का सम्पादन राज्यरत्न आतमाराम अमृतसरी ने किया था।

श्री विश्वम्भर प्रसाद बाद में नागपुर चले गए और उन्होंने मध्य प्रदेश को अपनी कर्मभूमि वनाया। कई वर्ष तक वे मध्य प्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री रहे और उसकी ओर से प्रकाशित होने वाले 'आर्य सेवक' का भी सफल सम्पादन किया था। इन्होंने यहां से स्वतन्त्र रूप से 'आलोक' नामक एक साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित किया था और आजकल 'भारत गौ सेवक समाज' के पत्र 'गोधन' का सम्पादन कर रहे हैं। कई वर्ष तक शर्मा जी 'माहेश्वरी' साप्ताहिक और आर्य कुमार परिषद् के मासिक मुखपत्र 'आर्य कुमार' का भी सम्पादन किया था। इस पत्र का प्रारम्भ उस समय हुआ था जब कि आर्य समाज के पुराने कर्मठ नेता डा० केशव देव शास्त्री ने अपने घनघोर प्रयत्न से 'आर्य कुमार परिषद' की स्थापना करके उसका पहला अधिवेशन सहारनपुर में किया था। इस अधिवेशन की अध्यक्षता ला० लाजपत राय ने की थी। डा० केशव देव शास्त्री ने ही आर्य कुमार परिषद की ओर से 'आर्य कुमार' नामक पत्र प्रारम्भ किया था और वे ही उसके आदि सम्पादक थे। पहले यह पत्र साप्ताहिक रूप में प्रकाशित होता था। कुछ दिन तक द्वैमासिक भी रहा था और बाद में मासिक हो गया था। मेरठ के श्री विश्म्वभर सहाय 'प्रेमी' और दिल्ली के डा० युद्धवीर सिंह ने कई वर्ष तक 'आर्य कुमार' का सम्पादन किया था। १९१९ में भी फतहपुर (उत्तर प्रदेश) से 'आर्य कुमार' नामक एक और पत्र प्रकाशित हुआ था और इसका सम्पादन श्री मथुरा प्रसाद करते थे।

आर्य समाज की पत्रकारिता के इतिहास में डा० केशव देव शास्त्री का नाम विशेष महत्त्व रखता है। उन्होंने आर्य युवकों में वैदिक धर्म के प्रति आस्था जगा कर उनका नैतिक चरित्र उठाने की दृष्टि से सन् १९१० में 'नवजीवन' नामक एक और मासिक पत्र का सम्पादन-प्रकाशन काशी से किया था। वास्तव में शास्त्री जी ने इसका उपयोग धर्मपाल बी० ए० और सुनीति देवी, गुजरानवाला गुरुकुल के हैड मास्टर श्री सुखदयाल एम० ए० की बहन के विवाह-सम्बन्ध के प्रचार-साफल्य और तत्सम्बन्धी आन्दोलन में बढ़-चढ़ कर किया था। इस विवाह-समारोह में देश-विदेश के लगभग ५०० से अधिक आर्य-परिवार सम्मिलित हुए थे। डा० केशव देव शास्त्री के सहसा अमरीका चले जाने के कारण 'नवजीवन' का सम्पादन कुछ दिन तक श्री चन्द्रशेखर वाजपेयी एम०ए० ने किया था, किन्तु वह उनसे चल न सका और वाद में बन्द हो गया। बाद में यह पत्र श्री द्वारका प्रसाद 'सेवक' के सम्पादन में सन् १९१५ में इन्दौर से बड़ी सफलतापूर्वक कई वर्ष तक प्रकाशित हुआ। सेवक जी बड़े ही कर्मठ और अध्यवसायी पत्रकार थे। उन्होंने अजमेर से भी 'वैदिक सन्देश' नामक एक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया था। इसमें बड़े क्रान्तिकारी लेख प्रकाशित होते थे। राज्यरत्न मास्टर आतमराम अमृतपुरी के सम्पादन में सन् १९१९ में

कोल्हापुर से प्रकाशित 'वैदिक मार्तण्ड' नामक द्विमासिक पत्र भी अपने समय में अत्यन्त उल्लेखनीय था। किसी समय प्रख्यात आर्यनेता श्री गंगा प्रसाद उपाध्याय के सम्पादन में प्रकाशित 'वेदोदय' नामक मासिक पत्र भी इलाहाबाद से बड़े ठाट-बाट से निकला करता था। बाद में उपाध्याय जी के सुयोग्य पुत्र सी विश्व प्रकाश के निरीक्षण में यह सन् १९२४ तक बराबर प्रकाशित होता रहा और फिर आर्थिक क्षति के कारण इसे स्थगित कर देना पड़ा। इस पत्र में उपाध्याय जी के अतिरिक्त अनेक आर्य विद्वानों के बड़े गम्भीर लेख प्रकाशित हुआ करते थे। दिल्ली के मासिक 'श्रद्धानन्द' और 'शुद्धि समाचार' भी अच्छी सामग्री देते थे। इन दोनों पत्रों का सम्पादन स्वामी चिदानन्द संन्यासी किया करते थे। काशी के 'श्री सनातन धर्म' नामक पत्र के प्रत्युत्तर में प्रख्यात पत्रकार श्री राधामोहन गोकुल जी ने कलकत्ता से सन् १९०९ में 'सत्य सनातन धर्म' नामक पत्र निकाला था। गोकुल जी ने नागपुर के 'प्रणवीर' साप्ताहिक और आगरा के 'वैभव' नामक दैनिक का भी सम्पादन किया था।

आर्य सिद्धान्तों को व्यापक रूप से जनता के समक्ष प्रस्तुत करने की दिशा में जो अनेक आर्य पत्रकार अपना योगदान दे रहे थे उनमें प्रख्यात वैदिक विद्वान् श्रीपाददामोदर सातवलेकर की सेवाएं सर्वदा अविस्मरणीय हैं। उन्होंने 'स्वाध्याय मंडल' औंध (सतारा) से 'वैदिक धर्म' नामक मासिक पत्र के द्वारा आर्य जगत् की बहुत सेवा की थी। उनके द्वारा किये गए वेद-भाष्यों और आर्य-साहित्य-सम्बन्धी टिप्पणियों को पढ़ने के लिए लोग लालायित रहा करते थे। यह प्रशंसनीय बात है कि अनेक विघ्न-बाधाओं से जूझते हुए 'वैदिक धर्म' उसी धूमधाम से निकला तथा सातवलेकर जी के निधन के बाद भी कई वर्ष तक उनके सुपुत्र श्री वसन्त श्रीपाद सातवलेकर ने उसे निर्विघ्न रूप से प्रकाशित किया। खेद है कि दिसम्बर १९७५ के अंक में अपने 'विनम्र निवेदन' शीर्षक पक्तियों में इसके संचालकों ने उसे बन्द करने की घोषणा इस प्रकार की है—'आगामी वर्ष से' वैदिक धर्म 'का प्रकाशन प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण बन्द करना पड़ रहा है, इसलिए हम दुःखित हैं।' निरन्तर ५६ वर्ष तक प्रकाशित होने के बाद 'आर्य समाज स्थापना शताब्दी' के दिनों में ही इसका बन्द होना निश्चित ही एक भारी आघात है। इसी प्रकार की सामग्री से परिपूर्ण अजमेर के 'वेद संस्थान' की पत्रिका 'सविता' भी अपनी उल्लेखनीय विशेषता रखती है। इसका सम्पादन स्वामी विद्यानाथ 'विदेह' के कनिष्ठ पुत्र श्री अभय देव शर्मा करते हैं। रामलाल कपूर ट्रस्ट वाराणसी की ओर से प्रकाशित होने वाली 'वेदवाणी' पत्रिका का भी अपना उल्लेखनीय स्थान रहा है। इसका सम्पादन पहले श्री ब्रह्मानन्द 'जिज्ञासु' किया करते थे और अब यह पत्रिका श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक के सम्पादन में बहालगढ़ सोनीपत (हरियाणा) से प्रकाशित होती है। जहां पर ट्रस्ट

का कार्यालय वाराणसी से स्थानान्तरित हो गयाहै । श्री गुरुदत्त वैद्य के निरीक्षण में प्रकाशित 'अखिल भारतीय शाश्वत संस्कृति परिषद्' की मासिक पत्रिका 'शाश्वत वाणी' में भी अच्छी सैद्धान्तिक सामग्री रहती है । इसका सम्पादन श्री अशोक कौशिक करते हैं । इन पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त मेरे सम्पादन में सन् १९३७-३८ में सहारनपुर से प्रकाशित होने वाला साप्ताहिक 'आर्य' भी अपनी अल्पकालीन जीवन-यात्रा में आर्य जगत् में पर्याप्त समादृत हुआ था । इसके संचालक और आदि सम्पादक श्री शीतल प्रसाद विद्यार्थी थे, जिन्होंने कभी श्री प्रियरत्न आर्ष (अब स्वामी ब्रह्ममुनि) के सहयोग से 'शान्ति' नामक मासिक पत्रिका भी प्रकाशित की थी । इस पत्रिका में भी वैदिक वाङ्मय और आर्य समाज से सम्बन्धित प्रचुर प्रेरक सामग्री रहा करती थी । अजमेर से सन् १९३८-३९ में श्री दत्तात्रेय बाव्ले के सम्पादन में प्रकाशित 'अजय' मासिक और 'विजय' साप्ताहिक का भी आर्य जगत् में अत्यन्त उल्लेखनीय स्थान था । ऐसी ही सामग्री से परिपूर्ण 'आर्य सन्देह' नामक एक साप्ताहिक पत्र आगरा से स्वामी परमानन्द के संरक्षण में सन् १९३९ में प्रकाशित हुआ था, जो ६-७ मास ही जीवित रहा । इसका सम्पादन श्री हरि शंकर शर्मा किया करते थे । मैं भी इस पत्र में सहकारी सम्पादक रहा था । वास्तव में पं० हरि शंकर शर्मा के निरीक्षण में इस पत्र में ही मैंने पत्रकारिता की विधिवत् दीक्षा ली थी । गुरुवार पद्म सिंह शर्मा के पवित्र सान्निध्य और आचार्य नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ के आचार्यत्व में पत्रकारिता की जो वर्णमाला मैंने अपने शिक्षण काल में गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में सीखी थी, उसका अभ्यास सहारनपुर में किया और श्री हरि शंकर शर्मा के पुण्य पुनीत निरीक्षण में मैं वहां विधिवत् पत्रकार बना । श्री शर्मा जी ने 'आर्यमित्र' से त्यागपत्र देकर उसका सम्पादन करने से पूर्व 'निराला' और 'प्रभाकर' नामक साप्ताहिक पत्रों का सम्पादन भी किया था कुछ दिन तक वे आगरा के गया प्रसाद एण्ड सन्स प्रकाशक की ओर से संचालित एवं प्रकाशित 'साधना' नामक पत्रिका के सम्पादक भी रहे थे । उन्होंने वहां से आध्यात्मिक मासिक 'कर्मयोग' का भी सम्पादन किया था ।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली की ओर से प्रकाशित 'सार्वदेशिक' मासिक हिन्दी के उन पत्रों में था, जिसके पाठक भारत के अतिरिक्त विदेशों में भी थे । 'सार्वदेशिक' के आदि सम्पादक प्रो० सुधाकर एम० ए० को उनकी 'क्रियात्मक मनोविज्ञान' नामक पुस्तक पर अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन का 'मंगल प्रसाद' पारितोषिक भी प्राप्त हुआ था । श्री रघुनाथ प्रसाद पाठक 'सार्वदेशिक' के सहकारी सम्पादक थे । उक्त दोनों महानुभाओं ने इसे पौष्टिक सामग्री और प्रेरक विचारों से परिपूर्ण करके सर्वांगीण बनाया था । अब यह साप्ताहिक रूप में अत्यन्त दरिद्र कलेवर में प्रकाशित होता है । देश की शिरोमणि संस्था को

इस ओर भी ध्यान देना चाहिए। इसी श्रृंखला में गुरुकुल कांगड़ी का मुखपत्र 'गुरुकुल' पत्रिका भी है। पहले 'गुरुकुल' नाम से साप्ताहिक रूप में प्रकाशित होता था और अब मासिक है तथा संस्कृत में प्रकाशित होता है। आजकल इसके सम्पादक श्री भगवद्दत्त वेदालंकार हैं। यहीं गुरुकुल के ही स्नातक विश्वनाथ विद्यालंकार और श्री चन्द्र मणि विद्यालंकार के सम्पादन में सन् १९२१ में प्रकाशित 'वैदिक आदर्श' नामक मासिक का भी नाम उल्लेखनीय है। इन पत्रों के अतिरिक्त और भी बहुत से ऐसे पत्र हैं, जिन्होंने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के साथ-साथ हिन्दी के प्रचार और प्रसार में बहुत योग दिया। ऐसे पत्रों में 'शंकर' (मुरादाबाद), 'दिवाकर' (आगरा), 'वेदपथ' (ज्वालापुर), 'न्याय' (अजमेर), 'संजय' तथा 'दयानन्द सन्देश' (दिल्ली) और 'आर्य संसार' (कलकत्ता) के नाम विशेष परिगणनीय हैं। इनमें से 'शंकर' का सम्पादन पं० बदरी दत्त जोशी और आचार्य नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ ने, 'दिवाकर' का सम्पादन सर्वश्री सत्येन्द्र शुक्ल, विष्णुदत्त कपूर और हरिदत्त शास्त्री ने, 'आर्य' का सम्पादन श्री विश्वदेव शर्मा ने, 'संजय' का सम्पादन श्री भद्रसेन गुप्त ने, 'दयानन्द सन्देश' का सम्पादन आचार्य राजेन्द्र नाथ शास्त्री (आजकल सच्चिदानन्द योगी) ने और 'आर्य संसार' का सम्पादन श्री रमाकान्त उपाध्याय ने किया था। 'दिवाकर' ने अपने विशेषांकों के कारण किसी समय हिन्दी जगत् में बड़ी धूम मचाई थी। इसके 'वेदांक' और 'शिक्षांक' अपनी महत्वपूर्ण, सुसम्पादित और सुपुष्ट सामग्री के कारण आज भी याद किये जाते हैं। 'वेदांक' का सम्पादन आचार्य नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ ने किया था। आचार्यजी ने ही 'शंकर' (मुरादाबाद) के दयानन्द जन्मशताब्दी अंक' का सम्पादन किया था। 'संजय' का 'महाभारत अंक' और 'दयानन्द सन्देश' का 'कर्मवीर अंक' तथा 'असिधारा अंक' सर्वथा उपादेय सामग्री से परिपूर्ण थे। इन दोनों के सम्पादक गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के स्नातक हैं। 'कल्पना' और 'अजन्ता' के सम्पादक डा० आर्येन्द्र शर्मा और वंशीधर विद्यालंकार भी आर्य समाज की ही विभूति हैं। इनमें से पहले गुरुकुल बदायूं के स्नातक हैं और दूसरे गुरुकुल कांगड़ी के अजमेर का साप्ताहिक 'न्याय' श्री विश्वदेव शर्मा के सम्पादकत्व में २ अक्तूबर १९६६ से दैनिक हो गया है 'न्याय' अब भी बड़ी शान से प्रकाशित हो रहा है।

आर्यसमाज के क्षेत्र में कार्य करने वाले पत्रकारों ने जहां वैदिकधर्म-प्रचार राष्ट्रीय जागरण और और समाज-सुधार की दिशा में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया, वहां स्त्री-शिक्षा के क्षेत्र में भी वे पीछे नहीं रहे। इसी पावन उद्देश्य को सामने रख कर जहां ला० देवराज ने जालन्धर में 'कन्या महाविद्यालय' की स्थापना की थी वहीं उन्होंने अपने विद्यालय की ओर से 'पांचाल पंडिता' नामक पत्रिका भी प्रकाशित की। पहले यह आधी अंग्रेज़ी में और आधी हिन्दी में

प्रकाशित होती थी, किन्तु बाद में इसे पूर्णतः हिन्दी—पत्रिका ही बना दिया गया। फिर इसमें अन्तिम चार पृष्ठ छोटी बालिकाओं के लिए भी बढ़ा दिये गए और उसका नाम 'सुकुमारी' रख दिया गया। इस प्रकार इस पत्र ने जहां नारी-जागरण की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया वहां महिलाओं में लेखन की अभिरुचि भी उत्पन्न की।'पांचाल पंडिता' से पूर्व लाहौर से 'भारत भगिनी' (१८८८) नामक पत्रिका वहीं के बैरिस्टर श्री राम रोशन लाल जी की धर्म-पत्नी श्रीमती हरदेवी जी कई वर्षों से निकाल रही थीं। श्रीमती हरदेवी जी सुप्रसिद्ध एक्ज़ीक्यूटिव इंजीनियर श्री राम कन्हैया लाल जी की सुपुत्री थीं, जिनका पुनर्विवाह सुप्रसिद्ध आर्य प्रचारक श्री अलखधारी जी के परामर्श से उक्त बैरिस्टर महोदय के साथ हुआ था। इसी श्रृंखला में कन्या गुरुकुल कनखल (हरिद्वार) की ओर से सन् १९३८ में प्रकाशित 'ऊषा' का नाम भी स्मरणीय है। इसकी सम्पादिका श्रीमती शकुन्तला 'ब्रह्मविद्' थीं। आर्य कन्या महाविद्यालय बड़ौदा की ओर से भी 'आर्य सन्देश' नामक मासिक हिन्दी और गुजराती में निकाला था, जिसका सम्पादन श्री राजेन्द्र पंडित करते थे। 'जातपांत तोड़क मंडल' के श्री सन्त राम बी० ए० ने कन्या महाविद्यालय जालन्धर से 'भारती' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन सन् १९२० में किया था और वहां से ही सन् १९२२ में 'जलविद सखा' पत्रिका भी प्रकाशित हुई थी। इन्हीं श्री सन्त राम जी ने सन् १९१४ में 'जातपांत तोड़क मंडल' की ओर से 'ऊषा' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया था और उन्हीं दिनों में 'आर्यप्रभा' नामक एक और मासिक पत्रिका को जन्म दिया था, जो सन् १९१८ में साप्ताहिक हो गई थी। उनके 'युगान्तर' नामक मासिक का नाम भी हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में अपना उल्लेखनीय स्थान रखता है। 'विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान' की ओर से सुप्रसिद्ध आर्य विद्वान श्री विश्वबन्धु शास्त्री के साधु आश्रम होशियारपुर से प्रकाशित होने वाली मासिक पत्रिका 'विश्व-ज्योति' का नाम भी अपनी शोध सामग्री के कारण चिरस्मरणीय रहेगा। यह अब भी श्रीसन्तराम बी० ए० के सम्पादन में निरन्तर प्रकाशित हो रही है। इसके विशेषांक हिन्दी-साहित्य की अतुल निधि है। 'अमृतधारा' के आविष्कारक वैद्य ठाकुर दत्त जी भी आर्य समाजी थे। वे अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के १९४१ के दिसम्बर मास में सम्पन्न हुए अबोहर अधिवेशन के स्वागताध्यक्ष थे। उन्होंने भी सन् १९१० में 'देशोपकारक' नामक एक पाक्षिक पत्र प्रकाशित किया था। लाहौर से प्रकाशित होने वाली 'खरी बात' मासिक के सम्पादक श्री दुर्गादास भास्कर भी आर्य समाजी थे। हिन्दी-भवन लाहौर की ओर से प्रकाशित 'भारती' पत्रिका की भी किसी समय हिन्दी जगत् में बड़ी धूम थी इसका सम्पादन श्री जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' और हरिकृष्ण 'प्रेमी' करते थे। यहां से 'कमल' नाम से बालकों का

एक मासिक पत्र भी प्रकाशित हुआ था, जिसका सम्पादन श्री सन्तराम 'विचित्र' किया करते थे। इससे पूर्व 'विचित्र' जी ने अलमोड़ा (उत्तर प्रदेश) से 'नटखट' नाम से एक अन्य बालोपयोगी मासिक सम्पादित किया था। 'विचित्र' जी अपने जीवन के प्रारम्भ में आर्य समाज की अनेक गतिविधियों में बढ़-चढ़ कर भाग लिया करते थे और उन दिनों वे 'विचित्र' उपमान के स्थान पर 'आर्य पथिक' लिखा करते थे। हिन्दी भवन लाहौर के संचालक श्री देवेन्द्रचन्द नारंग प्रख्यात इतिहास वेत्ता श्री जयचन्द विद्यालंकार के छोटे भाई थे और भारत-विभाजन से पूर्व लाहौर में आततायियों द्वारा कत्ल कर दिए गए थे। यदि यहां श्री खुशहाल चन्द 'खुरसन्द' (अब आनन्द स्वामी) के लाहौर से सन् १९२९ में प्रकाशित 'दैनिक हिन्दी मिलाप' और कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले श्री मिहिर चन्द्र धीमान् के 'जागृति' का उल्लेख न किया जाय तो यह विवरण अधूरा ही रह जायेगा। इन दोनों पत्रों ने अपनी-अपनी सीमाओं के अनुरूप आर्य जगत् की उल्लेखनीय सेवाएं की हैं। 'हिन्दी मिलाप' को चलाने में यद्यपि इसके संचालकों को पर्याप्त हानि उठानी पड़ी है, किन्तु अब भी यह जालन्धर और हैदराबाद से बराबर प्रकाशित हो रहा है। भारत-विभाजन के एकदम बाद यह कुछ वर्ष तक दिल्ली से भी प्रकाशित होता रहा था और इसका सम्पादन श्री लेखराम करते थे। अगस्त-क्रान्ति के दिनों में जब मैं सन् १९४३ में लाहौर में गिरफ्तार करके नज़रबन्द किया गया था तब मैं भी वहीं सहकारी सम्पादक था। उन दिनों भी इसके सम्पादक श्री लेखराम ही थे, जो मेरे साथ ही फिरोज़पुर जेल में नज़र-बन्द कर दिए गए थे। 'जागृति' पहले साप्ताहिक रूम में प्रकाशित होता था, परन्तु बाद में वह दैनिक हो गया था। जिन दिनों यह साप्ताहिक था तब मुंशी नवजादिक लाल श्रीवास्तव भी अपने देहान्त से पूर्व कई वर्ष तक इसका सम्पादन करते रहे थे। उनके बाद इसके सम्पादन का भार श्री जगदीश चन्द्र 'हिमकर' ने सम्भाला था। इसी क्रम में पंजाब की सुप्रसिद्ध समाज-सेविका श्रीमती शन्नो देवी की दैनिक 'शक्ति' का उल्लेख भी अत्यन्त आवश्यक एवम् अनिवार्य है। 'शक्ति' के माध्यम से शन्नो देवी जी ने हिन्दी प्रचार के साथ-साथ वहां के हिन्दू समाज में फैले हुए जात पात के विष को ही सर्वथा निर्मूल नहीं किया, बल्कि वहां की जनता में समाज-सुधार की भावनाएं भी मजबूत कीं। 'शक्ति' का सम्पादन श्री मोहन सिंह सेंगर किया करते थे। पंजाब की जनता में हिन्दी के प्रति निष्ठा जगाने और उसमें विशुद्ध भारतीयता का सन्देश प्रचारित करने की पुनीत भावना से प्रेरित होकर ही श्री भीमसेन विद्यालंकार ने 'हिन्दी सन्देश' नामक मासिक पत्र निकाला था। उन्हीं दिनों उन्होंने शहीदे धर्म महाशय राज-पाल की पुण्यस्मृति में राजपाल एण्ड सन्स लाहौर की ओर से प्रकाशित 'राजपाल' नामक मासिक पत्र का भी सम्पादन किया था। बाद में इसका नाम बदल कर

'बलिदान' कर दिया गया था। पंजाब केसरी ला० लाजपत राय की शहादत के बाद श्री अमरनाथ विद्यालंकार के सम्पादन में प्रकाशित 'पंजाब केसरी' भी अपने समय का उल्लेखनीय साप्ताहिक था। पंजाब के सुप्रसिद्ध आर्य-समाजी नेता स्वर्गीय लाला जगतनायण और उनके स्वर्गीय सुपुत्र श्री रमेशचन्द्र जालन्धर से 'पंजाब केसरी' तथा 'हिन्दी समाचार' दैनिक प्रकाशित करते रहे हैं। महाशय कृष्ण के सुपुत्र श्री वीरेन्द्र के 'वीर प्रताप' तथा के० नरेन्द्र के वीर अर्जुन' का नाम भी लिया जा सकता है।

यदि इस प्रसंग में बिहार की अमर विभूति और प्रख्यात हिन्दी प्रेमी स्वामी भवानी दयाल संन्यासी द्वारा प्रकाशित पत्रों का उल्लेख न किया गया तो भारी भूल होगी। वे अकेले ही हिन्दी के ऐसे अनन्य सेवक थे जिन्होंने भारत से बाहर दक्षिण अफ़्रीका के डरबन नगर से 'धर्मवीर' नामक एक साप्ताहिक पत्र सन् १९१७ में प्रकाशित किया और उसके द्वारा प्रवासी भारतीयों की सेवा करने के साथ-साथ वैदिक सिद्धान्तों और आर्य भाषा हिन्दी के प्रचार तथा प्रसार में भी महत्त्वपूर्ण योग दिया। यह पत्र आर्य पथिक पं० लेखराम की पुण्य स्मृति में प्रकाशित किया गया था। उन्होंने केवल हिन्दी-प्रचार की दृष्टि से 'हिन्दी' नामक एक मासिक पत्रिका भी वहां से प्रकाशित की थी। जब वे बिहार में थे तब उन्होंने बिहार प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा का कार्य-भार ही नहीं संभाला, बल्कि उसकी ओर से प्रकाशित होने वाले मासिक पत्र 'आर्यावर्त' के सम्पादन में भी सहयोग दिया था। जिन दिनों वे लगभग ७-८ वर्ष भारत में रहे थे उन्होंने सबसे पहले बिहार प्रादेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से अपनी पितृभूमि सहसराम में एक वैदिक पाठशाला भी खोली थी। कानपुर में हुई 'अखिल भारतीय कांग्रेस' की अध्यक्षा श्रीमती सरोजनी नायडू को अपने अध्यक्षीय भाषण का श्रीगणेश हिन्दी में करने की प्रेरणा आपने ही दी थी। फलस्वरूप श्रीमती नायडू ने अपने भाषण का प्रारम्भ हिन्दी में ही करने के बाद में अंग्रेज़ी का भाषण पढ़ा था। नेटाल से उन्होंने हिन्दी का जो 'दीपावली अंक' प्रकाशित किया था, उस विशेषांक के लिए अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कानपुर अधिवेशन में ५०० रुपये का पुरस्कार देकर आपकी हिन्दी सेवाओं का सम्मान किया गया था। यह पत्रिका उन्होंने अपनी स्वर्गीय सहधर्मिणी श्रीमती जगरानी देवी की प्रेरणा से प्रकाशित की थी। कदाचित् यह बात बहुत कमलोग जानते होंगे कि स्वामी भवानी दयाल का जन्म दक्षिण अफ़्रीका में ही हुआ था। बिहार तो उनके पूर्वजों की जन्मभूमि रही था। 'हिन्दी' के प्रकाशन में उन्हें सर्वश्री अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, लक्ष्मण नारायण गर्दे और मूलचन्द्र अग्रवाल से भी पर्याप्त सहयोग मिला था। सन् १९२५ में जब वे दक्षिण अफ़्रीका छोड़कर भारत में आ गये थे तो यहां के स्वाधीनता-आंदोलन में भी

उन्होंने बढ़-चढ़ कर भाग लिया था। जब वे डा० राजेन्द्र प्रसाद के साथ हजारी बाग जेल में थे तो उन्होंने जेल में भी एक हस्तलिखित पत्रिका निकाली थी। उस पत्रिका के 'कृष्णांक' "दीवाली अंक" अपनी विशेष सामग्री के लिए आज भी याद किये जाते हैं। लगभग १२०० पृष्ठ की समग्री के ये सभी विशेषांक बाद में 'विहार विद्यापीठ' को दे दिए गए थे। सन् १९३१ में वे अखिल भारतीय हिन्दी सम्पादक सम्मेलन के अध्यक्ष बनाए गए थे और उसी वर्ष देवघर (विहार) में हुए 'बिहार प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के दशम अधिवेशन की अध्यक्षता भी आपने की थी।

आर्य समाज के अनेक विद्वानों, सुधारकों तथा साहित्यकारों ने जहां अपने अनेक मासिक और साप्ताहिक पत्रों के माध्यम से हिन्दी पत्रकारिता को एक नवीनतम आलोक प्रदान किया वहां 'दैनिक पत्रकारिता' को आधुनिकतम रूप में प्रतिष्ठित और सुनियोजित करने में भी वे पीछे नहीं रहे। उन्होंने जहां इसका साहित्यिक रूप निखारा वहां इसे एक 'राष्ट्रीय अभिव्यक्ति' भी प्रदान की। इस क्षेत्र में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के स्नातकों की सेवाएं सर्वथा अभिनन्दनीय एवं स्तुत्य कही जा सकती हैं. स्वामी श्रद्धानन्द ने अपने 'सद्धर्म-प्रचारक' के द्वारा गुरुकुल के स्नातकों में दैनिक की पत्रकारिता का जो रूप प्रतिष्ठित किया था उसी का प्रयोग उनके सुपुत्र प्रो० इन्द्र विद्यावाचस्पति ने अपने 'सत्यवादी' और 'विजय' नामक दैनिक पत्रों में किया। 'विजय' दैनिक के सम्पादन में इन्द्र जी के बड़े भाई हरिश्चन्द्र विद्यालंकार का भी बहुत बड़ा सहयोग था। कुछ दिन बाद सन् १९२३ में इन्द्र जी के सम्पादन में दिल्ली से 'दैनिक अर्जुन' का विधिवत् प्रकाशन हुआ। 'अर्जुन' ने अपने समय में सामान्यतः आर्य जगत् और विशेषतः सारे देश की जो उल्लेखनीय सेवा की वह सब पर भली भांति प्रकट है। प्रो० इन्द्र ने अपने सम्पादन-काल में इसके माध्यम से जहां देश में राष्ट्रीय जागरण किया वहां देश को अनेक उच्च कोटि के पत्रकार भी प्रदान किए। आज हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में गुरुकुल कांगड़ी के जितने भी स्नातक कार्य कर रहे हैं उन सबका क्रियात्मक प्रशिक्षण प्रो० इन्द्र के ही निरीक्षण में 'अर्जुन' द्वारा सम्पन्न हुआ था। प्रो० इन्द्र जहां उच्च कोटि के पत्रकार, लेखक और वक्ता थे वहां वे वर्षों तक 'सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा' के प्रधान भी रहे थे। उन्हीं दिनों आपने तीन खण्डों में 'आर्य समाज का इतिहास' भी लिखा था। इस अर्जुन का नाम ही बाद में बदल कर 'वीर अर्जुन' हो गया था। श्री लेखराम बी० ए० और इन्द्र जी के सुपुत्र श्री जयन्त वाचस्पति ने भी बहुत दिन तक 'वीर अर्जुन' साप्ताहिक का सम्पादन किया था। आर्थिक विषयों की एकमात्र हिन्दी-पत्रिका 'सम्पदा' के वर्त्तमान सम्पादक श्रीं कृष्ण चन्द्र विद्यालंकार साप्ताहिक 'वीर अर्जुन' के आदि सम्पादक थे। अगस्त क्रान्ति के अमर

शहीद श्री रमेश चन्द्र आर्य ने भी 'वीर अर्जुन' में कार्य किया था। इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि भारत-विभाजन के उपरान्त जब 'वीर अर्जुन' की आर्थिक स्थिति खराब हो गई तो इन्द्र जी ने उसे बन्द करके 'जनसत्ता' दैनिक का सम्पादन संभाल लिया था। यही 'वीर अर्जुन' बाद में आर्य समाज के पुराने नेता महाशय कृष्ण के उद्योग से दिल्ली से दैनिक रूप में प्रकाशित हुआ। महाशय कृष्ण ने लाहौर में भी एक बार सन् १९३६ में 'प्रभात' नाम से एक दैनिक पत्र निकालना प्रारम्भ किया था, किन्तु कुछ ही दिन में बन्द हो गया था। इसका सम्पादन कानपुर के युवा पत्रकार श्री छैल बिहारी दीक्षित 'कंटक' ने किया था। गुरुकुल कांगड़ी के पुराने स्नातकों में पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रो० इन्द्र के बाद श्री सत्यदेव विद्यालंकार का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आज हिन्दी में जितने भी उल्लेखनीय पत्र हैं उनमें से प्रायः अधिकांश की आधार शिला रखने में उनका प्रमुख हाथ रहा था। उन्होंने जहां दैनिक 'हिन्दुस्तान' का प्रारम्भ किया वहां 'नवभारत टाइम्स' के आदि सम्पादक भी रहे। दैनिक 'अमर भारत' और 'विश्वामित्र' का नई दिल्ली संस्करण भी उन्हीं के सम्पादन में प्रकाशित हुए थे। उनके बाद श्री सत्यकाम विद्यालंकार का नाम आता है। श्री सत्यकाम जी ने दिल्ली के 'नवयुग' नामक दैनिक का सम्पादन करने के साथ-साथ अनेक और पत्रों का भी सम्पादन किया था। ऐसे पत्रों में ला० देशबन्धु गुप्ता के 'तेज' (उर्दू) की ओर से प्रकाशित होने वाला 'विजय' साप्ताहिक उल्लेखनीय है। साप्ताहिक 'धर्मयुग' के सम्पादक के रूप में उन्होंने जो प्रतिष्ठा अर्जित की थी उसका उदात्त परिष्कार उनके द्वारा सम्पादित 'नवनीत' में देखने को मिला। गुरुकुल के एक और स्नातक श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार द्वारा सम्पादित 'आजकल' तथा 'विश्व दर्शन' नामक मासिक भी अपनी विशिष्टता के लिए ख्यात हैं। उन्होंने कुछ समय तक प्रख्यात कहानी पत्रिका 'सारिका' का सम्पादन भी किया है। सनातन धर्म के सुप्रसिद्ध नेता गोस्वामी गणेश दत्तजी विभाजन से पूर्व पंजाब में 'विश्वबन्धु' साप्ताहिक और विभाजन के पश्चात् दैनिक 'अमर भारत' (दिल्ली) के द्वारा हिन्दी की जो सेवा की, वह भी अविस्मरणीय है। गोस्वामी जी की प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में ही हुई थी, अतः मैं इन संस्कारों को आर्य समाज की ही देन मानता हूं।

इन पत्रों और पत्रकारों के अतिरिक्त गुरुकुल कांगड़ी के जिन स्नातकों ने पत्रकारिता के माध्यम से जनता की सेवा की उनमें सर्वश्री अवनीन्द्र कुमार विद्यालंकार, रामगोपाल विद्यालंकार, दीनानाथ सिद्धान्तालंकार, हरिश्चन्द्र विद्यालंकार, युधिष्ठिर विद्यालंकार, वेदव्रत विद्यालंकार, शिवकुमार विद्यालंकार, क्षितीश कुमार वेदालंकार, यशपाल वेदालंकार, आनन्द विद्यालंकार और

कृष्ण चन्द्र मेहता विद्यालंकार आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय कहे जा सकते हैं। झांसी और कानपुर से प्रकाशित होने वाला दैनिक 'जागरण' भी आर्य-परिवार की ही देन है। इसके संचालक श्री पूर्णचन्द्र गुप्त आर्य समाज के अच्छे कार्यकर्ता हैं। अब तो लगभग एक वर्ष से जागरण प्रकाशन की ओर से "कंचन प्रभा' नामक एक साहित्यिक मासिक पत्रिका भी प्रकाशित होने लगी है। इनके अतिरिक्त और भी ऐसे बहुत से महानुभाव हैं, जिन्होंने आर्य समाजी क्षेत्र से अलग रहकर भी राष्ट्रभाषा हिन्दी के उन्नयन व पत्रकारिता के उत्कर्ष में अपना उल्लेखबीय सहयोग दिया था। ऐसे महानुभावों में सर्वश्री मूलचन्द्र अग्रवाल और माता सेवक पाठक 'विश्वमित्र, 'श्रीराम शर्मा 'विशाल भारत, रामशंकर त्रिपाठी : 'लोकमान्य', तथा विद्यार्थी एवं 'खिलौना' के सम्पादक श्री रामजी लाल शर्मा : हिन्दी, प्रेस प्रयाग के संचालक : के नाम विशेष रूप से स्मरणीय हैं। इनमें भी रामजी लाल शर्मा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पहले प्रधान मंत्री थे और प्रयाग जाने से पूर्व वे अजमेर के 'वैदिक मन्त्रालय' के व्यवस्थापक भी रहे थे। 'धर्मयुग' के यशस्वी सम्पादक डॉ० धर्मवीर भारती आर्य माता की सुयोग्य सन्तान हैं। उनकी पत्रकारिता में जो प्रखरता, गम्भीरता और निर्भीकता है, उसे आर्य समाज की ही देन माना जाना चाहिए। 'नवभारत 'टाइम्स' के सम्पादक तथा हिन्दी के मूर्धन्य पत्रकार को उनके आर्य समाजी पितामह से सदाचार और धार्मिक प्रगतिशीलता के संस्कार विरासत में मिले हैं। इनके पितामह महाकवि नाथूराम के शिष्य थे।' नव भारत टाइम्स के युवा सह संपादक डॉ० वेद प्रकाश वैदिक इन्दौर के कट्टर आर्य समाजी परिवार की ही देन हैं। 'दिनमान' के सम्पादक श्री रघुवीर सहाय भी नैष्ठिक आर्य पिता की ही सन्तान हैं। 'नवनीत' के भूतपूर्व सम्पादक श्री नारायण दत्त गुरुकुल के स्नातक हैं और उन पर आर्य समाज की ही गहरी छाप है।

देश के अन्य भू-भागों की भांति ही आर्य समाज का विस्तार विदेशों में भी प्रचुर परिमाण में हुआ। जहां-जहां भी आर्य समाज के कार्यकर्त्ता गए यह स्वाभाविक था कि वहां-वहां उन्होंने अपनी भावधारा तथा सिद्धांतों के प्रचार-प्रसार के लिए पत्र-पत्रिकाओं का सहारा लिया। यदि यहां ऐसे पत्रों और पत्रिकाओं का उल्लेख न किया गया तो विवरण अधूरा रह जायेगा। उत्तर प्रदेश के कालाकांकर राज्य के राजा रामपाल सिंह ने सर्वप्रथम लन्दन से हिन्दोस्तान' नामक त्रैमासिक पत्र का प्रकाशन हिंदी में कियां था, जो वहां से लगभग दो वर्ष तक सफलता पूर्वक प्रकाशित हुआ। आरम्भ में यह पत्र हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी में निकला था, किन्तु बाद में यह केवल हिन्दी में ही प्रकाशित किया था जिसका उल्लेख यथास्थान हो चुका है। दक्षिण अफ्रीका के सत्या-ग्रह में महात्मा गांधी जी के अनन्य सहयोगी स्वामी भवानी दयाल संन्यासी कीपत्रका-

रिता सम्बन्धी सेवाओं का उल्लेख भी हम इस निबंध में अन्यत्र कर चुके हैं। इसी प्रकार सूरीनाम से 'प्रकाश' साप्ताहिक का प्रकाशन हुआ और त्रिनिदाद से 'ज्योति' नामक मासिक पत्र निकला। फीजी के उत्साही आदमियों ने इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया और 'वैदिक संदेश' नामक एक साप्ताहिक पत्र निकाला। बाद में 'फ़ीजी समाचार', 'जय फीजी', 'फीजी संदेश' और 'जागृति' नामक पत्रों का प्रकाशन भी वहां के आर्य जनों के उत्साह से हुआ। मारीशस में वहां की आर्य समाज का पत्र 'आर्योदय' अब भी यथाविधि प्रकाशित हो रहा है। सन् १९०८ में वहां से डा० मणिलाल ने 'हिन्दुस्तानी' नामक पत्रप्र काशित किया था, जो काफी दिन तक आर्य समाज के विचारों के प्रसार का माध्यम रहा। वहां की हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में पं० राम अवध और किष्टो पं० काशीनाथ का नाम विशेष उल्लेखनीय है। पं० काशीनाथ ने वहां से 'आर्यपत्रिका' तथा 'आर्यवीर' नामक पत्रों का संपादन किया था पं० राम अवध ने 'मारीशस मित्र' का। इस सन्दर्भ में श्री ब्रजनाथ माधव वाजपेयी का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है, जो मूलतः भारतवशी मारीशियन थे और पिछले पन्द्रह-बीस वर्ष से पटना आ गए थे और यहां हिन्दुस्तान समाचार तथा 'आर्यावर्त' में कार्य करते थे। मारीशस की पत्रकारिता के क्षेत्र में उनके देन अविस्मरणीय हैं।

उक्त देशों के अतिरिक्त ब्रिटिश गायना, डच गायना, पूर्वी अफ्रीका, केनिया युगाण्डा, जंजीबार, ट्रगेनिका, बर्मा, पोर्तुगीज़ पूर्व अफ्रीका, स्याम, थाईलैण्ड, मलाया, सुमात्रा, जावा, और ईरान आदि अनेक देशों में आर्य समाज का क्रान्तिकारी आन्दोलन अनेक दशकों से पहुंच चुका है और उसके अनेक कार्यकर्त्ता तथा नेताओं ने समय-समय पर वहां जाकर अपनी विचार धारा का प्रचार किया। इस प्रसंग में बर्मा से श्री रामलाल के सम्पादन में प्रकाशित होने वाली 'आर्य युवक जागृति' का भी विशेष स्थान है। प्रायः इन सभी देशों में आर्य समाज के माध्यम से अनेक संस्थाएँ और प्रचारक हिन्दी को प्रतिष्ठित करने में संलग्न हैं। यहां तक कि सीलोन में भी आर्य समाज के क्रान्तिकारी आन्दोलन का उद्घोष पहुँच चुका है। अमरीका में तो वर्षों पूर्व प्रख्यात आर्य नेता डा० केशव देव शास्त्री और स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने अपनी ओजस्वी वक्तृताओं और लेखों से वहां की जनता में वैदिक विचार धारा का जो प्रचार किया था वह इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायेगा। उक्त दोनों ही महानुभाव हिन्दी सुलेखक तथा पत्रकार थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्य समाज ने हिन्दी पत्रकारिता के क्षेत्र में अनन्य और अभूतपूर्व योगदान दिया है। वास्तव में यदि देखा जाय तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि आर्य समाज के माध्यम से हिन्दी साहित्य और पत्रकारिता की सेवा हुई है वह इतनी महत्वपूर्ण है कि उसके उल्लेख के बिना साहित्य और पत्रकारिता का इतिहास ही अधूरा रह जायेगा। वास्तव में आर्य समाज ऐसा शानदार भट्टा है, जिसने पिछले सौ वर्षों में हिन्दी पत्रकारिता, के भवन को अगणित चट्टानें, ईंटें और स्वर्णिम कलश प्रदान किए हैं।

वैदिक सूक्तियां

१. 'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे' यजु० ३६-१८
हम सब एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें।

२. 'त्यक्तेन भुंजीथाः' यजु० ४०-१

३. 'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' यजु० ४०-१
किसी के भी धन की इच्छा न कर।

४. 'एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति' ऋक्० १-१६४-४६
एक ही ईश्वर को विद्वान् अनेक नामों से पुकारते हैं।

५. 'गां मा हिंसीः' यजु० १३-४३
गाय को मत मार।

६. 'हिरण्यमयेन् पात्रेण सत्स्यापिहितं मुखम्' यजु० ४०-१७
सच्चाई का मुख सोने के बर्तन से ढका हुआ है।

७ 'केवलाघो भवति केवलादी' ऋक्० १०-११७-३
अकेला खाने वाला पापी होता है।

८. 'न स सखा यो न ददाति सख्ये' ऋक्० १०-११७-४
वह मित्र नहीं जो मित्र की सहायता नहीं करता।

९. 'मांसं नाश्नीयात्' अथर्व० ९-६-९
मांस नहीं खाना चाहिए।

१०. 'अक्षैर्मा दीव्यः' ऋक्० १०-३४-१३
जुआ मत खेल।

११. 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' अथर्व० १२-१-१२
भूमि मेरी मां है मैं उसका पुत्र हूं।

१२. 'कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः' अथर्व० ७-५२-८
परिश्रम मेरे दांये हाथ में है और बायें में विजय।

१३. 'ओऽम् स्मर कृतं स्मर' यजु० ४०-१५
ईश्वर को याद कर और अपने किये हुए कर्मों को याद कर।

१४. 'मनुर्भव' ऋक्० १०-५३-६
मनुष्य बनो।

१५. 'शतहस्त समाहर सहस्र हस्त संकिर' अथर्व० ३-२४-५
सैकड़ों हाथों से कमाओ और हजारों हाथों से दान कर दो।

१६. 'भस्मान्तं शरीरं' यजु० ४-१५
यह शरीर एक दिन राख में मिल जाना है।

१७. 'पावका नः सरस्वती' ऋक्० १-३-१०
विद्या हमें पवित्र करने वाली हो।

१८. 'येषामिन्द्रस्ते जयन्ति' ऋक्० ८-१६-५
परमात्मा जिसका सहायक होता है वही जीतते हैं।

१९. 'आयुर्यज्ञेन कल्पताम्' यजु० ९-२१
जीवन भर परोपकार करो।

२०. 'उत देवा अवहितं उन्नयथा पुनः' अथर्व० १०-१३७-१
हे विद्वानो! गिरे हुए को ऊपर उठाओ।